आधुनिक भारत
का
दलित आंदोलन
आर. चन्द्रा
कन्हैया लाल चंचरीक

आधुनिक भारत का दलित आंदोलन

आर. चन्द्रा
कन्हैयालाल चंचरीक

यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन
नई दिल्ली-110002

समर्पित

उन सभी महान लोगों को ये कृति समर्पित है जिन्होंने दलित जातियों के उत्थान व विकास के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया

आभार

हम आभारी हैं श्री नरेन्द्र चन्द्रा एवं श्री राजेश चन्द्रा के जिन्होंने इस पुस्तक के शोध एवं संपादन में हमारी बहुत सहायता की। इनके सहयोग के बिना इस पुस्तक का पूर्ण होना काफी कठिन था। हम आभारी हैं श्रीमती माया चन्द्रा, श्री अशोक कुमार, श्री रघुबीर, श्रीमती सुषमा कुमार, श्रीमती पारूल लाल, कुमारी अन्नू चन्द्रा व सूरज कुमार के जिन्होंने हमें इस पुस्तक के लेखन के दौरान हमें काफी सहयोग दिया।

इनके अलावा हम आभारी हैं श्री आर.पी. बहुगुणा के जो की दिल्ली विश्वविद्यालय में वरिष्ठ इतिहासकार हैं। श्री बहुगुणा ने अपने नये-नये विचारों से हमें अवगत कराया।

अंत में हम आभारी हैं श्री महेश जैन, श्री प्रशान्त जैन व श्री मोहित जैन के जिन्होंने काफी कम समय में इस पुस्तक को प्रकाशित करने में सहयोग प्रदान किया।

अनुक्रम

भूमिका

प्रस्तुत शोधपूर्ण कृति आधुनिक भारत के दलित आंदोलन की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। इसमें प्राचीन भारत के दलित समाज के ऐतिहासिक स्वरूप की व्याख्या एवं आधुनिक युग के दलित मुक्तिदाता फुले से लेकर वर्तमान युग के दलित आंदोलन का इतिहास समेटा गया है। दलित मुक्ति संग्राम नवजागरण की देन है। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन काल में नवजागरण के साथ-साथ सामाजिक-जातीय चेतना, व्यापक शिक्षा, औद्योगिकरण और संस्कृतिक रण की अवधारणाओं से दलित जातियां भी प्रभावित हुईं। उन्नीसवीं सदी के मध्य काल में फुले ने महाराष्ट्र में शूद्रों-दलितों में नवचेतना का बीज बोया जो उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के संधिकाल में पल्लवित व पुष्पित हुआ। भारत में राष्ट्रीय जागरण के साथ ही व्यापक सामाजिक सुधारों का सिलसिला प्रारंभ हुआ जिसमें अस्पृश्यता व जातिभेद निवारण तथा दलित जातियों के उत्कर्ष को प्रमुखता दी गई। दलित मुक्ति संग्राम में डॉ. अम्बेडकर के आगमन ने दलित आंदोलन को आसमान की ऊंचाइयों पर पहुंचा दिया। यह आन्दोलन डॉ. अम्बेडकर के निर्वाण के बाद सामाजिक परिवर्तन का राष्ट्रव्यापी आंदोलन बन गया।

पूर्वाग्रह ग्रसित विदेशी लेखक डॉ. अम्बेडकर के दलित आंदोलन का एक पक्षीय शोध अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। इन लेखकों ने उत्तर भारत के राष्ट्रवादी दलित आंदोलन की पूर्ण उपेक्षा कर दी है। जो दलित उपनिवेशवाद और ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े उन्हें शोधवृत्त से अलग रखा गया।

बाबू जगजीवन राम उत्तर भारत के राष्ट्रवादी दलित आंदोलन के पुरोधा थे। उनकी एक सफल राष्ट्रीय स्तर के दलित नेता के रूप में छवि थी। वे केंद्र में लंबे अरसे तक मंत्री पद पर रहे, कांग्रेस के अध्यक्ष बने, भारत के उप-प्रधानमंत्री बने और दलित जाति का होने के कारण 1977 में सत्ता परिवर्तन के बाद भी प्रधानमंत्री न बन सके।

भारत में अम्बेडकर आंदोलन को महार आंदोलन कहने वाले लोग विदेशी इतिहासकार ही हैं। ये विदेशी इतिहासकार वलंगकर और चोखा मेला की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा करेंगे परंतु जगजीवन राम, डॉ. संजीवय्या, भोला पासवान, बी.पी. मौर्य, संघप्रिय गौतम, योगेन्द्र मकवाना, के.आर. नारायण पर कुछ नहीं लिखेंगे चूंकि ये सब महार नहीं हैं या उनके

सामाजिक दर्शन में लिखने लायक कोई चीज नहीं है। इसी प्रकार मराठी दलित लेखन पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शोध, गोष्ठियां व अनुवाद हो रहे हैं परंतु उत्तर भारत के कवि व लेखकों की कोई चर्चा नहीं करेगा।

दलित साहित्य के अध्येताओं, लेखकों, इतिहासवेत्ताओं और साहित्य समीक्षकों को पक्षपात और एक पक्षीय अध्ययन की प्रवृत्ति से दूर रहना होगा।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वर्तमान दलित आंदोलन या दलित इतिहास का वास्तविक स्वरूप भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में निहित है। अस्पृश्य, शूद्र, म्लेच्छ या दलित जातियां भारत की पराजित या आर्यों की दासता स्वीकार करने वाली जातियां हैं। ये जातियां ऋग्वेद की रचना से लेकर बौद्ध युग को छोड़कर औपनिवेशिक काल तक इतिहास से हर दौर में सामाजिक विषमताओं, अस्पृश्यता, उत्पीड़न और दासता का शिकार रही है। कला-निष्णात और उत्पादन कौशल, कृषि और श्रम में प्रवीण होते हुए भी वर्णभेद और अस्पृश्यता के आधार पर उन्हें उच्च जातियों ने अलग ही रखा। धर्मशास्त्रों, मनुस्मृति और पुराणों में उनके जीवन-संघर्ष, अधःपतन और दासता विषय खंडित, अपूर्ण, अतिरंजित और दोहरे सामाजिक नियमों के मकड़जाल में उलझी जीवन शैली जबकि बौद्ध ग्रंथों में उनके उत्कर्ष और समरस जीवन का चित्रण आता है।

इसीलिए ऋग्वेद से बौद्ध काल के उत्कर्ष, बौद्ध धर्म के क्रमिक पतन से लेकर औपनिवेशिक काल तक जो लगभग 3000 साल तक का सामाजिक इतिहास है उसमें वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता के नाना रूपों और पतनशील दासता के उपलब्ध प्रमाण दलित इतिहास के स्रोत माने गए हैं। पुरातत्त्ववेत्ता व इतिहासकार मानते हैं कि सिंधु घाटी या हड़प्पा-मोहनजोदड़ों की नगरीय संस्कृति एक पूर्ण विकसित भारत मूल की अनार्य संस्कृति थी। यदि ऋग्वेद की ऋचाओं के आधार पर इसे परखा जाए तो आर्य इसके विनाश या पतन का कारण रहे होंगे। विल्सन, काणे, रामशरण शर्मा आदि ने अपनी शोध कृतियों में ऋग्वेद में वर्णित कृष्ण वर्ण के दासों, दलित-दस्युओं के पराभव, उनके पुरों के विनाश और आर्यों के हमलों के कई मंत्र उद्धृत किए हैं। यही नहीं 'इंद्र' जो आर्य संस्कृति का नेता है उससे प्रार्थना की गई है कि वह आर्य और दलितों (दस्युओं) में भेद करे। आर्य 'वृहस्मत' और दस्यु-दलित 'अव्रत' कहे गए। दस्यु 'अव्रती' या 'अक्रतु' इसलिए कहे गए कि वे देवाराधना और देव विधान का अनुसरण नहीं करते। उन्हें 'मृध्रवाच' कहा गया क्योंकि उनकी वाणी आर्यों से अलग और हलकी थी। उन्हें 'अनासाय' कहा गया क्योंकि उनकी नासिका चपटी थी। दास, दस्यु, दैत्य, दलित आदि शब्द पर्यायवाची हैं। कभी-कभी इन्हें असुर कहा गया क्योंकि वे सोम या सुरापान विरत थे। आर्य 'इंद्र' को सोम पिलाते थे। परवर्ती साहित्य में दास 'स्लेव' या 'सर्फ' के रूप में थे। दास विरोधी आर्य पराजित-उत्पीड़ित दास से सुलह करके उसे अपनी अधीनता (सेवा) में रख लेते थे। पराभूत दास विजेता आर्य जाति की जटिल सामाजिक व्यवस्था और कृषि आधारित अर्थतंत्र में विरोध नहीं कर पाया।

भारतीय जातिप्रथा या धर्मशास्त्रों में वर्णित वर्ण-व्यवस्था भारतीय इतिहास की विशिष्टतम और विलक्षण सामाजिक संस्था हैं जिसके बल पर बौद्धिक और आध्यात्मिक

जगत के अग्रणी नेता जो ब्राह्मण-पुरोहित वर्ग के थे, आर्य-अनार्यों के मध्य श्रेणीकरण-श्रम विभाजन करके समाज को विघटित करने में सफल हुए। वर्ण या जाति-भेद के कारण ही अस्पृश्य और दलित जातियों का वर्ग बना। ये रोम के गुलामों (स्लेव्स) से बदतर जीवन जीने वाले लोग थे। जाति के घेरे में बंद अस्पृश्य, अधिकार विहीन, भंग समाज के दास निर्विवाद रूप से आज के अस्पृश्य, शूद्र, दलित और नव बौद्ध जातियों के पूर्वज हैं।

सदियों तक इनकी किसी को चिंता नहीं थी। दास-अस्पृश्य संगठित न हों इसलिए शुद्र-दलित जाति के उत्पीड़न-नियंत्रण के लिए कठोर नियम बनाए गए जिन्हें मजबूरियों में वे स्वीकार कर बैठे। भरण-पोषण और परिवार की देखभाल की दुश्चिंता में वे इतने डूबे कि उनमें कभी भी विद्रोह की भावना जाग्रत नहीं हुई। गरीबी, अशिक्षा, भुखमरी, बीमारी को नियति माना और उसे चालाकी से ब्राह्मण वर्ग ने पूर्व जन्म के दुष्चक्र से जोड़ दिया। इतिहासकारों की धारणा है कि आर्यों के भारत प्रवेश से पूर्व हड़प्पा संस्कृति के विकास-क्रम में ही प्रथम नगरीय क्रांति संपन्न हुई। इस काल में अनेक उत्पादक कुशलताओं का विकास संभव हुआ होगा। इस सभ्यता के लोग अनार्य तथा आदिम मूल वंशी थे जो अपने कला-कौशल तथा नगरीय सभ्यता के जनक थे। आर्यों के आगमन के साथ ही दीर्घकाल तक अनार्य और आर्यों में संघर्ष चला; जिसमें पराजित अनार्यों को सामाजिक दृष्टि से निचले स्तर पर रखा गया और श्रम विभाजन की प्रक्रिया को विषम वर्ण या जाति का रूप दे दिया गया। उनके लिए दोहरे धार्मिक-सामाजिक मानदंड निर्धारित किए गए। शोषण और दासता को अभेद्य बनाते हुए धार्मिक रंग दिया गया। इस संबंध में अनेक उच्च स्तरीय शोध कार्य संपन्न हो चुके हैं, जिसमें विल्सन और काणे के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रो. रामशरण शर्मा का भी अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

बौद्ध धर्म के उदय की पूर्व बेला में द्वितीय नगरीय क्रांति और सामाजिक परिवर्तन की लहर चली। कम्भकर जातियों, कला-निष्णात शिल्पियों, कृषकों, दासों को सम्मान मिला। इससे व्यापक धार्मिक-सामाजिक सुधारों का मार्ग प्रशस्त हुआ। यज्ञों में पशुबलि, शूद्रों का सामाजिक भेदभाव व तिरस्कार रुका तथा अस्पृश्यता और जाति के बंधन ढीले हुए। अस्पृश्यता व जाति भेद को बौद्धमत में अमान्य घोषित किया गया। इसमें कर्म को प्रधानता दी गई। जन्म आधारित जातीय श्रेष्ठता को नकार दिया गया। यह धार्मिक क्रांति के साथ-साथ एक बड़ी सामाजिक क्रांति भी थी। इस क्रांति के स्वर लगभग एक हजार साल तक भारत-भूति पर प्रतिध्वनित होते रहे। बौद्ध धर्म के पतन के साथ ही इसकी मान्यताओं और धारणाओं को क्षति पहुंची। इससे समाज के वंचितों, बहुजन-दलित मुक्ति आंदोलन को गहरा धक्का पहुंचा। बौद्ध धर्म दुख निवारण, व्यक्तिगत निर्वाण या मुक्ति की कामना पर जोर देता रहा। सामाजिक संगठन, राजसत्ता और प्रज्ञाजनों की दैनंदिन समस्याओं के निराकरण से सर्वदा विमुख था। वह निपट श्रमण-संस्कृति का संवाहक बना।

गौतम बुद्ध के निर्वाण के बाद समाज में कई विघटन व प्रतिक्रांतिया हुई। बौद्ध सामाजिक चिंतन की भावधारा सिद्धों और नाथों तक पहुंची और लोक-भावना से भरे कबीर-रविदास जैसे जाति प्रथा और अस्पृश्यता को घोर विरोधी इन संतों की वाणी में यह

प्रस्फुटित हुई। यह संत समरस समाज संरचना का स्वप्न देखते थे।

हजारों साल तक दलित खेतिहर मजदूर या बंधुआ गुलाम बने रहे। घरेलू दस्तकारियों में लगे रहे। जंगल-पर्वतों, नदी तटों पर निवास करते रहे। घुमन्तु जीवन जीते रहे। अकाल, सूखा, बाढ़, महामारी, युद्धों से सर्वाधिक जनहानि उन्हीं की हुई। ऊंची-संगठित जातियों के लिए श्रम करते रहे। उन्हें ईश्वर और धर्म के भुलावे में रखा गया। गांव में बसने वाले अस्पृश्य-दलित घोर उपेक्षा और उत्पीड़न का शिकार बने। नगरीय संस्कृति में वे राजन्य, पुरोहित और वैश्य वर्ग द्वारा आर्थिक शोषण, सामाजिक दासता, ऊंच-नीच के व्यवहार का निशाना बने।

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल में भारत की समाज व्यवस्था, जातिभेद, अस्पृश्यता और असमानता का अध्ययन-विश्लेषण प्रारंभ हुआ। इस दौरान ईसाई धर्म प्रचारकों ने समाज में विद्यमान विसंगतियों का भरपूर फायदा उठाया और दलित-शूद्र और नीचे तबके की अस्पृश्य-गरीब जनता का धर्मांतरण करने में वे नहीं चूके। इससे पहले मुस्लिम और मुगल शासक हिंदुओं की ऊंची जातियों के सताए शूद्र-दलितों का इस्लाम धर्म में धर्मांतरण कर चुके थे और अंग्रेजों की अधीनता में भी यह क्रम चलता रहा।

पुर्तगाली और डचों ने भी दक्षिण और मलाबार की अछूत जातियों पर निबंध लिखे और उनकी दासों से गई गुजरी सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला।

ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने में सन् 1776 में 'ए कोड ऑफ जेंट् लॉज' प्रकाशित हुआ जिसमें लिखा था कि बंगाल में सत्ता और व्यापार में तभी सफलता प्राप्त कर सकती है जबकि वह यहां की सामाजिक व्यवस्था से परिचित हो जो विजेता जाति के विधि-विधानों और हितों के प्रतिकूल न हो।

भारत-विद्या के जनक सर विलियम जोंस ने सन् 1794 में मनुस्मृति के अनुवाद की भूमिका में स्पष्ट किया कि करोड़ों हिंदू प्रजा का सुनिर्दिष्ट श्रम ब्रिटेन की समृद्धि में सहायक होगा। उन्हें इससे यह जानकारी मिली कि किस प्रकार दोहरे मानदंडों से समाज विघटित है तथा ऊंची जातियों विशेषतया ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है और शूद्रों को पतनशील अवस्था में धकेल दिया गया है। अंग्रेजों को यहीं से 'फूट डालो और राज करो' के मंत्र की पुष्टि मिली।

सन् 1898 में कोलब्रुक ने 'एन्यूमरेशन ऑफ इंडियन क्लासेज' की रचना की।

मिल ने सन् 1818 में 'दि हिस्ट्री ऑफ इंडिया' में वर्ण व्यवस्था के मूल स्रोतों का अध्ययन किया जो शूद्रों के संस्कृतिपरक-जातिपरक विनाश के मूलाधार थे।

सन् 1818 में बंगाल के सामाजिक-धार्मिक सुधारक राजा राममोहन राय ने सती प्रथा पर प्रहार किया। वे इस पर प्रतिबंध लगाने के लिए ब्रिटेन भी गए। उन्होंने जाति-पांत, छुआछूत, सामाजिक कुरीतियों, अंधविश्वासों का विरोध किया और अपनी कृतियों में अपने विचारों को लिपिबद्ध किया।

सन् 1841 में एलफिंस्टन ने शूद्रों की स्थिति पर प्रकाश डाला जिनकी सामाजिक हैसियत प्राचीन गणतंत्रों के दासों-कम्भकरों की तुलना में बेहतर थी।

तंजौर के ईसाई धर्म प्रचारक रेवरेंड एच बोवर ने सन् 1851 में 'एस्से ऑन हिंदू कास्ट' लिखी जो गदर पूर्व के भारत में वैदिक वर्ण व्यवस्था से लेकर तब तक के शूद्रों के हालात पर प्रकाश डालती थी। इस पुरस्कृत कृति का प्रकाशन कलकत्ते से हुआ था। इसमें दक्षिण भारत के दलित-शूद्रों के धर्मांतरण के पश्चात् की सामाजिक स्थिति पर भी रोशनी डाली गई थी। उन्होंने मिल, कोलब्रुक, विल्सन, एलिस, बिशप हेबर आदि के उदाहरण देकर जाति आधारित पतनशील समाज व्यवस्था का चित्रण किया।

उसी समय बापटिस्ट मिशन प्रेस ने कलकत्ता क्रिश्चियन ट्रैक्ट एंड बुक सोसायटी के लिए जातियों पर निबंध प्रकाशित किए तथा हिंदू धर्म में शूद्रों की दयनीय सामाजिक स्थिति और विसंगतियों पर प्रकाशन किए।

भारत विद्या के शिखर पुरुष जॉन विल्सन ने सन् 1850 के आसपास धर्मशास्त्रों में भारतीय जाति और उसकी जटिलता पर शोध प्रारंभ कर दिया था। उनका महत्त्वपूर्ण शोध ग्रंथ सन् 1877 में उनकी मृत्यु के उपरांत दो खंडों में 'इंडियन कास्ट' नाम से प्रकाशित हुआ। पीटरसन ने भूमिका के दो शब्दों में लिखा कि विल्सन ने यह काम बहुत पहले शुरू कर दिया था और सन् 1857 में इसे टंकन के लिए दे दिया था। विल्सन 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बंबई' के अध्यक्ष, स्काटलैंड फ्री चर्च के मिशनरी तथा बंबई विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे। उन्होंने धर्मशास्त्रों, पुराणों और बौद्ध आदि धर्मग्रंथों का विशद् अध्ययन किया था। शूद्रों-दलितों के प्रति उच्चवर्गीय कठोर मानसिकता, अत्याचार और दोहरे मानदंडों तथा दयनीय स्थिति के बारे में यह निसंदेह एक संदर्भ योग्य कृति है।

इस रचना के आधार पर भारतीय लेखकों ने शूद्रों और जाति व्यवस्था पर शोध अध्ययन किए और संदर्भ लिए।

औपनिवेशिक काल में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के प्रथम तीन दशकों तक अंग्रेज विद्वान भारतीय जाति व्यवस्था पर शोधकार्य में प्रवृत्त हुए। जनगणना के समय दलितों जातियों की पहचान की गई। जातिगत सर्वेक्षण किए गए। सामाजिक मान्यताओं, अंधविश्वासों समेत उद्‌गम और विकास पर प्रकाश डाला गया। इसका साउथबरो समिति, लोथियन समिति और गोलमेज वार्त्ता के दौरान संदर्भ हेतु तथा अपने लेखन में डॉ. अम्बेडकर ने उपयोग किया।

आज आधुनिक भारत के दलित आंदोलन को व्यवस्थित और सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के देशी-विदेशी अनेक प्रयास देखने में आ रहे हैं। यह शोध-प्रवृत्ति की लहर अम्बेडकर युगीन उन इतिहासकारों और विद्वानों की पूर्वाग्रहों से ग्रसित अवधारणाओं को खंडित करती है जो दीर्घ अवधि तक इस सामाजिक परिवर्तन और व्यापक अम्बेडकर दलित आंदोलन की उपेक्षा करते रहे।

पचास के दशक तक शायद ही किसी इतिहासकार ने फुले और उनके युग पर प्रकाश डाला हो। इसी प्रकार अम्बेडकर युगीन आंदोलन को इतिहासकारों ने विशेष महत्त्व नहीं दिया था। उसके व्यापक प्रभाव को कम करके आंका गया। जब उच्च वर्ग के युगपुरुषों के समय बीतने के साथ कद बौने होते गए, तो सामाजिक और दलित मुक्ति के

पुरोधा डॉ. अम्बेडकर मसीहा बन गए।

आज हर इतिहासकार फुले, दलित और अम्बेडकर का जिक्र किए बिना अपने इतिहास को अपूर्ण मानने लगा है। यह तभी संभव हुआ जब विदेशी लेखक इस दिशा में प्रवृत्त हुए और यूरोप के प्रकाशकों के पुस्तक बिक्री केंद्रों पर 'भारत में दलित क्रांति दहलीज पर है' विषयक पुस्तकें उपलब्ध होने लगीं और अंतर्राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में तद्विषयक विज्ञापन आने लगे। यह सब दो-ढाई दशक पूर्व हुआ।

इधर महाराष्ट्र सरकार द्वारा 'डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय' के प्रकाशन ने बौद्धिक जगत में क्रांति ला दी। उधर 'हिजमेजेस्टीज स्टेशनरी आफिस', लंदन ने जो सबसे बड़ा इंगलैंड का सरकारी प्रकाशन गृह है कई जिल्दों में 'सत्ता हस्तांतरण' ग्रंथ माला (ट्रांसफर ऑफ पावर) प्रकाशित करके द्वितीय विश्व युद्धोत्तर भारतीय राजनीतिक घटनाचक्रों के विषय में जो अति गोपनीय दस्तावेज प्रकाशित किए उससे इतिहासकार चकित रह गए। समय पूर्व उन्हें प्रकाशित करने के लिए ब्रिटेन की संसद को एक विशेष कानून पारित करना पड़ा था। उन्हें तोड़-मरोड़कर प्रकाशित करके कई नामी-गिरामी इतिहास लेखक नाम चमकाने के फेर में रहे।

'सत्ता-हस्तांतरण' दस्तावेजों ने सिद्ध कर दिया कि भारत के करोड़ों अछूत-दलितों को संवैधानिक राजनीतिक-सामाजिक अधिकार दिलाने में डॉ. अम्बेडकर की महती भूमिका रही है। 1946 में अंतरिम सरकार के गठन और 1947 में भारत की आजादी के साथ-साथ भारत का संविधान बनाने का उत्तरदायित्व डॉ. अम्बेडकर को दिया गया। इससे वे दलित मुक्ति के अपने सपने को संवैधानिक रूप दे सके। संविधान की संरचना से पूर्व गोलमेज परिषद वार्त्तालाप (1930-32) के दौरान डॉ. अम्बेडकर दलितों के अधिकारों की हजारों साल के इतिहास में पहली बार सटीक सार्थक पहले कर चुके थे। 'सांप्रदायिक पंचाट' (कम्युनल अवार्ड) और यरवदा जेल में गांधी के साथ हुए 'पूना पैक्ट' के बाद दलितों को सन् 1935 के 'भारत अधिनियम' के अंतर्गत जो राजनीतिक प्रतिनिधित्व मिला वह उन्हीं की देन है। सामाजिक क्रांति का बीज उन्होंने ही बोया है।

इतिहासकार इरफान हबीब ने कहा है कि हमारे इतिहास की कोई भी व्याख्या विचार योग्य नही हो सकती जिसमें जाति व्यवस्था की भी व्याख्या सम्मिलित न हो। उनका स्पष्टतः मानना है कि हमारे इतिहास और संस्कृति की परिधि में जाति-प्रथा को नहीं समेटा जाता तो उसे गंभीरता से नहीं लिया जाएगा।

स्वातंत्र्योत्तर भारत के इतिहासवेत्ता जातिप्रथा और दलित मुक्ति संग्राम की अनदेखी करते थे। आज वह बात नहीं रह गई। अब दलित आंदोलन अपने समग्र संदर्भ में राष्ट्रीय स्तर पर शोध-अध्ययन का विषय बन गया हैं और विदेशी विद्वान और विदेशों के विश्वविद्यालय इस ओर प्रवृत्त हुए हैं। आगरा के जाटवों पर लिंच का शोध महत्त्वपूर्ण है। कानपुर की कोरी जाति पर भी विदेशी विद्वान शोध प्रकाशित कर चुके हैं। पंजाब के आदि धर्म और आदि धर्मियों पर भी शोधकार्य हुआ है। छत्तीसगढ़ के सतनामी चमारों पर भी अध्ययन हुए हैं।

डॉ. अम्बेडकर और महार दलित आंदोलन पर अनेक शोध पूर्ण कृतियां प्रकाश में आई हैं। फुले और अम्बेडकर दलित मुक्ति संग्राम पर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विचार गोष्ठियां आयोजित हुई हैं।

अगर पत्रकार अरुण शौरी डॉ. अम्बेडकर की घटिया तरीके से, संदर्भों की गलत ऐतिहासिक व्याख्या करके आलोचना करते हैं तो इससे डॉ. अम्बेडकर छोटे नहीं हो जाते। हिंदुत्व की बैशाखी लगाकर वे आगे बढ़े हैं। उन्हें केंद्र में भाजपा ने मंत्रिपद जरूर दिया है लेकिन दलित क्षेत्रों और प्रगतिशील बुद्धिजीवियों में उनकी कृति 'वर्शिपिंग फाल्स गॉड' कचरा साहित्य ही मानी जाती हैं। दलित मुक्ति के मसीहा पर दोषारोपण करके वे अपकीर्ति अर्जित कर चुके हैं।

बुजुर्ग साहित्यकार नामवर सिंह अम्बेडकर प्रभावित मराठी दलित लेखन के कायल हैं और उसकी संभावनाएं हिंदी जगत में तलाश रहे हैं। शीर्ष कथाकार और 'हंस' के ख्यातिलब्ध संपादक राजेन्द्र यादव दलित लेखन को सामाजिक परिवर्तन की प्रतिच्छाया और अम्बेडकर के जीवंत प्रभाव को स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाते। उसी प्रकार डॉ. रामविलास शर्मा ने अम्बेडकर समग्र वाङ्मय को दलित आंदोलन की धरोहर माना है। बहुत पहले डॉ. महीपसिंह मराठी दलित लेखन की प्रवृत्तियों को हिंदी जगत से परिचित करा चुके हैं। मराठी दलित लेखन को शुरू-शुरू में डॉ. प्रभाकर माचवे ने एक यथार्थ की कोख से जनमी प्रगतिशील विद्या बताया था।

आज देश में दलित आन्दोलन व साहित्य पर काफी कार्य हो रहा है तथा इन कार्यों से काफी महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आ रहे हैं।

आर. चन्द्रा
कन्हैयालाल चंचरीक

1

दलित समाज : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

दलितों के ऐतिहासिक स्वरूप को समझने के लिए आर्यों के आगमन से पूर्व की समाज व्यवस्था के अंतर्गत हमें मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास पर दृष्टिपात करना होगा। इतिहासज्ञ, नृतत्ववेत्ता और समाजविद् सिंधुघाटी सभ्यता के पूर्व की बर्बर-आदिम समाज व्यवस्था के विकास की एक धुंधली सी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। इसमें ऐतिहासिकता कम, कल्पना और अनुमान दोनों का अधिक सम्मिश्रण है। फिर भी यह माना जा सकता है कि सरस्वती नदी के प्रवाह के प्राचीन उल्लेख और सिंधु घाटी सभ्यता की खुदाई में मिले साक्ष्य आर्य पूर्व की सभ्यता और संस्कृति की एक स्पष्ट झलक प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। इस संदर्भ में हम यहां के मूल निवासियों के बारे में सहज अनुमान लगा सकते हैं जो एक विकसित सभ्यता के स्वामी थे।

आज जैसा कि पुरातत्व के पूर्व महानिदेशक **बी.बी. लाल** कहते हैं और **डॉ. अम्बेडकर** का भी यही मंतव्य है कि आर्य बाहर से नहीं आए, यहीं के निवासी थे तो ऐसे हालात में ऋग्वेद के मंत्रों के दूसरे ही अर्थ निकलेंगे। लेकिन अब तक की मान्यताओं के अनुसार इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत जातियों, धर्मों और विभिन्न संस्कृतियों की एक प्रयोगशाला है। प्राचीन काल से विदेशी मूल के लोग भारत की ओर आकर्षित होते रहे हैं, जिन्हें बाहरी या ठीक से आक्रांता भी कहा जा सकता है। इतिहासविदों, नृतत्त्वशास्त्रियों और समाज वैज्ञानिकों के विचार में आर्य आक्रमणकारियों से पूर्व विश्व के दूसरे भागों से इस भूभाग पर बसने के लिए द्रविड़ आए। ऐसी मान्यता है कि भारत के आदिम निवासी द्रविड-पूर्व के मूल बाशिंदे थे। यह बर्बर और आदिमकालीन समाज था।[1]

सामाजिक विकास की प्राक्-ऐतिहासिक अवस्था में भारतीय जीवन और वैचारिकता के सूत्र निहित हैं। किसी सुदूर अंधकार युग में मानव नग्नावस्था और बर्बरता की स्थिति में जीता था। धीरे-धीरे मनुष्य ने आदिम बर्बर समाज से सभ्य समाज में जीना सीखा। प्रकृत सहजता, क्षुधा शांत करने के प्रक्रम और स्वछंद यौन आचरण आदिम समाज में मानव संबंधों के प्रकार थे।[2]

भारतीय इतिहास का प्रारंभ सरस्वती के प्रवाह या सिंधु घाटी सभ्यता के फलने-फूलने

से माना जाता है। इस सभ्यता के उदय के साथ-साथ बर्बर आचरण की सभ्यता मिटी। लेकिन यह सब हजारों साल में हुआ। सामाजिक परिवर्तन इतना आसान नहीं था। बर्बर युग से सभ्यता के आदिम युग तक पहुंचने में आदमी आदमी के मध्य तथा मनुष्यों और पशुओं के मध्य भीषण संघर्ष हुए।

समझा जाता है कि भारत के सर्वाधिक प्राचीन निवासी *पुरापाषाणयुगीन* आदिम सभ्यता के लोग थे। जो पेड़ों और प्राकृतिक खोहों में रहते थे। धीरे-धीरे उन्होंने नदियों के तट पर पेड़ों के नीचे अपने निवास बनाए। उन्होंने वन्य पशुओं के मांस को पकाना सीखा। उनकी जिन्दगी संगठित नहीं थी।

पुरापाषाण संस्कृति के पश्चात् *मध्यपाषाण* संस्कृति का विकास हुआ। *मध्यपाषाण संस्कृति* के लोग शिकार करके जीवन निर्वाह करते थे। शिकार के साथ-साथ खाने के लिए मछली पकड़ते थे। जंगली फल, कंद-मूल खाकर रहते थे। **डॉ. आर.सी. मजूमदार** के अनुसार उन्होंने मिट्टी के बर्तन बनाना सीख लिया था। यह एक बड़ी उपलब्धि थी। उनका जीवन कठोर और संघर्षपूर्ण था।

मध्यपाषाण संस्कृति के बाद *नवपाषाण संस्कृति* का उदय हुआ। इस सभ्यता की मानव जाति ने पत्तियों से बदन ढकना सीखा। पत्थर के नुकीले हथियार बनाए। सूखी घास और पत्तियों आदि से झोंपड़े बनाए। आग की खोज की और खाना पकाना सीखा। उन्होंने आत्माओं, वृक्षों की पूजा करना प्रारंभ किया और पशु बलि प्रारंभ की। आदिम मूल भारतवासियों की *नवपाषाण संस्कृति* बड़ी व्यापक थी। पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में इस आदिम सभ्यता का सही चित्रण संभव नहीं है।[3]

ताम्र पाषाणयुगीन संस्कृति के लोगों ने पत्थर के हथियार और बर्तन बनाए और धीरे-धीरे ताम्र और कांस्य का प्रयोग सीखा। शिकार और मछली पकड़ने के साथ-साथ वे आदिम प्रकार की खेती करना भी जानते थे। उन्होंने पालतू जानवरों के बारे में दक्षता हासिल की। उन्होंने मातृशक्ति (मातृदेवी) की पूजा प्रारंभ की। शवों को जलाने या दफनाने की प्रक्रिया विकसित की। एक प्रकार से यह मातृसत्तात्मक सभ्यता थी।

द्रविड़ों ने, जैसा कि समाज वैज्ञानिकों का विश्वास है, सुदूर अतीत में समाज विकास की एक भिन्न विकसित स्थिति को देखा। भारत के प्राचीन सभ्यता के इतिहास में उनकी अलग संस्कृति थी जो *पुरापाषाण संस्कृति, मध्यपाषाण संस्कृति* और *नवपाषाण संस्कृति* से सर्वथा भिन्न थी और अधिक विकसित थी।

द्रविड खेती करने और पशुपालन से परिचित थे। वे प्राचीनतम लोग थे जो सिंचाई के लिए नदियों पर बांध बनाना जानते थे। वे भवन निर्माण और किलेबंदी जानते थे। यह भी संभव हैं कि वे 'ग्राम्य प्रज़ातंत्र' के निर्माता रहे हों। जिसका संचालन आदिम मुखियाओं द्वारा होता हो, जैसा कि आज भी आदिवासी समाज में मिलता है। यह निश्चय ही मातृसत्तात्मक समाज रहा होगा। द्रविड़ परंपरा में अपने बच्चों को लेकर मां एक सुनिश्चित और विकासशील समाज का शक्ति केंद्र थी। जब तक जाति व्यवस्था या समाज विभाजन नहीं हुआ था पुरुष शिकार करने या मछली पकड़ने के लिए अपने झोंपड़ों से निकलते

थे और स्त्रियां घर में कामकाज और बच्चों को संभालती थीं। द्रविड़ लोगों में एक प्रकार से जनजातीय समाज के दर्शन किए जा सकते हैं और लोग छोटे समूहों में अपने-अपने कुलचिह्न (टोटम) के साथ रहते थे। कुल या गणचिह्नों में पशु, वृक्ष और पक्षी आदि का प्राधान्य था जिसने प्राचीन द्रविड़ और ताम्रपाषाणयुगीन संस्कृति के लोगों में धर्म का रूप ग्रहण कर लिया।[4]

दलित इतिहास का स्वरूप

दलित इतिहास का वर्तमान वास्तविक स्वरूप जानने के लिए भारत की प्राचीन जाति व्यवस्था के इतिहास पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। यद्यपि अस्पृश्य और दलित जातियां इतिहास के हर दौर में सामाजिक विषमताओं और सामाजिक बहिष्कार, अस्पृश्यता, जातिभेद और दासता का शिकार थीं, लेकिन देश की एकता, संस्कृति, कला और आर्थिक समृद्धि में उसके बहुआयामी योगदान की महत्वपूर्ण भूमिका रही। उनके उदय और विकास, अधःपतन और जीवन संघर्ष के विषय में धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त इतिहास में अपूर्ण अथवा अतिरंजित जानकारी मिलती है।

ऋग्वेद से बौद्ध काल, बौद्ध धर्म के पतन से लेकर नवजागरण काल के भारतीय समाज के लगभग 5000 साल के सामाजिक इतिहास में वर्ण व्यवस्था, जाति विभेद, अस्पृश्यता और पतनशील दासता के अनेक लिखित प्रमाण बिखरे पड़े हैं। **इरफान हबीब** ने ठीक ही कहा है कि—

> *हमारे इतिहास की ऐसी कोई भी व्याख्या विचार योग्य नहीं हो सकती जिसमें जाति व्यववस्था की भी व्याख्या सम्मिलित न हो।*[5]

जाति विषयक शोध अध्ययन : दलित अस्पृश्यों की व्यथा कथा

उन्नीसवीं सदी के मध्य और स्वातंत्र्य पूर्व भारत में अनेक विद्वानों ने भारतीय जाति व्यवस्था और जातिगत रीतिरिवाजों, जातीय संस्कृति विषयक शोधपूर्ण कृतियां प्रकाशित कीं। इनमें भारत की शूद्र-दलित जातियों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

भारतीय जाति व्यवस्था के विषय में ईसाई मिशनरियों और अंग्रेज विद्वानों ने ही अध्ययन की महत्वपूर्ण परंपरा शुरू की। उनमें रेवरेंड बोवर रचित *एस्से ऑन हिंदू कास्ट* (1851) एवं जॉन विल्सन की कृति *इंडियन कास्ट* (1850-1875) तथा मैक्समूलर एवं म्यूर आदि के शोध-प्रकाशन प्रमुख हैं। बाद में जे.एम. भट्टाचार्य : *हिंदू कास्ट्स एंड सैक्ट्स* (1896) ई.ए.एच. ब्लंट : *कास्ट सिस्टम इन नार्दन इंडिया* (1931), डब्ल्यू क्रुक : *ट्राइब्स एंड कास्टस—एन.डब्ल्यू. प्रौविंसेज एंड अवध, 4 खंड* (1896), एन.के. दत्ता : *औरिजिन एंड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इंडिया* (1931) तथा *आर्यनाइजेशन ऑफ इंडिया* (1920), आर. फिक : *सोशल आर्गनाइजेशन इन नोर्थ ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम* (1920), डॉ. घुर्ये :

कास्ट एंड रेस इन इंडिया (1932), इब्बट्सन : *पंजाब कास्ट्स* (1891), एस.बी. केतकर : *हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इंडिया, दो भाग* (1909 एंड 1911) किट्स : *कंपेनडियम ऑफ कास्ट्स फाउन्ड इन इंडिया* (1855), नेसफील्ड : *ए ब्रीफ रिव्यू आफ दि कास्ट सिस्टम ऑफ दि एन. डब्ल्यू. प्रौविंसेज एंड अवध* (1855), ओ' मैली : *इंडियन कास्ट सिस्टम* (1932) एवं *इंडियाज सोशल हेरीटेज* (1934), हयवदन राव : *इंडियन कास्ट सिस्टम* (1943) रिज्ले : *ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ बंगाल* (1891), *पीपुल ऑफ इंडिया* (1915), आर. वी. रसेल : *ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सैंट्रल प्रौविंसेज,* 4 खंड (1916), एमनाइल सेनार्ट : *लेस कास्ट डेंस'ल इंडे* (1896) (सर ई. रौस द्वारा 1936 में अंग्रेजी में अनूदित), एम. ए. शेरिंग : *हिंदू ट्रायब्स एंड कास्ट्स,* 3 खंड (1872-1881), जी. स्लेटर : *द्रविडियन ऐलीमेंट्स इन हिंदू कल्चर* (1914), स्टील : *लॉ एंड कस्टम ऑफ हिंदू कास्ट्स* (1868), थर्स्टन एंड रंगाचारी : *कास्ट्स एंड ट्राइब्स ऑफ साउथ इंडिया,* 7 खंड (1909), नानजुनडय्या, एस. वी. एंड राव बहादुर एल.के. अनंतकृष्णा अय्यर : *मैसूर ट्राइब्स एंड कास्ट्स,* खंड 1-4 (1910) आदि आदि की प्रमुख शोधकृतियां हैं।[6]

गदर से पहले तंजौर के मिशनरी **रेवरेंड ए. बोवर** ने *ईस्ट इंडिया कंपनी* के शासनकाल में ***'एस्से ऑन कास्ट'*** में भारत की अन्यायपूर्ण जाति प्रथा का अध्ययन प्रस्तुत किया। इस अध्ययन में उन्होंने हिंदू शास्त्रों से संस्कृत में उद्धरण दिए और ईसाई धर्म की उदारता पर भी चर्चा की तथा नवदीक्षित ईसाइयों की सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश डाला। उनकी यह कृति कलकत्ता से सन् 1851 में प्रकाशित हुई थी। वे अपने शोध कार्य में उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में ही प्रवृत्त हो गए थे। इसमें दक्षिण के अस्पृश्यों द्वारा सन् 1840 में बोर्ड ऑफ रेवेन्यू, मद्रास के नाम दिए गए ज्ञापन पर भी चर्चा है जिसमें ब्राह्मणवाद के शिकार दलितों को सरकारी नौकरियों में लेने की प्रार्थना की गई थी। चर्च द्वारा अस्पृश्यों और धर्मांतरण द्वारा ईसाई बने लोगों के संरक्षण का भी इस कृति में उल्लेख है।[7]

जॉन विल्सन ने भी **भारतीय कास्ट** (*इंडियन कास्ट*) नाम से दो जिल्दों में जाति प्रथा का गहन शोध-अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने 1850-1870 के मध्य इस पर शोध किया था। वे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंबई के अध्यक्ष तथा बंबई विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे। 1875 में उनका देहांत हुआ। इस पुस्तक का मुद्रण कार्य 1857 में ही प्रारंभ हो चुका था।

उन्होंने लिखा कि कास्ट (जाति) भारतीय मूल का शब्द नहीं। यह पुर्तगाली शब्द '*कास्टा*' से निकला है जिसका साधारणतया अर्थ है मोड़ना, ढालना, समुदाय, प्रकार और गुण। पुर्तगाल वासी जब 'पूर्व' में आए तो उन्होंने हिंदुओं की जातियों में प्रचलित विचित्र धार्मिक-सामाजिक विभेद देखे। 'कास्ट' का पर्याय भारतीय शब्द 'जाति' है जो लैटिन के *जैन्स (जैन्ट)* और ग्रीक के प्रजाति या रास्ट्र *(रेस या नेशन)* से मिलता-जुलता है। जबकि जाति-भेद *'जैन्टिस डिस्क्रीमिना'* (प्रजातीय भेदभाव) का द्योतक है। हिंदुओं ने मूलतः 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया है जो 'रंग' का सूचक है।

कालांतर में जाति (अथवा कास्ट) सूचक ये भारतीय शब्द न सिर्फ प्रजाति और

वर्ण (रंग) भेद, वरन् मूल, वंशपरंपरा, धार्मिक, संस्थागत और परंपरागत विभेद के लिए भी जैसा कि हम सोच सकते हैं, प्रयोग में आए।[8]

विल्सन के अनुसार मिश्रवासी जैसा कि हेरोडोटस ने लिखा 'विश्व के राष्टों में अपने को प्राचीनतम' मानते थे तथा सर्वाधिक धार्मिक तथा परंपरागत रीति-रिवाजों से अत्यधिक लगाव रखनेवाले थे और अपनी प्रजाति में किसी को सम्मिलित नहीं करते थे। लेकिन हिंदुओं ने अपने राष्ट्रीय और पारिवारिक मामलों, अपने अधिकारों और विशेषतया पुरोहितों में प्रचलित द्विजवर्णीय श्रेष्ठता, अपने रीति-रिवाजों, अपने जातीय उद्भव और व्यवसाय के मामलों में विराट विभेद, जटिलता, धार्मिक और सामाजिक भेदभाव की विषमताओं में मिश्रवासियों को भी पीछे छोड़ दिया है। दलित-अस्पृश्यों के शोषण एवं जातिग्रस्त भारत के अधःपतन का खुलासा करते हुए विल्सन ने लिखा है कि *भारतीय जाति प्राचीन और संप्रभु लोगों के समस्त अभिमान, घृणा और अन्याय का संक्षेपण है जिन्होंने अपने संपर्क में आई मूल आदिमजातियों जिनको कि दास बना रखा है जिन पर शासन स्थापित कर रखा है और जिनके कि प्रति मानवीय सहानुभूति तक नहीं है। यह एक महान देश की असाधारण अतिशयोक्ति पूर्णता और रहस्यात्मकता, झूठी परिकल्पनाओं और धार्मिक-नैतिक संकोचशीलता का प्रतिफलन है जो अधःपतन और भ्रष्टाचार की प्रक्रिया का शिकार हो चुका है। यह सब अब हिंदुत्व की आत्मा और शरीर बन चुका है।*[9]

सिंधु घाटी-हड़प्पा संस्कृति

ऋग्वेद पूर्व सिंधु घाटी सभ्यता के दौर में हड़प्पा-मोहनजोदड़ो की नगरीय—संस्कृति लगभग 400 वर्ष तक फली-फूली। उसमें उन्नत-संपन्न सामाजिक जातियों के प्रमाण मिले हैं। इसका अनुमान सहज ही सिंधु नगरों की खुदाई में मिले घरों की भिन्नता से लगाया जा सकता है। कुछ घर छोटे दो कमरों वाले थे, कुछ बड़े दो तले घर थे।[10] कुछ विशाल प्रासाद जैसे थे। लोगों की व्यावसायिक दक्षता उद्योग और व्यापार हेतु समुद्री पोतों के निर्माण और आवागमन से की जा सकती है। प्राप्त कलाकृतियां, मालाओं के मनके, मुहरें, ईंटें, मिट्टी के पके बर्तन, तांबे, चांदी, स्वर्ण, कांस्य, पत्थर, शंख और हड्डियों से बने गहने-मूर्तियां उस युग की जातीय-कलात्मक श्रेष्ठता और सामाजिक स्तर की कहानी कहती हैं।[11] हड़प्पा संस्कृति में यद्यपि व्यवसायिक विशेषज्ञों के साफतौर पर श्रेणीगत प्रमाण तो मिलते हैं, लेकिन किसी प्रकार के जाति-प्रजाति के विभेद के बारे में निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।[12] निसंदेह यह पूर्ण विकसित सभ्यता थी और इसके लोगों में सामाजिक स्तर, श्रेणी और श्रम-विभाजन रहा होगा।

ऋग्वेद और वर्ण

पी.वी. काणे ने कृष्ण वर्ण के दासों या दलित-दस्युओं के विषय में ऋग्वेद से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए है। जिनमें उनके पराभव, पुरों के विनाश और उन पर आर्यों के हमले के

विवरण मिलते हैं। ऋग्वेद में 'वर्ण' रंग व प्रकाश के रूप में प्रयुक्त हुआ है (यथा I 73.7, II 3.5, IX 97.15, IX 104.4, 105.4, X 124.7)। ऋग्वेद के कतिपय छंदों में 'वर्ण' व्यक्तियों के समुदाय का द्योतक है जिनकी चमड़ी कृष्ण या श्वेत वर्ण की है। ऋग्वेद (II12.4) में 'इंद्र' दास को एक गुफा में रखते अथवा कृष्णवर्णी दस्यु को पराधीन करते दिखाया गया है। ऋग्वेद (I 179.6) में महाबली 'अगस्त्य' दोनों वर्णों को ललकारता है, ऋग्वेद (IX 71.2) में योद्धा की तरह ललकारते हुए, वह (सोम) जोकि शक्तिशाली है, घोर आवाज में असुर रंगवाले को पुकारता है (युद्ध के लिए आवाज देता है); ऋग्वेद (I 130.8) में 'इंद्र' आर्य यज्ञकर्ताओं को युद्ध में सहायता देता है,...मनु के मानार्थ दासों को दंड देता है, जो कृष्णवर्णी उनके विधि-विधान का पालन नहीं करते उनके प्राण हरण करता है। ऋग्वेद (III 34.9) में उसे आर्यवर्ण के रक्षक और दस्युओं के हंता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद (IV 16.13) में 'इंद्र' का स्तवन किया गया है जो विदथिन के पुत्र ऋजूसग्न के लिए पिप्रू और शक्तिशाली मृगया को पराजित करता है; जो पचास सहस्र कृष्णवर्णी लोगों को तृणवत् हनन करता है; दासों (दस्युओं) के नगरों का उसी तरह विनाश करता है जैसे वृद्धावस्था चित्ताकर्षक मुख को विकृत कर देती है। ऋग्वेद (IX 41.1) के अनुसार सोमपायी या सोम (लोग) कृष्ण वर्ण के लोगों पर हमला करते हैं। ऋग्वेद (I 158.5) में 'त्रेतन' नामक दास का जिक्र आता है जो पर्सियन (फारसी) शब्द से मिलता-जुलता है। निसंदेह ऋग्वेद (I 104.2) में उच्च वर्ण को दास विरोधी कहा गया है। ये सब उद्धरण इस बात के द्योतक है कि 'आर्य' और 'दास' (दलित) दो विरोधी समुदाय (खेमे) थे और दोनों को उनकी चमड़ी के रंग के कारण आर्य समाज-व्यवस्था में अलग 'वर्ण' के रूप में विभाजित कर रखा था।[13]

तैत्तिरीय ब्राह्मण (I 2.6) में महाव्रत के संदर्भ में एक ब्राह्मण और शूद्र में वाद-विवाद दिखाया गया है जिसमें ब्राह्मण को दैवीय वर्ण और शूद्र को असुर वर्ण का बताया है। अगर ऋग्वेद के छंद का तैत्तिरीय ब्राह्मण की सहायता से अर्थ किया जाए तो ऋग्वेद (IX 71.2) **असुर्यम वर्णम्** से शूद्र प्रजाति का तात्पर्य होगा। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में आर्य और दास अथवा दस्युओं के मध्य युद्ध के समय इंद्र आदि देवताओं का आह्वान करते हुए दस्युओं को पराजित करने की प्रार्थना की गई है (देखें ऋग्वेद I 51.8, I 103.3, I 117.21, II 11.2, 4, 18, 19; III 29.9; V 70.3; VII 5.6; IX 88.4; VI 18.3 एवं 25.2)।[14]

यहीं नहीं 'इंद्र' से प्रार्थना की जाती है कि वह आर्य और दस्युओं में भेद करे। आर्य 'वृहस्मत' कहे गए और दस्यु 'अव्रत' बताए गए हैं जिसका अर्थ उनके अलग अलग मत-संप्रदाय से है। दस्यु 'अव्रती' या 'अक्रतु' इसलिए कहे गए कि वे देवाराधना और देव विधान का अनुसरण नहीं करते। उन्हें 'मृध्रवाच' कहा गया, क्योंकि उनकी वाणी आर्यों से अलग और हलकी है। उन्हें 'अनासाय' कहा गया क्योंकि उनकी नाक चपटी है। अतः दास और दस्यु पर्यायवाची हैं और कभी-कभी उन्हें असुर कहा गया।[15]

ऋग्वेद (III 12.6) के अनुसार 'इंद्र' एवं 'अग्नि' का आह्वान किया जाता है कि

उन 90 नगरों का विनाश कर दें जिनके 'दास' लोग स्वामी हैं। ऋषि अनेक छंदों में आर्य विरोधी दस्युओं (दासों) को पराजित करने के लिए आह्वान उनका करते हैं।[16]

यद्यपि ऋग्वेद (X 90) के पुरुष सूक्त में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति में वर्ण शब्द नहीं आया। लेकिन कोई इस बात की अनदेखी नहीं कर सकता कि बाद के साहित्य में ब्राह्मण को एक जाति के रूप में नहीं गिना गया। ऋग्वेद के छंद में उदगगातरी ऋषि की तरह 'साम' गायन को कहा गया है, अतः ब्राह्मण या ब्रह्मपुत्र का अर्थ 'ऋत्तुज' से है और उसका कर्तव्य है वह शांत पाठ करे (ब्रह्मणाच्छमसिन) जैसा कि सायण ने अपने भाष्य में लिखा है। यह माना जाता है कि ऋग्वेद के अन्य छंदों की तुलना में पुरुष सूक्त बहुत बाद का छंद (मंत्र) है। पूरे ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के अतिरिक्त वैश्य और शूद्र शब्द कहीं नहीं आते। जबकि अथर्ववेद (V 17.9) में वैश्य और (IV 20.4 ,एवं 8) में शूद्र और आर्य शब्द आए हैं। तैत्तिरीय संहिता में यह कई बार आया है।[17]

पी.वी. काणे ने अपने 'धर्मशास्त्र के इतिहास' में वेदों के अतिरिक्त अन्य धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की धार्मिक-सामाजिक स्थिति पर गहन सोदाहरण अध्ययन प्रस्तुत किया है।

पी.वी. काणे के अनुसार बाद के साहित्य में 'दास' का तात्पर्य 'सर्फ' या स्लेव (सेवक या गुलाम) से था। ऋग्वैदिक 'आर्य' जो 'दास' जाति के विरोधी माने जाते हैं वह परस्पर सुलह-सी कर लेते हैं और पराभूत दास आर्यों की सेवा में आ जाते हैं। यह विजेता जाति और पराजित जाति के अंतर्संबंध को दर्शाती है। लेकिन यह सदियों में घटित हुआ।

मनुस्मृति (III 413) के अनुसार ईश्वर ने शूद्र को 'दास्य' भाव से ब्राह्मण सेवा के लिए पैदा किया है। तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और अन्य ब्राह्मण ग्रंथों में शूद्र का वही स्थान है जो स्मृति में है। इसलिए, **काणे** के अनुसार, इसका यह अर्थ निकलता है कि विजेता आर्यों द्वारा जीते गए दास अथवा दस्यु क्रमशः शूद्र बना दिए गए। शत्रुभाव से मित्रभाव को बल मिला, मित्रता बढ़ी और उन्हें समाज में छोटा दर्जा दिया गया। ऋग्वेद (VIII 46.32) में आया है कि दास बलभूत और तरुक्ष दो गायनकर्ता (वेदपाठी) ने 100 गाय और अन्य उपहार स्वीकार किए। ऋग्वेद में आता है कि कृष्ण वर्ण की चमड़ीवाले दासों से आर्य अलग थे।[18]

बुद्ध और ईसा पूर्व ऋग्वेद के रचनाकाल तथा बाद की सामाजिक-राजनीतिक तथा धार्मिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में हम दलित इतिहास के सूत्र तलाश कर सकते हैं। **विल्सन** के कथनानुसार—

> *"वेद के रचियता जो कि प्रतिष्ठित धर्मवेत्ता ऋषि थे और जिन्हें निसंदेह आर्य जातियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था अपने लेखन में प्रवृत्त होने के कारण पवित्र उपहारों की कामना करते हैं। वे कहते हैं ऐसे उपहार प्रदानकर्ता अमरत्व प्राप्त करेंगे और उन्हें भौतिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति होगी।"[19] इसका सीधा अर्थ है कि ऋषि भौतिक वस्तुएं प्राप्त करने की कामना रखते थे।*

वैदिक युग में दासों पर प्रतिबंध नहीं थे। ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यक, उपनिषद, सूत्रों, रामायण,

महाभारत और पुराणों के रचनाकार समाज में ब्राह्मण श्रेष्ठता के साथ-साथ क्षत्रिय और वैश्यों के यशोगान गाते दिखाई देते हैं। साथ ही शूद्र राजाओं के वर्णन भी मिलते हैं। लेकिन रामायण-महाभारत में शूद्र, जंगली जातियों तथा शिल्पियों-श्रमजीवियों का पर्याप्त उल्लेख है। तब तक सैन्य और कृषि क्रांति के साथ नगरीय संस्कृति पनप चुकी थी। ग्रीक लेखकों ने भी जाति व्यवस्था पर प्रकाश डाला है जो बहुत महत्वपूर्ण है। निसंदेह बाद में अस्पृश्यता को स्थायी बनाने के लिए समाज नियंताओं ने दोहरी व्यवस्था की थी। पहली व्यवस्था उन्होंने अस्पृश्यों पर अनेक प्रकार की सामाजिक निर्योग्यताएं लाद दीं। अस्पृश्य क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते, इसकी विस्तृत नियमावली विभिन्न धर्मसूत्रों में वर्णित है। दूसरी व्यवस्था थी इन नियमों की अवहेलना करनेवालों के लिए दंड विधान की।[20]

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार शूद्र की उत्पत्ति आदि पुरुष के पैरों से बताई गई है। यह मात्र परिकल्पना और वैज्ञानिक अवधारणाओं के विरुद्ध आर्य-मिथ्यावाद है। दास-शूद्र की उपस्थिति में वेदपाठ वर्जित था। उनके लिए यज्ञ-याग विधान का निषेध था। ब्राह्मण शूद्र से उपहार ग्रहण नहीं कर सकता था (मनु, XI 24 मनु IV 222) धार्मिक अनुष्ठानों में सेवा कार्य के लिए लगाए गए शूद्र को अपने सिर का मुंडन करना आवश्यक था, उनका भोजन ब्राह्मणों का बचा-खुचा खाद्य था। कालांतर में मिश्रित जातियों (वर्णसंकर) का उद्‌गम और विकास हुआ जिनको परिभाषित किया गया। मैक्समूलर ने ऋग्वेद का संपादन किया था। उनके अनुसार इसमें जाति प्राचीन वैदिक काल में आर्यों की व्यवस्थित संस्था के रूप में विद्यमान नहीं थी। 10 अप्रैल, 1858 के **'लंदन टाइम्स'** में म्यूर ग्रंथावली की आलोचना में कहा गया था कि—

> *''वर्तमान काल में क्या जाति जैसा कि मनु ने उल्लेख किया है वह वेदों की धार्मिक शिक्षा के अनुरूप हैं? इसका उत्तर निश्चित ही नहीं में होगा। जाति की जटिल व्यवस्था के विषय में वेद में कोई प्राधिकार नहीं है, ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त अपराधपूर्ण अधिकारों को कहीं भी प्राधिकृत नहीं किया गया, शूद्रों की पतनावस्था के लिए अधिकार प्रदान नहीं किए गए। ऐसा कोई विधि विधान नहीं जो विभिन्न जातियों के लोगों को परस्पर रहने से रोक सके। उन्हें साथ-साथ खाने-पीने से रोक सके। ऐसा कोई विधान नहीं जो विभिन्न जातियों में अंतरजातीय विवाह को प्रतिबंधित तथा ऐसे विवाहों को कलंकित मानता हो। वेद में जो कुछ मिलता है—जोकि एक प्राचीनतम मंत्र-छंद में वह यह है कि चार जातियां पुरोहित, योद्धा, किसान-वैश्य और शूद्र (सेवक) ब्रह्मा ने पैदा किए। यूरोपवासियों ने सिद्ध कर दिखाया है कि यह मंत्र (छंद) मंत्रों के समूह में बहुत बाद का है।''*[22]

जाति व्यवस्था

दलितों को दबाकर रखने वाली जाति प्रथा के बारे में कोई इंकार नहीं कर सकता कि जाति

व्यवस्था पुरातन और जटिल संस्था है। जाति का प्रश्न, जाति की समस्या सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही रूपों में बहुत घातक है। व्यवहारतः यह एक बहुआयामी परिणामों वाली व्यवस्था है। यद्यपि यह एकदेशीय समस्या है, किन्तु यह व्यापक स्तर पर अपकार कर सकती है।[23]

जाति व्यवस्था के कठोर स्वरूप को न सिर्फ हिंदू धर्मशास्त्रों में देखा जा सकता है, वरन् उनसे सामाजिक व्यवस्था के अंतरसंबंधों के विभिन्न स्तरों पर जघन्यतम, क्रूर प्रणाली के रूप में अनुभव किया जा सकता है। जाति प्रथा ने ही अंतर्जातीय विवाह संस्था को प्रतिबंधित किया। इसी ने अस्पृश्यता को जन्म दिया। अस्पृश्यों के सामाजिक-आर्थिक अधिकार छीनकर उन्हें दलित-सामाजिक व्यवस्था में निस्सहाय बनाया।

जब तक भारत में जाति व्यवस्था स्थापित रहती है तब तक हिंदू गैरों से शायद ही विवाह या सामाजिक मेल-मिलाप करेंगे और यदि हिंदू अन्य देशों के बाहर बस जाएं तो भी यह भारतीय जाति व्यवस्था एक विश्व समस्या का रूप धारण कर लेगी।[24]

जातिप्रथा : भारतीय इतिहास की विलक्षण सामाजिक संस्था

जैसा कि इतिहासविद् **इरफान हबीब** ने कहा है–

> "जाति प्रथा भारतीय इतिहास की विशिष्टतम, और कुछ लोगों के विचार में, विलक्षण सामाजिक संस्था है। हमारे इतिहास और संस्कृति की किसी व्याख्या की परिधि में यदि जातिप्रथा को नहीं समेटा जाता, तो उसे गंभीरता से नहीं लिया जाएगा।"[25]

दामोदर धर्मानन्द कोसांबी ने ऐतिहासिक विकास के आलोचनात्मक विश्लेषण के साथ मानवशास्त्रीय छानबीन की एक जीवंत भावना को समानतापूर्वक समन्वित किया।[26] इस प्रकार के किसी भी प्रयास में सबसे पहले परिभाषा की समस्या को हल करना आवश्यक होता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि यह एक कठिन कार्य है। फिर भी प्रस्थान-बिंदु के रूप में एक कामचलाऊ परिभाषा देने का प्रयास किया जा सकता है। **हबीब** आगे कहते हैं :

> *"हम कह सकते हैं कि कोई जाति एक स्पष्ट और अलग समुदाय है जिसके सदस्य आपस में अंतर्विवाह (और अनुलोम विवाह) के संबंधों में बंधे होते हैं। प्रायः उनके बीच किसी वास्तविक या कल्पित साझे वंशगत व्यवसाय का भी संबंध होता है। फिर भी लगता है कि अनेक समाजशास्त्री इस परिभाषा को एकदम अपर्याप्त मानते हैं। उनके विचार में हमें अन्य जातियों के सापेक्ष किसी जाति-विशेष की एक खास श्रेणी भी माननी होगी जो उस जाति के विशेष के अन्य जातियों की 'शुद्धता' और 'अशुद्धता' की कोटियों में अभिव्यक्त होती है। साथ ही यह प्रत्येक जाति के विशिष्ट रीति-रिवाजों और आचार-व्यवहार में भी अभिव्यक्त होती है।[27] अपनी कृति **होमो हियरार्किकस**[28] में **लुई ड्यूमो**, जैसा कि पुस्तक के शीर्षक से स्पष्ट है, सोपान के सिद्धांत को जाति-व्यवस्था का मूल तत्व, उसका उत्स मानते हैं। इसके*

बिना जाति-प्रथा का अस्तित्व ही संभव नहीं है।"

"वर्ण-व्यवस्था—और उसके परिणामस्वरूप छूआछूत की प्रथा, भारत की एक अनूठी सामाजिक वास्तविकता है जिसकी जटिलता आसानी से समझ में नहीं आती। वर्ण व्यवस्था की जड़ें अतीत के अंधकार में कहीं छुपी है और इसी कारण समाजशास्त्र के विद्वान इस विषय पर एकमत नहीं हैं कि जातिभेद की इस अनोखी प्रथा का आरंभ कैसे हुआ और वह किस प्रकार विकसित हुई। हां, एक बात है और वह यह कि वर्ण-व्यवस्था की रूपरेखा स्पष्ट है और उसके बारे में कोई मतभेद नहीं है। सामाजिक विकास के प्रारंभिक चरण में समाज का वर्णों या व्यवसाय के आधार पर अलग-अलग समूहों में बंट जाना अनिवार्य ही था और यह वर्ग अथवा समूह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहे। इस प्रकार आप देखेंगे कि इतिहास के प्रारंभ से ही जाति प्रथा की कुछ विशेषताएं रही हैं।

क़बीलों की एक विशेषता यह है कि रोटी और बेटी के रिश्ते उनमें अपने तक ही सीमित रहते हैं। जब राष्ट्रों ने जन्म लिया तो उनमें बहुत से कबीले या जातियां थीं जिनमें एक-दूसरे के प्रति अत्यधिक घृणा और द्वेष की भावना विद्यमान थी। यद्यपि ये कबीले एक-जैसी भाषा बोलते थे और एक-दूसरे से, मिलते हुए क्षेत्रों में रहते थे पर उनमें परस्पर शादी-विवाह नहीं होते थे।

अपनों के साथ रोटी का रिश्ता—अर्थात् अपने लोगों को ही खानपान में शामिल करना—इसलिए नहीं था कि दूसरों के साथ बैठकर खाने-पीने से भ्रष्ट होने का डर था, बल्कि इसलिए कि वे कठोर परिश्रम से जुटाए अन्न का सदुपयोग करना चाहते थे।

जब आर्य लोग भारत आए तो वे जाति में ही विवाह करने की स्थिति से आगे बढ़ चुके थे। उनमें तीन ही वर्ग थे जो व्यवसायपरक थे—पुरोहित, योद्धा और कारीगर। इस त्रिवर्ण समाज में वर्ण का अर्थ एक विशेष सामाजिक कृत्य और संस्कृति तथा जीवन शैली का अपना-अपना अलग स्तर था।"[29]

जगजीवन राम ने आगे आक्रांता आर्य और भारत मूल के लोगों के मध्य संघर्ष की पुष्टि करते हुए लिखा :

"जब आक्रमणकारी आर्यों और भारत के मूल निवासियों के बीच टकराव हुआ तो उसके परिणामस्वरूप संस्कृतिपरक भेदभाव तो अधिक उत्कट हुए ही, व्यवसायपरक भेदभाव भी अधिक बढ़ गए। उसी समय चौथी जाति—शूद्र—का प्रादुर्भाव हुआ और हमारा समाज चतुर्वर्ण समाज बन गया। ऋषि-मुनियों ने वर्ण व्यवस्था को सनातन तथा शाश्वत की संज्ञा दी और धीरे-धीरे लोगों में यह विश्वास फैल गया कि जाति प्रथा ईश्वर प्रदत्त व्यवस्था है।

इस ईश्वर-प्रदत्त सामाजिक व्यवस्था में पराजित आदिम जातियों के लोगों को सभी अधिकारों से वंचित कर लिया गया और भूमि में भी उनका कोई हिस्सा न रहा। उन्हें गांवों से बाहर रहने पर विवश होना पड़ा। जो काम सबसे घटिया माने जाते थे वही उनको

सौंपे गए। वे लोग आज के अछूतों के पूर्वज थे (आज अछूत कहे जानेवालों की अलग-अलग कई जातियां हैं) जिन्हें अस्पृश्य या पंचम की संज्ञा दी जाती थी। वे हिंदू जाति से संबद्ध तो थे परंतु उसका अंग नहीं थे क्योंकि चतुर्वर्ण समाज के सोपानतंत्र में उन्हें कोई भी स्थान नहीं दिया गया था।

जब आर्यों की विजय और उनके देश में बसने की प्रक्रिया चल रही थी तो कई अन्य तत्व थे जिनका प्रभाव उस युग के सामाजिक संगठन पर पड़ रहा था। लोग एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थानों पर जा रहे थे। रीति रिवाज बदल रहे थे। कुछ मूल निवासी कबीलों ने आर्यों के आगे न केवल आत्म समर्पण कर दिया था, बल्कि उनके धर्म को भी स्वीकार कर लिया था; परंतु बाकी कबीले ऐसा नहीं कर पाए और उनकी युयुत्सु मुद्रा बनी रही। आर्यों को अपने गोरे रंग पर अभिमान था और वे सांस्कृतिक दृष्टि से अपने को ऊंचा समझते थे। वे अपनी नस्ल को शुद्ध बनाए रखना चाहते थे। इन कारणों से त्रिवर्ण समाज चतुर्वर्ण समाज बन गया जिसमें बहुत-सी जातियों और उपजातियों का प्रादुर्भाव हुआ।''[30]

''पुरोहित वर्ग ब्राह्मणों का था जो बुद्धिजीवी और आध्यात्मिक नेता थे। यह विश्वास किया जाता था कि विद्वत्ता और आध्यात्मिक ज्ञान दीक्षा के विषय हैं और उनकी प्राप्ति एकाग्रचित्त होकर ही की जा सकती है। इसलिए शारीरिक श्रम ब्राह्मणों के लिए वर्जनीय हो गया। क्षत्रियों के लिए भी ऐसा ही विधान था। क्योंकि वे ब्राह्मणों के समान सत्ता में भागीदार थे और ब्राह्मणों के प्रतिस्पर्धी थे। क्षत्रियों के अभिजातवर्ग को केवल बलप्रयोग से बचाए रखना संभव नहीं था, इसलिए ब्राह्मणों ने विस्तृत नियमावली तैयार की जिसके अंतर्गत न केवल विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक समूहों के लिए आचरण के नियमों का विधान किया गया बल्कि कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की भी व्यवस्था की गई। प्रारंभ में वर्ग सामाजिक कृत्य और सांस्कृतिक स्तर का प्रतीक था लेकिन बाद में यह विचार प्रचलित हो गया कि समाज में विभिन्न वर्गों की व्यवस्था ईश्वर-प्रदत्त है। पुनर्जन्म, कर्म और माया के सिद्धांतों की सहायता समाज के वर्गीकरण को उचित ठहराने के लिए ली गई। एक शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण मुट्ठीभर लोगों के वर्ग ने सारे समाज पर जो समताविहीन और अलोकतांत्रिक व्यवस्था थोप दी थी, उसे इन्हीं सिद्धांतों की सहायता से जीवित रखा गया।''[31]

''हिंदुओं के विश्वासों और उनके विशेष सामाजिक संगठन के कारण अधिकतर विदेशी आक्रमणकारियों को हिंदुओं की वर्णव्यवस्था में आत्मसात् करने में सहायता मिली। मुस्लिम आक्रमणकारियों के आने तक हिंदू समाज में जाति प्रथा धर कर चुकी थी। विभिन्न जातियों के रहन-सहन के बारे में विस्तृत नियमावली का विकास हो चुका था। जीवन के प्रत्येक पहलू के बारे में नियम थे। कानून के सामने बराबरी का सवाल नहीं था। जाति प्रथा में निहित असमानता ईश्वर-प्रदत्त है, ऐसी मान्यता बन चुकी थी। इस कारण विधि-निर्माताओं ने किसी भी बात का ध्यान रखे बिना विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न प्रकार के दंड का विधान किया। अलग-अलग जातियों के लिए अलग-अलग करों की

व्यवस्था की गई। धर्म और पुनर्जन्म तथा कर्म की धारणाओं ने लोगों की मानसिक स्थिति को एक नई दिशा दी।

इस मनःस्थिति के कारण अधिकतर अस्पृश्य-दासों, शूद्र लोगों के मन से विद्रोह का विचार लुप्त हो गया। उन्हें न केवल अपने भरण-पोषण बल्कि शोषक वर्ग के लिए भी श्रम करना पड़ता था।"[32]

कोसांबी जैसे विद्वान जाति प्रथा के उदगम को उत्पादन के एक आदिम स्तर की वर्ग व्यवस्था मानते हैं। इसलिए ऋग्वेद और बाद की वर्ण व्यवस्था का निरूपण श्रम विभाजन का आदिम स्वरूप कहा जा सकता है। ऋग्वेद में सामाजिक कठोरता के दर्शन नहीं होते।

कोसांबी के अनुसार—

"जाति प्रथा को मुख्यतः एक क्रम में उपजी विभिन्न सामाजिक संरचनाओं में उसकी भूमिका के आधार पर व्याख्यायित किया जाना चाहिए। कोई सामाजिक संरचना 'श्रम की प्रक्रिया' के किसी रूप पर आधारित होती है और इसलिए वह तब उत्पन्न होती है जब समाज के उत्पादक 'अतिरिक्त उत्पादन' में समर्थ होते है। यह सोचना व्यर्थ है कि इस चरण से पहले भी जातिप्रथा जैसी संस्था का अस्तित्व रहा होगा। वास्तव में ड्यूमो स्वयं इसे स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि जाति प्रथा के उदय के लिए श्रम विभाजन आवश्यक था जो आदिम समाजों में नहीं पाया था।"[33] ऋग्वेद का 'पुरुष सूक्त' चातुर्वर्ण्य का आरंभिकतम निरूपण है और यह जातियों से अधिक सामाजिक वर्गों का वर्णन करता है। ये वर्ग है—राजन्य (शासकगण), ब्राह्मण (पुरोहितगण), विश (व्यापक जनता, मुख्यतः कृषकगण) तथा शूद्र (दस्युगण से उत्पन्न सेवकगण)। वैदिक काल में न तो वंशगत श्रमविभाजन का कोई संकेत मिलता है और न ही किसी प्रकार की अंतर्विवाह व्यवस्था का। इस प्रकार इन वर्णों में बाद में विकसित जाति प्रथा का बहुत कम तत्व पाया जाता था।"

तब जनसंख्या बाहुल्य नहीं था। राजन्य शासन सूत्र संभालते थे। व्यवस्था नियमन इसका कार्य था। ब्राह्मण समाज के मार्गदृष्टा थे। सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक कृत्यों में प्रजाजन (यजमान) के सहायक मार्गदृष्टा थे। उनमें से श्रेष्ठतम राजन्य के रीति-नीति नियामक हुआ करते थे। विश कृषक और व्यापार के अगुवा थे जबकि शूद्र पूर्णतः शिल्पी, सेवक, रक्षक हुआ करते थे। समाज में इनका मान था। ये समाज के व्यापक अंग थे।

कृषि कर्म, शिल्प, मनोरंजन आदि के कार्यों में श्रम करने वाली जातियां समाज के लिए उत्पादन-वितरण, आमोद-प्रमोद कार्य में सहायक थीं। ये अर्द्धदासता और अस्पृश्यता के शिकार थे। वर्ग के रूप में यह अत्यधिक बिखरा समाज था। **हबीब** ने उदाहरण देते हुए कृषि अर्थव्यवस्था और समाज के निचले स्तर के लोगों की कार्य-संस्कृति पर प्रकाश डाला है—

"कृषक और निकृष्ट जातियों का यह अलगाव एक बहुत ही सामान्य प्रकार का श्रम-विभाजन है। लेकिन जैसा कि **प्रो. आर.एस. शर्मा** ने ध्यान दिलाया है, बौद्ध

मत के उदय की पूर्ववेला में एक द्वितीय नगरीय क्रांति घटित हुई थी।[34] पहली नगरीय क्रांति का प्रतिनिधित्व हड़प्पा संस्कृति करती थी। इसका अर्थ है कि अनेक प्रकार की उत्पादक कुशलताओं का विकास हुआ होगा। **गार्डन चाइल्ड** ने 'अनेकों पूर्णकालिक विशेषज्ञों' के उदय के लिए 'जोड़दार संडासियों, कैंचों, हंसियों, पाटदार चक्कों जैसे नये उपकरणों और श्रम में बचत करनेवाली विधियों' के महत्व पर जोर दिया है।[35] इनमें से कुछ उपकरण (कैंचे और पाटदार चक्के) तक्षशिला में पहली सदी ईसवी तक विकसित हो चुके थे।[36] जातक-कथाओं में हमें धातुकर्मियों और काष्ठकारों की आबादी वाले 'उत्पादकों के ग्रामों' का उल्लेख मिलता है।[37] यह संभव है कि व्यापकतर समाज में पूरे-के-पूरे अवशोषित हो रहे कबीलों के कुछ भाग उदीयमान श्रम-विभाजन के दबाव के फलस्वरूप अलग हो गये हों। मूल कबीले से अलग हुए विभिन्न हस्तशिल्पियों से अलग जातियां बनीं। इसी कारण मनुस्मृति (X 47-48) में 'संकर जातियों' की श्रेणी में काष्ठकारों, रथकारों और चिकित्सकों को भी रखा गया है।"

व्यापार के विकास के साथ विभेदीकरण की एक ऐसी ही प्रक्रिया के कारण **वणिक** जातियों का विकास हुआ जिनका जातक-कथाओं में भरपूर उल्लेख मिलता है। कालांतर में ये ही वैश्य वर्ण की एकमात्र सदस्य होकर रह गईं।"

वैश्य सामाजिक सोपान में प्रतिष्ठित हो गए। शिल्पी, कृषक दृष्टि से सामाजिक विकास की प्रक्रिया में परिवर्तन हुए सेवक-शूद्र सामाजिक निचले स्तर के सदस्य बने। लेकिन वे सदैव उपेक्षाओं और प्रताड़नाओं के शिकार रहे।

ब्राह्मण वर्ग ने पौरोहित्य, विद्याध्ययन, राज्य की नीति-निर्धारण एवं मंत्रणाकारो गृहस्थ धर्म में धार्मिक अनुष्ठानों के संपादन आदि का कार्यभार संभाला। स्मृतिकारों ने उनकी सामाजिक स्थिति को और सुदृढ़ किया।

जाति प्रथा में ब्राह्मणों की स्थिति स्वाभाविक रूप से उनके पुरोहिती के दायित्वों से और जाति प्रथा को संरक्षण देनेवाले धर्म पर उनके एकाधिकार से निर्धारित हुई। **कोसांबी** का विचार है कि उनकी स्थिति अंशतः पंचांग पर उनके अधिकार से भी निर्धारित हुई क्योंकि कृषि-कार्य के नियमन के लिए इसका अत्यधिक महत्व था।[38]

ब्राह्मण सामाजिक चक्र के केंद्र में स्थित होने से सर्वपूज्य-सर्वमान्य थे। जन्म से मृत्यु तक मानव जीवन के हर कार्य-व्यापार में उनकी सलाह ली जाती थी। जातिप्रथा के वे मेरुदंड थे। उनके समस्त क्रियाकलाप, ब्राह्मणत्व के प्रतीक शिखा, यज्ञोपवीत, तिलकछाप यहां तक कि वस्त्र सभी उन्हें श्रेष्ठ मानव घोषित करने में सहायक थे।

जाति प्रथा का जो भाग परिवर्तनों से सबसे अधिक प्रभावित हुआ वह शासक और योद्धा वर्ग (क्षत्रिय, राजन्य) का था। आक्रमणों और विद्रोहों के कारण सशस्त्र शक्ति पर वंशगत एकाधिकार बनाए रखना अत्यंत कठिन था। पुराणों में इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार जाति प्रथा को तार्किक रूप से जहां सबसे अधिक मज़बूत होना चाहिए

था वहीं, अर्थात शासक वर्ग के स्थायित्व के संदर्भ में, वास्तविक अर्थ में, यह सबसे अधिक कमजोर भी थी। इस प्रकार समूची जाति प्रथा में शोषण की ऐसी व्यवस्था निहित थी जिसके प्रमुख लाभार्थी, उसकी अपनी प्रकृति के कारण अकसर-वेशतर सत्ताहरण करनेवाले या विदेशी लोग रहे हैं।

अधिकांशतः जो भी विदेशी जातियां भारत में आई। वे लूट के उद्देश्य से कम, ज्यादातर भारत भूमि पर शासन करने के उद्देश्य से आई थीं। आश्चर्य है उन्होंने यहां जाति व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं किया।

ऐतिहासिक खोजों के आधार पर आर्य समस्त उत्तर भारत और हिमवंत प्रदेश में फैलते गए। उन्होंने स्थानीय द्रविड़ जातियों, मूल निवासियों को पराजित किया। उस युग में कुछ भोजन संग्रही, पशु-पक्षियों को मारकर क्षुधा शांत करनेवाली जंगली जातियां भी थीं, उनसे भी आर्यों का सामना हुआ।

कृषि-क्रांति, ग्राम-बस्तियों और नगरीय संस्कृति का उनपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। कुछ समुदाय-कबीले समाज के उपयोग की चीजें बनाने की ओर प्रवृत्त हुए। चमड़े, कपड़े, लोहे, बांस-लकड़ी के प्रयोग का धीरे-धीरे चलन बढ़ता गया। लेकिन ये समुदाय या जातियां अस्पृश्य दलित बनी रहीं। **कोसांबी** के अनुसार–

> "पराभूत होनेवाले भोजनसंग्राही गण निम्नतम जातियों में परिवर्तित होकर रह गए–इतने निम्न कि वे चार वर्णों से भी बाहर माने गए।[39] मनुस्मृति में 'संकर' जातियों की जो गणना दी हुई है उसमें इन समुदायों की बहुलता का पता चलता है। सैरंध्र पशुओं को आकृष्ट करके फंसाते हैं; कैवर्त नाविक हैं; निषाद मछलियां पालते और मारते हैं; मंद, आंध्र, चुंचु और मादगु 'वन्य पशुओं का शिकार' करते हैं; क्षत्री, पुक्कस और उग्र बिलों में रहने वाले पशुओं का शिकार करते हैं; कारावर और घिग्वण चमड़े के काम करते हैं और पांडु, सोपाक बेंत के काम करते हैं (मनु, दस, 32, 34, 36-7, 48-49)। बौद्ध ग्रंथों में चांडाल और निषाद, दोनों का वर्णन शिकारियों के रूप में मिलता है। ये ही मूल 'अस्पृश्य' जातियां थीं।[40] उनको कृषि-कर्म से वंचित रखा गया था और उनके अपने मूल या बाद में अपनाए गए व्यवसायों का शून्य के बराबर या मौसमी महत्व मात्र था। इसलिए वे परतंत्र, भृत्य, भूमिहीन श्रम के एक विशाल स्रोत बन गए जो कम से कम लागत पर भी किसानों या श्रेष्ठतर भूस्वामियों के वास्ते काम करने के लिए उपलब्ध था। इस दृष्टिकोण से इनकार कर सकना कठिन है कि इन निकृष्ट जातियों के प्रति शेष समाज ने गहरी शत्रुता का जो भाव प्रदर्शित किया उसका उद्‌गम हितों के इसी मूलभूत संघर्ष से हुआ था। 'शुद्धता' और 'अशुद्धता' की धारणाएं इसी बुनियादी आर्थिक तथ्य को औचित्य प्रदान करने का साधन थीं।"

कृषक और निकृष्ट जातियों का यह अलगाव एक बहुत ही सामान्य प्रकार का श्रम विभाजन है। यहां **प्रो. आर.एस. शर्मा** ने एक द्वितीय नगरीय क्रांति का संकेत दिया

है। इतिहासकार मानते हैं कि बुद्ध पूर्व भारत का कोई क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास प्राप्त नहीं है।

"समय के, घटनाओं के, इतिहास के प्रति भारतीय साहित्य और सभ्यता में आमतौर पर जो उदासीनता पाई जाती है उससे इतिहासकार का कार्य बहुत कठिन हो जाता है। ...लेकिन इन परिस्थितियों में क्या भारत का भी उस अर्थ में कोई इतिहास है जिस अर्थ में ईसाई सभ्यता का, बल्कि चीन तक का इतिहास है।[41]

ड्यूमो यहां-वहां इसके उदाहरण देते है कि भारत की 'इतिहास-हीनता' (नान-हिस्ट्री) की व्याख्या कैसे की जा सकती है। उनकी विवेचना में सबसे प्रभावशाली उदाहरण बौद्ध मत के उत्थान-पतन का है। उनके विचार में जातिप्रथा की विचारधारा का तकाजा है कि व्यक्ति समाज का परित्याग करे।[42] इनमें से कुछ 'संसार-त्यागी' ब्राह्मणों से प्रतियोगिता करने लगते हैं इसकी प्रतियोगिता में बुद्ध नें और जैनों ने अहिंसा का सिद्धांत विकसित किया और पशु-हत्या तथा मांस-भक्षण को अशुद्धता का कारण कहकर उनकी निंदा की। फलस्वरूप ब्राह्मणों ने पशुबलि को छोड़ दिया और शाकाहार पर अपने को चुनौती देनेवालों से भी अधिक बल और अधिक व्यवस्थित रूप में जोर देने लगे।[43] इस प्रकार बौद्धों को धक्का लगा, शाकाहार शुद्धता का एक और प्रतीक बन गया। इसके कारण ब्राह्मणों को तब तक चैन की नींद लेने का अवसर मिल गया जब तक कि संसारत्यागियों के एक और समुदाय (अर्थात लिंगायतों) ने उभरकर उनके मुकाबले कुछ और विपथगामी सिद्धांत सामने नहीं रखे। आरंभिक बौद्ध मत की सफलता की व्याख्या के लिए **कोसांबी** ने पशुपालन से कृषि की ओर होनेवाले संक्रमण को और **आर.एस. शर्मा** ने नगरों के उदय और वाणिज्य के विकास को उत्तरदायी ठहराया है। मगर उनके प्रयास व्यर्थ हैं। इसके पीछे एकमात्र कारण 'शुद्धता की भाषा' का एक सफलतर प्रयोग था। फिर यह प्रयोग सफल भी हुआ तो इसका भी कारण 'संसार-त्याग' की संवृत्ति थी।"

बौद्ध मत में दीक्षित भिक्षुओं ने जाति प्रथा के सभी बंधन तोड़ दिए। ब्राह्मण पुरोहितों ने जाति प्रथा और ब्राह्मणवाद को अविभाज्य बनाए रखा। संपन्न खेतिहर शाक्यों और कोलियों के यहां कम्मकर दास थे। खेतिहर मजदूर रखने की प्रथा थी। इनकी अपनी सैन्य व्यवस्था थी। लेकिन बौद्ध मत ने जाति व्यवस्था को ढीला किया। वर्ण व्यवस्था ने कृषकगण के पतन में भी योगदान किया। किसानों को वैश्य वर्ण में न रखकर शूद्र वर्ण में रखा गया। उनके इस पतन में अहिंसा के सिद्धांत की भी एक भूमिका रही। यहां स्मरणीय है कि बुद्ध शाक्य थे और उनकी माता कोली। शाक्य और कोली कबीलाई क्षत्रिय थे। कृषिकर्मी शाक्य और कोलियों के मध्य रोहिणी नदी जल बंटवारे को लेकर युद्ध की स्थिति बनी। बुद्ध इसीलिए गृह त्यागकर संन्यस्त जीवन के पथिक बने।

मनुस्मृति में (दस, 84) में हल के प्रयोग की इस आधार पर निंदा की गई कि इसकी लोहे की नोंक जीव-हत्या का कारण होती है।

इत्सिंग के कथनानुसार बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं को कृषि कर्म से दूर रहने का आदेश

दिया। क्योंकि हल चलाने और सिंचाई के लिए जल प्रयोग से जीव हत्या होती है।[44]

जहां भी भारत की सीमाओं के बाहर त्रिवर्णिक समाज का व्यक्ति गया अपनी जाति को लेकर गया। बाहर उसका जातीय दंभ यद्यपि उसके बहुत कम काम आया लेकिन उसमें उच्च वर्ग की हिंदू मानसिकता का पूर्णतः लोप नहीं हुआ।

डॉ. अम्बेडकर जाति व्यवस्था

"सिद्धांततः जिन महापुरुषों ने, आत्मोल्लास हेतु, इसकी उत्पत्ति के मूल कारणों का पता लगाने के प्रयास किए हैं, वे विफल रहे हैं। ऐसी स्थिति में मैं इस समस्या के सर्वांग की विवेचना नहीं कर सकता। यदि मैं इसके एक ही अंग अर्थात जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति, रचना और विस्तार की व्याख्या करने में अपने को सीमित नहीं रखूंगा तो मुझे आशंका है कि इस पर व्यय होनेवाला समय और बौद्धिक श्रम व्यर्थ जाएगा। मैं इस नियम का कड़ाई से पालन करूंगा। और बाहर के विषय का तभी उल्लेख करूंगा जब कि अपनी प्रस्थापना के किसी बिंदु के स्पष्टीकरण के लिए ऐसा करना आवश्यक हो जाएगा।

अब मैं विषय वस्तु की चर्चा करता हूं। सुविख्यात नृशास्त्रियों के मतानुसार भारतीय समाज आर्यो, द्रविड़ों, मंगोलों और सीथियनों का मिश्रण है। ये सब लोग सदियों पहले जब कबायली जिंदगी व्यतीत कर रहे थे तब अपनी-अपनी संस्कृतियों के साथ भारत पहुंचे। अपने से पहले आए लोगों को पराजित कर इन जातियों ने अपने लिए जगह बनाई और काफी लड़ाई-झगड़े के बाद शांतिप्रिय पड़ोसियों की भांति यहां बस गए। निरंतर संपर्क और पारस्परिक संसर्ग के माध्यम से इन्होंने एक सार्वजनीन संस्कृति विकसित की ओर अपनी विशिष्ट संस्कृतियों का परित्याग किया; यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रकार सभी जातियों का संपूर्ण सम्मिलन नहीं हो पाया। भारत के विभिन्न भागों का भ्रमण करनेवालों को यह स्पष्ट हो जाएगा कि पूर्व तथा पश्चिम और उत्तर-दक्षिण के लोगों की शरीर रचना तथा वर्ण (रंग) में काफी अंतर है। लेकिन जैसा कि कहा जा सकता है कि सम्मिलन किसी मानव समाज की सजातीयता का एकमात्र आधार नहीं हो सकता।

नृशास्त्रीय आधार पर सभी समाज विषम-जातीयता (हेट्रोजिनस) वाले होते हैं। सजातीयता (होमोजिनिटी) का एकमात्र आधार मात्र सांस्कृतिक एकता होती है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए मैं यह कहने का साहस कर सकता हूं कि सांस्कृतिक एकता के विषय में कोई भी देश भारतीय महाद्वीप की प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। यहां मात्र भौगोलिक एकात्मकता ही नहीं है वरन् इससे भी अधिक गंभीर और मौलिक एकता भी है—यह देश के एक कोने से दूसरे कोने तक व्याप्त निश्चयात्मक सांस्कृतिक एकता है। ऐसी सजातीयता के कारण ही जाति समस्या का विश्लेषण कठिन हो जाता है। यदि हिंदू समाज पारस्परिक एकाकी इकाइयों का संघ मात्र होता तो मामले का (विश्लेषण करना) सरल हो जाता। किंतु जाति-व्यवस्था के कारण सजातीय इकाई का विभाजन हो जाता है और

यही विभाजन की प्रक्रिया जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति की व्याख्या है।"[45]

नृतत्व विज्ञान के अध्येताओं और समाजशास्त्रियों ने जाति को कई तरह से परिभाषित किया है–

1. विषय के एक फ्रांसीसी विद्वान **श्री सेनार्ट** ने जाति को इस भांति परिभाषित किया है : "यह एक निकायवत है, सिद्धांत रूप में कठोर आनुवांशिकता से आबद्ध है, इसके पारस्परिक और स्वतंत्र संगठन होते हैं और एक मुखिया होता है और परिषद होती है जिसकी यदा-कदा बैठकें होती हैं, जो न्यूनाधिक पूर्ण अधिकार-युक्त होती है, कतिपय उत्सवों के अवसर पर सब एकत्र होते हैं, समान धंधों से आपस में जुड़े रहते हैं, इसका संबंध मुख्यतः विवाह, खान-पान और सांस्कारिक मलिनता से होता है : अधिकार क्षेत्र विविध प्रकार का होता है और दंड विधान को अमल में लाकर और अंततः अविकल्पीय समाज-बहिष्कार लागू कर जाति की अधिकार सीमा से समाज को परिचित कराने में सफलता प्राप्त होती है।"
2. श्री **नैसफील्ड** ने जाति को परिभाषित करते हुए लिखा है : "यह समाज का एक ऐसा वर्ग होता है जो अन्य वर्ग से किसी प्रकार का (सामाजिक) संबंध स्वीकार नहीं करता और (इसके सदस्य) अपने वर्ग के अलावा किसी अन्य वर्ग के साथ न तो शादी-विवाह का रिश्ता जोड़ते हैं और न खान-पान में भागीदार बनते हैं।"
3. **सर एच. रिजले** के अनुसार : "किसी जाति की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि 'यह परिवारों या कुटुंब-दलों का समूह होती है और ऐसे समान नाम वाली होती है जो प्रायः पेशे विशेष का सूचक होता या उससे संबद्ध होता है; यह अपने को एक ही पौराणिक पुरुष, चाहे वह मानव हो या देवता, का वंशज मानती है, एक ही व्यवसाय अपनाती है और जो मत व्यक्त कर सकने की क्षमता रखनेवालों की दृष्टि में एक सजातीय समाज होता है।"
4. **डाक्टर केतकर ने जाति** को इस प्रकार परिभाषित किया है कि "यह ऐसा सामाजिक समूह होती है जिसके लक्षण होते हैं–(1) इसकी सदस्यता समाज के व्यक्तियों की सन्तति और इस प्रकार जन्में लोगों तक ही सीमित रहती है; और (2) इसके सदस्यों पर कठोर सामाजिक नियमों के अधीन समाज से बाहर विवाह करने पर सख़्त पाबंदी रहती है।"[46]

डॉ. अम्बेडकर ने इन विद्वानों की परिभाषाओं का विश्लेषण करते हुए लिखा : *"अपने उद्देश्य हेतु इन परिभाषाओं का पुनरीक्षण बड़ा महत्व रखता है। यदि (प्रारंभ में) तीन लेखकों की परिभाषाओं पर अलग-अलग विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि इनमें या तो बहुत अधिक या बहुत कम बातें सम्मिलित हैं : कोई भी स्वयं में पूर्ण या सही नहीं है और जाति-व्यवस्था का रचना संबंधी मुख्य मुद्दा सभी में*

छूट गया है। इनमें गलती यह की गई है कि जाति को, अपने में एक (पूर्ण) पृथक यूनिट मानकर परिभाषित करने का प्रयास किया गया है और उसे संपूर्ण जाति-व्यवस्था के अंतर्गत एक ऐसा ग्रुप नहीं माना गया है जिसका इस व्यवस्था से सुनिश्चित संबंध है। समष्टि रूप में देखा जाए तो प्रत्येक परिभाषा एक-दूसरे की पूरक है; हर किसी परिभाषा में किसी-न-किसी बात पर बल दिया गया है जो अन्य में अदृश्य है। इसलिए आलोचना के दृष्टिकोण से मैं उन्हीं मुद्दों को लूंगा जो उक्त परिभाषाओं में सभी जातियों में समान रूप से परिलक्षित होते हैं, तथा जाति की विशेषता समझे जाते हैं, और इसी आधार पर उनका पुनर्मूल्यांकन करूंगा।"

"इसे श्री **सेनार्ट** के कथन से आरंभ किया जाए। वह इस ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि 'मलिन विचार' जाति व्यवस्था का विशिष्ट चरित्र है। इस विचार के संबंध में बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यह किसी अर्थ में भी जाति विशेष की विशिष्टता नहीं होती। यह विचार पुरोहितों के कर्मकांडवाद से उत्पन्न होता है और स्वच्छता संबंधी आत्मविश्वास का द्योतक है। फलतः इसका जाति से आवश्यक संबंध होने की बात को, जाति की कार्यप्रणाली को हानि पहुंचाए बिना, पूर्णतः नकारा जा सकता है। 'मलिनता' की बात जाति-संस्था से इसलिए जोड़ दी गई है क्योंकि धर्मोपदेश देनेवाली जाति (पुरोहित) को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है और हम जानते हैं कि पुरोहित और स्वच्छता का संबंध बहुत पुराना है। इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 'मलिनता की बात' जाति की विशिष्टता तभी तक मानी जा सकती है जब तक कि जाति धार्मिक भावना से मंडित है।

श्री **नैसफील्ड** का, कहने का अपना ढंग यह है कि जाति से बाहर के लोगों के साथ खान-पान न करना जाति का विशिष्ट चरित्र होता है। यद्यपि यह एक नया दृष्टिकोण है तथापि हम कहेंगे कि श्री **नैसफील्ड** ने कार्य को कारण समझने की गलती की है। जाति ऐसी इकाई होती है जो स्वयं को बाड़े में बंद कर लेती है इसीलिए वह अपने सदस्यों के खान-पान सहित सामाजिक मेल-मिलाप को अपने दायरे तक सीमित कर देती है। फलतः बाहरी लोगों के साथ खान-पान संबंधों का न होना निश्चयकारी प्रतिबंधों के कारण नहीं वरन् जाति व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम होता है और जाति-स्वभाव है जाति की अनन्यता। खान-पान संबंधों के न होने का मूल कारण यह अनन्यता ही थी जिसने धार्मिक आदेश के आधार पर प्रतिबंधात्मक चरित्र ग्रहण कर लिया लेकिन इसे बाद की उपज समझा जाना चाहिए। **सर एच. रिज़ले** ने कोई नई बात नहीं कही जिसकी ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक समझा जाए।"[47]

अब मैं **डाक्टर केतकर** की परिभाषा पर विचार करता हूं जिन्होंने इस (जाति) विषय पर प्रकाश डालने के लिए बहुत कार्य किया है। उन्होंने आलोचनात्मक बौद्धिक सूक्ष्मता और खुले दिमाग से जाति-संस्था का गहरा अध्ययन किया है। उनकी परिभाषा विचारणीय है क्योंकि उन्होंने जाति-व्यवस्था के संदर्भ में अन्तर्निहित जाति विशेष को परिभाषित किया

है और उन्हीं विशिष्टताओं पर ध्यान केन्द्रित किया है जो जाति व्यवस्था के अंतर्गत जाति विशेष के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है और शेष सभी बातों को, गौण प्रकार का होने के कारण, छोड़ दिया है। यद्यपि उनका भाष्य बड़ा ही सरल और स्पष्ट है किन्तु इसमें कुछ वैचारिक भ्रम दृष्टिगोचर होता है। उनका कहना है कि जाति में ही विवाह और स्वजाति सदस्यता, जाति के दो विशेष चरित्र होते हैं। मेरी मान्यता है कि ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, दो अलग-अलग वस्तुएं नहीं है जैसा कि **डाक्टर केतकर** समझते हैं। जब आप अंतर्जातीय विवाह प्रतिबंधित कर देते हैं तो परिणामस्वरूप आप सहज ही जाति की सदस्यता को जाति में पैदा हुए लोगों तक सीमित कर देते हैं। इस प्रकार वे एक सिक्के के दो पहलू बन जाते हैं।''[48]

डॉ. इरफान हबीब ने लिखा है कि : ''ड्यूमो के विचार में जाति-प्रथा को उसकी मूलतः धार्मिक (हिंदू) विचारधारा की दृष्टि से समझा जाना चाहिए क्योंकि इस प्रथा के तमाम रूपों में यहीं विचारधारा व्याप्त है। इसकी अभिव्यक्ति श्रेणियों की अनंत, जटिल और परस्पर-विरोधी व्यवस्थाओं में होती है जिनमें उच्चतम श्रेणी हमेशा ही ब्राह्मणों की होती है। ये ही 'पवित्रतम' होते है और अधिकांश कर्मकांडों का संचालन करते है। यह श्रेणीकरण शक्ति या संपत्ति के वितरण से उत्पन्न नहीं होता, और ने उसके संगत होता है बल्कि यूं कह लें कि शुद्धता और अशुद्धता के मूलभूत सिद्धांतों के निरूपण से उत्पन्न होता है। इस प्रकार जातियां वर्गों का 'कोई चरम' रूप नहीं है। न ही जाति प्रथा सामाजिक संस्तरीकरण की कोई व्यवस्था है क्योंकि यह संपत्ति या शक्ति के वितरण के संगत नहीं होती और न ही इसका ऐसा होना आवश्यक है। **ट्यूमो** इस बात पर भी जोर देते हैं कि जाति प्रथा को एक 'अवयवी' के अवयव के रूप में' समझा जाना चाहिए। (यह उनका चहेता मुहावरा है।) इसका अर्थ है कि पूरा समाज ही जातियों में विभाजित होता है और इस विभाजन के बाद उसका कोई भी सार्थक अवशेष नहीं बचता। इस प्रकार व्यवहार में जाति-प्रथा या तो समाज के संगठन का एकमात्र या सबसे महत्वपूर्ण रूप होगी या फिर इसका अस्तित्व भी नहीं होगा।

ब्राह्मणों ने जाति प्रथा को कभी भी शिथिल नहीं किया। बौद्ध धर्म ने वर्ण (जाति) के बंधन ढीले किए। जैन धर्म जो वर्ण व्यवस्था का विरोधी माना जाता है, स्वयं वैश्य जाति का धर्म बन गया और धर्म जाति का पर्याय बन गया।[49]

डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में :

पुन :

''यह कहना अर्थहीन है कि व्यक्ति समाज का निर्माण करता है, जबकि वास्तविकता यह है कि समाज तो सदैव ही वर्गों के सम्मिलन से बनता है। वर्ग संघर्ष की बात पर बल देना अतिशयोक्ति है। लेकिन समाज में अनेक वर्गों का अस्तित्व तथ्यात्मक है। इन बातों के अस्तित्व का आधार भिन्न-भिन्न हो सकता है। ये आधार आय या बौद्धिक अथवा सामाजिक हो सकते हैं किंतु व्यक्ति सदैव ही समाज के किसी

वर्ग का सदस्य होता है। यह एक विश्वव्यापी तथ्य है और हिंदू समाज इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता था, और जैसा कि हमें ज्ञात है कि वह ऐसा नहीं था। यदि हम इस सामान्यीकरण को ध्यान में रखें तो जाति की उत्पत्ति के अध्ययन से हमारा प्रयास बहुत सरल हो जाएगा क्योंकि हमें यही तो निश्चित करना है कि वह वर्ग कौन था जिसने सर्वप्रथम जाति का स्वरूप ग्रहण किया क्योंकि कहा यह जाना चाहिए कि वर्ग और जाति सहोदर हैं और उनमें नाम मात्र का अंतर है। एक जाति, बाड़े में घिरा वर्ग ही होती है।"[50]

डॉ. अम्बेडकर ने समाज में श्रेणीकरण की तथ्यात्मक बातों पर विचार करते हुए कहा :

"जाति के उद्भव के अध्ययन से हमें इस प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए कि वह कौन-सा वर्ग था, जिसने अपने लिए बाड़ा खड़ा किया? यह प्रश्न अत्यधिक जिज्ञासा पैदा करनेवाला प्रतीत हो सकता है लेकिन यह बहुत प्रासंगिक है क्योंकि इसके उत्तर से ही देश की जातियों के उद्भव और विकास का रहस्य उद्घाटित हो सकेगा। दुर्भाग्यवश मैं इसका प्रत्यक्ष उत्तर देने में असमर्थ हूं। मैं इसका अप्रत्यक्ष उत्तर ही दे सकता हूं। मैंने अभी कहा कि हिंदू समाज में कुछ प्रथाएं प्रचलित थीं। इस तथ्यात्मक वक्तव्य को सही सिद्ध करने हेतु इसकी अर्हता के संबंध में कुछ कहना आवश्यक है क्योंकि वक्तव्य यह प्रकट करता है कि ये प्रथाएं सर्वव्यापी थीं। अपने समस्त प्रतिबंध के साथ ये प्रथाएं केवल एक जाति में पाई जाती हैं : वह जाति है ब्राह्मणों की जिसको हिंदू वर्ण-व्यवस्था में समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। क्योंकि इन्हें गैर-ब्राह्मण वर्गों ने ब्राह्मणों से ग्रहण किया था अतः उनका पालन न तो उतनी कड़ाई से होता है और न उतनी पूर्णता से। यदि इन प्रथाओं का गैर-ब्राह्मण वर्गों में प्रचलन ब्राह्मणों से आया है, जैसा कि सरलता से सिद्ध किया जा सकता है, तो इस सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है कि जाति-संस्था का जनक ब्राह्मण वर्ग है। ब्राह्मण वर्ग ने अपने स्वयं की घेराबंदी एक जाति के रूप में क्यों कर ली थी। यह एक भिन्न प्रश्न है। इसके उत्तर का उपयोग बाद को किया जाएगा। लेकिन इन प्रथाओं का कड़ाई से पालन और सभी प्राचीन सभ्यताओं में पुरोहित वर्ग द्वारा सामाजिक उच्चता का अधिग्रहण यह सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है कि उन्होंने ही इस 'अस्वाभाविक संस्था' को जन्म दिया और 'अस्वाभाविक ढंग' से इसको कायम रखा।"[51]

प्रारंभ में गैर-ब्राह्मणों में जाति प्रथा निश्चित तौर पर नियमित-संचालित की गई होगी। विद्वानों की यह धारणा रही है कि किसी नियामक, स्मृतिकार ने जाति व्यवस्था का नियमन किया, जो कालांतर में असाधारण समाज विकास स्तरों के नियमनीकरण के कारण अस्तित्व में आई। प्रभु जातियां अपने से कमजोर लोगों को दबाती चली गई। बलवान, चैतन्य और संगठित तबके, दलित समुदाय या शूद्र समाज पर हावी रहे। उनके विकास

की अवधारणाओं, परंपराओं का लंबा इतिहास है। वेद स्मृतियों ने हिंदू समाज को वर्णों में विभक्त किया, उनके उद्‌भव पर मनगढंत प्रकाश डाला, उनके कार्य-व्यापार बताए, समाज व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वोच्च निरूपित किया। दंड विधान स्थापित किया। ये नियामक, समाज नियंता, स्मृतिकार कौन थे? इस संबंध में **डॉ. अम्बेडकर** के विचार ध्यान देने योग्य हैं।

वह निसंदेह असाधारण लेकिन चालाक प्राणी रहे होंगे। उसे राज्य का संरक्षण और समाज के प्रभु वर्ग से स्वतंत्रता मिली होगी। मनु एक नहीं, एक संस्था, एक विचार के रूप में पनपा। यह एक व्यवस्था थी, जिसका सर्वाधिक शिकार दलित और शूद्र हुए। इसकी काली छाया पांच हजार साल से समाज को भ्रमित किए हुए है।

डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में जाति व्यवस्था के दृढ़ीकरण में मनु ने प्रमुख भूमिका निबाही। समाज व्यवस्था पर उन्होंने ने स्पष्टतः कहा :

"प्रत्येक देश में आपातकाल में अवतार के रूप में स्मृतिकार उत्पन्न होते हैं ताकि पतित समाज को सही दिशा-बोध कराया जा सके और न्याय तथा नैतिकता का विधान दिया जा सके। भारत के स्मृतिकार मनु यदि वास्तव में कोई व्यक्ति थे तो निश्चित ही वह अदम्य साहसी थे। यदि यह कथन सही है कि मनु ने जाति-विधान की रचना की थी तो वह अवश्य ही एक दुस्साहसी व्यक्ति रहे होंगे और जिसे समाज ने उनके समाज-विभाजन नियम को स्वीकार किया वह अवश्य ही उससे भिन्न रहा होगा जिससे हम अवगत हैं। यह सोचा भी नहीं जा सकता कि जाति विधान कोई प्रदत्त वस्तु थी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मनु ऐसे विधि-निर्माण के बाद जीवित नहीं रह सकते थे क्योंकि ऐसा कौन-सा वर्ग हो सकता है जो किसी व्यक्ति द्वारा निर्मित विधान के कारण पतितावस्था को पहुंच पशुवत जीवन व्यतीत करना स्वीकार कर ले और दूसरा गगनचुंबी स्थल पर आसीन हो जाए? जब तक वह इतना घोर अत्याचारी व्यक्ति न रहा हो कि समस्त जनता को अपने अधीनस्थ कर सकता हो तब तक यह सोचा भी नहीं जा सकता कि उसे इतना अवसर दिया जा सकता था कि पूर्णतः ऐसी अन्यायपूर्ण संस्थाओं को समाज पर लाद दे जिसका सरसरी तौर पर किए गए अवलोकन से भी पता लग सकता है। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि मैं मनु के प्रति कठोर हूं लेकिन मैं भलीभांति जातना हूं कि मुझमें इतनी क्षमता नहीं कि मैं उसके भूत को मृत्यु का शिकार बना सकूं। वह तो एक मृत-शरीर-आत्मा की भांति विचरण करता है और आकर्षक है तथा मुझे आशंका है कि वह अभी दीर्घजीवी बना रहेगा। मैं आपको एक बात यह बतलाना चाहता हूं कि जाति धर्म का नियम मनु द्वारा प्रदत्त नहीं है और न वह ऐसा कर ही सकता था। जाति तो मनु के बहुत पहले से ही कायम थी। वह इसका समर्थक था इसीलिए उसने उसके विचार-दर्शन की रचना की किन्तु यह निश्चित है कि वह वर्तमान हिंदू समाज विधान का स्थापक नहीं था और न वह

ऐसा कर ही सकता था। जाति-नियमों के संहिताकरण और जाति-धर्म का उपदेश देने के बाद उसका कार्य समाप्त हो गया था। जाति-व्यवस्था का प्रसार और विकास तो एक बहुत विशाल कार्य था जिसको कोई एक व्यक्ति या वर्ग अपनी शक्ति या चातुर्य से पूरा नहीं कर सकता था। ऐसा ही तर्क इस प्रस्थापना पर भी लागू होता है कि ब्राह्मण वर्ग जाति प्रथा का रचयिता था। मैंने मनु के संबंध में जितना कुछ कहा है उससे अधिक कहने की कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती। मैं इस संबंध में सिर्फ इतना ही इंगित करना चाहता हूं कि ऐसा (मनु के संबंध में कुछ अधिक कहने का) विचार गलत होगा और दुर्भावनापूर्ण होगा। ब्राह्मण अनेक गलतियां करने के दोषी रहे हों—और मैं कह सकता हूं कि वे ऐसे (दोषी) थे—लेकिन जाति व्यवस्था को गैर-ब्राह्मणों पर लाद सकने की उनमें क्षमता नहीं थी। उन्होंने अपनी तर्क-पटुता से भले ही इस प्रक्रिया को सहायता प्रदान की हो। लेकिन अपनी ऐसी योजना को निश्चित रूप से अपने सीमित क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ा सकते थे।'[52]

इसमें संदेह नहीं कि मनु की समस्त प्रक्रिया, कार्ययोजना दस्यु, दास, शिल्पी, विजित, मूल निवासी जो कुल मिलाकर दलित-अस्पृश्य बने उन्हें दबाना, गुलाम बनाना था। उन पर अपने विचार थोपने थे।

सदियों पहले वर्ण व्यवस्था वर्ग चरित्र के रूप में निर्धारित हुई थी। जिसे ब्राह्मण-स्मृतिकारों ने विकसित समाज व्यवस्था के अंतर्गत जातीयता के ढांचे में ढाल दिया। दूसरे अर्थ में श्रम विभाजन को कठोर और भयावह बना दिया गया।

डॉ. अम्बेडकर का यह कथन सार्थक है कि—

"यह समझ लेना उचित होगा कि अन्य समाजों की भांति हिंदू समाज भी वर्गों द्वारा गठित हुआ था। प्रारंभ के सुविदित वर्ग थे : (1) ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग (2) क्षत्रिय या सैनिक वर्ग (3) वैश्य या व्यवसायी वर्ग और (4) शूद्र या शिल्पकार अथवा सेवक वर्ग। इस तथ्य की ओर खासतौर पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि यह मूलतः वर्ग-व्यवस्था थी। इसमें योग्यता प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अपना वर्ग बदल सकते थे, फलतः वर्गों के क्रम में परिवर्तन हो जाया करता था। हिंदू इतिहास काल के किसी अवसर पर पुरोहित वर्ग ने (हिंदू) संस्था के अन्य जनों से अपने को सामाजिक रूप में विलय कर लिया और संवृत (घेरे में बंद रहने की) नीति अपना कर स्वयं एक जाति बन गया। सामाजिक श्रम-विभाजन की मान्यता के फलस्वरूप अन्य विभेदीकरण उत्पन्न हो गया जिससे कुछ बड़े ग्रुप कुछ और छोटे ग्रुपों में बंट गए। वैश्य और शूद्र वर्ग मौलिक रूप में अविकसित जीवाणु जैसे थे जो वर्तमान में पाई जानेवाली विभिन्न जातियों के निर्माता तत्व बने। क्योंकि सैनिक पेशे के लोग अति सरलतापूर्वक छोटे-छोटे उपभागों में विभाजित नहीं हो पाते हैं फलतः वे सैनिकों और प्रशासकों के रूप में बदल गए होंगे।"[53]

निसंदेह वैदिक काल में वर्ण और आगे चलकर जाति प्रथा का प्रचलन हुआ। इसी

युग के किसी अनजान कालखंड में सामाजिक परिस्थितियों वश शूद्र, शिल्पकार या सेवक वर्ग बना जो स्पृश्य एवं अस्पृश्य दोनों प्रकार के थे। ये समाज के निचले स्तर के लोग थे। आर्य शब्दावली में अस्पृश्यों में से प्रारंभ में व्रात्य, असुर, यवन, म्लेच्छ जैसी जातियां अस्तित्व में आईं। कालांतर में जिन्हें सामाजिक इतिहास में टूटे या भंग लोग (ब्रोकन मैन) के रूप में जाना गया। पहले सामाजिक ढांचा परिवर्तनशील, लचीला था। बाद में यह सुगठित और कठोर होता चला गया। कमाऊ शिल्पी, दक्ष कुम्भकार आदि निवासी धर्मशालों में अस्पृश्य, निम्नवर्गीय और दलित बना दिए।

त्रिवर्ण से चातुर्वर्ण समाज व्यवस्था के निर्माण में कई शताब्दियां लगीं। इसमें सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक विघटन, कबीलों और जातियों को पराजय शिल्प और धार्मिक मान्यताओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

"जातियों के उद्भव और विकास की इस प्रक्रिया में समाज स्वतः विभाजित होता गया। समाज में उपविभाजन होना बड़ा स्वाभाविक कार्य है। लेकिन ऐसे उपविभाजन में अस्वाभाविक बात यह हुई कि उन्होंने वर्ग-व्यवस्था का खुला चरित्र खो दिया और अपने को आत्म-संवृत्त (घेरे में बंद) यूनिटों अर्थात् जातियों में बदल लिया। इससे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या उन्हें दूसरों के लिए अपने द्वार बंद करने या संवृत होने पर मजबूर किया गया या उन्होंने स्वयं ही ऐसा तरीका अपनाना स्वीकार किया था? मेरा कहना है कि इसका दोहरा उत्तर है—कुछ ने स्वयं दरवाजा बंद कर लिया : कुछ ने पाया कि दूसरों ने उनके लिए दरवाजा बंद कर दिया है। एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या है और दूसरी (समाज की) यांत्रिक व्याख्या है लेकिन ये एक दूसरे की पूरक है और जाति-रचना की घटना को पूर्णरूप से समझने के लिए दोनों आवश्यक हैं।"

डॉ. अम्बेडकर ने आगे लिखा :

"...मनोवैज्ञानिक व्याख्या के संबंध में कुछ कहूंगा। इस संबंध में जिसका उत्तर देना है वह प्रश्न है कि ये औद्योगिक, धार्मिक या कोई अन्य उपविभाजन—आप चाहें तो इन्हें वर्ग कह लें—आत्मसंवृत या अंतर्विवाही क्यों बन गए? मेरा उत्तर है—क्योंकि ब्राह्मण ऐसे ही थे। अंतर्विवाह या संवृत नीति हिंदू समाज में प्रचलित थी, और क्योंकि यह ब्राह्मणों से आरंभ हुआ था इसलिए इसकी सभी गैर-ब्राह्मण उपविभाजित जातियों या वर्गों ने नकल की और वे भी अंतर्विवाही बन गए। विभागीकरण की भावी दौड़ के दौरान अनुकरण का संक्रामक रोग उपविभाजितों पर छा गया और उसने उन्हें जातियों में बदल दिया। अनुकरण की प्रवृत्ति मनुष्य के मस्तिष्क में बहुत गहराई से छायी हुई है और इसे भारत में जातियों के निर्माण का अपर्याप्त कारण नहीं समझा जाना चाहए।"[54]

इस प्रकार जातिभेद से अस्पृश्य और दलितों का एक बहुत बड़ा दास वर्ग बन गया। यह कहना सच नहीं लगता कि दासों, दलितों का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। प्राचीन काल से जो भी साक्ष्य मिले हैं, श्रेण्य ग्रंथ उपलब्ध हैं, ऐतिहासिक विवरण प्राप्त

हैं उनमें दास-दलित-अछूतों का वर्णन अवश्य मिलता है। दलित समाज की यही ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि है, जिसका धार्मिक ग्रंथों में उल्लेख आया है।

संदर्भ

1. चंद्रा, आर. एवं चंचरीक, के.एल. : दलित आइडेंटिटी–हिस्ट्री एंड ट्रेडीशन, पृ. 21
2. उपरोक्त, पृ. 22
3. उपरोक्त, पृ. 22
4. उपरोक्त, पृ. 23
5. हबीब, इरफान : कास्ट एंड मनी इन इंडियन हिस्ट्री, पृ. 3
6. काणे, पी.वी. : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्राज़, पृ. 19-20 (पाद टिप्पणी में प्रस्तुत सूची)
7. बोवर, रेवरेंड एच. : एस्से ऑन हिंदू कास्ट (कलकत्ता क्रिश्चियन ट्रैक्ट एंड ब्रुक सोसाइटी, 1851) पृ.123
8. विल्सन, जान : इंडियन कास्ट, पृ. 12-13
9. उपरोक्त, पृ. 11
10. आलचिन एंड आलचिन (1968), पृ. 272
    फेयर सर्विसः (1971), पृ. 256, 292, 290, 300
    (पालिन कोलेन्डा द्वारा कास्ट इन कंटेपरेरी इंडिया में उद्धृत, पृ. 28)
11. उपरोक्त, पृ. 268/पृ. 261, 299
12. कोलेंडा, पालिन, पृ. 28
13. काणे, पी.वी. : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्राज, द्वि. खं., पृ. 25
14. उपरोक्त, पृ. 25
15. उपरोक्त, पृ. 26
16. उपरोक्त, पृ. 26
17. उपरोक्त, पृ. 27
18. काणे, पृ. 33
19. विल्सन, जॉन : इंडियन कास्ट, पृ. 103
20. मंत्री, गणेश : गांधी और अम्बेडकर, पृ. 49
21. उपरोक्त, पृ. 47
22. उपरोक्त, पृ. 117
23. अम्बेडकर, डॉ. बाबा साहेब : लेख एवं भाषण, खंड 1, पृ. 6
24. केतकर : कास्ट, पृ. 4
25. हबीब, इरफान : भारतीय इतिहास में जाति और मुद्रा, पृ. 9
26. कोसांबी, दामोदर धर्मानंद : कल्चर एंड सिविलाइजेशन इन एंशिएंट इंडिया।
27. हट्टन, जे.एच. : कास्ट इन इंडिया, पृ. 71
28. ड्यूमो, लुई : होमोहियरार्किसस (हबीब द्वारा 333 पृष्ठ)
29. जगजीवन राम : भारत में जातिवाद की चुनौती, पृ. 9
30. उपरोक्त, पृ. 10
31. उपरोक्त, पृ. 10-11
32. उपरोक्त, पृ. 11
33. होमोहियरार्किकस (ड्यूमो के विचार), पृ. 260, 331-332 तथा कोसांबी : कल्चर एंड सिविलाईजेशन ऑफ एंशियंट इंडिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन, पृ. 507 (देखे हबीब, पृ. 12)
34. घोष, ए. : दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया

35. चाइल्ड, वी. गार्डन : सोशल इवाल्यूशन, पृ. 110
36. मार्शल, सर जॉन : टैक्सिला, पृ. 555
37. फिक, आर. : दि सोशल आर्गनाइजेशन...इन बुद्धाज टाइम, पृ. 280-85 (सभी संदर्भ हबीब द्वारा उद्धृत, पृ. 14)
38. कोसांबी : एन इंट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, पृ. 236-3 (हबीब द्वारा उद्धृत, पृ. 14)
39. कोशांबी, डी.डी. : कल्चर एंड सिविलाइजेशन इन एंशिएट इंडिया, पृ. 15
40. झा, विवेकानंद—इंडियन हिस्टारिकल रिव्यू में लेख, पृ. 22-23
(भारतीय जाति प्रथा और मुद्रा का इतिहास में प्रो. इरफान हबीब द्वारा उद्धृत, पृ. 13-14)
41. होमो हियरार्किकस, पृ. 300
42. उपरोक्त, पृ. 231-231
43. उपरोक्त, पृ. 192-95
(देखें हबीब, इरफान : भारतीय इतिहास में जाति प्रथा और मुद्रा, पृ. 11-12)
44. चंचरीक, कन्हैयालाल : कोली जाति का इतिहास
45. डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर लेख एवं भाषण, खंड 1, पृ. 7-7 (सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, उ.प्र.)
46. उपरोक्त, पृ. 7-8
47. उपरोक्त, पृ. 8-9
48. उपरोक्त, पृ. 9-10
49. हबीब, इरफान, पृ. 10
50. डॉ. अम्बेडकर : लेख एवं भाषण, खंड 1, पृ. 19-20
51. उपरोक्त, पृ. 20
52. उपरोक्त, पृ. 22
53. उपरोक्त, पृ. 24
54. उपरोक्त, पृ. 24-25

2
दलितों के मुक्तिदाता फुले

I
युगपरिवर्तनकारी दूरदृष्टा फुले

विगत अध्याय में हमने देखा कि किस प्रकार वेद से लेकर पुराणों की रचना तक और उसके बाद भी दलित, शूद्र-अस्पृश्यों के साथ वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत सामाजिक-भेदभाव और अस्पृश्यता, जातिभेद और सामाजिक बहिष्कार, आर्थिक-शोषण और जीवन के हर कार्य-व्यापार में धर्मसम्मत उत्पीड़न को सनातन और अन्यायपूर्ण बना दिया गया। यह किसी भी उन्नत समाज के लिए जो अपनी संस्कृति और इतिहास पर गर्व करता है लज्जा की बात थी कि समाजोपयोगी, सेवाभावी, उत्पादन निष्णात बहुसंख्यक समाज जातीय विकास के लिए अवसरों से वंचित कर दिया जाय।

इस अध्याय का सशक्त प्रतिकार ईसापूर्व छठी शताब्दी में बुद्ध ने किया। बौद्ध धर्म निस्संदेह एक व्यापक और प्रभावी धार्मिक और सामाजिक आंदोलन था जिसने समाज का पुनर्निर्माण किया वेद और धर्मशालों की प्रधानता स्वीकार नहीं की। शूद्रों अंत्यजों, पतितों, परित्यक्तों और दस्युओं तक को न सिर्फ गले लगाया वरन् उन्हें सद्मार्ग दिखाया और सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित किया। बुद्ध ने अपने समय के चांडाल, पुक्कस, निषाद, बेणु, कम्मकर, चर्म्मकार, दस्यु-दुसाध जैसी जातियों को बराबरी का दर्जा दिया। वर्ण और जन्म आधारित श्रेष्ठता की जगह कर्म को प्रधान्य बनाया। ब्राह्मण और बौद्ध श्रमण (भिक्खु) में कोई भेद नहीं किया। इसलिए यह एक भारी धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्रांति का युग था। जो एक हजार साल तक प्रभावी रहा। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद समाज में कई प्रकार के विघटन, प्रतिक्रांतियां हुई। विदेशी आक्रांताओं का सिलसिला शुरू हुआ। राष्ट्रीय और कविनात्मक एकता के अभाव, मत-मतांतरों की बहुलता और राजवंशों के उदय के कारण सामाजिक-धार्मिक द्वेष की मात्रा अधिक थीं। अशोक जैसे कुछ महान शासक भी हुए जिन पर भारत गर्व कर सकता है। बौद्ध सामाजिक चिंतन की काव्यधारा सिद्धों और नाथों तक पहुंची और लोकभावना से आपूरित यह स्वर कबीर-रविदास जैसे

उदात्त संतों की वाणी में प्रस्फुटित हुआ। सिद्ध और नाथ जाति-पांति निंदक और उग्र भावना वाले थे। निम्न जातियों पर उनका गहरा प्रभाव था। लेकिन वे सामाजिक-विकृतियों के शिकार हुए मध्यकाल इतिहास में दलित और अछूत जातियों के कबीर, रविदास, सेना, धन्ना जैसे संतों ने ही जाति-पांति, ऊंच-नीच, अस्पृश्यता, अंधविश्वास, सामाजिक कुरीतियों का विरोध और ब्राह्मण-मुल्लाओ के प्रति रोष प्रकट किया। जो जातीय-सामाजिक विघटन के सूत्रधारा थे।

सातवीं सदी से मुस्लिम आक्रांताओं ने भारत में पैर जमा लिए थे। बौद्ध धर्म का पत्तन हो गया था। पुरोहितवाद गांव-नगरों में अपनी जड़ें जमा कर चुका था और अस्पृश्यता और जातिभेद का रक्षक बन गया था। मुगलों के पतन के बाद यूरोपीय शक्तियां भारत में हावी हो गई। ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1858 तक अपनी दादागीरी की। बाद में यहां का शासन ब्रिटिश ताज के हाथ में चला गया। वेद और धर्मशास्त्रों ने जिस भेदभाव और जातीय संकीर्णता को जन्म दिया था वह फुले के युग में भी जीवित थी।

आधुनिक भारत के दलित आंदोलन के इतिहास में फुले[1] एक महान शिक्षाविद, सामाजिक सुधारों के पुरोधा, अस्पृश्यता और जातिवाद के कलंक को धोने के लिए एक महान व्रती और इससे भी बढ़कर युग परिवर्तनकारी दूरदृष्टा के रूप में माने जाते हैं। दलित-अस्पृश्यों में शिक्षा और ज्ञान की किरणें उन्होंने ही बिखेरीं। उनमें आत्म-सम्मान की भावना उन्होंने ही जाग्रत की।

महात्मा ज्योतिबा फुले जन्म शूद्र माली जाति में सन् 1827 में पुणे में हुआ था। पेशवाओं ने इनके पूर्वजों को 35 एकड़ इनामी भूमि दी थी। लेकिन परिवार के बुजुर्ग रानोजी ने अपने भाई कृष्ण और गोविंद को घर से निकाल दिया था और भूमि स्वामित्व पर अपना नाम चढ़वा लिया था। फुले के पिता गोविंद थे जिन्होंने श्रम और लगन से पुणे में फूलों की दुकान खोली। लेकिन फुले जब एक वर्ष के थे उनकी मां चिमनाबाई का देहांत हो गया। कट्टरता और जातिवाद के गढ़ पुणे में उनका बचपन बीता। उन दिनों अछूतों, शूद्रों और नीच जातियों के बालकों को स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए हतोत्साहित किया जाता था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर तथा मराठी पाठशाला में हुई। बालक फुले के पिता को समाज के लोगों ने भयभीत कर दिया था कि पढ़ाने-लिखाने में क्या फायदा? वह खेती-बागवानी करे। 14 वर्ष की अल्पायु में फुले का विवाह सावित्री बाई से हुआ जो आठ वर्ष की थी।

गोविंद ने सन् 1841 में 14 वर्षीय बालक को पुनः मिशन स्कूल में पढ़ने को भेजा। उसे पढ़ाई छोड़े तीन वर्ष हो चुके थे, फिर भी परीक्षाफल में सर्वोच्च अंक प्राप्त किए। उनके मन में समाज में व्याप्त ऊंच-नीच की भावना, हिंदू धर्म की विसंगतियों, अंधविश्वासों और कुरीतियों से बड़ी उथल-पुथल रहती थी। इसी के कारण समाज में अमीर-गरीब, ऊंचे-नीचे लोग थे। थोड़े से लोग धनवान, बाकी गरीब। अछूतों की हालत बहुत दयनीय थी। उनकी परछाई से लोग दूर भागते थे और सड़कों पर उनका चलना निषेध था। उनके कई ब्राह्मण-मराठे मित्र थे जो धर्मांतरण के पक्ष में थे। सड़े-गले हिंदू समाज से संबंध

विच्छेद करने के हक में थे। उन्होंने एकनाथ की भागवत, तुकाराम की गाथा, मिल और स्पेंसर की कृतियां, शिवाजी और जार्ज वाशिंगटन की जीवनियां पढ़ीं और प्रेरणा हासिल की। उनके मन में विचार आते कि अंग्रेज साम्राज्य को क्यों न उखाड़ दिया जाए। फूले के जन्म से एक वर्ष पूर्व उमाजी नायक ने कोलियों और रामोशियों को संगठित करके ब्रिटिश राज के खिलाफ बगावत की थी। जब वे चार वर्ष के थे तब 1830 में पुणे जिले के उत्तर-पश्चिम के कोलियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध लोहा लिया था। उन्होंने इतिहास से जाना कि कोलियों ने पश्चिम-दक्षिण में मुगलों के सामने कभी भी आत्मसमर्पण नहीं किया और औरंगजेब के दक्षिण विजय के सारे प्रयत्न विफल कर दिए थे। युवावस्था में एक घटना ने फुले की चिंतनधारा ही बदल दी। एक ब्राह्मण सहपाठी ने उन्हें विवाह में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया। फुले जब समारोह में शामिल हुए तो उन्हें निम्न जाति का समझकर पुणे के ब्राह्मण बरातियों ने कुछ अपमानजनक शब्द कहे। एक प्रकार से उन्हें समारोह स्थल से भगा दिया गया था। कट्टर ब्राह्मणों के दुर्व्यवहार से उनकी आंखें खुल गईं। इस प्रकार फुले के अंदर एक महान सुधारक और प्रगतिशील विचारक की भावना प्रस्फुटित हुई। निम्न जातियों, दलितों, अछूतों को संगठित करने, शिक्षित बनाने और सामाजिक परिवर्तन लाने के भाव उदय हुए।

अपने संकल्प को कार्य रूप में परिणित करने के लिए उन्होंने अपने घनिष्ठ ब्राह्मण मित्र सदाशिव बल्लाल गोवंदे की मदद ली जो इनाम कमीशन में कार्यरत थे और 1848 में जिनका अहमदनगर जज कार्यालय में तबादला हो गया था। उनके मित्र ने अहमदनगर में **मिस फर्राट** द्वारा संचालित अमेरिकन मिशन की स्त्री शिक्षा की पाठशालाएं दिखाई कि किस प्रकार एक विदेशी महिला दूर-सुदूर भारत में स्त्री शिक्षा की दुर्दशा से चिंतित अच्छा कार्य कर रही है। यहीं उन्होंने अछूत-दलित बालिकाओं की शिक्षा के लिए स्कूल खोलने का व्रत लिया। उनके मित्र ने बताया कि अगर इस प्रकार का स्कूल खुला तो यह दलित महिलाओं के स्कूल के रूप में पूरे महाराष्ट्र में चर्चित हो जाएगा। फिर शायद भारत में उसका चलन हो जाए। साथ ही यह नई सामाजिक क्रांति का आधार बनेगा।

ज्योतिबा ने लिखा—"मेरे भाइयों में से महार, मांग, चम्भार, कोली, माली जैसी अछूत-शूद्र जातियों के नर-नारी, दुःख, अंधकार, अंधविश्वास और प्रवंचना के शिकार हैं। उनकी स्थिति सुधारने के लिए मेरे मित्रों ने सदैव मेरा उत्साह बढ़ाया और साथ दिया। उनमें ऊंची जाति के भी मित्र थे। कई सौ मील की दूरी से अमेरिका से आकर फर्राट जैसी विदेशी युवती स्त्री शिक्षा के काम में तन्मयता से लगी है। पुणे की दलित-पिछड़े वर्गों की कन्याओं के लिए मैं भी क्यों न ऐसी पाठशाला खोल दूं। इस समय महिला शिक्षा की नितांत आवश्यकता है, अगर वे शिक्षित बनेंगी, तो उनकी संतानें स्वतः शिक्षित-सुसंस्कृत हो जाएंगी।"

फुले के पास साधन नहीं थे, आत्मबल था, संकल्प था। अंततः अगस्त 1848 में बुधवार पेठ मुहल्ले में भिडे के मकान में उनका विद्यालय खुला। उनके दो अंतरंग साथी सदाशिव गोविंद टाटे और गोवंदे ने उनकी बहुत मदद की। गोवंदे अपने पैसों से अहमदनगर

से किताबें आदि भेजते थे। उस समय फुले मात्र 21 वर्ष के थे। ज्योतिबा के स्कूल खुलने से कट्टर और पाखंडी ब्राह्मणों में ईर्ष्या-द्वेष जागा। उन्होंने तरह-तरह के व्यवधान डाले। पहले कोई अध्यापक नहीं मिला। फलतः उन्होंने अपनी पत्नी सावित्री बाई को वहां पढ़ाने के लिए राजी कर लिया। जब वे विद्यालय जातीं उन पर मिट्टी, धूल, पत्थर फेंके जाते। फब्तियां कसी जातीं। रास्ते रोके जाते। आक्षेप लगाए जाते। बालिकाओं को तंग किया जाता। फुले के आते-जाते ब्राह्मण और दूसरे लोग कायरों की तरह इधर-उधर छिप जाते। यह क्रम बहुत दिनों तक चला। फुले जानते थे पुरोहितवाद और सवर्णों का विरोध और कोप तो झेलना ही पड़ेगा। पर यह सब क्षणभंगुर होगा। वे अपने आप थक जाएंगे।

दोनों पति-पत्नी अब और दुगुने जोश से इस पवित्र काम में जुट पड़े। ब्राह्मण उन्हें दिग्भ्रमित, धर्म विरोधी और समाज का शत्रु कहने लगे। उनके पिता गोविंद को भी भड़काया गया कि इससे पहले कि धरती फट जाए, आसमान गिर पड़े वह अपने घर से फुले और उसकी पत्नी को बाहर निकाल दे। पिता-पुत्र में ब्राह्मणों ने अनबन करा दी। फुले अलग रहने लगे। उनका विद्यालय पहले छः महीने चला। आर्थिक कठिनाईयां, शिक्षकों की कमी, उच्च जातियों के समाज की ओर से उलाहने, पिता से अनबन आदि कई कारण थे। उनके बाल सखा ब्राह्मण मित्र गोवंदे को इस बात पर दुःख हुआ कि ज्ञान का दीप बुझ गया है। उन्होंने फुले को अहमदनगर बुला लिया। उनकी पत्नी सरस्वती और सावित्री ने और पढ़ाई की। थोड़े दिनों के बाद गोवंदे ने पुणे के जूनागंज पेठ में दुबारा विद्यालय खुलवा दिया। दलितों, अछूतों में जोश की लहर फैल गई। दलित समाज में कई व्यक्ति भी आगे आए। फुले के बचपन के व्यायाम शिक्षक लहूजी और रनबा महार ने जातीय प्रभाव से समाज के छात्र-छात्राओं को दाखिला दिलावाया। उनके अभिभावकों को समझाया। अब तो कट्टर ब्राह्मणों और ऊची जाति के लोगों में तहलका मच गया। बड़ी हाय-तौबा हुई। लेकिन सब निराश हो गए। उनकी पाठशाला चल निकली। सुधारवादी ब्राह्मण मित्र खुलकर सामने आ गए। अब निरंतर दलित-अछूत बालक-बालिकाओं की संख्या बढ़ने लगी थी। शीघ्र ही एक मुसलमान परिवार से दूसरे विद्यालय के लिए गंजपेठ में किराए पर जगह ली गई; मुसलमान उदार सज्जन गफ्फर वेग की इस मदद से ब्राह्मण और भी बौखला गए। गंजपेठ वाली जगह अछूत बहुल इलाके में थी। वहां उच्च जातियों के लोग जाने में घबराते थे।

3 जुलाई, 1851 को **अन्नासाहेब वासुदेव चिपलूणकर** के बुधवार पेठ स्थित मकान में एक अन्य पाठशाला खोल दी गई। **चिपलूणकर** अछूतों, गरीबों और शोषितों के प्रति बड़ी हमदर्दी रखते थे। केशव शिवराम भवालकर मराठी शिक्षक ने सावित्रीबाई को पढ़ाया था, वे भी फुले की पूर्ण मदद को आगे आ गए।

अब उन्होंने दलित शिक्षा की पाठशालाओं के समुचित संचालन के लिए एक प्रबंध समिति बनाई। जिसमें सरकारी विद्यालय के मराठी शिक्षक केशव भवालकर, मिशन स्कूल के शिक्षक अन्ना सहस्रबुद्धे, पूना कालेज के सहायक मुख्याध्यापक विष्णु मोरेश्वर भिडे, आयुक्त कार्यालय के कर्मचारी बापू राउजी मांडे, पूना कालेज में देशी भाषा साहित्य के प्रोफेसर कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर और कालिज के मेधावी विद्यार्थी विष्णु शास्त्री पंडित

को सम्मिलित किया गया। ऊंची जातियों के ये सदस्य अत्यंत सहृदय, उदार, दलित-अछूतों में जागृति, शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार के पक्षधर थे। ये प्रतिष्ठित भद्रजन फुले से प्रेरणा ग्रहण करते थे। उनकी बातों में जादू का सा असर होता था। इनमें से कई सदस्य समाज सुधार, विधवा विवाह के क्षेत्र में भी प्रसिद्ध हुए।

दलित-अछूत छात्र-छात्राओं की बढ़ती संख्या और विद्यानुराग को देखते हुए 17 सितंबर 1851 को रास्ता पेठ में एक और विद्यालय खोल दिया गया। इसी प्रकार 15 मार्च 1852 को बठेल पेठ में लड़कियों के एक अन्य विद्यालय ने कार्य आरंभ कर दिया। अब भी सामंती, पेशवाई, कट्टर-अंधविश्वासी ऊंची जातियों के लोग यदा-कदा विरोध प्रदर्शित करते थे, लेकिन जनमत, शिक्षा जगत और समाज सुधारक पूरी तरह उनके साथ थे। सरकारी देशी भाषा विद्यालयों के अधीक्षक पांडुरंग तरावडकर और पूना कालिज में अधीक्षक मेजर कैंडी ने उनके दलित विद्यालयों की श्रृंखला की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष वार्डन महोदय ने बंबई में वार्षिक पुरस्कार वितरण समारोह में फुले संचालित दो विद्यालयों के प्रबंध और छात्राओं को महाराष्ट्र में आदर्श शिक्षा का केंद्र और मेधावी बताया। उन्होंने 1851 में उनके विद्यालयों का अवलोकन किया था जब वे पुणे के पहली बार जुडीशियल कमिश्नर बनकर गए थे। वार्डन ने कहा लोगों ने एक फूलमाली की पत्नी सावित्री और एक समाजसुधारक फुले के इन विद्यालयों में शिक्षा के प्रयत्नों को समझने में भूल ही नहीं, देरी की है जो अनंत ज्ञान का सूर्य अंधेरी कोठरियों में प्रतिष्ठापित कर चुके हैं। 17 फरवरी 1852 को भाऊ साहब मांडे ने उनके विद्यालयों का सार्वजनिक रूप से निरीक्षण किया और उन्हें दलित-शिक्षा का अभिनव केंद्र बताया। 5 दिसंबर 1853 को 'ज्ञानप्रकाश' मराठी पत्र के संपादकीय में दलितों-अछूतों की शिक्षा के इस अभिनव प्रयोग की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। इसे दलित चेतना का एक ज्ञानरूपी आंदोलन बताया। 'पूना आब्जर्बर' ने लिखा सरकारी विद्यालय बेहद घटिया किस्म के हैं। उनका प्रबंध दकियानूसी बूढ़े ब्राह्मणों के हाथ में होता है। ज्योतिबा के स्कूल भले ही चमक-दमक न रखते हों सरकारी विद्यालयों की तुलना में दस गुने प्रभावी और अधिकाधिक छात्र-छात्राओं को आकर्षित करनेवाले हैं जिनका परीक्षाफल भी अद्वितीय है।

तत्कालीन बंबई प्रेसीडेंसी के शिक्षा अभिलेखों में फुले द्वारा संचालित ऐसे 18 विद्यालयों का जिक्र मिलता है जिसने पुणे क्षेत्र और आसपास के इलाके के दलितों में शिक्षा का प्रकाश फैलाया। उन्होंने प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों के लिए रात्रि पाठशालाएं खोलीं। 1876 से 1882 तक उनके विद्यालयों ने और भी प्रगति की जब वे पुणे के म्युनिसिपल कमिश्नर बने।

उन्होंने शिक्षा केंद्रों के अतिरिक्त विधवा आश्रम भी खोला। महाराष्ट्र में वैचारिक क्रांति के लिए दक्षिणाकोष का धन मराठी साहित्य की उन्नति के लिए स्वीकृत कराया, जिसे कि पहले झूठे-सच्चे पंडे-पुजारियों में बांटा जाता था। अछूतों को धर्मांतरण से रोका। वे वर्ण-व्यवस्था से लड़े। अपने प्रगतिशील विचारों के लिए पहले महाराष्ट्र में बाद में समस्त देश में प्रसिद्ध हुए। उन्होंने अपनी रचनाओं से समतावादी समाज संरचना का पथ प्रशस्त किया। दलित क्रांति की नींव मजबूत की।

II
भारत में नवजागरण और फुले

सामाजिक विचारों की शृंखला

"प्रत्येक युग में सामाजिक परिवर्तन होते हैं। सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक क्रांतियां होती हैं। उनको दिशा प्रदान करने के लिए युग पुरुष अपने विचारों की आहुतियां देते हैं। तन-मन-धन निछावर करते हैं। हर महापुरुष अपने समय की चिंतनधारा, सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ता है। वैदिक काल से बौद्धकाल, फिर अशोक महान से फुले के युग तक सामाजिक परिवर्तन की दिशा में अनेक महापुरुषों ने अपना योगदान दिया।

यह आश्चर्य की बात है कि ज्योतिबा ने मात्र 25 वर्ष की आयु में समाज में अपनी जगह बना ली थी। पूना जैसे कट्टरता के गढ़ में क्रांति का बिगुल बजा दिया था। अछूतों की मुक्ति का आंदोलन प्रारंभ कर दिया था।

ज्योतिबा फुले का प्रादुर्भाव, पुनर्जागरण और पुरातनवाद के ऐसे संधिकाल में हुआ था जब समाज सुधार और समाज सुधारकों को लेकर समूचे भारतीय समाज में परिवर्तन के अंकुर फूट रहे थे। समाज सुधारकों ने धार्मिक कुरीतियों, मिथ्या आडंबर, अस्पृश्यता और छूआछूत जैसी सामाजिक बुराईयों का 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में डटकर विरोध तो किया लेकिन उनका प्रभाव बहुत कुछ सीमित था। ज्योतिबा ने शिक्षा के जरिए दलितों में चेतना लाने की कोशिश की और वे पुरातनवाद को ध्वस्त करने के अपने ध्येय में पूर्णरूपेण सफल हुए। उन्होंने शोषित वर्गों की सामाजिक-राजनैतिक उपेक्षा के बंधनों को जो उन्हें मनुस्मृति काल से जकड़े हुए थे तोड़ दिया।"

"यूरोप में 16वीं शताब्दी में ही धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सुधारों का श्रीगणेश हो गया था। 17वीं और 18वीं शताब्दी में नए-नए आविष्कारों ने बुद्धि और चेतना को नए आयाम प्रदान किए और सामाजिक-आर्थिक जीवन को प्रभावित किया। धर्म, दर्शन और संस्कृति की नई और व्यावहारिक व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं।

भारत के सामाजिक-वैचारिक इतिहास में 19वीं शताब्दी नवजागरण का युग है। पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित भारत के अभिजात्य वर्गों में एक नई सांस्कृतिक-वैचारिक चेतना जगी। लेकिन आश्चर्य है दलितों, शोषितों और पिछड़े वर्गों में इस चेतना के कहीं दर्शन नहीं होते। महाराष्ट्र में अकेले ही फुले ने सामाजिक क्रांति का बिगुल बजाया।

ऊंचे-कुलीन लोग भी पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर अपने क्षेत्रों में सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए उद्यत हुए।

फुले ने समतावादी समाज की स्थापना के लिए दलितों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया और इसके लिए पूणे को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। वह दलित स्त्री-शिक्षा के अग्रणी

महापुरुष बने। सामाजिक न्याय और स्वस्थ समाज की रचना के लिए उन्होंने समाज के कमजोर वर्ग की स्त्रियों में शिक्षा को प्राथमिकता प्रदान की। विधवा-विवाह का समर्थन किया। परित्यक्ताओं और समाज द्वारा सताई गई स्त्रियों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया।

उन्होंने संतों की भाषा में कहा कि ईश्वर एक ही है, वह सर्वव्यापक, निर्गुण, निर्विकार तथा सत्यस्वरूप है और सभी मानव उसकी संतानें हैं। उनकी दृष्टि में पुनर्जन्म, कर्मकांड, जप-तप, तीर्थयात्रा आदि के विविध विधान अज्ञान मूलक और ढकोसले मात्र हैं।

उन्होंने अपने समग्र लेखन और चिंतन का प्रयोग सदियों की दासता, अशिक्षा और असमानता से संघर्ष करने के लिए किया। उन्होंने कर्मयोगी की भांति दलित स्त्री शिक्षा का प्रारंभ किया और प्रथम बार पूना में ज्ञान दीप प्रज्वलित करके भारत में दलितों को एक नई राह सुझाई। देश को एक नया विचार दिया।

शिक्षा के क्षेत्र में नव जागरण के कारण भारत में सामाजिक-सुधारों का सिलसिला चल पड़ा। लेकिन दलितों में सांस्कृतिक जागरण और शिक्षा का बीजारोपण उन्होंने ही किया। वे ही अछूत-दलितों में शैक्षिक क्रांति और नवोत्थान के प्रतीक बने।

भारत में देशभक्ति की भावना और राष्ट्रीयता के विचारों का जन्म इसी पुनर्जागरण की देन है। मुगल साम्राज्य के पतन और शिथिलता के साथ-साथ भारत में राजनीतिक एकता नष्ट हो गई थी। देशी राजे-रजवाड़े, सामंत-जमींदार, नवाब, महाजन और सूदखोर, ब्राह्मण और पुरोहित यहां की दीन-हीन जनता को ऊपर ही नहीं उठने देते थे। अन्याय तथा शोषण का चक्र अनवरत चलता रहता था।

इस सबके विरुद्ध भारत में सामाजिक सुधारों और जनचेतना से परिवर्तनों की नींव पड़ी। सदियों से प्रचलित सामाजिक कुरीतियों और बुराइयों के उन्मूलन की परंपरा स्थापित हुई। इसी भारतीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप राजा राममोहन राय, केशवचंद सेन, देवेंद्रनाथ ठाकुर, रामकृष्ण परमहंस, ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने बंगाल में और ज्योतिबा फुले, महादेव गोविंद रानाडे और महर्षि दयानंद सरीखे अनेक महापुरुषों ने महाराष्ट्र और गुजरात में सामाजिक सुधारों और शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्न किए और पूरे समाज को जागरूक कर डाला।

जहां राजा राममोहन राय से लेकर महर्षि दयानंद जैसी विभूतियां उच्च वर्गों में पैदा हुई थीं और तदनुरूप उन्हें अपने जीवन में व्यापक समर्थन और सहज सफलता प्राप्त हुई, वहीं ज्योतिबा फुले एक निम्न जाति के गरीब घर में पैदा हुए थे, जिसकी सामाजिक हैसियत नगण्य थी। ज्योतिबा ने विपरीत परिस्थितियों में पुणे जैसे कट्टरता के गढ़ में, अकेले ही कार्य प्रारंभ किया। वह सामाजिक विषमता से लड़े, वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता और ऊंच-नीच के भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाई। दलित वर्गों में भारत में पहली बार शिक्षा का बीज बोया। उन्होंने हिंदू समाज की आंखें ही नहीं खोलीं, बल्कि वह अडिग हिमालय की तरह अजेय खड़े रहे। जब विदेशी धर्मगुरु और धर्म-प्रचारक, धर्म परिवर्तन के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे थे उनके इंगित मात्र पर अनगिनत शोषित और

दलित धर्म परिवर्तन कर सकते थे और सुख-सुविधाएं भोग सकते थे। इस प्रकार वे सदियों से ब्राह्मण वर्ग द्वारा थोपी गई छूआछूत, ऊँच-नीच जैसी हेय भावनाओं और दासता से सदैव के लिए छुटकारा पा सकते थे। लेकिन फुले ने इस विषय पर स्वप्न में भी नहीं सोचा। उच्च और निम्न वर्ग के कुछ लोगों ने धर्मांतरण किया भी था, लेकिन यह नगण्य ही था।

ज्योतिबा से पहले जो भी समाज सुधार और जनजागरण का कार्य हुआ तथा उनके समकालीन सुधारकों ने जो भी कार्य समाज में जागृति लाने और सेवा भावना से किए उनको जानना जरूरी है। तभी हम दलित आंदोलन की दिशा में फुले के सामाजिक दर्शन और समग्र चिंतन को समझ सकेंगे। इसके लिए हमें अतीत और समकालीन धार्मिक-सामाजिक और ऐतिहासिक प्रवृतियों एवं विचारधाराओं पर विहंगम दृष्टि डालनी होगी। उनके अंतर्संबंधों और अंतर्द्वंद्वों को समझना होगा।

अतीत में झांकने पर हमें पता चलता है कि वैदिक समाज रचना आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के पारस्परिक मिश्रण का प्रतिफल है। वैदिक मंत्रदृष्टा ज्ञान पिपासु थे। वे आदि चिंतक थे। वेदों की संशयहीनता, ईश्वर रचित होने और उनकी दैवी सत्ता की संस्थापना को अधिकांश विद्वानों ने नहीं माना। वेद-ब्राह्मणों के गेय-छंदों-मंत्रों-प्रार्थनाओं को दार्शनिकों और विद्वानों ने ज्यादा महत्व नहीं दिया। डॉ. अम्बेडकर ने भी बाद में वेदों के बारे में ऐसी ही कुछ धारणाओं को प्रमाणित किया था। अपने युग में फुले शुरू से ही वैदिक कालीन चिंतनधारा को ब्राह्मणों द्वारा बढ़ा-चढ़ाकर बताई गई मान्यताओं के अतिरिक्त ज्यादा कुछ नहीं मानते थे।

वेदों में प्रार्थना के मंत्रों और छंदों को नवजीवन संचार करनेवाली ऋषि वाणी बताया गया है। ऋषियों को ऋत् का ज्ञान था। वैदिक चिंतन मानता था कि कोई प्रच्छन्न शक्ति सृष्टि का संचालन करती है। समय बीतते ब्राह्मण और पुरोहितों ने वैदिक विधि-विधान से संपन्न किए जानेवाले यज्ञों में पशु हिंसा और भोग में सने अशोभनीय-असामाजिक कृत्यों का समावेश किया। ब्राह्मण को मानवजाति में श्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रवृति से समाज में विद्रोह हुआ। जिसका नेतृत्व क्षत्रियों ने किया। पुरोहितवाद के विरुद्ध अंतिम संघर्ष महात्मा बुद्ध ने किया।

वैदिक काल में सुदास शूद्र राजा थे। वर्ण व्यवस्था और कर्मकांडों ने आर्य-अनार्यों में भेद उत्पन्न किया। इससे ब्राह्मण और गैरब्राह्मण में संघर्ष की नींव पड़ी।

ऋग्वेद के दसवें मंडल के अनेक छंदों के रचयिता ऋषि कवष ऐलुष शूद्र थे। ऐतरेय उपनिषद के अनुसार कावषेय दासीपुत्रों के वंशधर थे। गाड़ीवान रैक्व जनश्रुति को वेद पढ़ाते थे जो छांदोग्य उपनिषद के अनुसार शूद्र थे। इससे ज्ञात होता है कि उपनिषदों के कुछ समय बाद वर्ण व्यवस्था जटिल हुई। पुरुष सूक्त बाद में जोड़ा गया है, यह क्षेपक है और नृतव विज्ञान तथा मानव के सामाजिक विकास के इतिहास की दृष्टि से अवैज्ञानिक और असत्य कथन है। वैदिक काल तक वर्ण या जाति व्यवस्था इतनी कठोर नहीं थी। कालांतर में वह कठोर हुई।

बौद्ध धर्म को वेद-ब्राह्मण के विरुद्ध क्षत्रिय संघर्ष का सबसे प्रभावी, लोकहितवादी,

और मानवीय मूल्यों से युक्त एक नए दार्शनिक-वैचारिक चिंतन की संज्ञा दी गई है। उसमें धर्म की जनवादी प्रवृत्तियां और प्रगतिशीलता का बाहुल्य है। बुद्ध शास्ता थे। इसलिए उन्होंने साधकों-उपासकों, आम लोगों को त्रिशरण-बुद्ध, धम्म और संघ की शरण में आने का आह्वान किया। मनुष्य को सही स्थिति का ज्ञान कराया। दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग बताया। यह पलायनवाद नहीं, नया जीवन दर्शन था। नया जीवन बोध था।

बुद्ध ने धार्मिक क्रांति की थी और बहिष्कृतों-उपेक्षित वर्गों की सामाजिक हैसियत बढ़ाई थी। शूद्र, चांडाल, नर्तकी, वेश्या तथा डाकू तक बुद्ध की शरण में गए। उन्होंने ब्राह्मणवाद की उन धार्मिक-सामाजिक अभेद्य दीवारों को भेद दिया जिनके अंदर मानवता कैद थी। समाज में जो दुहरे नैतिक मानदंड प्रचलित थे उन्हें बुद्ध ने दूर किया। उन्होंने अनेक धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों के लौह बंधनों को तोड़ दिया जिनकी शुरुआत वेदों के जमाने से ब्राह्मणों ने कर रखी थी और लोकमानस को दिग्भ्रमित कर रखा था तथा वेदों को आधार मानकर यज्ञों में पशुहिंसा को बढ़ाया। ब्राह्मणों ने यजमानों की पत्नियों और कन्याओं के साथ व्यभिचार के अनेक मार्ग खोज लिए। यज्ञों के बाद मादक पेय के साथ भुना मांस सुलभ कराया जाता था। लक्ष्मण शास्त्री जोशी के अनुसार—

> *"शूद्र अपनी काया, श्रमों, अर्थोत्पादक आयुधों, भूमि आदि संपत्ति के स्वामी थे। वे महान शिल्पी थे और छोटे-बड़े व्यवसायों में दक्षता प्राप्त थे। वे त्रिवर्ण के दास नहीं थे। ब्राह्मण दृष्टि में बौद्धकालीन कामगार जातियां शिल्पों तथा कृषि कर्म में निष्णात थीं। उन्होंने ही बौद्ध धर्म अपनाया था। बुद्ध क्षत्रिय थे, शासक वर्ग के थे। इसलिए सदियों तक बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिलता रहा। बौद्धधर्म ने धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्रांति की थी। बुद्ध के बाद सदियों तक धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन को गतिशील बनाए रखने के लिए नेतृत्व नहीं मिला। चक्रवर्ती सम्राटों का उदय-अस्त जारी रहा। बुद्ध के बाद के ब्राह्मण चिंतकों ने क्षत्रियों से मिलकर वर्ण और जाति को इतना जटिल बनाया कि दासों-शूद्रों का एक ऐसा वर्ग बन गया जिसका सदियों तक सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक शोषण जारी रहा।"*[5]

वज्रयानी साधक, सिद्ध-नाथ और यहां तक कि संत-परंपरा तक जो आठ सौ, नौ सौ साल की दीर्घ अवधि है, सातवीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक वह शूद्रों की, निम्नजातियों की सांस्कृतिक विरासत का ही इतिहास है। शूद्रों की धार्मिक तड़पन है, अज्ञानवश जिसमें दिशाहीनता भी है, उच्छृंखलता भी है। साथ ही प्रचुर मात्रा में साधना, ज्ञान, भक्ति के रंग भी भरे हुए हैं। विद्रोह के स्वर भी छिपे हुए हैं।

क्या ऐसा नहीं लगता कि इन शूद्र साधु-संन्यासियों, चिंतकों और संतों को दबाने और बदनाम करने के लिए ब्राह्मणों और सामंतों ने समन्वित रूप से कोई कार्य योजना निर्धारित की थी?[6]

अगर सामंतों और शासक वर्ग ने गुणवान कलावंत और दक्ष शिल्पी-शूद्रों का सहयोग लिया होता और समाज में उन्हें मान-मर्यादा दी होती तो सातवीं शताब्दी से सन् 1526 में बाबर के हमले तक कोई भी विदेशी शक्ति भारत की ओर नहीं देख पाती। कैम्ब्रिज,

ऑक्सफोर्ड में पढ़े इतिहासकार भ्रमवश सारा दोष श्रमण-संस्कृति के ऊपर थोप देते हैं। बुद्ध के बारह-तेरह सौ साल बाद कट्टर पुरोहितवाद के कारण क्या भारत इस्लाम धर्म और मुस्लिम आक्रांताओं के चंगुल में नहीं फंसता है?

मुगलों ने 1526 से 1857 तक लगभग सवा तीन सौ वर्ष तक भारत में राज किया। उनमें कई सम्राट शक्तिशाली हुए। कुछ ने धार्मिक समझौते किए। उनकी समन्वयवादी नीति उन्हीं के हक में गई। कुछ मुगल समन्वयवादी विद्वान थे, कलावंत थे, योद्धा थे। लेकिन उनमें कुछ धार्मिक कट्टरता के भी शिकार थे। उन्होंने तलवार के बल पर भारत में शासन किया था।

औरंगजेब 26 वर्ष तक दक्कन को जीतने के लिए लड़ता रहा। वह मराठा शक्ति को पूर्णतः वश में नहीं कर सका। कोली शक्ति की अभेध दीवार को वह लांघ नहीं पाया।

सोलहवीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी मुगलों के शासनकाल में व्यापारी के रूप में भारत-प्रवेश करती है। 17वीं-18वीं सदी में उसने अपनी राज्य-सीमा बढ़ाई। 19वीं शताब्दी के आते-आते ब्रिटिश राज आधे भारत में फैल चुका था, आधा उनके झंडे के नीचे आ चुका था।

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ-साथ देशी राजे-रजवाड़ों, राजा-महाराजाओं, सुल्तानों और छत्रपों के हाथ से सीधी सत्ता ईस्ट कंपनी के हाथों में सिमटती गई। यह सत्ता मंत्रों, छंदों, प्रार्थनाओं, यज्ञ-अनुष्ठानों, भजन-कीर्तन के बल भरोसे नहीं तलवार और तोपों के सहारे कंपनी बहादुर ने 'फूट डालो और राज करो' की कुटिल नीति के आधार पर हस्तगत की थी। अंग्रेज जाति अपनी महान सभ्यता, अपने उच्च नैतिक आदर्शों से युक्त संस्कृति तथा सामाजिक मानवीय विचारों की कितनी भी शेखी मारे, लेकिन जहां साम्राज्य लिप्सा और उपनिवेशवाद शासकों का प्रमुख लक्ष्य हो जाता था वे सारे जातीय गुण पीछे रह जाते थे। भारत के मामले में यही हुआ।

भारत में अंग्रेजों का दूसरे चरण का सौ साल का इतिहास (1757 से 1857 तक) उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का ही इतिहास रहा है। जिसका किस्सा लार्ड क्लाइव (1725-74) से शुरू होता है और डलहौजी (1812-1860) तक समाप्त होता है। राज्य लिप्सा अंग्रेज का चरित्र रहा है।

मुस्लिम-मुगल शासन के दौरान इस्लाम धर्म फैला, धर्मांतरण हुआ। जब कंपनी ने अपने पैर जमाए तो ईसाई मिशनरी भी सक्रिय हुए और उन्होंने पिछड़े-दबे लोगों को अपना निशाना बनाया। अभिजात्य वर्ग के लोग, पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त पूर्व सामंत और जमींदार भी ईसाई बने या अंग्रेजियत के गुलाम बन गए। एक प्रकार से जो रंग और शक्ल में तो भारतीय थे, लेकिन रहन-सहन और बोली से अंग्रेज, ईसाई। अगर मध्यकालीन संतों की वाणियां नहीं होतीं तो शूद्र और निम्न वर्गों का अधिकांश हिस्सा ईसाई धर्म कबूल कर लेता। भक्ति आंदोलन जनवादी, धार्मिक प्रगतिशीलता का आंदोलन था। ये संत भी अधिकांशतया कबीर जुलाहे, रविदास चर्मकार, सेना नाई, धन्ना जाट, शूद्र-अस्पृश्य या पिछड़े-दबे तबकों का ही प्रतिनिधित्व करते थे। 19वीं शताब्दी में अभिजात्य वर्ग में सामाजिक

सुधारों के प्रति रुझान बढ़ा। पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित युवा वर्ग सामाजिक कुरीतियों के प्रति जागरूक होकर उन्हें दूर करने की बात सोचने लगा। यूरोप में जो धार्मिक, सामाजिक एवं औद्योगिक क्रांतियां हुईं, सत्ता परिवर्तन हुए, नव समाज रचना हुई उसका भारत पर गहरा प्रभाव पड़ा।[7]

बंगाल के राजा राममोहन राय से बंबई प्रेसीडेंसी के ज्योतिबा फुले एक अनवरत सामाजिक-सुधारों का जो सिलसिला है वह दो विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करता है। राजा राममोहन राय और उनके बाद के अनेक समाज सुधारक पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति और आचार विचारों के रंग में रंगे हुए थे और अभिजात्य वर्ग से संबंध रखते थे। फुले पिछड़े वर्ग के प्रतिनिधि थे। मुश्किल से अपनी देशी-मिशन स्कूल में थोड़ी सी पढ़ाई पूरी कर पाए थे। बिलकुल साधनहीन थे। उनका समस्त कार्य-क्षेत्र शूद्रों, दलितों, बहिष्कृतों तक ही सीमित नहीं था, वरन् बड़े व्यापक रूप में स्त्रियों, विधवाओं, परित्यक्ताओं, किसानों और मजदूरों तक फैला हुआ था। फुले समग्र सामाजिक क्रांति के मसीहा थे। अभिजात्य वर्ग के धार्मिक-सामाजिक सुधारक पहले अपने ही वर्ग की बात सोचते थे, बाद में 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की बात करते थे। फुले ने सोए हुए पूरे समाज को झकझोरा।

फुले ने गरीबी देखी थी। अस्पृश्यता, जाति-पांत, सामाजिक असमानता को भोगा था। जबकि अन्य सामाजिक चिंतकों और सुधारकों के बारे में यह बात नहीं थी। वे यूरोपीय उदारवाद, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, संस्कृति और चिंतन से प्रभावित थे। वे ईसाइयों द्वारा हिंदुत्व की निंदा तथा सामाजिक बुराइयों को देखकर ही समाज सुधारों और समाज सेवा की ओर आकृष्ट हुए थे।[8] यहां फुले युगीन सामाजिक सुधारों और जातिभेद तथा अस्पृश्यता उन्मूलन के प्रयासों पर थोड़ी चर्चा आवश्यक है।

ब्राह्म समाज और राजा राममोहन राय

फुले महाराष्ट्र में दलित क्रांति और सामाजिक सुधारों के अग्रणी पुरोधा थे। इसलिए फुलेयुगीन भारत को धार्मिक और सामाजिक सुधारों तथा शैक्षिक और सांस्कृतिक नवोत्थान का स्वर्णिम काल कहा जाता है। राष्ट्रीयता और सामाजिक परिवर्तन के बीजांकुर इसी काल में हुए। भारत की चारों दिशाओं, उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक नवजागरण का संदेश लहराया। इसके बहुत से कारण हैं। एक ओर यूरोपीय नवोत्थान, वैचारिक और औद्योगिक क्रांति, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, प्रजातंत्र की भावनाओं और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारत की युवा पीढ़ी में स्वाभिमान और राष्ट्रीय भावनाओं का संचार किया, दूसरी और भारत में ईसाई धर्म के बढ़ते कदम, ईसाई पादरियों द्वारा हिंदुओं के धर्म परिवर्तन के संगठित प्रयास तथा उनके द्वारा भारतीय धर्मों और जीवन-शैली की भर्त्सना से यह वर्ग आशंकित हुआ, उसकी आंख खुली। उसकी पहली अंगड़ाई ब्राह्म समाज की स्थापना के रूप में प्रकट हुई। फुले पूर्व इस नव जागरण और सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति के प्रखर प्रणेता राजा राममोहन राय थे। उन्होंने यूरोपीय विपुल ज्ञान, सभ्यता और संस्कृति के उन

तत्वों को अपनाया जिनसे दिग्भ्रमित भारत अपना राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक विकास कर सकता था।

फुले से छह दशक पूर्व राममोहन का जन्म 1772 में बंगाल के बर्दवान जिले के राधानगर ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनकी प्रारंभिक दीक्षा अरबी और फारसी में हुई। बाद में अंग्रेजी, हिब्रू और ग्रीक पढ़ी। उन्होंने 1803 में अपने विचारों के प्रतिपादन के लिए फारसी में एक पुस्तक लिखी। इसमें मूर्ति-पूजा का खंडन किया गया। एकेश्वरवाद की प्रशंसा की गई। उन्होंने विश्व धर्म या मानवतावादी दर्शन की आवश्यकता बताई।

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले दशक में वह कंपनी की नौकरी में आए और रंगपुर के कलेक्टर के दीवान बने। बाद में एक नाबालिग जमींदार के मैनेजर नियुक्त हुए। 1815 में उन्होंने नौकरी छोड़ दी।

उन दिनों कलकत्ता ब्रिटिश भारत की राजधानी थी। उन्होंने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाए जाने का पक्ष लिया। भारत में प्रचलित सती प्रथा को उन्होंने बंद कराया। 1829 में लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा पर रोक लगा दी। सती प्रथा उन्मूलन को कानून का दर्जा दिलाने में राजा राममोहन राय की महती भूमिका थी।

राममोहन राय ने बड़े प्रभावी ढंग से अपनी एक पुस्तक में ईसाई धर्म की अलौकिक और चमत्कार पूर्ण बातों की आलोचना की। इस ग्रंथ में उन्होंने ईसा की विवेकपूर्ण शिक्षाओं को उजागर किया। इससे पादरी समाज नाराज हो गया। राममोहन ने इस बात पर तीन तर्कपूर्ण लेख लिखे कि ईसा ईश्वर पुत्र नहीं थे। इससे उनका बाइबिल और ईसाई मत के बारे में गहरा ज्ञान प्रकट होता है।

उन्होंने ईसाईयों द्वारा धर्म की भर्त्सना पर अपने शोध निबंध में लिखा कि जब कोई जाति दूसरी जाति को जीत लेती है तो विजित जाति पर अपना धर्म थोपती है। ईसाई और मुसलमानों ने भारत में यही किया। इसलिए ईसाईयों के चरित्र में हिंदू धर्म की छीछालेदर अस्वाभाविक बात नहीं।

राममोहन राय ने हिंदू धर्म की रूढ़ियों पर प्रहार किया, लेकिन उन्होंने यूरोप के नए आचार-विचारों के साथ सामंजस्य बिठाने की बात की। उन्होंने यूरोप की औद्योगिक क्रांति और विज्ञान के आविष्कारों से शिक्षा ग्रहण करने की बात कही। उन्हें ईसाई धर्म में मानवता, उदारता, सेवाभाव जैसे तत्व भाते थे। जबकि हिंदू धर्म में व्याप्त मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, मंदिर-तीर्थों के मनगढंत ढकोसले, पौराणिकता और सामाजिक रूढ़ियां आदि पसंद नहीं थीं। उनका चिंतन व्यापक, वैज्ञानिक और सार्वभौम था। जबकि उनके आलोचक उन पर आरोप लगाते हैं कि वह पूरे भारतीय नहीं थे, वह हिंदुओं को ईसाई बनाना चाहते थे। यह बातें भ्रमपूर्ण थीं। जबकि वह भारतवासियों को अंग्रेजी के द्वारा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और चिंतन में पारंगत बनाना चाहते थे ताकि उनमें मानवता के प्रति प्रेम उमड़े। राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो। देश को नई दिशा मिले। **मिस कालेट** ने उनकी जीवनी लिखते हुए भाव-विभोर होकर लिखा है—

"निःसंदेह इतिहास में राममोहन राय का स्थान उस महान सेतु के सदृश है जिस पर चलकर भारत अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है। प्राचीन सड़ी-गली वर्ण व्यवस्था और जाति-प्रथा तथा नवीन उदार मानवता के बीच जो खाई है, अंधविश्वास, जड़ता तथा नए आविष्कारों और वैज्ञानिक चिंतन के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी-सामंती राज्य और लोकतंत्र के बीच जो अंतराल है तथा बहुदेववाद एवं विशुद्ध ईश्वरवाद के मध्य जो भेद है उनकी सारी खाइयों पर पुल बांधकर भारत को प्राचीन से नवीन, जड़ भावों से प्रगतिशील चिंतन की ओर ले जाने वाले महापुरुष राममोहन राय हैं।"

वेदांत कालेज और आत्मीय सभा की स्थापना

राममोहन राय ने 1816 में कलकत्ता में वेदांत कालेज की स्थापना की। 1815 में धार्मिक चर्चा हेतु वह आत्मीय सभा बना चुके थे। कलकत्ता के प्रगतिशील विचारों के रईस, जमींदार और पंडित इसके सदस्य थे। इसमें मूर्ति-पूजा, कर्मकांड तथा पाखंडवाद जैसे विषयों पर वाद-विवाद होता था। आत्मीय सभा धार्मिक और सामाजिक सुधारों की शृंखला में एक अच्छा प्रयास था।

कलकत्ता यूनिटेरियन सोसाइटी

सन् 1819 में आत्मीय सभा बंद हो गई और उसकी जगह कलकत्ता यूनिटेरियन सोसाइटी ने ले ली। कुछ अंग्रेज बैरिस्टर और अभिजात्य वर्ग के बंगाली उसके सदस्य बने। इसका उद्देश्य लगता है 'सर्वधर्म समभाव' रहा होगा। हिंदू और ईसाई धर्म के अनुयायियों के इस संगठन में दोनों धर्मों की अच्छी-लोकहित की बातों पर चर्चा होती थी। यह संस्था भी बाद में निष्प्राण हो गई।

ब्रह्म समाज की स्थापना

कलकत्ता में 20 अगस्त, 1828 को राम मोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। इस वर्ष फुले मात्र एक वर्ष के दुध मुंहे बालक थे। कौन जानता था कि यह बालक युवावस्था में समाज को नई दिशा देने वाला एक महापुरुष बनेगा। समाज पर जिसका प्रभाव राममोहन राय की तरह ही होगा। ब्रह्म समाज के रूप में यूरोप के संपर्क में हिंदू धर्म का परिमार्जित रूप देश के सम्मुख आया। इसने मूर्ति पूजा का बहिष्कार किया। अवतारवाद और देवी-देवतावाद को नहीं माना। संतों और वेदांत में जिस निराकार, निर्विकार ब्रह्म का स्वरूप निरूपित हुआ था उसे ब्रह्मसमाजियों ने माना। उसके अधिवेशनों में वेदपाठ किया जाता था। ब्रह्म समाज सभी धर्मों के प्रति उदार था। ब्रह्म समाज की स्थापना के दो वर्ष पश्चात् वह इंग्लैंड गए। 27 सितंबर, 1833 को ब्रिस्टल में उनका देहांत हो गया। 19वीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में सामाजिक सुधारों, नवजागरण और विश्व मानवता की त्रिवेणी प्रवाहित करने वाले इस विरले महापुरुष की मात्र 61 वर्ष की आयु में मृत्यु होने से ब्राह्म

समाज को बड़ा गहरा आघात लगा।[9]

महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर

राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात् महर्षि देवेंद्रनाथ ब्रह्म समाज के कर्त्ताधर्ता बने। वह रहस्यवादी और बुद्धिवादी हिंदू थे। रूढ़िवादिता के खिलाफ थे। वेद-उपनिषदों पर उनका विश्वास था। कुछ लोगों को भ्रम हो गया था कि ब्रह्म समाज हिंदू समाज को ईसाईयत में दीक्षित करने का व्यापक अभियान है। इस व्याप्त भ्रम को दूर किया गया।

महर्षि देवेंद्रनाथ की अलग से अपनी **"तत्व बोधिनी सभा"** थी। इसको ब्राह्म समाज में मिला दिया गया। ब्रह्म समाज कुछ-कुछ आर्य समाज जैसा धार्मिक-सामाजिक सुधारों वाला संगठन था।[10]

केशवचंद्र सेन

सन् 1857 में जब उत्तर भारत में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम छिड़ा 19 वर्ष की आयु के केशवचंद्र सेन ब्रह्म समाज में आए। वह तेजस्वी और मेधावी अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवक थे। यूरोप के धर्म और संस्कृति का उन पर प्रभाव था। उन्होंने यज्ञोपवीत, धार्मिक अनुष्ठान, जाति प्रथा, मूर्ति-पूजा सभी का विरोध किया। उन्होंने अंतरजातीय विवाहों का समर्थन किया। सेन के सुधारवादी दृष्टिकोण और कार्यक्रमों से देवेंद्रनाथ पूर्णतः सहमत नहीं थे।

केशवचंद्र सेन यूरोपीय आचार-विचार और ईसाई धर्म की ओर ज्यादा झुके हुए थे। उन्हें हिंदू धर्म में अधिक दोष-भ्रांतियां दिखाई देती थीं। उन्होंने जातीय कट्टरता का घिनौना रूप देखा था। इसलिए वे सर्वधर्म और जातीय उदारता के परिपोषक बने रहे। पाश्चात्य विचारों ने उनमें उदारवाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति पैदा कर दी थी और समाज में परिवर्तन लाने के भाव भर दिए थे।

1866 में केशवचंद्र सेन और देवेंद्रनाथ ठाकुर के अलग-अलग ब्रह्म समाज बन गए।[11]

परमहंस समाज

फुले पूर्व नवजागरण काल के बंगाल में एक प्रकार से ब्रह्म समाज धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिए दुविधा पूर्वक प्रयासरत था और अपने आंदोलन को धार्मिक नजरिए से देखने का अधिक अभ्यस्त हो चला था तथा एक मायने में हिंदू धर्म और ईसाई मत के बीच फंस कर रह गया था, उसके ठीक विपरीत महाराष्ट्र में 1849 में बंबई में स्थापित **परमहंस समाज** के सदस्य जाति प्रथा तोड़ने के प्रयास में लग गए थे। ऐसा लगता है

परमहंस नामक सुधारक द्वारा संस्थापित आस्तिक समाज ही बाद में प्रार्थना समाज में मिल गया।[12]

प्रार्थना समाज

सन् 1864 में केशवचंद्र सेन ब्रह्म समाज की शाखा खोलने बंबई गए। वहां उन्होंने ब्राह्म समाज की शाखा प्रार्थना समाज के नाम से चालू की जिसके चार प्रमुख उद्देश्य थे। (1) जाति प्रथा का उन्मूलन (2) विधवा-विवाह का समर्थन (3) स्त्री-शिक्षा का प्रचार और (4) बाल-विवाह पर रोक।

जगह-जगह सुधारवादियों के सहयोग से प्रार्थनासमाज की शाखाएं खुलीं। इनमें से कुछ मध्यमार्गी अपने को ब्रह्मसमाजी कहते थे। प्रार्थना समाज की प्रार्थनाओं में सभी धर्मों की अच्छी-अच्छी बातें संकलित की गईं।

इसके उद्देश्य ब्रह्म समाज से मिलते-जुलते थे। बंगाल की शस्य श्यामला धरती से निकला ब्रह्म समाज जहां पाश्चात्य विचारों और पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित था, वहां प्रार्थना समाज ने मराठी संत परंपरा के अग्रणी नामदेव, तुकाराम, समर्थ गुरु रामदास और एकनाथ आदि से प्रेरणा ली थी। एक प्रकार से ब्राह्म समाज का मराठी संस्करण प्रार्थना समाज था। 1867 में डॉ. आत्माराम पांडुरंग ने प्रार्थना समाज की गतिविधियों को आगे बढ़ाया। डॉ. पांडुरंग के अतिरिक्त सर गोपाल भंडारकर और जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे ने भी इसकी गतिविधियों में सक्रिय भाग लिया। उनके प्रयास से महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की जगह-जगह शाखाएं स्थापित हुईं। क्योंकि इसमें भंडारकर और जस्टिस रानाडे जैसे व्यक्ति शामिल थे अतः प्रार्थना समाज ने काफी समाज सुधार के कार्य किए। कुरीतियों को मिटाने के लिए जनमत तैयार किया। जाति-प्रथा मिटाने, बाल-विवाह की प्रथा समाप्त करने और अनमेल विवाहों की परंपरा खत्म करने के लिए कार्य किया। प्रार्थना समाज ने स्त्री-शिक्षा पर भी बल दिया।[13] प्रार्थना समाज के कुछ सदस्य निम्न जाति वालों के यहां छिपकर खाना खाते थे। लेकिन जब यह भेद खुला तो प्रार्थना समाज के सदस्य बिखर गए।

रानाडे

महादेव गोविंद रानाडे महाराष्ट्र में 1861 में ही **विधवा पुनर्विवाह संघ** की स्थापना करके समाज सुधारों का श्रीगणेश कर चुके थे। बाद में उन्होंने ज्योतिबा से प्रेरणा ग्रहण कर पंढरपुर में अनाथाश्रम स्थापित किया। शिक्षा प्रचार के लिए **दक्कन एजुकेशनल सोसायटी** की स्थापना की। उनके शिष्य गोखले ने बाद में **'सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसायटी'** की स्थापना की। भारतीय पुनर्जागरण के इतिहास में रानाडे और प्रार्थना समाज का सबसे बड़ा योगदान भारत के गौरवमय अतीत की याद और कुरीतियों से समाज को मुक्ति दिलाना था।

भारतीय पुनर्जागरण से प्रभावित ब्रह्म समाज, आस्तिक समाज और प्रार्थना समाज जैसे सुधारवादी संगठन और आंदोलन अधिकांशतः ऊंची जातियों के महापुरुषों ने आरंभ किए थे।

राममोहन राय से रानाडे तक समाज सुधारकों की लंबी सूची है। ये सभी पाश्चात्य शिक्षा, आचार-विचार से प्रभावित थे। इन सबके लिए समाज सुधार की भावना एक सामाजिक प्रदर्शन, एवं अहं तुष्टि का साधन थी। फुले जमीन से जुड़े लोक नेता थे। वह समाज में परिवर्तन लाना चाहते थे। ऊंची जातियां परंपरागत और परिस्थितिजन्य कुरीतियों को दूर करने में लगी थीं, फुले सदियों से दासता, नारकीय जीवन जीने वाले दासों से भी गए बीते छोटी जाति के लोगों के जीवन में समग्र क्रांति लाना चाहते थे।

फुले उनकी पत्नी और मित्रगण, अपनी युवावस्था से लेकर जीवन की संध्यावेला तक बहिष्कृतों और दलितों के व्यापक हित में पूना, बंबई आदि जगहों पर संघर्ष करते रहे। जबकि 19वीं शताब्दी में समाज सुधार के जितने भी संगठन बने उन पर अभिजात्य वर्ग और उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति हावी रहे। ऐसे भी उदाहरण हैं जहां बुद्धिजीवी और समाज सेवक मात्र अपनी-अपनी जातियों के हित संवर्धन के लिए संगठन खड़े कर रहे थे।[14]

धार्मिक-सामाजिक संगठन

अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यापारी, नौकरी पेशा और जमींदार केवल अपनी-अपनी जाति के अंतर्गत समाज सुधारों के पक्षधर बनकर 19वीं शताब्दी के मध्य में ही सक्रिय हो गए थे। इस श्रृंखला में बंबई के पारसियों ने 1851 में पारसी **रहनुभाई भाजदायास्नान सभा** बनाई जिसका काम पारसियों तक सीमित रहा। उन्होंने लोक कल्याण के भी कुछ काम किए। कलकत्ता के उच्च जाति के हिंदुओं ने जिनमें अधिकांशतः जमींदार, रईस, पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त उच्च और मध्यम दर्जे की सरकारी नौकरियों में प्रवृत्त भद्रजन आदि अधिक थे उन्होंने 1870-1873 के मध्य **सनातन धर्म रक्षिणी सभा** स्थापित की। दक्षिण भारत में 1877 में **माधव सिद्धांत उन्नयिनी** सभा की स्थापना हुई जिसका कार्य क्षेत्र माधवाचार्य के दर्शन पर आधारित धार्मिक गतिविधियों तक सीमित रहा। साथ ही दक्षिणात्य ब्राह्मण वर्ग संगठित हुआ। 1886 में तिनवेल्ली में **शैव सिद्धांत सभा** का गठन हुआ। जिसका मुख्य उद्देश्य शैव मत का प्रचार-प्रसार और संरक्षण करना था। इधर **राधास्वामी सत्संग** उत्तर प्रदेश के आगरा शहर में संस्थापित होकर अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ा रहा था। इसमें दलित और पिछड़ी जातियों के लोग भी परिचलित हुए।

धार्मिक संगठनों के अतिरिक्त लोग जातीय संगठन भी धड़ाधड़ बनाने में लगे थे। इनमें **ब्राह्मण सभा, क्षत्रिय सभा, जाट सभा, कायस्थ सभा** (1888), **जैन सभा** (1888), **राजपूत हित कारिणी सभा, पंजाबी खत्री सभा** (1888-89) में बनीं। ब्राह्मण, मारवाड़ी और अग्रवाल वैश्यों ने भी अपने जातीय संगठन खड़े किए। इनकी सदस्यता पढ़े-लिखे जातीय सदस्यों तक सीमित रहती थी। बंबई में उन दिनों गुजराती समाज सुधारक **करसोनदास**

मलजी ने समाज सुधार की दिशा में **'सत्यप्रकाश'** नामक अपने पत्र में चर्चाएं कीं और लेख छापे। उन्होंने गुजरात और महाराष्ट्र में प्रचलित वल्लभाचार्य संप्रदाय के आचार्यों और महाराजों की अधार्मिक, अनैतिक और राजनीतिक क्रियाओं, पोलखातों और कारनामों पर लेख लिखे। यद्यपि उन्होंने एक ही धार्मिक संगठन के विरोध में खुलकर लिखा था, लेकिन अन्य धार्मिक प्रतिष्ठान और धर्माचार्य उनसे भयभीत रहने लगे थे। **मलजी** इंग्लैंड भ्रमण करने गए। पाश्चात्य विचारों ने उनके जीवन दर्शन को प्रभावित किया। यद्यपि फुले विदेश नहीं गए लेकिन लोक हित के जो कार्य वह संपादित कर गए हैं जैसे अन्य किसी समाज सुधारक ने नहीं किए।

लेकिन कुछ ऐसे भी संगठन बने जिनके दृष्टिकोण व्यापक थे। फुले के एक अन्य समकालीन **मेहताजी दुर्गाराम मंचाराम** (1809-1876) ने हिंदू विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार के खिलाफ लिखा। वह अवश्य फुले से प्रभावित रहे होंगे। बंबई के हरिकेशजी ने भी विधवाओं की व्यथा से प्रभावित हो विधवा पुनर्विवाह का सशक्त आंदोलन चलाया। उन्होंने अनेक सामाजिक रूढ़ियों का विरोध किया। गणपत लक्ष्मणजी ने सामाजिक बुराइयों पर प्रहार किए। समान स्त्री-शिक्षा की आवाज उठाई, बनारस के हिंदी साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) ने समाज सुधार के अनेक कार्य किए। उन्होंने अपनी पत्रिका में विधवा-विवाह, विदेश-यात्रा और स्त्री-शिक्षा का पक्ष लिया तथा बेमेल विवाह, बाल-विवाह, सती-प्रथा, भ्रूण-हत्या आदि सामाजिक बुराइयों पर प्रहार किए। वे जातिप्रथा के विरुद्ध थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में फुले समाज सेवा के कार्य में तन मन धन से लग गए थे। उन्होंने जातीय आधार पर अपनी फूलमाली जाति का संगठन नहीं बनाया। वरन् पूरे गरीब, उपेक्षित, बहिष्कृत और दलित समाज के संगठन की बात सोची और धीरे-धीरे अपनी कल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया। दबे-कुचले समाज के लोगों के संगठन बनाने में उन्हें ब्राह्मणों और उच्चजाति के अनेक सहयोगियों, मित्रों और समाज सुधारकों का सहयोग प्राप्त हुआ।[15]

गोपाल गणेश अगरकर

फुले दलित-शिक्षा द्वारा सामाजिक क्रांति के पक्षधर थे। वह उनके संगठन द्वारा सामाजिक अधिकार प्राप्त करने के हामी थे। उन्होंने अंधविश्वासों, सामाजिक जातीय, असमानता, आर्थिक तंगी, अस्पृश्यता के कलंक को मिटाने के लिए अकेले ही महाराष्ट्र में जो कार्य किया वह भविष्य में दलित क्रांति का उद्घोष बना। उनका दलित शिक्षा-सामाजिक सुधार का कार्यक्रम मील का पत्थर साबित हुआ। इसलिए उन्हें युग-मनीषी और मसीहा माना गया। आगे चलकर फुले के विचारों से प्रभावित मानवतावादी **जी. जी. अगरकर** ने प्रगतिशील विचारों और सामाजिक सुधारों की चिंतनधारा में महत्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और सामाजिक कुरीतियों का डटकर विरोध किया। उन्होंने अनमेल विवाह के विरुद्ध आंदोलन चलाया जिसकी जड़ में यह सब बुराइयां छिपी थीं। उन्होंने सुधारात्मक, उदार और प्रगतिशील कानून बनाने की बात की।

अगरकर ने तिलक के दकियानूसी और संकीर्ण विचारों जैसे वर्ण-व्यवस्था, जात-पांत और धर्मग्रंथों में उनकी आस्था का विरोध किया। उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की वकालत की। सामाजिक जीवन में समानता और प्रतिष्ठा भाव का समर्थन किया। उनका मानना था पाश्चात्य शिक्षा और आचार-विचार वैचारिक उदारता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और व्यापक दृष्टि को जन्म देते हैं। जिनसे वर्ण-व्यवस्था के दोषों से मुक्ति संभव है। उन्होंने सामाजिक प्रतिक्रियावादी शक्तियों का डटकर सामना किया। वह उदार राष्ट्रीयतावाद के परिपोषक थे।[16]

आर्य समाज

फुले के ही जीवनकाल में सामाजिक धार्मिक सुधारों की शृंखला में **आर्य समाज** का जन्म हुआ। इसके संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती (1825-1883) फुले के समकालीन थे। फुले से उनकी पूना में भेंट भी हुई थी और उनकी एक सभा को फुले ने असामाजिक तत्वों से बचाया था। **आर्य समाज** की स्थापना 1875 में **सौराष्ट्र के राजकोट** नामक स्थान बम्बई में हुई थी। दयानंद जाति व्यवस्था के खिलाफ थे। उन्होंने अस्पृश्यता का विरोध किया। जाति के नाम पर शूद्रों पर ब्राह्मणों के थोपे गए अत्याचार-अनाचार का उन्होंने डटकर प्रतिकार किया। यद्यपि वह वैदिक वर्ण व्यवस्था के पोषक और सामाजिक जीवन में शुद्धि के समर्थक थे। उन्होंने हिंदू धर्म छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार करनेवाले मुसलमानों का शुद्धीकरण आंदोलन चलाया और स्त्रियों को वेद पठन-पाठन और शिक्षा ग्रहण करने के समानाधिकार दिए।

स्वामी दयानंद ने संस्कृत शिक्षा की बात दुहराई और अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दिए जाने का विरोध किया। यद्यपि बाद में आर्य समाजियों ने खूब पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की और वर्ण व्यवस्था को माना। पंजाब और उत्तर भारत में आर्य समाज खूब फला-फूला। लेकिन यह बुद्धिजीवियों और अधिकांश सामाजिक कार्यकर्ताओं के हृदय में प्रगतिशील विचारधारा नहीं फैला पाया; क्योंकि यह वेद को प्रामाणिक पुस्तक और वर्णव्यवस्था को मानता था। आर्य समाज लघु स्तरीय यज्ञ, हवन, भजन, कीर्तन और वैयक्तिक शुचिता का आंदोलन बनकर रह गया। फुले द्वारा संचालित समग्र सामाजिक क्रांति के आंदोलन से यह काफी दूर था। आर्य समाज दलितों और निम्न वर्गों में इतना प्रभाव नहीं जमा सका। एक ओर आर्य समाज से मुसलमान आतंकित थे जो इसे विशुद्ध हिंदू आंदोलन समझते थे। इसी प्रकार दूसरी और ईसाई धर्मावलंबी भी आर्य समाज से चिढ़ते थे क्योंकि यह धर्मांतरण में बाधक बनता था। अपने प्रारंभिक स्थापना काल में आर्य समाज, ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज की तरह गतिशीलता और आधुनिकता से रहित था। आर्य समाज भारतीय वैदिक संस्कृति की अधिक बात करता था। आधुनिकता और प्रगतिशीलता से कतराता था। आर्य समाज व्यापारियों, धनाढय खत्रियों, जाटों, अंग्रेजी पढ़े-लिखे सुधारप्रिय पंडितों, भजनोपदेशकों की जमात बनकर रह गया। दिखावे के लिए वे सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते थे, शब्दों से जाति-पांत तोड़ते थे, लेकिन शादी-ब्याह, प्रीतिभोज अपनी

ही बिरादरी में करते थे। अपनी ही जाति के हित संवर्धन करते थे।

जितने भी दलित-निम्न जातियों के सुधारक आर्य समाज के पीछे लगे वे जनेऊधारी बनकर भजनोपदेशक से ज्यादा कुछ नहीं बन पाए। फुले के बाद उत्तर भारत की निम्न जातियों में आर्य समाज ने अपने पैर जमाए लेकिन **डॉ. अम्बेडकर, बाबू जगजीवन राम, बुद्धप्रिय मौर्य** और **संघप्रिय** गौतम के उदय के साथ-साथ इसका प्रभाव क्षीण हो गया।[17]

राधास्वामी मत

उत्तर भारत में 1861 में **राधास्वामी समाज** की **शिवदयाल जी** ने (1818-1878) आगरा में स्थापना की। यह एक आध्यात्मिक संगठन था और हिंदुओं के कर्मकांड-विधि विधानों का विरोध करता था। संत काव्यधारा के संत कवियों ने जिस प्रकार गुरु को मान्यता प्रदान की थी इसमें भी गुरु की शिक्षाओं को प्रधानता दी गई। राधास्वामी शब्द परमात्मा स्वरूप माना गया। जो संत सद्गुरु है। राधास्वामी मत आध्यात्मिक ज्ञान तक ही सीमित रहा। उसमें जाति-लिंग भेद से ऊपर उठकर सभी के लिए द्वार खुले रखे गए। शिक्षा, सामाजिक सुधार और सादा जीवन व्यतीत करने पर जोर दिया गया। उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त दिल्ली, हरियाणा, पंजाब आदि स्थानों पर राधास्वामी व्यास बने हुए हैं। आज भी यह पंथ लोकप्रिय बना हुआ है। सामाजिक समता, धार्मिक समरसता और जाति व्यवस्था में यह मत विश्वास नहीं करता।[18]

सर सैय्यद अहमद खां

अपने जीवन के अंतिम चरण में जब महाराष्ट्र में फुले शूद्रों के लिए शिक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा की लड़ाई लड़ रहे थे और सामाजिक सुधारों का मंत्र घोष फूंक रहे थे ठीक उसी समय उत्तर भारत में अलीगढ़ को केंद्र बिंदु मानकर सर सैयद अहमद खां (1817-1898) मुस्लिम जाति में नवजागरण के लिए संघर्षरत थे। उन्होंने मुस्लिम समाज में एकजुट रहने, अधिकारों के लिए संगठित प्रयास करने, मुगल साम्राज्य और सामंतों-नवाबों की ख्याली दुनिया के स्वप्न छोड़कर असलियत समझकर इस्लामिक पद्धति पर अरबी-फारसी के साथ-साथ पाश्चात्य शिक्षा और यूरोप के नवजागरण से प्रेरणा ग्रहण करने का आंदोलन चला रखा था। उन्होंने मुसलमानों को निर्भीक होकर बताया कि राजनीतिक दृष्टि से वे पिछड़ गए हैं, बेअसर हो गए हैं; इसलिए अंग्रेजी शासन में भागीदारी के लिए पाश्चात्य शिक्षा और विचारों को अपनाने की सख्त जरूरत है। इस विचार को व्यावहारिक रूप देने के लिए सर सैयद अहमद खां ने अलीगढ़ में मुहम्मडन ओरियंटल कालेज खोला जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय बना।

शायद बहुत कम लोगों को यह बात ज्ञात होगी कि अम्बेडकर से बहुत पहले **सर सैय्यद अहमद खां** ने ब्रिटिश वायसराय के सम्मुख अपने लंबे-चौड़े प्रतिवेदन में भारत के

मूल निवासी (दलितों) के हकों के लिए जोरदार वकालत की थी और फुले के जीवन काल में ही दलितों की मुक्ति का पथ प्रशस्त किया था। मुस्लिम समाज को **सर सैयद अहमद खां** सहूलियतें दिलाईं। अछूत नेतृत्वविहीन थे, इसलिए तब फायदा नहीं उठा पाए। उन दिनों अस्पृश्यता जोरों पर थी। लेकिन अंग्रेज अछूतों की दयनीय दशा से परिचित हो गए।

सर सैय्यद अहमद खां ने हाथरस, अलीगढ़, इटावा, फर्रुखाबाद की कचहरियों में ओहदे पर रहते हुए अछूतों के साथ हो रहे अत्याचारों, शोषण और गुलामी के बंधुआ जीवन को बड़े निकट से देखा था। उन्होंने अलीगढ़ में मुस्लिमों के साथ-साथ चमार-कोरी-खटीक जैसी (अछूत) जातियों को शिक्षा और सांस्कृतिक जागरण के लिए चेताया और धार्मिक समरसता की बात की।[19] इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में सभी वर्गों में सामाजिक-जातीय सुधारों की लहरने सामाजिक पुनर्निर्माण का पथ प्रशस्त किया।

फुले और सत्यशोधक समाज

इधर दलितों में समाज सुधार के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से ही फुले ने **सत्यशोधक समाज** की स्थापना की थी। उनके पहले बंगाल के अभिजात्य वर्ग के लोग समाजसुधार और धार्मिक मान्यताओं को मानवतावादी बनाने, रूढ़ियों को मिटाने के लिए कृत संकल्प थे। वह महाराष्ट्र में अकेले ही पतनशील ब्राह्मणी संस्कृति और पुरोहितों की क्षुद्र मनोवृति और संकीर्ण विचारधारा के विरुद्ध आजन्म संघर्ष करते रहे। वे सुख-सुविधाओं, उच्च नौकरी की लालसा आदि के लिए मिशनरियों के बहकावे में नहीं आए, जबकि उनके समकालीन बहुत से ख्यातनामा समाज सुधारक इस लहर में बह गए थे।

भारत में पुनर्जागरण का सबसे अधिक जोर बंगाल में रहा। वहां राजा राममोहन राय ने 1828 में **ब्रह्म समाज** की स्थापना की। राजा राममोहन राय के समय से सामाजिक सुधारों की बाढ़-सी आ गई। सती-प्रथा, बाल-विवाह, बहुविवाह जैसी अनेक सामाजिक बुराइयों का विरोध किया जाने लगा। बुद्धि, तर्क, सत्य और स्वतंत्रता जैसे सिद्धांत पाश्चात्य दर्शन से अपनाए गए। पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति से प्रभावित होकर प्रचलित शिक्षा-पद्धति जीवन शैली में परिवर्तन किए जाने लगे। स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा। राममोहन राय के इन कार्यों को केशव चंद्र सेन, महर्षि द्वारकानाथ टैगोर, देवेंद्रनाथ ठाकुर, ईश्वर चंद्र विद्यासागर जैसी महान हस्तियों ने आगे बढ़ाया।

ब्राह्म समाज, परमहंस समाज, आस्तिक समाज, प्रार्थना समाज इतने प्रभावी नहीं हुए जितना **सत्यशोधक समाज** प्रभावी था। सभी संगठन अभिजात्य वर्ग द्वारा संस्थापित किए गए थे। उन सबके प्रभाव सीमित थे। केवल **सत्यशोधक समाज** ही ऐसा सामाजिक संगठन था जिसके मुख्य संस्थापक निम्न और अछूत जाति के थे। इसकी स्थापना आश्विन माह की द्वितीय नवरात्र, तदनुसार 23 सितंबर 1873 को पुणे में हुई। पूरे महाराष्ट्र से लगभग साठ प्रतिष्ठित और परखे हुए समाजसेवी एकत्रित हुए, जिन्होंने सर्वसम्मति से ज्योतिबा को संस्थापक अध्यक्ष और नारायणराव गोविंदराव कडलक को मंत्री निर्वाचित किया।

सत्यशोधक समाज के प्रमुख उद्देश्य थे :

1. ईश्वर एक है। सर्वव्यापी, निर्गुण, निर्विकार और सरल स्वरूप है। वह प्राणिमात्र में व्यापक है।
2. प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर भक्ति का अधिकार है। सर्वसाक्षी परमेश्वर की प्रार्थना और चिंतन के लिए किसी मध्यस्थ की, किसी दलाल की आवश्यकता नहीं है।
3. मनुष्य जाति के गुण उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं।
4. कोई भी ग्रंथ न तो ईश्वर प्रणीत है, न वह पूर्णरूपेण प्रमाण के रूप में उपलब्ध है।
5. परमेश्वर शारीरिक रंग-रूप में अवतार धारण नहीं करता।
6. पुनर्जन्म, कर्मकांड, जप-तप या धर्म गोष्ठियां, अज्ञान मूलक हैं। सत्यशोधक समाज के सीधे-सादे उद्देश्यों से महाराष्ट्र के पिछड़े वर्गों-अछूत जातियों में प्रारंभ में व्यापक असर हुआ।

जो भी समाज का सदस्य बनना चाहता था, उसे प्रभु खांडेराव की शपथ लेनी पड़ती थी। सभी जाति और धर्म के अनुयायी समाज के सदस्य बन सकते थे। समाज के संस्थापकों में कई सदस्य मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदी, ब्राह्मण, मराठा, कोली, महार, मांग, चमार और माली आदि जातियों से संबंध रखते थे।

इस प्रकार ज्योतिबा द्वारा संस्थापित **सत्यशोधक समाज** ब्राह्मण वर्चस्व और उच्च जातियों द्वारा समाज की निम्न जातियों के बौद्धिक शोषण तथा सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पीड़न और अन्याय के विरुद्ध प्रतीकात्मक रूप में एक जन-आंदोलन बनकर सामने आया। इसे हम एक नई सांस्कृतिक क्रांति की संज्ञा दे सकते हैं। इसके उद्देश्य बहुत सरल और स्पष्ट भाषा में मर्म को छूनेवाले थे। यह अपने ढंग का मौलिक सामाजिक संगठन था और ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि से सर्वथा भिन्न इसकी कार्य-शैली थी।

समाज की साप्ताहिक बैठकें बहुधा इतवार को हुआ करती थीं ताकि लोग सरलता से इसकी बैठकों में भाग ले सकें। समाज की बैठकों में नारी शिक्षा, दलित महिला शिक्षा, स्वदेशी के प्रचार तथा पुरोहितों द्वारा समाज को गुमराह किए जाने पर चर्चा होती थी। समाज ने स्पष्ट घोषणा कर रखी थी कि वह जाति-पांत, अस्पृश्यता, धर्म की संकीर्णता और मनुष्य द्वारा मनुष्य के हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध है।

समाज की प्रवृतियों में ज्योतिबा का व्यक्तित्व दीपशिक्षा का काम करता था। समाज विवाहों में अपव्यय, जाति-पांत, ऊंच-नीच, मूर्ति और देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना का घोर विरोधी था। पुणे की अछूत मलिन बस्तियों, कामगारों और गरीब लोगों में **सत्यशोधक समाज** की बहुत-सी शाखाएं स्थापित हुई। 'सर्व धर्म समभाव' के पोषक और मानवता के पक्षधर सत्यशोधक समाज से कुछ कट्टरपंथी हिंदू घृणा करते थे। पंडित-पुरोहितों की इससे रोजी-रोटी छिन गई थीं। ज्योतिषियों और वेदपाठियों के काम-धंधे में मंदी आ गई। शूद्र और निम्न जातियों ने उनसे अपने मंगल उत्सवों, मुहूर्त और विवाह की तिथियां

निकलवाना बंद कर दिया था। महाराष्ट्र में इससे पहले इतने क्रांतिकारी और प्रगतिशील समाज सुधारों का कार्य कोई व्यक्ति या संस्था नहीं कर पाई थी। पुणे में दलित शिक्षा के प्रसार से अछूतों में **सत्यशोधक समाज** के प्रति विशेष उत्साह था।

दूसरी ओर कट्टरपंथी पुरोहित वर्ग से अब नहीं रहा गया। उन्होंने नए-नए षड्यंत्र रचे। अनपढ़-अशिक्षित शूद्रों को भड़काना शुरू कर दिया। उनके पास बैठकर मेलजोल बढ़ाना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे उनसे कहना शुरू कर दिया कि यह माली और उसका सत्यशोधक समाज सबको या तो ईसाई बनवा देगा या उनका धर्मभ्रष्ट करेगा। ब्राह्मणों ने एक कुतर्क यह भी प्रस्तुत किया कि मराठी भाषा की प्रार्थना ईश्वर के पास पहुंच ही नहीं सकती और ज्योतिबा उन्हें मूर्ख बना रहा है। यह तर्क सुनकर कुछ भोले-भाले लोग बहक गए। ज्योतिबा से कहने लगे कि सत्यशोधक समाज के मराठी भजन और प्रार्थनाएं ईश्वर के पास पहुंच ही नहीं सकतीं। क्योंकि अब तक तो वेदपाठी विद्वान और पुरोहित देवताओं की भाषा संस्कृत में श्लोक और मंत्रपाठ करते थे, इसलिए प्रार्थनाएं ईश्वर के पास सीधे पहुंच जाती थीं। ईश्वर ने वेद-शास्त्र भी इसी भाषा में रचे हैं।

ज्योतिबा को ऐसी अनर्गल बातों और कुतर्कों से बड़ा आघात पहुंचा। ऐसे बहके हुए लोगों को फटकारते हुए उन्होंने बताया कि उन्हें भ्रमित करने के लिए ऐसे तर्क दिए जा रहे हैं। उनकी एकता तोड़ने की यह कोशिश है। सभी धर्म समान हैं। सबका ईश्वर एक है। वह जाति-पांत नहीं मानता है। ईश्वर सब भाषाओं में प्रार्थना सुन सकता है। मनुष्यता सबसे श्रेष्ठ है। जाति-पांत, वर्णभेद और ऊंच-नीच की दीवारें सब ब्राह्मणों की देन हैं जो उन्होंने अपने लोभ के लिए खड़ी की हैं। ईश्वर गरीब से गरीब की हर भाषा और बोली समझ लेता है। उन्होंने बताया कि पारिवारिक उत्सव, व्रत, जन्म, मुंडन, विवाह जैसे सभी समारोहो से पुराहितों और ब्राह्मणों का जब तक पूर्ण बहिष्कार नहीं किया जाता, वे शूद्र ही समझे जाएंगे। उनकी आनेवाली संतानें भी जाति-पांत, छुआछूत और सदियों की दासता से छुटकारा नहीं पा सकेंगी।

सत्यशोधक समाज अब दुगुनी मेहनत और जोश से काम करने लगा। शूद्र और दलितों को सावधान किया गया कि वे भूलकर भी पुरोहित-ब्राह्मणों के बहकावे में न आएं। समाज ने कुछ विधि-विधान और नियम निर्धारित कर दिए। अब तक निम्न जातियों के लोग ब्राह्मणों को देवताओं की तरह पूजते थे, अपना संरक्षक और धर्मगुरु मानते थे। उनका आशीर्वाद वेदवाक्य और ईश्वर वचन समझा जाता था। किंतु ज्योतिबा ने पाखंडी पुरोहित और अनपढ़ ब्राह्मणों के पूर्ण बहिष्कार के लिए सत्यशोधक समाज के माध्यम से जागृति फैला दी। इस नई व्यवस्था से ब्राह्मण और भी दुःखी हुए।

ज्योतिबा के विचारों से प्रभावित बालाजी केशाजी पाटिल ने अपने पुत्र के विवाह में ब्राह्मण पुरोहित का बहिष्कार कर दिया तो ओतुर गांव के पुरोहित वामन जगन्नाथ और शंकर बापूजी ने पाटिल के विरुद्ध मानहानि का दावा कर दिया। पाटिल धर्मसंकट में पड़ गए। वह ज्योतिबा के पास पहुंचे। उन्हें वकील तक मिलने में कठिनाई हुई। निचली अदालत ने इस मामले में पुरोहित के पक्ष में आदेश पारित कर दिए। इसी प्रकार के अन्य

मामले में महादेव गोविंद रानाडे जैसे समाज सुधारक भी अपना एक निर्णय पुरोहितों के पक्ष में सुना चुके थे। यही नहीं रानाडे के निर्णय की डिग्री में जिला जज, पुणे ने यह और जोड़ दिया कि पुरोहित अपना पौरोहित्य शुल्क पाने के अधिकारी हैं, भले ही उन्हें किसी मांगलिक उत्सव में बुलाया गया हो या नहीं अथवा उसके बदले में किसी दूसरे पुरोहित की सेवाएं ले ली गई हों। यह निर्णय एक प्रकार से पुरोहितवाद को दृढ़ आर्थिक आधार और सामाजिक मान्यता प्रदान करने जैसा ही था।

यहीं नहीं हिंदू कट्टरता और ब्राह्मणों के वर्चस्व तथा प्रतिक्रियावादी तत्वों से प्रभावित बंबई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर एम.आर. वेस्टरौप ने भी थोड़े बहुत शाब्दिक हेरफेर के साथ इस निर्णय को बहाल रखा। अब ज्योतिबा जैसे दलित क्रांति के पुरोधाओं और समाज सुधारकों के लिए यह चुनौती थी। ज्योतिबा के आशीर्वाद और प्रेरणा से पाटिल पुरोहितों के इस प्रकार के पुश्तैनी अधिकार को मानने के लिए राजी नहीं थे। उन्होंने दावा किया कि अपनी जाति के व्यक्ति द्वारा रीतियों के अनुवार विवाह की रस्में संपन्न कराई गई हैं और ऐसा ही उनके पूर्वज किया करते थे। पुणे के प्रथम श्रेणी के सब-जज ने निचली अदालत की डिग्री खारिज कर दी। यह नवंबर 1887 की बात है। इस निर्णय का **सत्यशोधक समाज** ने स्वागत किया। समाज सुधारकों ने इसे कट्टरता पर बुद्धिमत्ता की विजय और ज्योतिबा के महान उद्देश्यों की सफलता बताया। इस निर्णय से ब्राह्मण वर्ग में उदासीनता छा गई। पर वे हार माननेवाले नहीं थे। उन्होंने निश्चय किया कि वे शूद्रों के खिलाफ उच्च न्यायालय के द्वार खटखटाएंगे। जुन्नार और पुणे में सभा की गई। पुरोहितों ने चंदा जमा किया। वकीलों की सहायता ली गई तथा बंबई हाइकोर्ट में द्वितीय अपील करने की ठानी गई।

इस बीच पूरे महाराष्ट्र में गैर-ब्राह्मणों में नई पद्धति से विवाहों की परंपरा चल पड़ी। **सत्यशोधक समाज** के कार्यकर्ता सरल विधि से विवाह और अन्य मांगलिक उत्सव बिना किसी व्यय के संपन्न कराने लगे। इससे ब्राह्मणों का बहिष्कार ही नहीं हुआ, न्यायिक हस्तक्षेप की बात भी टल गई। यह व्यक्ति की अपनी इच्छा थी कि पुरोहित को बुलाए या नहीं बुलाए। पर यह सब आसानी से नहीं हुआ : उदाहरणस्वरूप ज्योतिबा के एक अन्य अनुयाई गुनाजी बापूजी पाटिल शिंदे ने बालाजी केशाजी पाटिल के पुत्र की तरह स्वयं अपने विवाह में ब्राह्मणों का बहिष्कार किया। पुलिस की सहायता ली गई। पुरोहितों ने बाधाएं उपस्थित कीं। रिश्तेदारों को बहकाया और भी विघ्न डाले। लेकिन सत्यशोधक समाज के कार्यकर्ताओं ने डटकर साथ दिया और विवाह की रीतियां संपन्न कराईं। इस प्रकार के पुरोहित रहित, दहेज रहित, सीधे-सादे विवाह से लोगों में एक नई चेतना का उदय हुआ। ज्योतिबा ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि पुरोहित वर्ग का पूरा बहिष्कार करो, क्योंकि वे विवाह और अन्य मांगलिक अनुष्ठानों में न तो उनके हाथ का पानी पीते हैं, न स्पर्श किया खाना खाते है, मात्र रुपये-पैसे, कपड़े, गहने, बर्तन लेकर और उन्हें बहकाकर भाग जाते हैं। यह विधिवत् अनुष्ठान नहीं एक पुश्तैनी धार्मिक लूट है। लोगों को यह सीधी बात समझ में आ गई।

सत्यशोधक समाज की स्थापना के ठीक एक महीने बाद 25 दिसंबर 1873 को ही ज्योतिबा ने अपने एक संबंधी जिनकी पत्नी का देहावसान हो गया था की शादी संपन्न कराई। इस विवाह में कोई व्यय नहीं किया गया। इसी प्रकार बिना पुरोहित के ग्यानबा ससाने की शादी की गई।

ब्राह्मणों ने गुंडों के जरिए ससाने की शादी में विघ्न उपस्थित करने की योजना बनाई थी लेकिन ज्योतिबा ने अपने वकील मित्रों व पुलिस के सहयोग से अपने निवास पर 7 मई 1874 को विवाह संपन्न कराया। ज्योतिबा के सैकड़ों समर्थक वहां इकट्ठे हुए और किसी की हिम्मत नहीं हुई कि कोई गड़बड़ी करें। इससे सामाजिक क्षेत्र में ज्योतिबा के एक नए व्यक्तित्व का उदय हुआ। ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज शाब्दिक सहानुभूति रखते थे, घोषणाओं और बड़े-बड़े उद्देश्यों का प्रचार करते थे। ज्योतिबा का सत्यशोधक समाज व्यावहारिक धरातल पर कार्य करता था। गरीबों और पददलितों से सहानुभूति ही नहीं, सच्चा प्रेम करता था।

अपनी अलग पहचान के लिए सत्यशोधक समाज के प्रचारक और उपदेशक सिर पर साफा बांधते थे तथा कंबल रखते थे। हाथ में ढोल रहता था। गरीब और शूद्र जाति की बस्तियों में ढोल बजाकर लोगों को इकट्ठा किया जाता। उन्हें सीधे-सादे ढंग से शिक्षा और सामाजिक अधिकारों को पाने के लिए सजग किया जाता, जिससे वे अपनी मानसिक दासता को त्यागकर स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास करें।

इससे पहले दलित-शूद्रों के शोषण, दमन और अत्याचारों के विरुद्ध इतना संगठित प्रचार भारत के किसी अन्य नगर में शायद ही किसी संगठन या व्यक्ति ने किया होगा। **सत्यशोधक समाज** एक क्रांतिकारी जन आंदोलन, दलित जनों की आकांक्षाओं का प्रतीक और जागृति का संदेशवाहक बन चुका था। ज्योतिबा और समाज के अन्य प्रभावशाली कार्यकर्ता लोगों को यह बात बराबर समझाते रहते थे कि ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज कुलीन लोगों के दिमाग की उपज हैं। वे आदर्शवादी संगठन हो सकते हैं, उनके कार्यक्रम वैचारिक और सैद्धांतिक दृष्टि से उच्चकोटि के लग सकते हैं, लेकिन सदियों से दबी-पिसी और शोषित मानवता के कल्याण के लिए उनके पास कोई भी ठोस और व्यावहारिक योजना नहीं है। उन्होंने कहा कि पेशवाओं के जमाने में निर्णय तलवार के बल पर होते थे। अब बुद्धि और तर्क के बल पर आगे बढ़ना होगा और इस सबके लिए पुरुष और स्त्रियों को शिक्षित करना और संगठित रहना परमावश्यक है।

इन्हीं दिनों ब्राह्मण अधिकारियों ने **सत्यशोधक समाज** के कर्मचारियों को जो उनके अधीन काम करते थे, नौकरियों में तंग करना शुरू कर दिया। बहुत से कर्मचारियों को स्थानांतरित किया गया। जो अस्थाई कर्मचारी थे उन्हें या तो हटा दिया गया या उनकी सेवा में व्यवधान डाल गया। ज्योतिबा ने इस उत्पीड़न के खिलाफ जोरदार आवाज उठाई।

प्रारंभ से ही ज्योतिबा ओर **सत्यशोधक समाज** ने जातीय एकता पर बल दिया था। वह दलित शूद्र और पिछड़ी जातियों में समन्वय स्थापित करने के पक्ष में थे। उन दिनों पुणे में लगभग चार हजार माली जाति के लोग भी रहते थे। इनकी जातीय पंचायत भी

थी। इसके कार्यकर्ताओं ने मई, 1888 में ज्योतिबा को पंचायत चुनावों के अवसर पर आमंत्रित किया। इस आशा से कि उनकी बिरादरी का इतना लोकप्रिय शिक्षा प्रेमी, समाज सुधारक और दूरदर्शी चिंतक उनके बीच आकर उत्सव की शोभा बढ़ाएगा। ज्योतिबा उनकी विचारधारा और उद्देश्यों से भली-भांति परिचित थे। वह एक जाति के विशेष संगठन को महत्व नहीं देना चाहते थे। वह सभी शूद्र और दलितों का एक मंच चाहते थे। इसलिए वह उस पंचायत में नहीं गए। इससे अन्य जातियों में उनकी प्रतिष्ठा और बढ़ गई। पुणे में ब्राह्मण नाई-धोबी समाज को हेय दृष्टि से देखते थे, जबकि दोनों की ही बड़ी सामाजिक उपयोगिता रही है। प्रत्येक अनुष्ठान के समय दोनों को बुलाया जाता था। लेकिन पुरोहित उन्हें कभी भी आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। फुले ने उन्हें समाज का उत्कृष्ट सेवाभावी स्वीकार किया और संगठित रहने पर जोर दिया।

एक बार पुणे के नाइयों ने ज्योतिबा के आशीर्वाद से हड़ताल कर दी कि ब्राह्मणों की हजामत नहीं बनाएंगे। यह 1875 की बात है। अंत में ब्राह्मणों को झुकना पड़ा। बढ़ी दरों पर हजामत करना तय हुआ। ज्योतिबा इस समाज को बड़ा मान देते थे। ज्योतिबा 1887 में पुणे जिले में धमतेरे गांव में एक नाई परिवार के विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के लिए भी पहुंचे थे।

इस प्रकार ज्योतिबा का **सत्यशोधक समाज** सुधारवादी कार्यक्रमों के कारण पूरे महाराष्ट्र में बहुत लोकप्रिय हो गया था। यह शूद्र, अतिशूद्र, निम्न वर्ग, किसान-कामगार और दस्तकारों में जागृति की लहर फैलानेवाला, क्रांतिकारी परिवर्तन लानेवाला जन आंदोलन बन गया था।

लेकिन कुछ सनातनी कट्टरपंथी अब भी उनसे बैरभाव रखते थें। जबकि फुले कहते थे, *"ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर, कबिरा खड़ा बाजार में सबकी मांगे खैर।"*

इस प्रकार नवजागरण काल में फुले ने बड़ी सक्रियता, व्यावहारिकता एवं दूरदृष्टि का परिचय देते हुए दलित वर्गों में समग्र सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना और वैचारिक क्रांति का बीजारोपण किया। साभाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन के प्रयास किए। जिसे 20वीं शताब्दी में डॉ. अम्बेडकर सरीखे लोकनायकों ने आगे बढ़ाया।[20]

यूरोप की लोक क्रांतियों, शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार, औद्योगिक प्रगति, धार्मिक सुधार आंदोलन, वैज्ञानिक खोजों ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सामाजिक समानता और मातृत्व की भावना को सुदृढ़ किया था। उसका गहरा प्रभाव भारत पर भी पड़ा। यूरोप के नवजागरण ने भारतीय युवकों में पाश्चात्य शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति के प्रति अनुराग पैदा किया। उनके प्रकाश में नवयुवकों को सामाजिक बुराइयों और धर्म की रूढ़ियों के अनेकानेक दुर्गुण स्पष्ट दीखने लगे थे।

अधिकांश अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवा पीढ़ी के सदस्य विचारों से उदार थे, लेकिन बुराइयों से लड़ने में झिझकते थे। वे यह सब जानते हुए कि पुरातनवादियों के कारण हिंदुत्व बुराइयों का घर बन गया है और उसमें अस्पृश्यता, जात्याभिमान, असमानता, सामाजिक रूढ़ियां हावी हो गई हैं, जिसके कारण उसकी गतिशीलता कुंठित हो गई है, फिर भी वे गंभीरता

से सामाजिक क्रांति की आवाज बुलंद नहीं कर पाए। समाज सुधार दुस्साहस माना जाता था। जाति बहिष्कृत करने की भी प्रथा थी।

सामाजिक परिवर्तन का यह काम ज्योतिबा ने किया। अब तक किसी भी समाज सुधारक ने शूद्रों, दलितों, अस्पृश्यों की गुलामी से भी बदतर हालत के बारे में सोचा भी नहीं था, यह ज्योतिबा थे, जिन्होंने वैचारिक क्रांति की पताका फहराई। समाज के ठेकेदारों, सरकार और बड़े-से-बड़े व्यक्ति को यह अहसास करा दिया कि शाब्दिक सहानुभूति, किताबी एकता, कोरे मेल-मिलाप की जगह सामाजिक और जातीय बराबरी की आवश्यकता है, सामाजिक न्याय की जरूरत है। इस तरह सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक अधिकारों की प्रतिस्थापना, वक्त की आवाज है। दलित स्त्री-पुरुषों की शिक्षा जरूरी है। यह था ज्योतिबा का नवजागरण संदेश। इसलिए ज्योतिबा के जन-जागरण के कार्यकलापों और सतत धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों से संघर्षरत रहने के कारण 19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध दलितों और शोषितों की मुक्ति के प्रयास का युग कहा गया। कर्मयोगी ज्योतिबा अपने विचारों और रचनात्मक कार्यक्रमों की वजह से पुणे ही क्या पूरे महाराष्ट्र के समाज सेवकों में अग्रणी सुधारक और क्रांतिद्रष्टा विचारक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे। *निसंदेह भारत के दलित इतिहास का पहला पृष्ठ फुले ने लिखा।*[21]

शिक्षाविद् के साथ-साथ उन्हें शूद्रों और निम्नवर्गों के मुक्तिदाता के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। आगे चलकर भारत के सामाजिक इतिहास में सर्वहारा शोषित एवं पीड़ित वर्ग की सदियों की दासता से मुक्ति के लिए उनके प्रयत्न स्वर्णाक्षरों में लिखे गए।

पुनर्जागरण के इस काल में तरह-तरह के सामाजिक सुधारों के लिए भारत के हर कोने में कोशिशें जारी थीं। लेकिन दलितों की मुक्ति का संग्राम और उनकी सर्वांगीण प्रगति का पथ ज्योतिबा ने ही प्रशस्त किया और इस बारे में किसी की भी दो राय नहीं हो सकतीं। ये वे दिन थे जब पश्चिम में **मार्क्स** और **ऐंगिल्स** सामाजिक वर्ग-संघर्ष और क्रांतिकारी इतिहास में शोषित-दलित मजदूर और किसान वर्ग की भूमिका के सिद्धांतों का निरूपण और दार्शनिक व्याख्या कर रहे थे।

ज्योतिबा जानते थे कि **मार्क्स** के विचारों से भारत में क्रांति नहीं आ सकती थी। पहले जनता राजाओं, जमींदारों और पुरोहितों के त्रिमुखी शोषण का शिकार थी। बाद में अंग्रेजों ने पूरे भारत पर अपनी सत्ता स्थापित की। अंग्रेजों ने धीरे-धीरे अपने साम्राज्य विस्तार को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यहां की सामाजिक व्यवस्था, वर्णव्यवस्था और रूढ़िवादिता को बिल्कुल अनदेखा कर दिया। समाज सुधारकों की विचारधारा और प्रयासों ने ही उन्हें विवश किया कि वह लोकहित के लिए सार्वजनिक कानून बनाएं, जनकल्याण की भावनाओं से प्रेरित काम करें और देश की सामाजिक-आर्थिक प्रगति के द्वार खोलें।

दलितों, अस्पृश्यों और निम्न जातियों की मुक्ति के लिए **ज्योतिबा** पहले स्वयं पहल करते थे, शासन बाद में जागता था। अंग्रेज और अन्य यूरोपीय देशों के भारत स्थित अधिकारियों, सैनिक कर्मचारियों और व्यापारियों को यहां की जटिल समाज व्यवस्था की पूरी जानकारी नहीं थी। किंतु ईसाई धर्म प्रचारक यहां की धार्मिक कमजोरियों, पाखंड,

अंधविश्वास और रूढ़िवादिता से परिचित थे और इसी कारण वे पूरे भारत में धर्म प्रचार, धार्मिक शिक्षा के प्रसार, धर्मांतरण जैसी प्रवृतियों में संलग्न थे। पाश्चात्य शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं का प्रसार तो काफी समय बाद किया गया।[22]

ज्योतिबा अपने ढंग से उपेक्षितों, अधिकार वंचित दलितों और गरीबों को जगाना चाहते थे। वह सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के इच्छुक थे। इसके लिए वह आजन्म जूझते रहे, संघर्ष करते रहे।

उन दिनों पूरे महाराष्ट्र और पुणे में परमहंस सभा और प्रार्थना समाज जैसे ईश्वरवादी और आध्यात्मवादी नौकरीपेशा लोगों की संख्या से बोझिल संगठन थे, जो समाज सुधार की बात तो करते थे, कुछ आश्रम-अनाथालय, स्कूल भी खोल देते थे, लेकिन उपेक्षितों, अधिकार वंचितों, अस्पृश्यों में घुल-मिलकर उनके मध्य रहकर काम करने से कतराते थे। **ज्योतिबा** उन्हीं के मध्य पैदा हुए, उन्हीं के मध्य अपना कार्य क्षेत्र बढ़ाया। महाराष्ट्र में पेशवाओं के अंत के बाद ही दलित जातियों में चेतना आ गई थी उसका समस्त श्रेय **ज्योतिबा** और उनके सहयोगियों को जाता है। वैसे 1852 में सामंत-जागीदारों और युवा देशभक्तों ने **दक्कन एसोसिएशन** की स्थापना की। लेकिन यह संगठन सामाजिक न होकर राजनैतिक अधिक था। वह जनता की भलाई कम, अपने खोए वैभव और हैसियत पाने को अधिक महत्व देता था। इसलिए यह संगठन चल नहीं पाया। इसी प्रकार 1867 में **पूना एसोसिएशन** और तीन वर्ष बाद 1870 में पूना सार्वजनिक सभा बनी। दक्कन एसोसिएशन के सदस्यों ने ही पूना सार्वजनिक सभा का निर्माण किया था। बाद में ये सब आदर्शवादी संगठन ही बने रहे। इन पर उच्च जातियों का वर्चस्व रहा।

ज्योतिबा ही ऐसे युगपुरुष थे जिन्होंने अपने शैक्षिक क्रिया-कलापों और सत्यशोधक समाज के माध्यम से दलित-पिछड़े समाज की मुक्ति के लिए संघर्ष किया और अगुआई की। उन दिनों वह ऊंचे-से-ऊंचे पद को प्राप्त कर सकते थे, आराम से रह सकते थे। अपनी आनेवाली पीढ़ियों के लिए सुख-सुविधाएं जुटा सकते थे। लेकिन नहीं, उन्होंने अंधविश्वासों, धार्मिक रूढ़िवादिता, पुरोहितवाद, संकीर्ण विचारों, अस्पृश्यता आदि सभी सामाजिक बुराइयों का विरोध किया। कट्टर तत्वों से लोहा लिया। पुरातनपंथियों का दृढ़ता से मुकाबला किया। इसके साथ ही समाज के उपेक्षितों-दलितों और निम्न जातियों में शिक्षा और सामाजिक जागृति की लहर फैलाई। उनके चिंतन और कर्म में कोई अंतर नहीं था। दीन-दलितों की सेवा को उन्होंने परम कर्तव्य और धर्म की संज्ञा दी।

महात्मा गौतम बुद्ध और कबीर के पश्चात **ज्योतिबा** ने सामाजिक चेतना और सत्यमार्ग का पथ उन लोगों को दिखाया, जिनके प्रगति के मार्ग अवरुद्ध कर दिए गए थे और जिनकी आत्म-ज्योति बुझा दी गई थी। उन्होंने मानसिक रूप से मंद और आर्थिक रूप से पंगु बनाए गए समाज में क्रांति का बीज बोया।

उन्होंने अपने चिंतन और कर्म द्वारा ब्राह्मण धर्म को परिष्कृत-परिमार्जित करने की कोशिश की। उसमें छाई जड़ता को दूर करने का प्रयास किया। समयानुकूल नए विचारों को अपनाने हेतु उद्भावों के प्रवेश के लिए पुरोहितों को बार-बार झकझोरा और यह बताने

की कोशिश की कि विश्व एक मानव परिवार है। धर्म-संस्कृतियां भिन्न हो सकती हैं, समाज व्यवस्था अलग-अलग हो सकती है लेकिन उसके मूल चिंतन में मनुष्य एक है। सत्यशोधक समाज का यही व्यापक रूप उन्होंने समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। उदार यूरोपीय चिंतन भी इसी प्रकार उनके सत्यशोधक समाज में कर्मप्रधान लोग अधिक थे। ज्योतिबा सदैव व्यावहारिकता के धरातल पर चिंतन करते थे। वह एक तपस्वी और कर्मवीर थे। वह त्याग, सेवा, सदाशयता से परिपूर्ण एक महान कर्मयोगी थे। इसलिए ऊंचे-से-ऊंचे तथाकथित महापुरुषों की खुले आम कमियों और उनके दुहरे व्यक्तित्व के बारे में निर्भीकतापूर्वक बता दिया करते थे। संत कबीर की तरह वह भी पाखंड-ढोंग और बनावटी सिद्धांतों का आजन्म विरोध करते रहे। उन्होंने बार-बार स्पष्ट कहा कि धर्म और जाति भेद, ऊंच-नीच का भ्रमजाल फैलाकर अन्याय और शोषण की प्रक्रिया चालू रखने के लिए बनाए गए हैं, जिसे हमें ध्वस्त करना है।[23]

कट्टर ब्राह्मणों ने उनके विरुद्ध षड्यंत्र भी रचा। गरीबों के हिमायती ईसा को अपना सलीब ढोना पड़ा, लेकिन **ज्योतिबा** उस धातु के बने थे जिसने कट्टरता के आगे समर्पण नहीं किया। शहर के दो नामी व्यक्ति जो मारकाट एवं असामाजिक कार्यों के लिए प्रसिद्ध थे, रात्रिकाल में **ज्योतिबा** को मारने के लिए नंगी तलवार लेकर आए। इनमें से एक रोडे नामक रामोशी था और दूसरा व्यक्ति ढोंडीराम नामदेव कुम्हार था। उनके पैरों की आहट सुनकर **ज्योतिबा** की आंखें खुल गईं। पत्नी सावित्री भी जग गई। मृत्यु को सामने देखकर वह तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने दोनों पूछा कि उन्होंने क्या पाप किया है और किसका बुरा चाहा है? जबकि उन्होंने अपना सारा जीवन, अमूल्य समय और समस्त साधन पददलितों के उत्थान और गरीबों की सेवा में लगाए हैं। उन्हें अंधेरी गलियों से निकालने के लिए समस्त कुलीन और ऊंची जातियों के कट्टर पुरातनपंथियों से कठोर संघर्ष किया है। यह जीवन उनका कहां है, यह तो शोषितों और दलितों की सेवा के लिए समर्पित हो चुका है।

दोनों अपराधियों की समझ में यह बात आ गई कि ज्योतिबा तो उनके भले के लिए ही लड़ रहे हैं। वे दोनों निम्न-दलित जाति के ही थे, जिन्हें ईर्ष्यालु पुरोहितों ने धन का लालच देकर ज्योतिबा की हत्या के लिए भेजा था। अब उनका हृदय परिवर्तन हो चुका था। वे **ज्योतिबा** के चरणों पर गिर पड़े। उनका पाप धुल गया और सारा भेद उन्होंने बता दिया। बुद्ध की तरह करुणामूर्ति **ज्योतिबा** ने अभय देते हुए उनसे कहा कि वे कल से उनकी पाठशाला में पढ़ने आ जाएं। तभी उनके ज्ञान चक्षु खुलेंगे। जिन्होंने मारने के लिए भेजा है वे किसी धर्म या जाति के सगे नहीं हैं। वे पागल हैं, वे मानवता के शत्रु हैं। उन हत्यारों में से एक मांगा था जिसे **ज्योतिबा** ने अपना अंगरक्षक बना लिया। दूसरा कुम्हार था जो सत्यशोधक समाज का प्रभावशाली कार्यकर्ता बना।

पुणे में फिर किसी की हिम्मत नहीं हुई जो इस तेजस्वी दिव्यपुरुष की ओर आंख उठाकर देखता। सैकड़ों लोग उनके इशारे पर जान हथेली पर रखकर खड़े हो जाते थे,

पर इस जनशक्ति-लोक समर्थन का प्रयोग उन्होंने समाज सुधारों के लिए ही किया।

यद्यपि प्रारंभ में उनका कार्य क्षेत्र कट्टरता और रूढ़ियों से ग्रसित पुणे शहर और देहात ही था, लेकिन शीघ्र ही उसका प्रभाव महाराष्ट्र के सभी गांव और नगरों में पड़ा। वह निर्भीक देशभक्त, समाज सुधारक और शिक्षाविद् थे लेकिन ब्राह्मण जाति के विरोधी नहीं थे, वे अज्ञानी पुरोहित वर्ग द्वारा पोषित उन कुरीतियों, अंधविश्वासों, अस्पृश्यता और ऊंच-नीच के विरुद्ध थे, जिन्हें धार्मिक मान्यता प्रदान कर दी गई थी।[24]

वह अपने युग से बहुत आगे की बात सोचते थे। वह मंत्रदृष्टा ऋषि थे। पूरे महाराष्ट्र में तो क्या पूरे भारत में उस समय ऐसा निष्कलंक और खरे व्यक्तित्व वाला महापुरुष शायद ही कोई और होगा, जिसकी तुलना उनसे की जा सके। उन्होंने अपनी स्पष्ट विचारधारा से समाज में फैली बहुत-सी भ्रांतियों को दूर किया। उन्होंने बताया कि आदिकाल में एक ही मानवजाति थी। अंतर इतना ही था कि कोई शारीरिक रूप से कमजोर था, तो कोई शक्तिशाली। जलवायु के कारण किसी जाति का रंग सांवला तो किसी का गौर वर्ण था। भारत भूमि पर सामाजिक जीवन एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ आरंभ में कर्म के आधार पर जातियों और कबीलों में विभाजन हुआ। इस जाति विभाजन से सामाजिक जीवन जटिल और कठोर बनता गया।

आर्य जाति ने विजित दासों, शूद्र-सेवकों, अछूतों और निम्न जातियों के लिए अलग से कठोर जीवन नियम बनाए। उन्हें त्रिवर्णिक समाज से बहिष्कृत किया। अस्पृश्यता, जातीय ऊंच-नीच, उत्पीड़न और अन्याय आदि का यहीं से जन्म हुआ। कालांतर में आर्य विजेता जातियों ने विजितों को दास बना लिया।

समाज में हजारों साल तक अशांति व्याप्त रही। संघर्ष होते रहे। शारीरिक बल के आधार पर जातियां बनती रहीं, बिगड़ती रहीं। अधिपति वर्ग के बुद्धिजीवी, ब्राह्मण और पुरोहित जातीय सोपान में सर्वश्रेष्ठ थे। सत्ता, कर्मकांड और धार्मिक अनुष्ठानों की जटिलता के कारण अन्य वर्ग उनसे डरते थे। उन्होंने संहिताओं की रचना की, जिसमें जातीय व्यवस्था को प्राथमिकता प्रदान की तथा शूद्र और अस्पृश्यों को जिन्हें आर्य जाति ने युद्ध में जीतकर दास बनाया था, उन्हें सदैव के लिए विधिवत वर्णभेद के सामाजिक बंधनों में बांध दिया था, उन्हें मनुस्मृति के कठोर नियमों को मानने के लिए बाध्य किया गया। उन्हें पालन न करने की स्थिति में कठोर दंडों और शारीरिक यातनाओं का विधान किया गया।

ज्योतिबा ने बताया कि वैदिक चिंतन और मनु की व्यवस्थाओं तक का समूचा ब्राह्मण-क्षत्रिय सामाजिक-जातीय संघर्ष पुराणों में वर्णित कल्पित देवासुर संग्राम ही है। देवों की जो छवि और जीत दिखाई जाती है, वह ब्राह्मण वर्चस्व की क्षत्रिय तथा शूद्र जातियों पर विजय का ही कपोल-कल्पित पौराणिक-मिथक इतिहास है। बल और बुद्धि से विभूषित क्षत्रिय भी ब्राह्मण बन जाता था। क्षत्रिय वर्ग भी पुरोहितवाद का समर्थक बन गया।

ज्योतिबा के विचार में तथाकथित आर्यों का बलिष्ठ सेनापति, जिसे बाद में वैदिक ऋषियों ने कल्पित इंद्र की संज्ञा दी है भारत के श्यामवर्ण मूल निवासियों की समृद्ध बस्तियों पर संगठित आक्रमण करता था। यहां के क्षत्रिय-खत्तिय-खेतिहर लोग थे जो नदियों के तटों, पर्वत की घाटियों या जंगलों के आसपास समूह में बस्ती बनाकर रहते थे। उन्हीं में से कुछ लोग विभिन्न शिल्पों और दस्तकारियों में लगे रहते थे। ये वन संपदा और प्राकृतिक साधनों का उपयोग करना जानते थे।

आर्यों के नेता इंद्र ने स्थानीय खेतिहर जातियों प्रकृति-वन प्रेमियों और शिल्प विशेषज्ञों को छल-बल से पराजित किया तथा आर्यों ने इस उपलक्ष्य में इंद्र को पुरंदर की उपाधि से विभूषित किया। बाद में इंद्र एक व्यक्ति न रहकर पद बन गया, जो आर्य-समुदाय में लड़ाकू, अत्यन्त बलशाली, सुन्दर और मेधावी हुआ करता था। भृगु और परशुराम आदि पौराणिक विभूतियां यहां के मूल निवासी थे।[25]

ज्योतिबा ने अपने कर्म और चिंतन से जाति विभाजन रेखा को स्पष्ट रूप में देखा। उन्होंने जातीय कट्टरता और तद्जन्य सामाजिक विषमताओं और अन्याय का गहराई से अध्ययन किया और अपने क्रांतिकारी विचार समाज को बताए। उन्होंने अपने अनुयायियों को भी साफ-साफ बता दिया कि सदियों के अन्याय और उत्पीड़न के कारण उनमें निराशा की भावना घर कर गई है तथा उन्होंने भाग्य और पुनर्जन्म को अपने कर्मों का फल-कुफल का आधार अस्वीकार कर लिया है। जातीय विषमताओं के फलस्वरूप ही उनकी आत्माओं में अज्ञानरूपी अंधेरे का विष उतर आया है और विद्रोह की भावना बर्फ-सी जम गई है।

ज्योतिबा ने ओजस्वी भाषणों में बताया कि वह धर्मग्रंथों की सत्ता और अस्तित्व को नहीं मानते, जिन्होंने सामाजिक भेदभाव और जातीय विषमता का विष-वमन कर रखा है। उन्होंने कहा कि धर्म-ग्रंथों में स्वप्निल भावनात्मक-कल्पना हो सकती है, बढ़िया छंदमयी शैली हो सकती है, लेकिन अधिकांशतः उनमें वर्णित विचार मानवता के लिए घातक हैं।

उन्होंने बार-बार कहा कि धर्मशास्त्र, मनुस्मृति और पुराण आदि सब कपोल-कल्पित हैं। उन सबमें पुरोहितों का मायावी और भ्रामक शब्दजाल बुना गया है ताकि लोगों को निरक्षर रखा जा सके। अछूतों-दलितों को दास बनाकर कमजोर और शक्तिहीन बना दिया गया है ताकि उनके विरुद्ध वे कभी भी विद्रोह न कर सकें।

उन्होंने अपनी पुस्तकों में यह प्रमाणित किया कि प्रारंभ से ही ब्राह्मण क्षत्रियों से विद्वेष की भावना रखते थे। किसान और शिल्पियों से बुरा व्यवहार करते थे। पंडे-पुजारियों के अभिमान और घृणा ने क्षत्रियों की शक्ति को कमजोर तो किया ही, दासों, अस्पृश्यों को टुकड़े-टुकड़ों में विभाजित कर दिया ताकि क्षत्रिय, किसान-शिल्पी और अछूत-शूद्र कभी भी एक न हो सकें।

उन्होंने कहा कि शूद्र और अतिशूद्र एक ही वंश, एक ही मूल के निवासी हैं। क्योंकि वे प्रारंभ से ही ब्राह्मण आधिपत्य के विरुद्ध थे; इसलिए उन्हें दस्यु, असुर, राक्षस और महार की संज्ञा दी गई। उन्होंने कहा चतुर और बलशाली ब्राह्मणों ने स्वयं को देवता

की संज्ञा दी। शूद्र और अतिशूद्रों को परस्पर स्पर्श करने पर पांबदी लगाई तथा उनमें बड़ी चतुराई से विभाजन रेखा खींच दी। उन पर सदियों से होनेवाले शोषण का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि शूद्र-दलित की आजीविका के या तो साधन स्रोत सीमित या फिर छीन लिए गए थे। उन्हें मृत पशुओं का मांस भक्षण करने के लिए विवश होना पड़ा। बस्तियों से दूर रहने के लिए बाध्य होना पड़ा। यही नहीं भोजन और पीने के पानी तक के लिए ऊंची जातियों से भीख मांगनी पड़ती थी।

निसंदेह, फुले एक ऐसे दलित-आंदोलन, दलित-क्रांति के सूत्रधार थे जिसकी वजह से दलितों में शिक्षा और जीवन मूल्यों के प्रति अनुराग जाग्रत हुआ। उनमें जातीय एकता और स्वाभिमान के भाव प्रस्फुटित हुए। सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना जागी। हिंदुओं के धर्मग्रंथों और पंडितों द्वारा फैलाए गए अंधविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष करने का संकल्प पैदा हुआ। सदियों से जारी आर्थिक शोषण और सामाजिक बहिष्कार से लड़ने के लिए उनमें हिम्मत आई। इसीलिए फुले आंदोलन अपने आप में एक बहुत बड़ी सामाजिक क्रांति थी। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में निसंदेह, उन्होंने दलित मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया।[26] साथ ही वे बीसवीं सदी के दलित आंदोलन को नई दिशा प्रदान कर गए।

III
फुले : रचनाएं और विचार

किसी भी व्यक्ति या महापुरुष के व्यक्तित्व, प्रतिभा और कृतित्व का पता उसके विचारों से लगता है। ये विचार उसकी सृजनात्मक या रचनात्मक शक्ति और प्रवृति के प्रतिबिंब होते हैं।

समय-समय पर फुले ने अपने विचार, अपने लेखों, भाषणों और रचनाओं[27] के माध्यम से प्रकट किए जिनसे पता चलता है कि वह क्रांतिकारी, प्रगतिशील विचारों के महापुरुष थे। उनकी रचनाओं के कई संग्रह आज मराठी, अंग्रेजी, हिंदी आदि भाषाओं में सुलभता से प्राप्त हैं। जिनके कई-कई संस्करण छप चुके हैं।

ज्योतिबा शिक्षा-प्रेमी और समाज सुधारक होने के साथ-साथ मराठी भाषा और साहित्य के उन्नयन और विकास में बड़ी रुचि रखते थे। उन्हें मराठी लेखन और काव्य से गहरा लगाव था। वह संस्कृत को लोकभाषाओं की जननी तथा उसे प्राचीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक धरोहर को समझने-जानने का महत्वपूर्ण माध्यम मानते थे। इसी प्रकार अंग्रेजी को विश्व ज्ञान एवं पाश्चात्य देशों से संपर्क की उन्नत भाषा के रूप में प्रतिष्ठा देते थे। साथ ही लोक-भाषा मराठी को सांस्कृतिक और भावनात्मक एकता तथा जन-जन के बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक समझते थे। वह उच्चकोटि के भाषाविद् एवं लेखक की तरह भाषा और साहित्य को सभ्यता और संस्कृति के विकास का दर्पण मानते थे।

उन्होंने महाराष्ट्र में सर्वप्रथम मराठी भाषा के माध्यम से शिक्षा और ज्ञान की मशाल

जलाई। अपने ढंग से मराठी में शिक्षण-पद्धति विकसित की जो अनुकरणीय सिद्ध हुई। जब दक्षिणा-कोष के सदुपयोग हेतु पुणे के बुद्धिजीवियों और शिक्षा प्रेमियों ने सरकार को लिखित प्रार्थना पत्र भेजने की बात चलाई और हस्ताक्षर अभियान छेड़ा तो विरोधी पाखंडियों और कट्टरवादियों का फुले ने ही सामने जाकर सामना किया। उनके ही प्रयत्नों और मध्यस्थता से दक्षिणा कोष का धन मराठी साहित्य के मौलिक सृजन तथा अनुवाद कार्य पर मेहनताने और पारितोषिक के रूप में खर्च किए जाने की सरकार ने स्वीकृति दी।

मराठी में विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए फुले को अपने मित्र तुकाराम तात्या से बहुत मदद मिली। युवा तात्या प्रगतिशील और क्रांतिकारी विचारों के लिए प्रसिद्ध थे। वे समाज सुधारों में गहरी दिलचस्पी लेते थे और ज्योतिबा को अपना आदर्श मानते थे। दोनों समवयस्क थे। तात्या ने मराठी में जाति व्यवस्था के विरुद्ध **'जाति भेद विवेक सार'** पुस्तक की रचना की, जो 1861 में छपी थी। इसमें ज्योतिबा के विचारों की स्पष्ट झलक थी, इसके प्रकाशक वासुदेव बाबाजी नौरंग थे।

इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण फुले के सहयोग से 1865 में प्रकाशित हुआ। उसके प्रकाशक में फुले का नाम था। इस क्रांतिकारी पुस्तक में पुरोहितवाद की धज्जियां उड़ाई गई थीं और इस वर्ग द्वारा धार्मिक नीतियों, रीति-रिवाजों, परंपराओं और मान्यताओं के नाम पर अंधविश्वास फैलाने तथा जाति व्यवस्था को धार्मिक रूप देने के विरुद्ध तर्कपूर्ण विचार प्रकट किए गए थे। यह पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई। दलित आंदोलन की इससे दिशा मिली। फुले ने **'गुलामगिरी'** नामक पुस्तक की रचना की थी।

फुले ने मराठी में एक पद्यात्मक पुस्तक **'ब्राह्मणांचे कसब'** की रचना की। इसमें पुरोहितों द्वारा धर्म और देवताओं के नाम पर अपढ़-अशिक्षित जनता को दिग्भ्रमित किए जाने के विषय में गेय पद थे। यह भी बहुत प्रसिद्ध हुई।

उनकी एक अन्य कृति वीर रस से ओतप्रोत पुस्तक **'शिवाजी-चा-पोवाड़ा'** 1869 में प्रकाशित हुई। इसमें छत्रपति शिवाजी के वीरतापूर्ण कार्यों का बड़ा ओजस्वी और रोमांचकारी चित्रण किया गया था।

उनकी एक अन्य कृति **'शेतक-यात्रा-आसूड'** 1869 में प्रकाशित हुई, जिसमें उनके प्रगतिशील निबंध थे। **'इशारा'** का प्रकाशन 1885 में हुआ। साथ ही फुले के शिक्षा प्रचार और सामाजिक नव-निर्माण विषयक भाषण और विचार तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रमुखता के साथ छपते थे।

उन्होंने 1885 में **'सतसार'** नाम की पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। इसमें उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य विचारों का तथा दिखाए गए सत्यमार्ग का व्यौरा था। **'सत्यशोधक समाज'** की बहुत-सी प्रवृतियों का इसमें उल्लेख था। **'सतसार'** के माध्यम से उन्होंने सामाजिक समस्याओं पर अपने अमूल्य विचार प्रकट किए।

ज्योतिबा का विचार था कि 'सतसार' नियमित पत्रिका के रूप में प्रकाशित हो। लेकिन इसके लिए लेखक और प्रकाशन के लिए धन की आवश्यकता थी। प्रार्थना समाज

की तरह उनके पास न तो अत्यधिक साधन थे, न अच्छे लेखक ही उपलब्ध थे। वह स्वयं सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहते थे। उन्हें इतना अवकाश नहीं था कि पत्रिका का नियमित प्रकाशन कर सकें। 'सतसार' के 1885 में केवल दो अंक छपे और इसके बाद प्रकाशन रोकना पड़ा। इसका पहला अंक जून में और दूसरा अंक भारत की स्त्रियों के विषय पर मात्र 22 पृष्ठ का अक्तूबर में निकला था। दलित समाज में यदि समर्पित लेखक-कवि और विचारक होते तो पत्रिका बंद नहीं होती।

'सतसार' में उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' की विचारधारा पर सविस्तार प्रकाश डाला। उन्होंने ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज के कार्यकलापों का विश्लेषण करते हुए अपने उद्गार प्रकट किए कि जब तक वे समाज की निम्न दलित-जातियों से सामाजिक सामंजस्य स्थापित नहीं कर लेते, तब तक ऐसे सामाजिक संगठनों की उपादेयता पर प्रश्नचिह्न ही लगा रहेगा। उनका स्पष्ट विचार था कि ब्राह्म समाज एवं प्रार्थना समाज निम्नजातियों के कल्याण और उत्थान तथा जातिभेद मिटाने की जो भी लुभावनी बातें करते हैं वे मात्र शाब्दिक और कागजी हैं। वास्तविकता कुछ और ही है। व्यावहारिक रूप से अभी तक ऊंची जातिवालों के संगठन किसी भी दलित-शोषित को लेशमात्र भी ऊंचा नहीं उठा सके।

उन्होंने बड़े विश्वास के साथ लिखा कि पुरोहित वर्ग ने ईश्वर और मानवता के साथ छल किया है और प्रपंच रचा है। जो भाई गरीब या कमजोर हो गए या सभ्यता की दौड़ में पिछड़ गए या युद्ध में हार गए उन्हें बर्बर संबोधनों से पुकारा गया और पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुलामों से भी बदतर माना गया। **ज्योतिबा** चार दशक तक सामाजिक जीवन में कट्टरपंथियों का विरोध झेलते रहे लेकिन दलितों में आदर के पात्र थे। वह सदैव अपने विचारों और सिद्धांतों के प्रति निष्ठावान रहे और कभी भी झुके नहीं। उन्होंने कहा था कि हो सकता है दलित जातियां बौद्ध, इस्लाम, ईसाई मत या अन्य किसी धर्म में दीक्षित हो जाएं। हुआ भी ठीक ऐसा ही। आगे चलकर महाराष्ट्र के लाखों दलित बंधु बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुए। हिंदू धर्म में रहते वे जाति-भेद मिटा नहीं सके। जाति के रहते अस्पृश्यता बरकरार रही और ऊंच-नीच का भेदभाव बना रहा। बौद्ध धर्मांतरण में नई दिशा मिली।

अपने युग फुले ने स्वयं धर्म-परिवर्तन करने की किसी को सलाह नहीं दी। वह धर्म की शुचिता और सरलता पर जोर देते थे। वह एक ईश्वर की मान्यता, बंधुत्व और समानता जैसी उदारवादी विचारधारा के परिपोषक थे। **सत्यशोधक समाज** की स्थापना भी इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की गई थी। उन्होंने अपने महार चपरासी को धर्म परिवर्तन करने से रोका और अपने मित्र जगन्नाथ सदाशिव से कहकर उस चपरासी को आर्थिक सहायता दी और स्वयं भी उसके वेतन में वृद्धि की। उन्होंने ईसाई धर्म प्रचारकों की कभी भी परवाह नहीं की। पर दलितों को पाश्चात्य शिक्षा के लिए प्रेरित किया कि वे मिशन स्कूलों में विद्या अवश्य प्राप्त करें।

'सतसार' में उन्होंने उस युग की परम् विदूषी **पंडिता रमाबाई** के ईसाई धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख किया। केवल ज्योतिबा और राजाराम शास्त्री भागवत ने पंडिता रमाबाई द्वारा धर्म परिवर्तन किए जाने पर भी उनके प्रति श्रद्धा और आदर भाव प्रदर्शित

किया था। जबकि कट्टरवादियों ने उन्हें भला-बुरा कहा। रानाडे के प्रार्थना समाज ने भी पंडिता रमाबाई की बुराई की और उनके विरुद्ध पत्रिकाओं में बहुत कुछ छापा।

रमाबाई वेदों के प्रकांड पंडित, संस्कृत और वेदांत के ज्ञाता एक चितपावन ब्राह्मण की पुत्री थीं। उन्होंने संस्कृत साहित्य, वेद, स्मृति और धर्मग्रंथों का विशद अध्ययन किया था। 1874-75 में उनके माता-पिता और एक बहन की मृत्यु हो गई जिससे दुःखी होकर उन्होंने अपने एक भाई के साथ भारत भ्रमण किया। इस यात्रा में उन्होंने बहुत कुछ खोया और उनका मन कटुता और विषाद से भर गया। हिंदू धर्म में व्याप्त कुरीतियों, पुरानी मान्यताओं और अंधविश्वासों, दिखावा और पाखंड के कारण उनका उसमें विश्वास उठ गया। वह सत्य की खोज और मन की शांति के लिए भटकती रहीं। अंत में वह एकेश्वरवादी हो गईं और कलकत्ता में कई जगह प्रवचन दिए। लोगों ने उनके पांडित्य का लोहा माना। बाद में कलकत्ता के ही एक विद्वान शूद्र जाति के वकील और ब्रह्म समाजी बाबू विपिन बिहारी दास से उन्होंने विवाह कर लिया। लेकिन दुर्भाग्य से 1880 में उनके भाई की मृत्यु हो गई। अभी वह संभल ही पाई थीं कि 1882 में उनके पति स्वर्गवासी हो गए। बाद में वे लंदन चली गईं और वहां उन्होंने ईसाई धर्म अपना लिया।[28] फुले ने कहा हमने दलितों की हिमायती महान महिला को समाज में अदृत नहीं किया।

'सतसार' के द्वितीय अंक में **ज्योतिबा** ने स्त्रियों की वास्तविक दशा का चित्रण किया और लिखा कि उनकी हालत शूद्र और दलितों से भी बदतर थी। उन्हें घरों में दासता का जीवन बिताने पर मजबूर किया जाता था और अभिभावक और समाज मनचाहे व्यक्ति के साथ उन्हें बांध देता था। उन्होंने लिखा कि सदियों से स्त्रियों को स्वार्थवश मनुष्य ने नीचा दर्जा प्रदान किया है। यह मनुष्य की क्रूरता है कि जन्म देनेवाली माता को धर्म की तथाकथित पुस्तकों में हेय दृष्टि से देखा गया है। सम्मान की जगह उसे अत्याचार सहने पर विवश किया जाता रहा है। उन्होंने यह भी कहा कि सदियों की सामंती व्यवस्था अब खत्म हो रही है और ब्रिटिश शासन में प्रथम बार महिलाओं और शूद्रों को विद्याध्ययन का अधिकार मिला है।

'सतसार' के प्रकाशन के लिए काफी रुपए-पैसे की जरूरत थी। उन्होंने इसकी हजारों प्रतियां वितरित कराईं। पर जिस दलित समाज के लिए वह काम कर रहे थे वह इतना अनपढ़ और गरीब था कि इस पत्रिका के लिए आर्थिक सहयोग जुटाने का प्रयास ही नहीं करता था। इस प्रकार क्रांति की मशाल, एक प्रज्वलित दीपमाला बुझ गई। इसका उन्हें बहुत अफसोस था।

इसी वर्ष **ज्योतिबा** ने एक पुस्तिका **'कैफियत'** भी प्रकाशित की जिसमें अस्पृश्यों की दयनीयता के बारे में विस्तार से लिखा गया था, इसमें दो कल्पित पात्र थे। एक महार और दूसरा मांग जाति का। वे भारत भ्रमण पर निकली महारानी विक्टोरिया की गाड़ी रोक लेते हैं और पूछते हैं कि वह कृपा करके उनके गांव-बस्ती का भी निरीक्षण करें क्योंकि वे भी उनकी गरीब प्रजा हैं।

महारानी उनके गांव में जाने के लिए तैयार हो जाती है। वे पात्र बताते हैं कि पेशवा के शासनकाल में उन पर किस प्रकार अमानुषिक अत्याचार किए गए थे। उन्हें गुलामों से भी बदतर समझा जाता था। उनसे बेगार ली जाती थी। काम करने के बाद न मजदूरी मिलती, न खाने को रोटी। उनकी जरूरत न होने पर धक्के मारकर भगा दिया जाता था।

वे महारानी को बताते हैं कि अभी तक उनकी हालत यथावत है। गांव-बस्तियों के ऊंची जातियों और धनिक वर्ग के लोग उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं। न कोई सामाजिक समानता है और न कोई उन्हें अधिकार प्राप्त हैं, गरीबी के कारण वे अपने बच्चों की शिक्षा का भी प्रबंध नहीं कर सकते और न उन्हें स्कूलों में भेज सकते हैं।

'कैफियत' में **ज्योतिबा** ने पात्रों के माध्यम से यह प्रार्थना की कि महारानी दलितों को उनके अधिकार दिलाएं। उनमें व्याप्त गरीबी और अशिक्षा दूर करें तथा सदियों की दासता से पीछा छुड़वाएं। अंत में महारानी विक्टोरिया उन्हें आश्वासन देती है कि उनकी सरकार यह सब देखेगी और उनकी समस्याओं पर यथेष्ट ध्यान देगी। ज्योतिबा की यह रचना काफी लोकप्रिय हुई। इससे दलित समाज में चेतना जागी।

इन्हीं दिनों **ज्योतिबा** ने और भी पद्य रचनाएं कीं, जिनमें से एक में उन्होंने इस्लाम धर्म के संस्थापक मुहम्मद साहब की प्रशंसा की जिन्होंने मानव-समानता, विश्व भाईचारे और एकेश्वरवाद (एक खुदा) की दिशा में बहुत काम किया। मुहम्मद ने अपने करोड़ों मुस्लिम अनुयायियों में ऊंच-नीच का भेद मिटाया। मूर्ति-पूजा का घोर विरोध किया। पैगंबर ने खुदाई आवाज में कहा कि [illegible] खुदा एक है। कोई बड़ा-छोटा नहीं है। मानवता के पुजारी और विशाल हृदय ज्योतिबा ने अपनी इस पद्य रचना में स्पष्टतः लिखा कि रूढ़िवादियों के नागपाश से इस्लाम ने ही शूद्रों को मुक्ति संग्राम की प्रेरणा दी और स्वतंत्रता के लिए जूझने का मंत्र दिया। कौन नहीं जानता कि अस्पृश्यता और ऊंच-नीच की भावनाओं के कारण ही यह विशाल देश दासता की जंजीरों में जकड़ा रहा है। बिरादरीवाद या जातीय सोपानों ने इसे कितना कमजोर बनाया है।

एक बार ज्योतिबा से प्रश्न किया गया कि मुट्ठी भर पंडे-पुजारियों ने बहुसंख्यक दलितों और शूद्रों को किस प्रकार दास बनाया, ऐसी समाज व्यवस्था कैसे लागू हुई, जिसके कारण वे सदियों से आर्थिक-सामाजिक अन्याय सह रहे हैं? इस पर ज्योतिबा ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया कि उस काल में धर्माचार्यों को मुट्ठी भर तानाशाह-फौजी शासकों का पूरा-पूरा सहयोग मिला हुआ था। पहले इन लोगों को हराया गया, युद्ध और सामाजिक संघर्षों में पराजित किया गया तथा दस्यु-असुर और दास बनाया गया। बाद में धर्मग्रंथों में लिख दिया गया कि उनके कोई अधिकार नहीं हैं। वे सिर्फ शूद्र हैं और सेवा के लिए ही पैदा हुए हैं। इस प्रकार मुट्ठी भर राजा और मुट्ठी भर रूढ़िवादी मिलकर अस्पृश्य-दलित समाज को आतंकित करते रहे। मुट्ठी भर मुसलमानों ने इसी कमजोरी का लाभ उठाकर सैकड़ों वर्ष तक यहां के तथाकथित राजाओं और रूढ़िवादियों के साथ-साथ आम जनता को गुलाम बनाए रखा। बाद में अंग्रेजों ने भी सहज ही यहां अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया।

फिर भी दासता-असमानता नहीं मिटी। समाज से छुआछूत, ऊंच-नीच का भाव नहीं गया। जातियों का कुचक्र नहीं टूटा।

ज्योतिबा ने 1885 में एक अन्य मराठी पुस्तिका में अग्रणी समाज सुधारक और न्यायविद तथा प्रार्थना समाज के नेता महादेव गोविंद रानाडे की भर्त्सना की कि वह शंकराचार्य जैसे पुरातनवादियों का साथ दे रहे हैं। यहां तक कि वह दलित जातियों के उत्थान की बात ही नहीं समझते। उन्होंने ब्राह्मण-पुरोहितवाद को समाज में जोंक की संज्ञा दी जो मरता नहीं; सदियों से किसानों, दलितों और शूद्रों के रक्त को चूस रहा है।

ज्योतिबा की प्रेरणा से ही 1888 में सेना से निवृत **गोपाल बाबा वलंगकर** ने **'दीनबंधु'** और **'सुधारक'** में शूद्र और अस्पृश्यों के बारे में लेख लिखे। इसी वर्ष उन्होंने अस्पृश्यता के खिलाफ मराठी में एक और सशक्त पुस्तिका प्रकाशित की। वलंगकर पर आगे चर्चा की जाएगी।

ज्योतिबा न ईसाई धर्म से प्रभावित थे, न मुस्लिम धर्म के प्रति उनका आकर्षण था। वह मानव धर्म के पुजारी थे और सब धर्मों में जो भी अच्छाइयां थीं उनकी प्रशंसा करने में नहीं चूकते थे। उनका जीवन लक्ष्य था पदलित मानवता को ऊंचा उठाना। वह व्यक्तिगत जीवन में किसी के विरोधी नहीं थे, लेकिन धर्म और जातिगत बुराईयों को सहन नहीं कर सकते थे। उनकी रचनाओं की यही विशेषता थी।

उन्हें सच्चे ब्राह्मण, मुसलमान, ईसाई सभी प्यारे थे। दरअसल उनके अनेक सहयोगी और प्रेरक इन्हीं ब्राह्मण जातियों के थे जो ज्योतिबा को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते थे।[29] यहां तक कि कई मुस्लिम, ईसाई मित्रों-प्रशंसको ने भी उनकी दलित क्रांति के मिशन में भरपूर सहायता और मार्गदर्शन प्रदान किया।

संदर्भ

1. चंचरीक, कन्हैयालाल : महात्मा ज्योतिबा फुले (बचपन और शिक्षा, स्त्री—शिक्षा-अभिनव प्रयोग, वैचारिक क्रांति का सूत्रपात के आधार पर)
2. चंचरीक, कन्हैयालाल : महात्मा ज्योतिबा फुले (भारत में नवजागरण अध्याय के आधार पर)
3. वही, पृ. 62
4. वही, पृ. 63-64
5. वही, पृ. 65
6. वही, पृ. 65-66
7. वही, पृ. 66-67
8. वही, पृ. 67-68
9. वही, पृ. 68-71
10. वही, पृ. 71
11. वही, पृ. 71-72
12. वही, पृ. 72

13. वही, पृ. 72-73
14. वही, पृ. 73-74
15. वही, पृ. 74-76
16. वही, पृ. 76
17. वही, पृ. 76-77
18. वही, पृ. 77-78
19. वही, पृ. 78
20. वही, पृ. 79-85
21. चंचरीक, कन्हैयालाल : महात्मा ज्योतिबा फुले ('दलितों के मुक्तिदाता' अध्याय से)
22. वही, पृ. 98-99
23. वही, पृ. 98-99
24. वही, पृ. 99-100
25. वही, पृ. 100-102
26. वही, पृ. 102-103
27. चंचरीक रचित कन्हैयालाल 'महात्मा ज्योतिबा फुले' जीवनी के 'रचनाएं और विचार' अध्याय से।
28. वही, पृ. 131-134
29. वही, पृ. 134-136

3

अम्बेडकर पूर्व दलित मुक्ति के स्वर

यूरोपीय धार्मिक-सामाजिक, औद्योगिक और वैज्ञानिक क्रांति ने पूरे विश्व के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया। विज्ञान ने ज्ञान के अद्‌भुत चक्षु खोल दिए। यूरोप के लोग व्यापार के लिए समस्त संसार में फैल गए। वे समुद्र और आकाश के सम्राट् बन गए। लेकिन एशियाई देशों के लोग अभी तक रूढ़ियों और अंधविश्वासों, धार्मिक संकीर्णताओं और देवी-देवताओं की मान्यताओं, अज्ञान में जकड़े हुए थे। भारत में लगभग आधी आबादी दासता, बेगार, अस्पृश्यता, और जातिवाद के मकड़जाल में फंसी रही और पुरोहितवाद तथा सामंतवाद मिलकर उन्हें दिग्भ्रमित बनाए रहे। वे गरीबी और अज्ञान में पैदा होते थे और उसी को भोगते हुए मर जाते थे।

वर्षों तक भारत में यूरोप की उपनिवेशवादी शक्तियां सक्रिय रहीं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने पूरे भारत को निगल लिया और लोग गुलाम हो गए। नवजागरण काल में उन्हें सामाजिक-धार्मिक सुधारों की याद आई। कुरीतियों की ओर ध्यान गया। जातिवाद की बुराई सबने की, लेकिन **डॉ. अम्बेडकर** से पहले **फुले** आंदोलन को छोड़कर सब कुछ दिखावे की सहानुभूति थी। **डॉ. अम्बेडकर** ने दलित आंदोलन को नयी दिशा दी, इसलिए **बीसवीं** सदी को **दलित-नवोत्थान** का युग कहा जा सकता है।

प्रश्न है कि नवजागरण से प्रभावित क्या फुले पूर्व और उनके बाद में किसी समाज सुधारक ने ऊंची आवाज में खुलकर अछूतों की दयनीय हालत के बारे में कभी सोचा और बोला?

क्या उन्हें कभी यह जानने की फुर्सत हुई कि पेशवाओं और ब्राह्मणी संस्कृति से उत्प्रेरित शासन काल में पुणे अछूतों के लिए जिन्दा दलित आदमियों की घिनौनी कारागार से कम नहीं था?

पेशवाओं की शक्ति को **एलफिंस्टन** ने पूरी ताकत से कुचल दिया था। *"पेशवाओं ने शूद्र और दलितों को दबाने के लिए धर्मग्रंथों से प्रेरणा लेकर उनके गले में थूकने के लिए मिट्टी के पात्र लटकवा दिए थे ताकि वे रास्ते पर थूकने न पाएं। उनकी पीठ पीछे झाड़ू लटकवा दिए थे ताकि चलते फिरते उनके पैरों के निशान मिटते जाएं और सफाई*

होती जाए।...इनसे कलेकर फुले ने आगे द्रवित सामाजिक वर्जनाओं के विरुद्ध पुणे में सामाजिक-शैक्षणिक क्रांति का बिगुल बजाया।[1]"

दरअसल महाराष्ट्र और पुणे में अछूतों के जो सामाजिक हालात थे वे कमोबेश भारत के अछूत-दलित समाज में सभी जगह एक समान थे। अंग्रेज जो सभ्य होने का स्वांग भरते थे, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के हिमायती बनते थे। वे भी एक लंबे अरसे तक इस देशव्यापी घृणित सामाजिक व्यवस्था से जानबूझकर बेखबर रहे।

एक प्रकार से सामंतों, राजा-महाराजाओं, उच्च जातियों से भयभीत अंग्रेज अछूतों की समस्याओं को जानते हुए भी उनसे अनजान बने रहे।

भारत में जो बौद्धिक आंदोलन सन् 1857 के सिपाही विद्रोह से पहले उभरे उनमें **'यंग बाम्बे', 'यंग मद्रास', 'यंग बंगाल'** सरीखे नवजवान बुद्धिजीवियों के कुछ आंदोलन हैं जिन पर यूरोप के नवजागरण का प्रभाव था।

यंग बंगाल आंदोलन ने प्रेस की स्वतंत्रता, जमींदारी के अत्याचारों से रैयतों की सुरक्षा, सरकारी सेवाओं में उच्चतर वेतनमान में भारतीयों को रोजगार देने के प्रश्न आदि पर ध्यान दिया। यह आंदोलन सभी भावी सुधारकों और राष्ट्र-प्रेमियों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गया था।[2] इसने जातिवाद पर प्रहार किए। समाज सुधार पर बहस की।

आगे चलकर इसने औद्योगिक विकास, कृषि क्रांति, सामाजिक-राजनीतिक चेतना और शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ रूप निम्न और दलित जातियों में नवजागरण का संदेश फैलाया। पूरे भारत में किसान और मध्यम दर्जे की जातियां ब्राह्मण और सामंतवाद के खिलाफ एकजुट होने लगीं। यह एक जातीय और सांस्कृतिक क्रांति थी। पुराने जमाने में भी गांव-देहात में व्यवसाय के आधार पर लोग 'गिल्ड' बनाकर रहते थे जो जातीय एकता और दृढ़ता के प्रतीक थे नवजागरण काल में गैर-ब्राह्मण जातियों ने न सिर्फ जातीय, सामाजिक, सांस्कृतिक आधार पर अपने आपको संगठित किया वरन् राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ी।

1870 से 1920 के मध्य के पांच दशकों में इस तरह अखिल भारतीय या प्रादेशिक स्तर पर जातीय संगठन बने और ऊंची जातियों की देखा-देखी पिछड़े और दलित वर्गों ने संगठन के महत्त्व को समझा।

धार्मिक-सामाजिक सुधारों का स्वरूप

भारत में नवजागरण सीमित सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के रूप में अभिजात वर्ग में आया। **फुले** महाराष्ट्र में जातिवाद के विरुद्ध शिक्षा-सांस्कृतिक आंदोलन चला चुके थे लेकिन बंगाल, बंबई, मद्रास प्रांतों के अभिजात्य वर्ग के बुद्धिजीवी अछूतों की कष्ट कथा के बारे में पूर्णरूपेण जानते हुए भी मौनव्रती अधिक थे।

शायद इसीलिए "उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के धार्मिक और सामाजिक सुधारों के स्वरूप तथा उनके प्रभाव के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। सुधारों के संबंध में हाल के वर्षों में हुए सूक्ष्म शोधकार्य ने सुधारों में तथाकथित पश्चिमी तत्त्वों के तथा इस

प्रभाव के पक्षधर सुधारकों के महत्त्व को कम किया है और सुधारों को औपनिवेशिक तथा आम आदमी के संदर्भ में देखने की कोशिश की है। ऐसे अध्ययन से सुधारों के आधारभूत दोष सामने आए हैं जिससे उनकी प्रगतिशीलता पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न लग गया है तथा आंदोलनों का महत्त्व सीमित हो गया है। सुधार आंदोलनों की शुरुआत बंगाल से हुई थी और उसके नेता **राजा राममोहन राय** थे। राममोहन की मृत्यु के सौ वर्ष बाद जब 1933 में बंगाल के पुनर्जागरण के प्रमुख व्यक्तियों की उपस्थिति में उनकी मृत्यु-दिवस की शताब्दी मनाई गई थी, तो पुनर्जागरण काल के इतिहास का एक गौरवमय चित्र खींचा गया था जिसमें राममोहन को एक 'चमकते सितारे' के रूप में दिखाया गया। लेकिन पिछले पचास वर्षों में लोगों को पुनर्जागरण (रिनेसां) से बड़ी निराशा हुई है। ऐतिहासिक अध्ययन एक बार फिर बंगाल के पुनर्जागरण से ही शुरू हुआ है जिसने 'राममोहन के मिथक' की धज्जी उड़ानी शुरू कर दी। वास्तव में यह स्थिति केवल राममोहन और बंगाल के पुनर्जागरण के बारे में ही नहीं, अपितु बहुत हद तक 19वीं शताब्दी के अधिकतर सुधारकों तथा सुधार-आंदोलनों के संबंध में सही है।

इन आंदोलनों के बारे में उत्तरोत्तर बदलते विचारों के संदर्भ में इनके स्वरूप एवं प्रभाव का आलोचनात्मक अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है। इन सुधारों के क्या परिणाम हुए अथवा इनकी पहुंच कहां तक थी, यह जानने के लिए उनका वास्तविक स्वरूप जानना आवश्यक है।

कुछ लोगों ने इन आंदोलनों को सामूहिक रूप से **'भारतीय पुनर्जागरण'** के नाम से पुकारा है। उनके अनुसार इन आंदोलनों में बुद्धिवाद, विज्ञान, मानवतावाद जैसे कई ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो यूरोपीय पुनर्जागरण में भी मौजूद थे। लेकिन तथ्यों की ठीक से परीक्षा करने पर यह धारणा पूर्णतः सत्य नहीं प्रतीत होती, क्योंकि इन आंदोलनों का दृष्टिकोण छद्मवैज्ञानिकता पर आधारित था और मानवतावाद का व्यावहारिक पक्ष बहुत ही संकीर्ण था। इनमें यूरोपीय रेनेसां या पुनर्जागरण के कई तत्त्वों का पूर्णतः अभाव था। भौगोलिक खोज, वैज्ञानिक आविष्कार और कला एवं साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति यूरोपीय पुनर्जागरण की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां थीं, लेकिन भारतीय पुनर्जागरण में ये तत्त्व प्रायः अनुपस्थित रहे। इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण यूरोपीय पुनर्जागरण से कई अर्थों में भिन्न था। तो भी, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में इन आंदोलनों को 'नवजागरण' मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। निस्संदेह यूरोपीय पुनर्जागरण की ही तरह भारतीय पुनर्जागरण को मध्य युग की समाप्ति एवं आधुनिक युग के आगमन के संकेत के रूप में माना जा सकता है।[3]

समाज-सुधारों के समर्थक तथा अस्पृश्यता-जाति-भेद निवारण के पक्षधर

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के नवजागरण काल और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के राष्ट्रीय चेतना काल में हम समाज-सुधारकों और सामाजिक विषमताओं से संघर्ष करने वाले स्पृश्य

और दलित समाज के कई महापुरुषों की एक लंबी शृंखला देखते हैं। इनमें ज्योतिराव फुले (1827-1890), गोपाल हरि देशमुख (1823-18920), महादेव गोविंद रानाडे (1852-1904), स्वामी रामालिंगम् (1823-1874), गोपाल बावा वलंगकर (1888), स्वामी दयानंद सरस्वती (1824-1883), काशीनाथ त्र्यंबक तेलंग (1850-93), रामकृष्ण गोपाल भांडारकर (1837-1925), जी.जी. अगरकर (1857-1895), नारायण गणेश चंदावरकर (1855-1923), घोंडो केशव कर्वे (1858-1962), गोपालकृष्ण गोखले (1866-1915), जस्टिस नारायण चन्दावरकर, महात्मा गांधी (1869-1948), कोल्हापुर महाराज छत्रपति शाहू, नारायण गुरु, ई.वी. रामास्वामी नायकर, विट्ठल रामजी शिंदे, बड़ौदा महाराज सयाजीराव गायकवाड, डॉ. भीमराव अम्बेडकर (1891-1956) एम.सी.राजा, और उनके समकालीन प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त और कई समाज सुधारक थे जो अस्पृश्यता और जातिवाद जैसी घिनौनी समाज व्यवस्था के विरुद्ध थे।

इन समाज सुधारंकों, अस्पृश्यता-जातिभेद निवारण के पक्षधरों, सामाजिक विषमताओं के विरोधियों में शूद्र-निम्न जाति में जन्मे ज्योतिराव फुले का नाम सर्वोपरि है। जिनकी हम पिछले अध्याय में चर्चा कर चुके हैं। डॉ. अम्बेडकर तो स्वयं सामाजिक क्रांति के एक युग परिवर्तनकारी मसीहा है।

हम यहां कुछ समाज सुधारकों के विचारों पर दृष्टिपात करेंगे। एक बात स्पष्ट तथा दृष्टव्य है कि अस्पृश्यता और जातिभेद के खिलाफ सवर्ण-अवर्ण समाज सुधारकों में एक बुनियादी भेद की बात जरूर मौजूद थी कि सवर्ण बात को डरते-कांपते, घुमा-फिराकर कहने के आदी थे, फुले एवं वलंगकर आदि गैर ब्राह्मण दलित समाज चेता सीधे प्रहार करने वाले महापुरुष थे।

विपिनचन्द्र पाल

सन् 1870 के दशक में विपिनचन्द्र पाल ने लिखा कि :

> *"शिक्षित युवा समुदाय न सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता चाहता है वरन् समता का भी हामी है, और अधिक नहीं तो वह उन तमाम बेड़ियों को तोड़ डालना चाहता है जो विचार और क्रियाशीलता की स्वतंत्रता में बाधक हैं। सामाजिक सुधारों की उस समय प्रबल लहर फैली हुई थी और बुद्धिजीवी-समाज सुधारक सड़ी-गली मान्यताओं, अस्पृश्यता, जाति-पांत से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता और बंधुत्व की भावना से ओत-प्रोत थे।"*[4]

गोपाल हरि देशमुख (लोक हितवादी)

गोपाल हरि देशमुख (1823-1892) जो कि **लोकहितवादी** नाम से मशहूर थे। समाज सुधारकों की पहली पंक्ति में आते हैं। रानाडे की तरह उन्होंने भी कहा कि राजनीतिक स्वतंत्रता

से पूर्व सामाजिक सुधारों के प्राथमिकता देनी होगी। जर्जर समाज व्यवस्था, समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता, गरीबी और ऊपर से उपनिवेशवादी आधिपत्य से लोक हितवादी पूरी तरह खिन्न थे और सामाजिक परिवर्तन के हामी थे।[5]

उन दिनों अखबारों और पत्रिकाओं में समाज-सुधार, अस्पृश्यता उन्मूलन और जातिवाद की कठोरता संबंधी खबरें छपने लगी थीं।

'इंडियन स्पेक्टेयर' (10 जुलाई 1887) के अंक में लिखा गया :

''इंदु प्रकाश में प्रतिनिधि सरकार के बारे में कहा गया है। हमारी शंका इससे बढ़ी है कि क्या सामाजिक सुधार का प्रश्न कभी हल नहीं होगा जब विधिवत वैधानिक सहयोग मिलेगा। जातिवादी अनुदार व्यवस्था में बहुत से सामाजिक सुधारों के प्रति हम न्याय नहीं कर पाते।'' इसका स्पष्ट अर्थ था कि जातिवाद के रहते समाज सुधार प्रक्रिया में ढील रहेगी।

'बंबई गार्जियन' (6 अगस्त, 1887) में लिखा गया :

''हमारे बंबई-पूना के युवा स्नातकों और निचली कक्षाओं के छात्रों की अभिरुचि कलकत्ता में भी देखी जाती है जो फिलहाल किसी भी सुधार के विरोधी हैं। जैसे कि बाल विवाह की प्राचीन प्रथा जो अंततः विधवाओं की जन्मदात्री है।...नई पीढ़ी में यह एक घातक मनोवृत्ति है।'' नई पीढ़ी सुधारों के प्रति ऊहापोह की स्थिति में थी।

***'इंडियन मेसेंजर'* (1887)**

''इन्हीं दिनों 'इंडियन मेसेंजर' में एक खबर प्रकाशित हुई कि एक शूद्र जाति के विद्यार्थी ने इंटरमीडिएट परीक्षा पास की है जिसे उसके सहपाठियों ने हेय दृष्टि से देखा और उसे बेंच पर भी नहीं बैठने दिया जाता था। ऐसी प्राचीन मान्यताओं, रीति रिवाजों से हिंदू जाति का पतन हुआ है।''[6]

'सतसार'—शूद्र-दलित क्रांति के जनक फुले ने खुद अपनी पत्रिका में जाति भेद, सामाजिक कुरीतियों का प्रतिकार किया।

गोपाल बाबा वलंगकर

य. दि. फड़के के शब्दों में—

*''वे कोंकण के रावढल गांव के निवासी थे। सेना से रिटायर थे। 1888 में उन्होंने 'विटाल विध्वंसन' (अपवित्रता विध्वंसन) पुस्तिका लिखी। उन्होंने प्रतिपादित किया कि अस्पृश्य पहले क्षत्रिय थे, कालांतर में अस्पृश्य माने गए। वलंगकर ने जातिवाद से लड़ने के लिए **'अनार्य दोष परिहारक'** मंडली बनाई। अम्बेडकर ने **'बहिष्कृत भारत'** के प्रथम अंक में अस्पृश्यों की उन्नति का आंदोलन आरंभ करने का श्रेय गोपाल बाबा वलंगकर और बंबई प्रांत को दिया। 1892 में महारों की सेना में भरती पर रोक लगी, वलंगकर ने रानाडे की सहायता ली। लेकिन सरकार ने कोई कार्यवाही नहीं की। जब प्रथम विश्व युद्ध शुरू हुआ अंग्रेजों को महारों की याद आई।*

1895 में उन्हें कोलाबा के जिलाधीश ने 'महाड़ लोकल बोर्ड' का सदस्य बनाया। लेकिन जब बैठक आयोजित हुई कोई भी सवर्ण बैठक में भाग लेने नहीं आया। जैसे कि अछूत नहीं कोई शेर आ गया हो। 1895 में जब पुणे में कांग्रेस अधिवेशन हुआ उन्होंने नेताओं से मांग की कि वे अस्पृश्यता निवारण के लिए ठोस कदम उठाएं।"

लंदन विश्वविद्यालय के **फिलिप कांस्टेबिल** ने *'उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के पश्चिम भारत का प्रारंभिक दलित साहित्य एवं संस्कृति'* नामक लंबे शोधपूर्ण लेख में गोपाल बाबा वलंगकर की दलित चेतना में साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया है जिसे उन्होंने डॉ. अम्बेडकर जन्मशती (1991-92) के दौरान भारत सरकार द्वारा लंदन में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय विचार गोष्ठी में प्रस्तुत किया था।

इसी के आधार पर हम वलंगकर की रचनाओं की यथार्थवादी प्रभावी भूमिका पर यहां संक्षिप्त में चर्चा कर रहे हैं। जो फुले की तरह दलित आंदोलन की ऐतिहासिक विरासत कही जा सकती है।[7]

बाबा वलंगकर को दलित साहित्य और संस्कृति का प्रेरक माना जाता है जिन्होंने **'अनार्य दोष परिहारक मंडल'** की स्थापना की। इस मंडल ने महार, चम्भार जैसी दलित जातियों की संस्कृति का प्रथम बार शब्द-चित्रण किया। कोलाबा जिले के महाड ताल्लुका से पांच मील दूर रावढल जैसे छोटे से ग्राम के निवासी बाबा वलंगकर इस मंडल के अध्यक्ष थे। वे जीवन पर्यंत ब्रिटिश फौज में सेवारत रहे, और जब वे पुणे और बंबई में फौज में थे, **ज्योतिबा फुले** और उनके अनुयायियों के संपर्क में आए और सत्य शोधक समाज के सदस्य बन गए।[8] वलंगकर के समकालीन और एक सैनिक आर.सी. घाडगे ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि वे और वलंगकर रविवार के दिनों में फुले का भाषण सुनते थे जब वे पुणे कैम्प के फौजियों को संबोधित किया करते थे। प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर जो आंखों देखे हैं फुले और वलंगकर दोनों अभिन्न मित्र थे। फुले, महारवाडा, भवानी पेठ, पुणे में वलंगकर के घर नियमित रूप से जाया करते थे।[9] फुले के अभिन्न मित्र गोविन्द गनपत काले ने विशेष रूप से उस प्रवेश विधि को देखा जिसके अनुसार फुले और वलंगकर 'सत्य शोधक समाज' में आने वाले सवर्ण जाति के हर दर्शक की परख करते थे और इसका आधार था वह खाने की पंक्ति जिसमें वलंगकर बैठते थे।[10] सयाजीराव गायकवाड़ महाराज के सम्मान में हुए सत्य शोधक समाज के एक उत्सव में फुले के साथ वलंगकर ने भी अपने विचार प्रकट किए थे।[11] सन् 1880 के मध्य तक उनकी मित्रता गहरी हो चुकी थी।[12] वे अस्पृश्य हवलदार के पद से सन् 1886 में फौज से सेवानिवृत्त हुए थे। फिर वे महार जाति के उत्थान कार्य में प्रवृत्त हुए।[13] अवकाश ग्रहण करने के उपरांत वे रत्नागिरि जिले में दपोली में रहने लगे जहां स्कूल मास्टर की नौकरी कर ली। वहां महार और चम्भार जाति के सेवानिवृत्त फौजी अधिकारियों के साथ मिलकर सन् 1890 में **'अनार्य दोष परिहारक मंडल'** स्थापित किया।[14] इन फौजी अधिकारियों द्वारा अलग से संगठन बनाना, जबकि इनमें से अधिकांश 'सत्य शोधक समाज' के सदस्य थे और

फुले के अनुयायी थे, एक विशिष्ट लक्ष्य की ओर इंगित करता है। यदि महार-चम्मार जातियों को हिंदू शास्त्रों और समाज द्वारा उन पर किए गए अत्याचारों और सामाजिक बहिष्कार के विषय में जागरूक बनाना आवश्यक था तो यह भी आवश्यक था कि उन्हें अपनी मान्यताओं और सांस्कृतिक विरासत के बारे में स्वतंत्र अस्तित्त्व के बारे में आश्वस्त किया जाए।

इस प्रकार अनार्य दोष परिहारक मंडल महार एवं चम्मार सांस्कृतिक चेतना का सर्वप्रथम संस्थागत एवं प्रयास था। ताकि दलित समाज की स्वतंत्र पहचान बने जो सामाजिक बहिष्कार से संघर्ष करने के लिए एक सीधे विकल्प का रूप ले।[15]

कोंडाजी रामजी की मराठी दलित कविताएं

वलंगकर के समकालीन **कोंडाजी रामजी** या पंडित कोंडीराम ने अपने मराठी पदों में 'अनार्य दोष परिहारक मंडल' जैसे संगठनों की आवश्यकता पर जोर दिया था जो महार-चम्भार जातियों में सांस्कृतिक चेतना के लिए कार्यरत थी। उनकी मराठी कविता में 19वीं सदी के अंत में महारों पर अमानुषिक अत्याचारों का चित्रण है। कोंडीराम एक स्कूल मास्टर थे और नेस्बित रोड, बंबई में रहते थे। वे 'श्रीसोमवंशी मित्र समाज', बंबई के अध्यक्ष थे। बीसवीं सदी के प्रथम दशक में महाराष्ट्र दलित सभाओं में वे भाषण किया करते थे। ऊँची जातियों और मराठों के दवाब में सन् 1892 में दलितों को फौज में से निकाला गया था, इसलिए वलंगकर और कोंडीराम पुणे फौजी कैम्प में साथ-साथ रहे थे, ऐसी धारणा है और दोनों ने ही अध्यापकी अपनाई। दोनों ही फुले की सभाओं और 'सत्य शोधक समाज' की गतिविधियों में हिस्सा लेते रहे थे।[16] सन् 1894 में जब वलंगकर ने 'दपोली अनार्य दोष परिहारक मंडल' की ओर से बंबई सरकार को ज्ञापन प्रेषित किया तो उसमें महारों की सामाजिक दुर्दशा के बारे में कोंडीराम का पद उद्धृत किया गया था।

कोंडीराम की पद्य रचनाओं में दलितों की वेदना, छटपटाहट छिपी है। उसमें अछूतों की भूख-गरीबी, सामाजिक बहिष्कार, जातीय घृणा की सच्ची मर्मांतक गाथा निहित है जो अनार्य दोष परिहारक मंडल के दलित मुक्ति अभियान में मार्गदर्शक बनीं। अगस्त 1888 में प्रकाशित **'विनंति पत्र'** में दलित नीति को उजागर किया गया है। यह एक प्रकार से हिंदू धर्माचार्यों द्वारा वेद, शास्त्र और पुराणों में वर्णित वर्ण व्यवस्था के दैवीय उद्गम के प्रतिकार 'अस्पृश्यता' को चुनौती देने के लिए रची गई थी। ज्योतिबा फुले से वलंगकर ने वार्तालाप के दौरान इस दलित बौद्धिक विरासत की चर्चा की थी। ईसाई मिशनरियों की विचारधारा ने महार भक्ति चिंतन को और भी क्रांतिकारी बनाया जिसमें हिंदुओं के अंधविश्वासों और मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना भरी हुई थी। 'अनार्य दोष मंडल' का 'विनंति पत्र' के जरिए महार-चम्भार जातियों ने उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के प्रारंभ में वैचारिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करने का प्रयास हिंदुओं द्वारा दलितों की मानवीय एवं सांस्कृतिक पहचान के अनादृत करने की प्रतिक्रिया का

परिणाम थी। वलंगकर ने 'विनंति पत्र' में, फुले की तरह आर्य ब्राह्मणों द्वारा वर्ण और जाति के विस्तार की निंदा की है। फुले की रचना **'गुलामगिरी'** (1873) की तरह वलंगकर ने आर्यों द्वारा मूल निवासी द्रविड़ों को परारत कर सामाजिक-धार्मिक सत्ता हथियाने की इतिहास-सम्मत बात कही।

वलंगकर ने कहा महार भक्त संत **चोखा मेला** सर्वधर्म समभाव और सामाजिक समरसता के प्रतीक थे। **रेवरेंड जे. स्टीवेंशन** उनकी भक्ति कविता से प्रभावित थे। उसी प्रकार रेवरेंड एलेक्जेंडर राबर्टसन ने चोखा मेला के अभंगों में अछूतों की वेदना के दर्शन किए।[17] डॉ. अम्बेडकर ने वलंगकर को प्रथम दलित साहित्य का प्रणेता और दलित अधिकारों के लिए लड़ने वाला योद्धा बताया।

शिवराम जानबा कांबले

बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में अस्पृश्यता-उन्मूलन आंदोलन को आगे बढ़ाने में पुणे के **शिवराम जानबा कांबले** का विशेष योगदान रहा। उन्होंने 1903 में 51 गांवों की महारों की सभा बुलाई जिसमें अछूतों को सेना और पुलिस में भर्ती की मांग की गई। कांबले ने 1904 में **'श्री शंकर प्रासादिक सोमवंशीय हित चिंतक मंडल'** स्थापित किया और 1908 में **'सोमवंशीय मित्र'** समाचार पत्र का प्रकाशन शुरू किया।[18]

नवजागरण काल में शायद प्रथम बार उन्होंने देवदासियों के अंधकार भरे जीवन और धर्म के नाम पर होने वाले उनके भयानक यौन-शोषण की भी जानकारी दी। जब देवदासियों के पुनर्वास के लिए शिवराम कांबले ने उनका विवाह कराने का प्रयत्न किया तो खुद उनके ही जाति वाले नाराज को गए।[19] ये देवदासियां अछूत समाज की औरतें थीं जिनका सदियों से ब्राह्मण पुरोहित शारीरिक यौन-शोषण करते आ रहे थे। कांबले से पूर्व इनकी कष्ट गाथा से कोई भी देश का राम मोहन राय द्रवित नहीं हुआ, यह हिंदुओं के लिए शर्मनाक बात है। यह सती-प्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-अनमेल विवाह और अस्पृश्यता से भी भीषण समस्या थी।

विदर्भ का योगदान

अम्बेडकर आंदोलन से बहुत पहले विदर्भ के तीन दलित समाज सुधारकों ने बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशक में सक्रिय रहकर अस्पृश्यता और जातिवाद के खिलाफ मोर्चा संभाला था। ये थे—किसन फागू बनसोड, गणेश आकाजी गवई और काली चरण नंदागवली। किसन फागू ने 1903 में **'सन्मार्ग बोधक निराश्रित समाज'** की स्थापना करके अस्पृश्यता निवारण का काम किया। 1907 में उन्होंने बच्चियों के लिए चोखा मेला शाला खोली। गांव-गांव घूमकर जातिवाद और अस्पृश्यता के विरोध में लोगों को समझाया। संगठित होकर शिक्षा ग्रहण करने और अधिकारों के लिए जागृत रहने की बात की। गवई उनके सहकारी थे।

वे उनकी संस्था के सचिव भी थे। गवई ने 1914 में **'बहिष्कृत भारत'** पत्रिका निकाली। मध्य प्रांत के गवर्नर ने गणेश आकाजी गवई और सामाजिक कार्यकर्ता नंदागवली को विधान परिषद में नियुक्त किया।[20]

बी.एम. मालाबरी एवं सुरेन्द्र नाथ बनर्जी

अस्पृश्यता-निवारण, जातिभेद के कलंक को मिटाने तथा समाज सुधारों की कड़ी में **बी.एम. मालाबारी** (1853-1912) एवं **एस.एन. बनर्जी** (1848-1925) के नाम भी प्रथम पंक्ति में आते हैं जो यह मानते थे कि राजनीतिक आजादी जरूरी तो है, लेकिन समाज में बिना आमूल-चूल परिवर्तन के स्वतंत्रता बेमानी है। उनके उदार विचारों में भारत में तत्कालीन समस्त प्रगति ब्रिटिश शासन के दौरान ही संभव है। बहुत से शिक्षित भारतीय **मालाबरी** की उस विचारधारा से सहमत थे कि :

> *"सदियों से भारत में प्रचलित पुरानी मान्यताओं, जड़ता, कुरीतियों जाति-प्रथा, अस्पृश्यता, गरीबी से छुटकारा पाना और एक नए समाज की संरचना सर्वोपरि है, जबकि विदेशी हुकूमत से आजादी पा लेना एक गौण बात है। सामाजिक बुराइयों ने भारत की कमर तोड़ दी है। इसके लिए राज्य का पूर्ण हस्तक्षेप जरूरी है और सामाजिक कानून बनाने और विधि सम्मत शासन व्यवस्था के परिचालन के लिए ब्रिटिश शासन की उपस्थिति बुरी बात नहीं है। समाज सुधारों से समाज में जागृति और चेतना आएगी।"*

मलाबारी के विचार में **'सोशल रिफार्म कांफ्रेंस'** को कांग्रेस संगठन से अलग हटकर अपनी गतिविधियां चलानी चाहिए तभी उसके विचारों में अपनी अलग पहचान, परिपक्वता और समाज सुधारों की नई अवधारणा उपजेगी। **मालाबरी** का मानना था एक के बाद एक बदली हुकूमतों ने सिद्ध कर दिया है कि भारत के लोग अपना शासन चलाने में अक्षम हैं। सामाजिक संगठन में कहीं भारी त्रुटि अवश्य हैं कि भारत के लोग अराजकता, कुशासन और विदेशियों के हाथ की कठपुतली बन गए हैं। इन कारणों की खोज की जानी चाहिए और समाधान ढूंढना चाहिए।

उस समय एक यह भी विचारधारा थी कि हम अस्पृश्यता और जातिगत ऊंच-नीच की भावना से इतने कमजोर और गुलाम हुएं। जिस दिन देश में संगठनात्मक एकता और राष्ट्रीयता जागेगी, जातीय एकता की भावना जोर पकड़ेगी हमें आगे बढ़ने और आजादी हासिल करने से कोई नहीं रोक पाएगा। जातियों में बँटा भूतकाल का भारत, और जातिवाद से लड़ता वर्तमान भारत, भविष्य में तभी शक्तिशाली बनेगा जब जातिवाद का कलंक मिट जाएगा।[21]

सन् 1901 की जनगणना

सर हर्बर्ट रिजले ने सन् 1901 की जनगणना के संदर्भ में अपनी टिप्पणी में तीन प्रमुख धर्मों—हिंदू, मुस्लिम और ईसाई धर्म के विषय में लिखा—

"सन् 1901 की जनगणना के दस वर्षों के अंतर्गत मुस्लिम 9 प्रतिशत, और ईसाई लगभग 28 प्रतिशत बढ़े हैं...हिंदू धर्म भारत का प्रधान धर्म है, यह अपने विकास की गति में जाति और सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं से पूरी तरह जुड़ा है, जिन्हें अलग स्तर पर नहीं देखा जा सकता। दो विपरीत धर्म—ईसाई और इस्लाम—(बुद्ध धर्म पर यहां विचार करना उपयुक्त नहीं) जाति के सिद्धांत को नहीं मानते और निस्संदेह उनका हिंदू धर्म पर व्यापक असर रहा है। जब तक कि हिंदू धर्म की संख्या में कोई कमी नहीं आती, जातिगत मान्यताओं की प्राचीन प्रमुखता हावी रहेगी और ईसाई या इस्लाम धर्म के मानने वालों की जनसंख्या में विशेष इजाफा संभव नहीं होगा और भारत के सामाजिक और धार्मिक भविष्य पर कोई परिवर्तन प्रभावी नहीं होगा। क्या इस दिशा में किसी प्रवृत्ति की झलक दिखाई देती है? क्या पिछली जनसंख्या के परिणाम ईसाई या इस्लाम धर्म के पुनरुत्थान और हिंदू धर्म के लिए संकट का संकेत करते हैं? अथवा हिंदू धर्म भविष्य में भी यथावत् बना रहेगा जैसा कि वह सदियों से भूतकाल से अब तक रहा है?

यहां स्पष्ट है कि ईसाई धर्म प्रचारकों ने गरीब-अनपढ़, अस्पृश्य दलित जातियों और आदिवासियों में न सिर्फ शिक्षा का प्रचार किया, अस्पताल और शरण स्थल खोले, नौकरियों, शादियों के लालच दिए और उदारतापूर्वक धन और अन्य भौतिक वस्तुएं उपलब्ध कराईं वरन् उन्हें ईसा मसीह और चर्च की ओर आकृष्ट करते हुए ईसाई धर्म में दीक्षित किया। मुस्लिम और मुगल साम्राज्य के रहते इस्लाम ने भी दलित जातियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। यही नहीं राजपूत जातियों ने भी बढ़-चढ़ कर शासक जाति से अपने खूनी रिश्ते जोड़ने में कोई कसर नहीं रखी। देखा-देखी हिंदू किसान जातियों ने भी आर्थिक-सामाजिक फायदों की तलाश में इस्लाम कबूल कर लिया। तीसरे उन छोटी दलित हस्त शिल्पी और कला कौशल में प्रवीण जातियों ने भी इस्लाम धर्म अपनाया जो पुरोहित वर्ग, हिंदू सामंतवाद और अन्य ऊंची जातियों के अत्याचारों के शिकार थे।"[22]

सवर्ण हिंदुओं के अत्याचारों से त्रस्त दलित-अस्पृश्यों का धर्मांतरण समाज सुधारकों की आंखें खोलने के लिए पर्याप्त था।

कोल्हापुर के शाहू महाराज

बीसवीं सदी के शुरुआती दो दशकों में कोल्हापुर के **महाराजा छत्रपति शाहू महाराज** जो शिवाजी के वंशज थे गैर-ब्राह्मण आंदोलन के अगुवा बने। महाराष्ट्र में अनेक स्थानों पर उन्होंने अछूतों के पक्ष में भाषण दिए। युवा अम्बेडकर को प्रारंभिक सामाजिक जीवन

में प्रेरणा दी, यही नहीं कुछ आर्थिक सहायता दी जिससे वे दुबारा लंदन पढ़ने गए और दोनों ने अछूतों की सभाओं में साथ-साथ भाषण दिए। दलित आंदोलन के इतिहास में शाहू महाराज का अपना स्थान है।

सयाजीराव गायकवाड़

महाराजा बड़ौदा **सयाजीराव गायकवाड़** प्रगतिशील विचारों के शासक थे। उन्हें समाज-सुधारों और दलित शिक्षा में भारी रुचि थी। अछूतों की दयनीय सामाजिक-आर्थिक हालत की उन्हें न सिर्फ पूरी जानकारी थी, वरन् सामाजिक बुराइयों, जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता मिटाने के लिए उन्होंने अपने बड़ौदा राज्य में व्यापक स्तर पर कार्य किए। देश के सामाजिक जीवन में प्रचलित अस्पृश्यता के वे भारी खिलाफ थे। उन्होंने लिखा है कि–

> ''भारत को छोड़कर इस सभ्य विश्व में ऐसा कोई देश नहीं है जहां जाति-पांत और अस्पृश्यता प्रचलित हो और धर्म की शक्ति की आड़ में आदमियों में भेद-भाव माना जाता हो।...दलित जातियों को एक छोटी जातियों के वर्ग के रूप में पहचाना जाता है। कुछ वैष्णव इस सीमा तक छूआछूत मानते हैं कि वे अपनी पत्नियों द्वारा पकाया भोजन स्वीकार करने में भी हिचकिचाते हैं। इससे उनकी मानसिक क्रूरता और हृदयहीनता का पता चलता है। शुद्ध-अशुद्ध की भावना के फेर में एक अछूत का स्पर्श कुत्ते-बिल्लियों के स्पर्श से भी गया गुजरा है। जो लोग बचपन से ऐसे वातावरण में पले हों उनसे किसी प्रकार के सद्व्यवहार की आशा रखना ही व्यर्थ होगा।''

सयाजीराव ने दलित जातियों की दशा सुधारने के लिए न सिर्फ अस्पृश्यता का विरोध किया वरन् उनके लिए शिक्षा और आधुनिक तरीके के उद्योग-धंधों के लिए भी प्रयास किया। उन्होंने आह्वान किया कि छूआछूत के रहते जिसे धर्म द्वारा न्याय संगत माना है और क्रियान्वित किया गया है न तो दलित जातियां शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं न परंपरागत अशुद्ध पेशों से विमुख हो सकती हैं। इसी कारण शायद जाति व्यवस्था का अभेद्य जाल बुन दिया गया है।

सयाजीराव ने कहा कि अस्पृश्यता की अवधारणा ने इन जातियों को सभ्यता के लाभों से सदैव के लिए वंचित कर रखा है। हम न सिर्फ उन्हें सताते हैं और उन पर जुल्म ढाते हैं, बल्कि सदैव उन्हें विद्या और जागृति की रोशनी से भी दूर रखते हैं।

अस्पृश्यता की वजह से ही उनमें घोर दरिद्रता व्याप्त है और वे अपनी रोजी-रोटी भी बड़ी मुश्किल से जुटा पाते हैं। उनकी आर्थिक दशा वास्तव में शोचनीय है।

अस्पृश्यता के कारण लोग उन्हें घरों पर काम देने में हिचकिचाते हैं।

वे अछूत होने की वजह से हमारे घरों में घरेलू नौकर की तरह से कार्य करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं क्योंकि न तो कोई उनका स्पर्श किया हुआ भोजन ग्रहण करता था, न उन्हें घर में आने की आज्ञा थी। काम मिलना तो दूभर था।

सयाजीराव ने हिंदू धर्म की कटु आलोचना की उन्होंने जाति-व्यवस्था का भारी विरोध किया। इस बात पर दुख प्रकट किया कि उपनिवेशवादी भारत सरकार अस्पृश्यता और जाति व्यवस्था के मकड़ जाल को खत्म करने की ओर कतई ध्यान नहीं दे रही। उस समय उनका यह भी विचार था कि अस्पृश्यता जैसी कुरीति सरकार द्वारा ही नहीं वरन् समाज की सद्भावना से भी दूर की जा सकती है। उन्होंने संपत्ति संबंधों की पुनर्रचना पर कोई प्रस्ताव नहीं रखे और न धर्म को पूर्णरूपेण अस्वीकृत करने के विषय में विचार प्रकट किए वरन् धर्म को परिष्कृत करने की ही बात कही। उन्होंने यह कहा कि हमारा प्रगति में धर्म बाधक नहीं बनना चाहिए। उनका विचार था कि–

"एक धर्म जो देश के लाखों-करोड़ों लोगों को शोषण-चक्र, दुख-दारिद्रय, अज्ञान, बीमारी और तमाम बुराइयों के गर्त्त में धकेलता है वह झूठा धर्म है। अस्पृश्यता की अवधारणा हिंदू धर्म के विरुद्ध है।"

उन्होंने लिखा–"जनंसख्या के लगभग 5वें 6वें भाग की अवहेलना करके हम एक जघन्य अपराध, राष्ट्रीय आत्महत्या कर रहे हैं। समय आ गया है कि हम इन लाखों-करोड़ों अछूतों के साथ सहभागिता के लिए कदम उठाएं।"

सयाजीराव के विचार में–"अस्पृश्यता को समाप्त करने का प्रभावी कदम स्वयं अस्पृश्यों के हाथ में है। निम्न जातियों को खुद आगे आकर अपनी हालत सुधारनी होगी। उन्हें अपने पड़ोसियों को उकसाना नहीं है। अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा भी नहीं करनी है। जिन पर पूरे समाज का स्वास्थ्य और आराम टिका है, भले ही वह कर्त्तव्य कितने ही छोटे और अशुद्ध क्यों न समझे गए हैं।"[23] सयाजी राव ने इस प्रकार वही बात कही जो आगे चलकर गांधी कहा करते थे कि अछूत परंपरागत पेशों को न त्यागें।

सयाजीराव की विवशताएं

सयाजीराव ने अम्बेडकर को अपनी रियासत में नौकरी दी। अमेरिका में पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की। अछूतों की हालत सुधारने की कोशिश की। एक प्रगतिशील महाराजा को जो कुछ करना था उन्होंने वह किया। लेकिन जब अम्बेडकर अमेरिका से वापिस लौटे और अनुबंध के अनुसार रियासत की सेवा में नौकरी करने को बड़ौदा में आए तो अछूत होने के कारण किसी ने उनका स्वागत नहीं किया। उन्हें रहने को मकान नहीं मिला। खाना नहीं मिला। चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी तक उनकी सरकारी फांइल पटक कर रखते थे। महाराजा तक को युवा अम्बेडकर ने इस अमानवीय, छुआछूत भरे दुर्व्यवहार से लिखित में अवगत कराया लेकिन किसी ने इस अछूत अधिकारी की ओर ध्यान ही

नहीं दिया और सबकी चाह थी कि यह कब बड़ौदा से भागे। अंततः युवा अम्बेडकर को बड़ौदा छोड़ना पड़ा।

इतिहास की विडंबना देखिए वही बड़ौदा महाराज अछूतों के हक में मंच पर भाषण करते हैं। सिंह गर्जनाएं करते हैं। सम्मेलन करवाते हैं व उन अछूतों का स्वागत स्वीकार करते हैं। लेकिन अम्बेडकर को अपमानित होने से नहीं बचा पाते। अपने ही चपरासियों-अधिकारियों से अछूत अम्बेडकर की वे रक्षा नहीं करते। क्या गांधी की तरह उच्चजातियों मराठों और ब्राह्मणों से वे डरते थे? देशी-विदेशी इतिहासकार और दलित नेता ने इस तरफ शायद ध्यान नहीं दिया।

अन्य महापुरुषों के विचार

'इंडियन रिव्यू' पत्रिका में 1909-1911 के दौरान दलित जातियों और अस्पृश्यता के विषय में वैचारिक और राजनीतिक स्तर पर विशद चर्चा शुरू की गई जिसमें देश के शीर्ष राजनेताओं, समाज सुधारकों और विचारकों ने अपने उद्‌गार प्रकट किए।

एनी बेसेंट ने, जो बाद में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षा भी बनीं, सन् 1909 में लिखा कि :

> "दलित जातियों की दशा सुधारने के लिए आवश्यक कदम उठाए जाने चाहिए। उन्होंने एक भाषण में यह भी कहा कि दलित जातियों की समस्या राष्ट्रीय समस्या है जिसके लिए पूरा समाज दोषी है। दुनिया के किसी भी मुल्क में मानवता पर इतना व्यापक और लंबे समय तक अत्याचार नहीं किया गया। हमारा सिर शर्म से झुक जाता है।"[24]

लेकिन कई जगह उन्होंने यह भी लिखा कि दलितों के बच्चे संभ्रांत परिवार के बच्चों के साथ एक स्कूल में नहीं पढ़ने देने चाहिए। उनकी बातों में विरोधाभास था। साफगोई नहीं थी।

लाला लाजपतराय

पंजाब के प्रसिद्ध देशभक्त और समाज सुधारक तथा लोकनायक लाला लाजपतराय (1865-1928) ने जुलाई 1909 में **'मॉडर्न रिव्यू'** में अपने लेख में स्पष्टतया लिखा कि :

> "हिंदू जाति व्यवस्था हिंदू समाज के पतन का कारण है। यह हिंदुओं की सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति में बाधक है। राष्ट्रीय एकता की दिशा में देश ने जो ऊंचाइयों को स्पर्श करना था उसमें जाति व्यवस्था ने अवरोधक का काम किया है। निम्न जातियों की दशा जिन्हें अछूत और दलित वर्ग भी कहा जाता है, शर्म की बात है। यह मानवता के लिए अपमानजनक है। यह न्यायसंगत बात नहीं है और न

हमारी सामाजिक मेल-मिलाप की भावनाओं के अनुरूप है। जब तक दलित जातियों की दुर्दशा है तब तक हम गर्व से सिर ऊंचा नहीं कर सकते। किसी भी समाज का नैतिक और बौद्धिक विकास नहीं हो सकता जब तक कि समाज के सभी वर्ग उसमें अपनी भागीदारी नहीं निभाते। ऊंची जातियों की दृष्टि में कुछ जातियों के लोग अछूत हैं, उनका इतना ही कसूर है कि वे ऐसे अभिभावकों की संतान हैं जिनका नैतिक-बौद्धिक और सामाजिक विकास अवरुद्ध रहा है। जिनके विकास, तरक्की की गति धीमी रही है। इस कलंक को हम मिटा सकते हैं। उन्हें समाज में मान-प्रतिष्ठा और प्रगति में हिस्सेदारी देकर बराबरी का दर्जा प्रदान कर सकते हैं। दलितों को भी अपने व्यक्तिगत प्रयास, प्रतिभा और कार्यक्षमता का प्रदर्शन करना होगा ताकि उन्हें भी समाज में ऊंचे से ऊंचा दर्जा हासिल हो सके। जो वर्तमान जाति व्यवस्था और सामाजिक संगठन है वह बड़ा क्रूर और अन्यायपूर्ण है। यह आर्थिक और राजनीतिक द्रृष्टि से भी अनुपयुक्त है। इतने बड़े जनसमुदाय की अवहेलना और तिरस्कार आर्थिक दृष्टि से भी एक घृणित बात है। अगर ये जातियां इसी दशा में रहीं तो राजनीतिक दृष्टि से भी इसके घातक परिणाम हो सकते हैं, ...हमारे समाज में कुछ ऐसी शक्तियां जो जातिगत भेदभाव के इस नकली आवरण को जो आदमी आदमी में दूरी पैदा करता है उसे मिटाने के लिए कार्यरत हैं। दलितों के दिन फिरने वाले हैं। जब वे सम्मान से जी सकेंगे।" हुआ भी यही डॉ. अम्बेडकर के प्रयत्नों से कुछ ही दशकों में दलितों के जीवन में रोशनी की चमक आ गई तथा लालाजी का सपना पूरा हो गया।

लाला लाजपतराय ने मई 1910 में अपने एक अन्य लेख में विचार प्रकट करते हुए लिखा था : "दलित वर्गों की समस्या एक तात्कालिक व्यावहारिक समस्या बन गई है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। हिंदू समाज के शिक्षित लोगों ने जिन्हें अनपढ़ हिंदुओं का भी समर्थन प्राप्त है, अस्पृश्यता की समस्या को हल करने का पहले ही अभियान छेड़ दिया है। समाज का वह भाग जो कट्टरता और अज्ञानता में डूबा हुआ है उसका विरोध भी सामने आ गया है जिसकी हमें परवाह नहीं करनी चाहिए।"

लाला लाजपतराय ने कहा कि सन् 1909 में हिंदू महासभा के प्रथम राष्ट्रीय अधिवेशन में जो लाहौर में संपन्न हुआ उन्होंने अपने राष्ट्रीय एजेंडे में अस्पृश्यता निवारण और दलित समस्या को प्रमुखता प्रदान की जिससे समाज में सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न हुआ। यद्यपि कुछ विरोधी आवाजें भी उठीं कि 'धर्म खतरे में है' लेकिन इसके बावजूद सर्वसम्मति से इस समस्या के तात्कालिक हल के लिए प्रस्ताव पारित हुए। बहस के दौरान व्यवहारिक कठिनाइयों का जिक्र हुआ और सुझाव आए।

लाजपतराय ने चेतावनी दी कि समय रहते हिंदू समाज को इस खतरे से सावधान हो जाना चाहिए। यदि दलित जातियों के हितों की अनदेखी की गई तो हिंदू धर्म ही संकट में पड़ जाएगा। उन्होंने आर्य समाज जैसे सामाजिक-धार्मिक संगठनों की प्रशंसा करते हुए लिखा कि यद्यपि ऐसे संगठन प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं जैसे सामाजिक-जातीय एकता, भाई चारा, दलितों के साथ सहभोज आदि

लेकिन यह सब काफी नहीं हैं। नवगठित हिंदू महासभा जैसे राष्ट्रीय संगठन को इस समस्या के व्यापक हल की कोशिश करनी होगी, सामाजिक बुराइयों को मिटाना होगा और अस्पृश्यों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना होगा। उनके विचार में शिक्षा से दलित जातियों में चेतना आएगी। इससे उनमें नेता और समाज सुधारक पैदा होंगे। इससे समाज में उनकी स्थिति सुधरेगी।

ऐसे आवश्यक कदम उठाने की दिशा में लाला लाजपतराय ने लिखा कि–

"यदि दलित जातियों की ऐसी ही बुरी हालत रहती है तो इससे राष्ट्रीय एकता और दृढ़ता को धक्का लगता है। सामाजिक संगठन में उन्हें जाग्रत करके खड़ा करना होगा और उन्हें अपनी ठीक जगह बनानी होगी। पूरे विश्वास और सच्चाई के साथ उनकी प्रगति का अभियान शुरू हो जाना चाहिए तभी हम अपने को एक राष्ट्र कह सकते हैं। उनकी समस्याओं के प्रति यदि हम मानवीय और न्याय संगत रवैया नहीं अपनाते और समय रहते समस्या को स्वीकार नहीं करते या पहचान नहीं करते, तो वे यदि हिंदू धर्म छोड़ने के लिए विवश हो सकते हैं या वे उन लोगों के साथ मिल सकते हैं जो न हमारे साथ हैं और जो न हमारे अपने हैं तो उन्हें इस कदम की विवशता के लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

इसी समय लाला लाजपतराय ने लोगों को सलाह दी कि देश की राष्ट्रीय परंपराओं और इतिहास को दृष्टिगत रखते हुए वे सभी कार्य किए जाने चाहिए जो दलितों के हक में हैं। उन्होंने स्पष्टतया कहा कि यह कहना ठीक नहीं होगा कि शास्त्रों में सब कुछ गलत है। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की इन प्राचीन धर्मग्रंथों में अनार्यों का आर्य धर्म में प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नहीं था, न आर्यों के सामाजिक जीवन में घुल-मिलने पर पाबंदी थी। अपने विचारों पर दृढ़ रहते हुए उन्होंने जन-आह्वान् किया कि वे हिंदुत्व को सुधारने के अपने प्रयत्नों में ढील न बरतें। उन्होंने कहा कि इस विकट समस्या के हल के लिए एक अलग संगठन की जरूरत होगी। जिसके पास अपने पर्याप्त साधन स्रोत हों।[25]

अम्बिका चरण मजूमदार

'इंडियन रिव्यू' में दलित समस्या और अस्पृश्यता निवारण विषयक चर्चा पर अम्बिका चरण मजूमदार ने भी अपने विचार प्रकट किए जो सन् 1916 के राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के सभापति थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि दलित जातियों की समस्या सामाजिक-धार्मिक समस्या ही नहीं है वरन् उसके राजनीतिक पहलू भी हैं। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि भले ही ऊंची जातियों के लोग इस समस्या का विरोध करते हों। दलित वर्गों की समस्या को उनके हित में शीघ्र ही हल किया जाएगा। अगर लोग विरोध पर उतारू हैं तो यह राष्ट्र घातक बात होगी। उन्होंने कहा कि दलितों की समस्या के हल के क्रांतिकारी कदम नहीं उठाने वरन् जो व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण सामाजिक प्रतिबंध हैं उम्हें दूर करने से सब कुछ ठीक हो जाएगा।[26]

नटेशन और मद्रास दलित वर्ग सम्मेलन

'इंडियन-रिव्यू' में दो साल तक चली लंबी वैचारिक परिचर्चा का विद्वत् जगत और राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्रों में बड़ा स्वागत हुआ। देश में अछूतों के प्रति सहानुभूति का वातावरण बना। अस्पृश्यता निवारण और जाति व्यवस्था के समूल विनाश के लिए देश का बुद्धिजीवी और समाज सुधारक वर्ग कृत संकल्प हुआ। इसका एक तुरत लाभ और भी हुआ कि निम्न हिंदू जातियों के लोगों की दयनीय आर्थिक-सामाजिक, शैक्षिक हालत का ईसाई मिशनरी और इस्लाम धर्मावलंबी फायदा उठाकर उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए उकसाते थे उस पर रोक लगी।

सन् 1911 में 'इंडियन रिव्यू' के प्रकाशक जी.ए. नटेशन ने दलित वर्गों की समस्याओं पर मद्रास में एक सम्मेलन आयोजित किया। नटेशन उदार राष्ट्रवादी थे। सम्मेलन में उन्होंने अपने प्रभावी उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा–

> "देश के विकास में अछूतों का महान योगदान है। बिना उनके सहयोग के भारतीय कृषि कार्य पूरी तरह संपन्न नहीं हो सकता।"

दलितों की सक्रिय भागीदारी के अभाव में भारत की पूरी अर्थव्यवस्था चरमरा कर हिल सकती है। नटेशन ने दलित जातियों के आर्थिक शोषण की ओर इशारा करते हुए कहा कि :

> "ये विनम्र, चरित्रवान, उद्योगी, अत्यंत भावुक लोग उन लोगों द्वारा अछूत माने जाते हैं जो उनके श्रम पर गुलछर्रे उड़ाते हैं। उन्हें अभी तक वही मजदूरी दी जाती है जो पचास साल पहले (1860) में दी जाती थी...यही नहीं उनके साथ एक गुलाम की तरह व्यवहार किया जाता है। तथाकथित हिंदू समाज की सामाजिक व्यवस्था पर अछूतों की वर्तमान् हालत एक कलंक है।"

नटेशन ने अपने जोरदार भाषण में कहा कि :

> "भारत का एक भी राजनीतिज्ञ इस बात से असहमत नहीं हो सकता कि भारत के लोगों की एकता प्राप्त करना तब तक कठिन है जब तक करोड़ों अछूत गरीबी और अज्ञानता का जीवन जीते हैं। भारत उस समय तक राष्ट्र नहीं बन सकता जब तक दलित जातियां दूसरों के साथ-साथ प्रगति नहीं कर लेती।"

नटेशन के विचार में–

"अस्पृश्यता की समस्या तभी सुलझ सकती है जबकि शिक्षित समाज और ऊंची जातियों के सम्मानित प्रतिनिधि उनके प्रति सहानुभूति और मदद करने के लिए कृत-संकल्प होते हैं तथा प्रभावशाली और गण्यमान् हिंदू और वे तमाम सामाजिक संगठन जो सुधार कार्यों में सक्रिय हैं उनके उत्थान में अभिरुचि दिखाते हैं।" उनकी आर्थिक दशा में सुधार लाने के लिए नटेशन ने ठोस सुझाव देते हुए कहा कि दलित जातियों को बंजर-बेकार पड़ी भूमि को खेती करने के लिए बांट दिया जाना चाहिए। यदि दलित जातियों ने पश्चिम की नकल करते हुए संगठित क्रांति का बिगुल बजाया तो इससे भारतीय समाज का पूर्णतया विनाश हो जाएगा।

नटेशन के क्रांतिकारी विचारों से मद्रास सम्मेलन स्तब्ध रह गया। लोग अपना हृदय टटोलने लगे। एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार उनके मर्मस्पर्शी एवं सत्य के अत्यंत निकट विचारों में कोरी भावुकता नहीं थी वरन् देश के लोगों की आंख खोल देने वाला एक संदेश था जिस पर भविष्य के समाज सुधारकों और राजनेताओं को विचार करना था। नटेशन के उद्‌गारों में दलित जातियों की मार्मिक पीड़ा थी। उनकी सामाजिक आर्थिक मुक्ति और भविष्य में राजनीतिक भागीदारी की चुनौती थी।

एक प्रकार से नटेशन ने दलित जातियों के मुक्ति संग्राम के द्वार खोल दिए थे। यह आने वाले वक्त की एक झलक थी कि यदि उन्हें और तिरष्कृत किया गया तो उनके परिणाम यूरोप और रूस की संगठित क्रांतियों से भी ज्यादा भयंकर हो सकते हैं। वर्ग संघर्ष जाति संघर्ष में बदलकर पूरी समाज व्यवस्था की नींव हिला सकता है।[27]

गोपाल कृष्ण गोखले

गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्मदाताओं में से एक थे। उन्होंने सन् 1903 में 'इंडियन नेशनल सोशल कांफ्रेंस' के अधिवेशन में दलित और शूद्र जातियों की तकलीफों और उनके प्रति अमानवीय व्यवहार की ओर अपने विचार रखे। उन्होंने कहा कि बुद्धिजीवियों और शिक्षित वर्ग का कर्त्तव्य बनता है कि निम्न-अछूत वर्गों का मार्ग दर्शन करें, उनकी प्रगति में सहायता करें। अज्ञानता, बर्बरता और गिरावट की जिस जिंदगी को उन्होंने वर्षों से ढोया और जिया है उसमें सुधार लाने के लिए वे अपने संपूर्ण जीवन को एक पवित्र कर्त्तव्य मानकर समर्पित कर दें। गोखले ने कहा यह एक राष्ट्रीय समस्या है। जाति समाज के स्थायित्व के लिए जरूरी हो सकती है, लेकिन वह देश की प्रगति के उद्देश्य में सदैव बाधक बनी रही है। इसलिए जातिगत ऊंच-नीच के भेदभाव को मिटा देना चाहिए।[28]

नारायण चन्दावरकर

ब्राह्मण होते हुए भी प्रसिद्ध राजनेता और समाज सुधारक जस्टिस सर नारायण चन्दावरकर ने 20वीं शताब्दी के आरंभ में ही दलित जातियों में जागृति लाने का अभियान तेज कर दिया था। वे 1900 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे और इसी के साथ उन्होंने दलितों में शिक्षा, समाज सुधार और चेतना के अनेक कार्य किए। वे 'इंडियन नेशनल सोशल कांफ्रेंस' के अध्यक्ष भी बने और इसी के तत्त्वावधान में सन् 1911 में ब्राह्मण समाज से अपील की कि वे दलित जातियों के उत्थान कार्य में आगे आएं। उन्होंने आह्वान किया कि ब्राह्मणों ने यद्यपि अस्पृश्यता और जाति-पांत को बढ़ावा दिया है, लेकिन अब ऐसे भी ब्राह्मण मौजूद हैं जो इस कलंक को मिटाने के लिए आगे आए हैं। उन्होंने बताया कि यदि ब्राह्मणों ने इस बुराई को जिंदा रखा है तो ऐसे समाज सुधारक भी पैदा किए

हैं जो इसे मिटाने के लिए प्राण-प्रण से जुटे हुए हैं।

चन्दावरकर दिल से अच्छे आदमी थे और अस्पृश्यता और जाति व्यवस्था के विरुद्ध थे, लेकिन उनकी ब्राह्मणों की तरफदारी किसी को पसंद नहीं आई कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एक शीर्ष नेता ऐसी बात कहता है। अब अछूतों के उत्थान की बात केवल ब्राह्मण वर्ग तक ही सीमित नहीं थी, वरन् इस मानवीय सामाजिक कार्य में अन्य वर्गों के लोग भी आगे आकर कार्यरत थे। दूसरी ओर पुरोहित वर्ग तथा ऊंची जातियों के लोगों पर नेताओं और समाज सुधारकों का कोई विशेष असर नहीं हो रहा था। सदियों पुरानी ऊंच-नीच की भावना और जातीय श्रेष्ठता की मान्यताएं इतनी जल्दी खत्म होने वाली नहीं थी। देश में व्यापक संवैधानिक सुधार, राजनीतिक उथल-पुथल और सामाजिक सुधारों की शृंखला जारी थी। मुस्लिम वर्ग गोलबंद था। धर्म परिवर्तन की घटनाएं बेधड़क होती रहती थीं। जनसंख्या के आंकड़े इसके गवाह थे। दुर्भाग्य से उपनिवेशवादी ताकतें यथास्थिति बनाने में अपनी भलाई समझती थीं। हिंदू-मुसलमान दोनों की पीठ थपथपाना उन्हें आता था। तब तक मुसलमान, सिख और जाटों ने सेना-पुलिस में जगह बना ली थी और महार अछूतों का निष्कासन जारी था।

भारतीय दलित वर्ग मिशन सोसायटी
(डिप्रैस्ड क्लासेज मिशन सोसायटी ऑफ इंडिया)

सर नारायण चन्दावरकर की अध्यक्षता में आगे चलकर भारतीय दलित वर्ग मिशन सोसायटी की 18 अक्टूबर, 1906 में स्थापना हुई। मिशन का मुख्य कार्य अछूतों की दशा में सुधार और व्यापक शिक्षा प्रचार था। उन पर होने वाले अत्याचारों की रोकथाम, विधर्मियों की धर्म-परिवर्तन की चालों को नाकामयाब करना और उनमें जागृति लाना मिशन के कार्यों में शामिल थे। चन्दावरकर की अध्यक्षता में 11 नवंबर, 1917 को दलित जातियों का एक विशाल अधिवेशन संपन्न हुआ। जिसमें अछूतों की कई मांगें रखी गईं। 1917 में ही जब कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन संपन्न हुआ तो उसमें भी दलित सम्मेलन की मांगों को दुहराया गया।[29] इस प्रकार सन् 1917 का कांग्रेस प्रस्ताव अछूतों के प्रश्न को राष्ट्रीय समस्या का रूप देने में समर्थ हुआ।

संदर्भ-टिप्पणियां

1. चंचरीक, कन्हैयालाल : महात्मा ज्योतिबा फुले, (भारत सरकार का प्रकाशन), पृ. 26
2. शुक्ल, रामलखन, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 350-351 (अयोध्यासिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, पृ. 33 पर आधारित)
3. शुक्ल, रामलखन द्वारा उद्धृत पृ. 371 (वी.सी. जोशी : राममोहन एंड दि प्रोसेस ऑफ मॉडर्नाइजेशन इन इंडिया तथा नेहरू मेमोरियल म्युजियम एंड लाइब्रेरी द्वारा अक्टूबर 1972 में आयोजित विचार गोष्ठी के आलेखों के आधार पर)
4. जाटव, डी.आर. : इवोल्यूशन ऑफ इंडियन सोशल थॉट, पृ. 258

5. वही, पृ. 258 (बी.बी. मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ इंडियन सोशल एंड पालिटिकल आइडियाज से उद्धृत)
6. **मुर्डोच**, जे. : रिव्यू ऑफ कास्ट इन इंडिया, पृ. 90-91
7. दृष्टव्य : फड़के, य. दि., पृ. 299 (गांधी और अम्बेडकर में गणेश मंत्री द्वारा पृ. 133 पर उद्धृत) तथा कांस्टेबिल, फिलिप : अर्ली दलित लिटरेचर एंड कल्चर इन लेट नाइनटींथ एंड अर्ली ट्वैटीयथ सेंचुरी वैस्टर्न इंडिया (लंदन विश्वविद्यालय, 1991) पृ. 1-27
8. **खैरमोडे**, सी.बी. : डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर चरित्र–द्वि.खं., बंबई, 1968, पृ. 218-221
9. रायकर, सीताराम : आम्ही पहिलेले फुले, पूना, 1981 पृ. 37
10. रायकर, पृ. 16-17
11. पाटिल, महात्मा ज्योतिराव फुले, पृ. 137
12. रमेश धावरे के कथनानुसार पूर्व फौजी वलंगकर कबीरपंथ में दीक्षित संत थे, जिनके विषय में फुले ने अपने पत्र में लिखा है जो अप्रैल, 1883 का है। महात्मा फुले समग्र वाङ्मय, शेतकरयांचा आसूद, परिशिष्ट 2, कबीर पंथी शूद्र साधु : संपा. धनंजय कीर एवं एस.जी. मत्से।
13. खैर मोड़े, सी.बी., पृ. 219
14. 'दीनबंधु' को लिखा वलंगकर का पत्र, 20 मई, 1894 पृ. 3
15. फुले की नवंबर 1890 में मृत्यु के उपरांत, सितंबर 1895 में अस्पृश्यता के कारण महार, चम्भार और ढोर, सत्य शोधक समाज की भवानी पेठ, पुणे में हुई बैठक में बहिष्कृत कर दिए गए थे। निष्कासन पर 'दीन बंधु' (दिनांक 25 सितंबर 1895) में 'एस' अक्षर से हस्ताक्षर किए गए थे।
16. ढाले, राजा : दलित साहित्य ची पूर्वाधार, धम्मलिपि (1 मई, 1988)
17. वलंगकर, गणेश बाबा : विनंति पत्र (बंबई, 1888) (पुरोगामी सत्य शोधक द्वारा सितंबर 1979 में पुनर्प्रकाशित) वलंगकर ने हिंदू धर्म दर्शन भी लिखी (यह शायद अप्रकाशित ही रही); देखें धनंजय की : महात्मा ज्योति फुले, बंबई, 1946, पृ. 217-218 एवं खैरमोड़े–डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर–चरित्र-III, बंबई, 1964, पृ. 21 (सभी उद्धरण कांस्टेबिल द्वारा उद्धृत)
18. फड़के, य.दि. : विसाव्या शतकातील महाराष्ट्र, खंड 2 पृ. 299 (गणेश मंत्री द्वारा उद्धृत, पृ. 134)
19. उपरोक्त, पृ. 299
20. उपरोक्त, पृ. 303 (गणेश मंत्री, पृ. 134-135)
21. जाटव, पृ. 258-259
22. सर हर्बर्ट रिजले की जनगणना (1901) विषयक टिप्पणी
23. यूरलोवा द्वारा 'शिडयूल्ड कास्ट्स इन इंडिया' (पृ. 21-22) में 'डिप्रैस्ड क्लासेज इन इंडिया : एन इन्क्वायरी इन्टू दियर कंडीशन्स' से उद्धृत।
24. वही, पृ. 22
25. वही, पृ. 23
26. वही, पृ. 24
27. वही, पृ. 24-25
28. वही, पृ. 18
29. वही, पृ. 20

4

जातिगत चेतना और दलित आंदोलन

जातिगत आंदोलन

बीसवीं सदी के प्रारंभिक चरण में पाश्चात्य नवजागरण से प्रभावित सामाजिक सुधारों के प्रति आस्थावान् प्रगतिशील बुद्धिजीवियों का एक वर्ग पनपने लगा था। लोगों में देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना के विचार पनप रहे थे। नए आर्थिक ओर व्यावसायिक स्रोतों की उपलब्धता और शिक्षा एवं अनुकरण की प्रवृत्ति ने संपन्न दलित और गैर-ब्राह्मण मध्यम दर्जे की जातियों में संस्कृतीकरण के भाव भर दिए। वे अपने जातीय संगठन बनाने और उनके सुदृढीकरण में प्रवृत्त हुए। अपनी-अपनी जातीय संस्कृति, इतिहास जानने की ललक उठी और समाज में स्थान पाने की व्याकुलता बढ़ी, त्रिवर्णो ने सदैव उन्हें उपेक्षित समझा था। अब वे अपनी पहचान के लिए जागरूक हो उठे। इससे जातिगत चेतना और दलित आंदोलन के सही रंग निखरे। निसंदेह, बीसवीं सदी में आरंभिक दशकों का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण था—जाति सभाओं, समितियों एवं आंदोलनों का फैलाव। ऐसे संगठन मुख्यतः मंझोली (और कभी-कभी निम्न) जातियों के पर्याप्त छोटे शिक्षित समूहों द्वारा संगठित किए जाते थे। व्यवसाय अथवा नौकरियों की होड़ में देर से शामिल होनेवाले इन लोगों को लगता था कि इस क्षेत्र में पहले से स्थापित ब्राह्मणों एवं अन्य उच्च जातियों के विरुद्ध संघर्ष की दृष्टि से एकत्रित होने के लिए जाति एक उपयोगी साधन हो सकती है। सर्वप्रथम ब्राह्मण एवं अन्य उच्च जातियां ही अंग्रेजी शिक्षा से लाभान्वित हुई थीं। कैंब्रिज संप्रदाय के इतिहासकारों का इस गुटवादी पक्ष पर बल देना अनपेक्षित नहीं है, किंतु समाजशास्त्रियों की प्रवृत्ति इन जातिगत आंदोलनों को संस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा कुछेक जातियों की ऊर्ध्वगामी गतिशीलता से जोड़ने की रही है। कभी-कभी वे इनको 'परंपरा' एवं 'आधुनिकता' के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी भी मानते हैं। महाराष्ट्र के गैर-ब्राह्मण आंदोलन से संबंधित एक ताजा अध्ययन में गेल ओम्वेद्त ने एक तीसरा ही दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार ये जातिगत-संघर्ष सामाजिक-आर्थिक एवं वर्गीय तनावों की विकृत किंतु महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति थे। यह दृष्टिकोण संस्कृतीकरण की धारणा को अत्यंत संकीर्ण मानता

है क्योंकि इससे महाराष्ट्र के 'सत्यशोधक समाज' अथवा तमिलनाडु के 'आत्म-सम्मान आंदोलन' जैसे जुझारू और लोकप्रिय जाति-विरोधी आंदोलनों की व्याख्या नहीं की जा सकती।

यद्यपि बंगाल जैसे प्रदेशों में जातिगत समितियों का होना विरल बात नहीं थी (1908 में राष्ट्रीय आंदोलन के धीमे पड़ जाने के बाद इन्हें अधिक प्रमुखता मिलने लगी थी), तथापि दक्षिण भारत और महाराष्ट्र में इन समितियों ने कहीं अधिक सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व प्राप्त कर लिया था। इन क्षेत्रों में ब्राह्मणों का स्पष्ट आधिपत्य था और जातिगत कट्टरता भी कहीं अधिक थी। (उदाहरण के लिए, केरल में न केवल नीची जाति के लोगों का स्पर्श अपितु उनका दर्शन भी अपवित्र करनेवाला माना जाता था)। दक्षिणी तमिलनाडु में नाडारों को अछूत माना जाता था। उन्नीसवीं सदी के अंत में रामनाड जिले के कस्बों में इस जाति के समृद्ध व्यापारियों का एक समूह उभरा जो शैक्षिक एवं समाज-कल्याण की गतिविधियां चलाने के लिए धन एकत्रित करता था, आचार-व्यवहार का अनुकरण करता था। 1910 में इस समूह ने **'नाडार महाजन संगम'** की स्थापना की। संस्कृतीकरण की बात यहां समीचीन प्रतीत होती है, किंतु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस ऊर्ध्वगामी गतिशीलता ने तिरुनेलवेली के नीची जाति के गछवाहों को शायद ही प्रभावित किया हो। उन्हें अभी तक उनके पुराने जाति-नाम 'शनार' द्वारा ही संबोधित किया जाता था जबकि रामनाड जिले में रहनेवाले उन्हीं के अधिक सफल भाई-बंधुओं ने 'नाडार' कहलाने का अधिकार प्राप्त कर लिया था।[1]

निम्न पंक्तियों में कुछ प्रमुख दलित और गैर-ब्राह्मण जातियों के जातिगत चेतना और आंदोलनों पर प्रकाश डाला गया है :

I.
उत्तर भारत

उत्तर भारत में शूद्र–अछूत

सन् 1857 के प्रथम सिपाही विद्रोह से लेकर सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के मध्य लगभग साढ़े आठ दशक तक उत्तर भारत के शूद्र, दलित और अछूतों ने भारत की स्वतंत्रता के लिए सक्रिय रूप से भाग लिया है। इसके अनेक ऐतिहासिक प्रमाण और साक्ष्य मौजूद हैं। लेकिन इतिहासकारों ने वर्ग चेतना के रूप में इसका निरूपण नहीं किया।

समय के फेर से पिछड़े और अस्पृश्य जातियों के लोग भूमिहीन मजदूर हो गए और बहुत थोड़े लोगों के पास जमीन बची। वे लोग अधिकांशतया ग्राम शिल्प और कुटीर उद्योगों में प्रवृत थे, जिन्हें आजादी के बाद उच्च स्तरीय मशीनी औद्योगिक क्रांति ने कुचल दिया जिसकी शुरुआत 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हो गई थी।[2] छोटी जोत के किसानों से दलित-अछूत ग्राम शिल्पियों की आर्थिक सामाजिक स्थिति अच्छी थी। ब्राह्मण भीख मांगते थे। शिक्षा प्राप्त कर वे नौकरियां पाने में सफल हो गए तो उनकी स्थिति सुदृढ़

हो गई। राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्रता के बाद उनकी कायापलट हो गई। कुछ जातियों को छोड़कर अधिकतर दलित जातियां कमजोर हो गई। शिक्षा, संस्कृतिकरण और संवैधानिक संरक्षण से उत्तर भारत में जाटव ऐसी आदर्श दलित जाति है जिसका उत्कर्ष हुआ है।

उत्तर भारत के दलित : जाटव उत्कर्ष

उत्तर भारत के दलित आंदोलन में आगरा आंदोलन का एक विशेष महत्त्व है। जातीय आंदोलन और संस्कृतीकरण से शुरू होकर इसने समाज में अपनी पहचान बनाई। **ओवन एम. लिंच**[3] ने कोलंबिया विश्वविद्यालय के अंतर्गत आगरा के जाटवों के संदर्भ में शोध प्रबंध लिखा जिसे उन्होंने 'अस्पृश्यता की राजनीति' शीर्षक दिया। यह निसंदेह आगरा आंदोलन था जिसने पूरे उत्तर भारत की जाटव जाति को प्रभावित किया। शोधकर्त्ता लिंच 1963-64 के दौरान यहां आए और फील्ड वर्क किया। विश्व और भारत के समाजशास्त्रियों ने उनके इस एक दलित जाति के उत्कर्ष विषयक शोध को तथ्यपूर्ण स्तरीय अध्ययन माना और विश्व भर में इसकी सराहना हुई। 20वीं सदी के प्रारंभ में ही इस समाज में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी। कई दशक तक जाटव जाति के प्रतिष्ठित धनी लोग आर्य समाज से प्रभावित होकर उच्च जातियों जैसी मानसिकता से ग्रसित रहे। ओवन एम. लिंच ने अपने अध्ययन के प्रारंभिक पृष्ठों में यही सिद्ध करने की कोशिश की है। निसंदेह, जाटव जाति पश्चिमी उत्तर प्रदेश की एक प्रगतिशील-दूरदर्शी, उद्यमी जाति है, जो बदलते सामाजिक-शैक्षिक, राजनीतिक परिदृश्य में सदैव शीर्ष पर रहती है।

जाटव समुदाय के आगरा आंदोलन का शानदार इतिहास का एक रोचक अध्याय दलित मुक्ति आंदोलन जुड़ा हुआ है। लिंच के अनुसार—

> ''उत्तर भारत, विशेषतया आगरा के जाटवों में आर्य समाज से प्रभावित संस्कृतीकरण की प्रक्रिया सन् 1900 के आसपास ही प्रारंभ हो गई थी, जब सेठ सीताराम और सेठ मानसिंह जैसे जाटव बिरादरी के धनी मानी व्यक्ति स्वामी आत्माराम के संपर्क में आए। स्वामी ने 1887 में ज्ञान-समुद्र पुस्तक लिखी थी जिसमें यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि लोमश रामायण के आधार पर जाटव वंश शिव के गोत्र से संबंधित है इसलिए वे क्षत्रिय हैं और अछूत नहीं। सुप्रसिद्ध दलित लेखक रामनारायण यादवेन्दु ने 'यदुवंश के इतिहास' (1942 पृ. 98) में इसका उद्धरण दिया है।
>
> ऐसा कहा जाता है कि लोमश रामायण नेपाल में उपलब्ध हैं। स्वामी आत्माराम की प्रेरणा से जाटवों में संस्कृतीकरण की जब भावना जाग्रत हुई, तब समाज आर्थिक रूप से मजबूत था। उक्त दोनों सेठों ने आगरा नगर के जाटवों की पंचायत बुलाई और दृढ़ निश्चय किया गया था कि जाटव मांस नहीं खाएंगे। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू के दो दशकों में समाज के कुछ ठेकेदारी के कार्य में प्रवृत्त लोगों ने अपने

बच्चों को ईसाई स्कूलों, आर्य समाज की पाठशालाओं और सरकारी विद्यालयों में शिक्षा दिलाई। सन् 1917 में उन्होंने 'जाटव वीर महासभा' (जाटव मैन्स एसोसिएशन) का गठन किया। बाद में 1924 में 'जाटव प्रचारक मंडल' गठित किया गया। इन संगठनों का मूल उद्देश्य जाटवों में शिक्षा का प्रचार, जीवन में संस्कृतीकरण और अपनी पहचान में परिवर्तन लाने के लिए प्रयास करना था। शिक्षा पर बुनियादी तौर पर अधिक ध्यान दिया गया।''

यहां यह उल्लेखनीय है कि कोहन (1954 : पृष्ठ 127) ने भी पूर्वी उत्तर प्रदेश के सेनपुर गांव के जैसवार चमारों में इसी तरह की प्रवृत्ति का अध्ययन किया है।

सबसे पहली समस्या जाटवों में जागृति लाना था ताकि वे जाति की नई परिभाषा से परिचित हों और समाज में सम्मान के अधिकारी बनें। जाटव वीर महासभा के संज्ञान में यह बात आई कि कुछ ऊंची जातियों के लोग उनकी शिक्षा में बाधक हैं। जो उनको सताते हैं और भ्रम फैलाते हैं कि बच्चों को शिक्षा देने से पाप लगेगा। वे यह नहीं समझते थे कि शिक्षा और ज्ञान से एक व्यक्ति कितना ऊंचा उठ सकता है (सागर : 1924)।[4]

सागर ने लिखा है कि :

''सन् 1924 में प्रकाशित 'जाटव जीवन' नामक पुस्तक में उन्हें क्षत्रिय कहा गया था। सन् 1942 में रामनारायण यादवेन्दु ने 'यदुवंश का इतिहास' लिखकर इसकी सोदाहरण पुष्टि की (वे आगरा निवासी स्वयं जाटव जाति के ऊंचे दर्जे के लेखक और पेशे से वकील थे)। पहले की पुस्तक में दर्शाया गया था कि जाटव अछूत नहीं हैं। सागर ने 1924 में ही यह सिद्ध करने की कोशिश की जाटव जाति पवित्र और महानतम जातियों में से एक है।

जाटवों को ऊंची जाति का दर्जा देने का यह आंदोलन आर्य समाज से प्रभावित था जो वैदिक परंपराओं का अनुगामी था। जाटवों ने शुरू में उनकी रीति-नीति, परंपराओं, विश्वासों की नकल करने की कोशिश की। इसका सीधा अर्थ था मांस खाने की मनाही और वैदिक संस्कारों को अपनाने की परंपरा की शुरुआत। साथ ही जनेऊ धारण करने पर भी जोर दिया गया। इस प्रकार शताब्दी के दशकों में जाटव समाज आर्य समाज के प्रभाव में हाथ पैर मारता रहा।

1885 में नेसफील्ड ने यह बात देखी थी कि उत्तर भारत में क्षत्रिय बनने का सिलसिला अब भी जारी है जोकि लगभग विगत 200 वर्षों से होता आया था।

क्षत्रिय के रूप में जाटव जाति द्वारा आत्म-पहचान का प्रमुख उद्देश्य क्षत्रियों में घुलना मिलना और अंतर्जातीय विवाह नहीं था। वरन् अपनी एक प्रभावी हैसियत और इस प्रकार जाति व्यवस्था के अंतर्गत ऊंचा दर्जा प्राप्त करना था। इसलिए एक मान्य वंश परंपरा द्वारा इस दावे को सिद्ध करना भी जरूरी था। इसीलिए कहा गया कि जाटव 'यदु कुल' और 'क्षत्रिय वर्ण' के हैं।

प्राचीन भारत की यादव और जाटव प्रजाति में बहुत सी समानताओं का

भी उदाहरण दिया गया। गोत्रों की समानता भी बताई गई। क्षत्रियों जैसी परंपराओं और रीति-रिवाजों का भी हवाला दिया गया जैसे कि शादी के अवसर पर निशानेबाजी और जन्म-समारोह पर धनुष-बाण का प्रयोग। जाटवों को यह भी बताना पड़ा कि वे क्षत्रिय से शूद्र कैसे बने? इसके लिए ब्राह्मण परशुराम की कथा का उदाहरण दिया गया! कि ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच संघर्ष में केवल जाटव ही जीवित बचे थे। परशुराम के शाप से बचने के लिए ही उन्हें जूतियां बनाने और ठेकेदारी (भवन निर्माण) का कार्य करना पड़ा। सागर (1924) के अनुसार जाटवों का तर्क था कि उनका पूरा इतिहास मिट गया है कि क्योंकि परशुराम और उनके शिष्यों ने योद्धा क्षत्रिय जाति से बैर किया था। सब क्षत्रिय मारे गए थे।

एक प्रकार से जाटव सामाजिक नक्शे पर जाति-भेद को मिटाने के लिए नहीं वरन् जाति के लिए ऊंचा दर्जा पाने के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होंने गुलिया चमारों से अपने को अलग बताया कि वे कतई जाटव नहीं हैं। क्योंकि न तो जाटव चमार हैं और न अस्पृश्य। जबकि कट्टर सनातनी ब्राह्मणों ने जोकि वर्ण व्यवस्था के परिपोषक रहे हैं उन्होंने परशुराम वाले प्रसंग को काल्पनिक बताया।"[5]

उत्तर भारत में सन् 1925 1930 में स्वामी अछूतानंद ने आदि हिंदू आंदोलन चलाया। **जिज्ञासु** (1960) और **स्टीफन फुच** (1965) ने इसके बारे में ऐतिहासिक विवरण एकत्रित किया है। यद्यपि दलित आंदोलन के अध्येताओं के अनुसार यह आंदोलन उत्तर भारत में पैर नहीं जमा सका। फिर भी इस आदि हिंदू आंदोलन के मानने वाले पूरे उत्तर प्रदेश में फैले हुए थे। स्वामी अछूतानंद आगरा में पढ़ा चुके थे। जब उन्होंने यह आंदोलन यहां चलाया तो उनके क्रांतिकारी विचारों के विरोध में 'जाटव क्षत्रिय महासभा' के लोगों ने जैसा कि कहा जाता है उन पर पथराव किया और उन्हें भगा दिया। स्वामी जी का विचार था कि अस्पृश्य और अनुसूचित जाति के लोग यहां के मूल निवासी हैं और विदेशी आक्रांताओं ने जाति-व्यवस्था उन पर थोपी है। उन्होंने जातिवाद का विरोध किया और उसे उखाड़ने के लिए लोगों का आह्वान किया। उनके कुछ ईसाई मिशनरी अच्छे मित्र थे, लेकिन उन्होंने ईसाई धर्मांतरण की बात कभी नहीं कही। आर्य समाज से प्रभावित जाटव उनके विरुद्ध थे। स्वामी जी ने अन्य निम्न जातियों के साथ अंतर्जातीय विवाह की भी बात कही। जाटवों ने इसका भी विरोध किया कि हम दूसरी जातियों और धर्मों में नहीं घुल-मिल सकते। हम अपने उन जाटव भाइयों की तरह भी नहीं है जिन्होंने ईसाई धर्म अंगीकृत कर लिया है।

बीसवीं सदी में जाटव-क्षत्रिय आंदोलन के नए नेता वे जाटव धनी-मानी लोग थे जो दूसरी क्षत्रिय जातियों के चौधरियों के समानांतर थे। ये 'बड़े आदमी' जाटव जाति के संस्कृतीकरण के फायदों से प्रभावित थे। वे थोड़े पढ़े लिखे थे, लेकिन पूर्णरूपेण शिक्षित नहीं थे। वे व्यापारी ठेकेदार जरूर थे और धनार्जन कर लिया था। संस्कृतीकरण के कारण उन्हें सेठ और बोहरे कहा जाता था, कुछ व्यापारी, कुछ पढ़े-लिखे आदमी कहलाते थे। ऐसा दर्जा अक्सर ऊंची जातियों के लोगों को प्राप्त था और जाटवों को नहीं। आगरा

में प्रथम जाटव कांफ्रेंस 28 अक्टूबर 1917 को पं. सुंदर लाल सागर की प्रेरणा से आयोजित की गई थी। इस सभा में 'अखिल भारतीय जाटव सभा' की स्थापना हुई। बोहरे खेमचंद, एम.एल.सी. इसके अध्यक्ष और सेठ बनवारी लाल मंत्री चुने गए।[6]

सन् 1920 में ही 'जाटव वीर महासभा' (जाटव मैन्स एसोसिएशन) ने अपने एक सदस्य बौहरे खेमचंद को उत्तर प्रदेश लेजिस्लेटिव काउंसिल का सदस्य बनवाया। वे दो बार इसके सदस्य बने। खेमचंद ने कौंसिल में यह मांग की कि–

> "उनके 'समुदाय' के एक व्यक्ति को जिला परिषद में लिया जाए। उनकी मांग/प्रस्ताव मान लिया गया और उत्तर प्रदेश की तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने एक सदस्य नामित किया जो 1922 से 1930 तक आगरा जिला परिषद का सदस्य बना रहा। बौहरे ने फिर प्रस्ताव रखा कि उसके समुदाय (जाटव बिरादरी) के एक-एक सदस्य को उत्तर प्रदेश के हर म्युनिस्पिल बोर्ड, टाउन एरिया, नोटीफाइड एरिया में सदस्य नामित किया जाए। उनकी तत्कालीन उदार ब्रिटिश सरकार यह मांग भी मंजूर कर ली। बौहरे को भी आगरा म्युनिस्पिल बोर्ड का सदस्य बनाया गया जहां वे 1926 से 1928 तक सदस्य रहे।
>
> सन् 1926 में उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि जाटव (अथवा अछूत) विद्यार्थियों को सभी विद्यालयों में वजीफे दिए जाएं। बाद में उन्होंने सरकार से आश्वासन मिलने के बाद कि इस मामले पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाएगा अपना प्रस्ताव वापिस ले लिया। बौहरे बाद में जिला परिषद की आगरा केंद्रीय कारागार समिति के सदस्य बनाए गए। इसी के अंतर्गत उन्हें आबकारी समिति, हाउसिंग समिति का भी सदस्य नामित किया गया। सबसे बड़ी बात है बौहरे ने साइमन कमीशन (1928) के समक्ष अपना साक्ष्य दिया।
>
> इस व्यवस्था से जाटव जाति के एक सदस्य को समाज में दर्जा तो मिला यद्यपि उन्हें कोई सीधे सत्ता नहीं मिली थी। लेकिन वे अपने लोगों की आवाज उठा सकते थे। 'जाटव वीर महासभा' में आपसी मतभेद इतने बढ़े कि इसे समाप्त कर दिया गया। यद्यपि आगरा और प्रदेश के अन्य जिलों में यह एक आंदोलन के रूप में फैल चुका था।"[7]

जाटवों में 20वीं सदी के तीसरे दशक में शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ। सन् 1926 में जाटव समुदाय का पहला ग्रेजुएट हुआ। सन् 1939 में जाटव जन शिक्षा संस्थान (जाटव मैन्स एजूकेशनल इन्स्टीट्यूट) बना। आगरा में इसके तत्त्वावधान में पांच बाल विद्यालय और एक बालिका विद्यालय चलते थे। इस संस्थान ने राजा मंडी, आगरा में एक पुस्तकालय भी खोला जिसमें हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी में पत्र-पत्रिकाएं आती थीं और 229 पुस्तकें थीं। पंजा मदरसा, आगरा में एक दूसरा जाटव बालिका विद्यालय लेडी कैलाशवती गर्ल्स स्कूल सन् 1935 में खोला गया। संस्थान ने सन् 1939 में आगरा कालेज के विद्यार्थियों के लिए एक होस्टल खोला। यादवेन्दु ने 'यदुवंश का इतिहास' नामक पुस्तक के पृष्ठ 229 और 239 पर इसका जिक्र किया है। इससे समाज के शिक्षित युवकों को सरकारी कार्यालयों

में लिपिक, कर संग्राहक (तहसीलदार) आदि पद मिल गए। एक व्यक्ति डी.एस.पी. भी बना। 1930 में 'जाटव युवक परिषद' (जाटव यूथ लीग) की स्थापना हुई।

अप्रैल 1930 में रामस्वरूप ठेकेदार ने 'भारतवर्षीय जाटव युवक परिषद बनाई। 1935-1937 में बदले राजनीतिक संदर्भों में संस्कृतीकरण से राजनीतिकरण की हवा चली और जाटवों ने इसे बदल कर 'अखिल भारतीय युवक परिषद' का नाम दिया और समाज सुधारों की ओर ध्यान दिया। सन् 1941 तक **'जाटव यूथ लीग'** (जाटव युवक परिषद) की शाखाएं अन्य प्रदेशों जैसे राजस्थान, पंजाब, मध्य भारत आदि में स्थापित हो गई थीं। सन् 1937 और 1938 में यह प्रस्ताव भी पारित किए गए कि यह परिषद संवैधानिक और शांतिपूर्ण तरीके से राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहेगी। एक अन्य प्रस्ताव में मांग की गई कि इस परिषद का यह सम्मेलन प्रांतीय विधानसभाओं के जाटव सदस्यों से यह भी मांग करता है कि भले ही वे किसी भी राजनीतिक दल में हों वे अपनी जाति के हित के लिए मतदान करेंगे (यादवेन्दु 1942 : पृ. 163)।[8]

निसंदेह, जाटव समाज के जो लोग दफ्तरों में बाबू, तहसीलदार (कर-संग्राहक) या डी.एस.पी. के पदों पर नियुक्त हुए उससे समाज की हैसियत बढ़ी। लेकिन 'जाटव-क्षत्रिय आंदोलन' 'आदि हिंदू आंदोलन' के सख्त खिलाफ था और एक प्रस्ताव के जरिए 'जाटव युवक परिषद' ने सदस्यों को आगाह किया कि वे इससे अलग रहें (यादवेन्दु 1942 : पृ. 147)

सन् 1930 के दौरान **'जाटव युवक परिषद'** ने जब इंगलैंड में गोल मेज सम्मेलन हो रहा था डॉ. अम्बेडकर को अस्पृश्य समाज का नेता माना और गांधी को दलितों का नकली खैरख्वाह कहा गया। जाटव समाज के इन बड़े लोगों ने 1932 में गांधी और अम्बेडकर के मध्य अलग निर्वाचन मंडल को लेकर जो संघर्ष था उस पर अम्बेडकर का पक्ष लिया। तार द्वारा लंदन में भी यही समाचार भेजा गया। अस्पृश्यता की समस्या को आगरा ही नहीं वरन् प्रदेश और राष्ट्रीय स्तर पर समान माना गया।[9]

सन् 1920 में जाटव जाति के लोगों ने एक बड़ा प्रदर्शन आयोजित किया था क्योंकि बेलनगंज आगरा के करनसिंह नामक जाटव को ऊंची जाति के लोगों ने पीट-पीट कर मृत्यु की गोद में इसलिए धकेल दिया था कि उसने पका हुआ भोजन उनकी जाति के व्यक्ति को खिला दिया था। उन दिनों पानी की प्याऊओं पर बांस की नली से दलितों-अस्पृश्यों को पानी पिलाया जाता था। इसका भी जाटवों ने विरोध किया। करनसिंह को जाटव उत्तर भारत का पहला शहीद मानते हैं।[10]

1930 में जाटव समुदाय के बड़े लोगों ने 'जाटव' शब्द को प्रांतीय और केंद्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत करने के लिए मांग की। सन् 1931 में जनगणना आयुक्त और वायसराय से इस संबंध में मांग की गई। जब 1935 की सूची में जाटवों को सरकारी सूची में नहीं लिया गया तो अपनी मांगों को लेकर एक आंदोलन चलाया गया कि : (1) जाटवों को एक अलग जाति के रूप में लिखा जाए—न कि चमारों की सूची में उन्हें सम्मिलित किया जाए। (2) जनगणना में 'जाटव' एक अलग जाति गिनी जाए। (3) उत्तर

प्रदेश सरकार ब्रिटिश सरकार से यह सिफारिश करे कि जाटव जाति को अनुसूचित जाति माना जाए।

एक बार फिर जाटवों ने कहा कि वे चमार नहीं है और उन्हें चमारों से पृथक समझा जाय। इस विषय में दिसंबर 18.09.1938 में भारत सचिव को लंदन में पत्र भेजा गया। 'अखिल भारतीय जाटव यूथ लीग' (1938) के अनुसार सरकार से मांग की गई कि जाटवों को अनुसूचित जातियों में पृथक् से गिना जाए। इस विषय में एक प्रतिनिधि मंडल उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री गोविन्द वल्लभ पंत से भी मिला। उत्तर प्रदेश विधानसभा के दो जाटव सदस्यों में से एक ने सरकार से मांग की कि जाटव, दलित और सत्ता विहीन हैं। एक ज्ञापन जिसमें 6000 जाटवों के हस्ताक्षर थे, लंदन में भारत सचिव को इसी आशय के पत्र के साथ भेजा गया। सरकार ने सभी मांगें मान लीं। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ने और स्वतंत्रता आंदोलन के चलते इन निर्णयों पर पूरी तरह अमल नहीं हो सका।[11]

अपने को आदि धर्मी कहने वाले हिंदुओं के विपरीत जाटवों ने जाति प्रथा के अंतर्गत ऊपर उठने की कोशिश की। उस समय उनका मूल उद्देश्य और समस्त सामाजिक कार्य व्यापार जातिभेद को समाप्त न कर उसी के अंदर प्रगति का रास्ता तलाश करना था।

आगरा में अधिकांश जाटव जूता उद्योगरत थे जो सबको दिखाई देता था। इसलिए चमार जाति की जो सामाजिक हैसियत थी उससे जाटव अलग क्षत्रिय बताने की प्रक्रिया में लगे रहे। जूता निर्माण उद्योग उनका दृढ़ आर्थिक आधार था जो पूर्णरूपेण दृश्यमान् था इसलिए बाहरी दुनिया उन्हें चमार के रूप में चिह्नित करती रही। यदि वे इस प्रदूषण युक्त उद्योग से विलग हो जाते तो निसंदेह उनका नया प्रभावी स्तर ऊंचा उठता।[12]

सन् 1930 और 1940 के प्रारंभ में स्वतंत्रता आंदोलन, प्रजातंत्र, व्यक्ति स्वातंत्र्य की लहर इस समाज तक भी पहुंची। यद्यपि द्वितीय विश्वयुद्ध की छाया ने इन उद्घोषों को ढंक लिया। सन् 1944-45 में 'आगरा परिगणित जाति संघ' की स्थापना हुई और उसे डॉ. अम्बेडकर के संघ से संबद्ध किया गया। जाटवों में यहां से एक नयी धारा, जनजागृति का संदेश प्रस्फुटित हुआ। उनकी एक नयी परिभाषा और नई पहचान बनी। परिणामस्वरूप उन्हें अस्तित्व हेतु अनुसूचित जातियों में पहचान बनानी पड़ी, जो समाज में बहिष्कृत, प्रताड़ित, चेतना-शून्य, और दलित थे।

अनुसूचित वर्गों की ये विशेषताएं (या दुर्बलताएं) नव-जाटव छवि का आधार बन गईं और क्षत्रियत्व के मोह से उन्हें विलग होना पड़ा। जाटवों ने अब अपने को अस्पृश्य जातियों में पाया जिन्हें सवर्ण पहले ही अछूत समझते थे।[13] एक प्रकार से आर्य समाज, शुद्धि आंदोलन तथा अन्य सामाजिक अनुकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत संस्कृतीकरण की जो हवा शूद्र-अछूत जातियों में बह रही थी वह थम गई। खटीक जाति 'सोनकर' या 'सोमवंशी क्षत्रिय', कोरी 'तंतुवायवैश्य', 'माहौर', 'महावर वैश्य' अथवा 'कोली राजपूत', 'ओढ राजपूत', तेली 'साहू', 'अहेरिया', 'हैहयवंशी क्षत्रिय', धोबी 'चंद्रवंशी', 'वर्मा', कुम्हार 'प्रजापति' कहने में गौरव अनुभव करते थे। उन्होंने या आत्म-मंथन शुरू कर दिया।

सन् 1932 के पूना पैक्ट, सन् 1935 के भारत अधिनियम, इसके अंतर्गत सन् 1937

के विधान सभा चुनाव, द्वितीय विश्वयुद्ध और इस बीच के कांग्रेस आंदोलनों ने पूरे देश में एक नया देशभक्ति का जोश, देश के पुनर्निर्माण और एक नए भारत की संरचना का वातावरण पैदा कर दिया था। जाटव इस नयी जागृति की लहर से अछूते नहीं थे। 1937 से 1950 के दौरान पूरे पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जिसमें आगरा, मेरठ, बरेली सहारनपुर आदि प्रमुख थे जाटव नवजागरण संदेश शहरों, कस्बों और गांवों तक में फैलता गया। अधिकांशतः गांवों में जाटव लोग किसान थे या खेतिहर श्रमिक। आगे चलकर उनकी जीवन शैली में भी बदलाव आया। वे भूमिधर बने। शीघ्र ही युवकों में आजादी की लड़ाई में भीड़ का हिस्सा बनने की बजाय शिक्षा पाने की होड़ लग गई इससे दलित मुक्ति का संघर्ष और भी तेज हो गया।

दलित जाति के सुधारक स्वामी अछूतानंद

उत्तर भारत में साइमन कमीशन के आगमन पर डॉ. अम्बेडकर का साथ देने वाले दलित जाति के सुधारक स्वामी अछूतानंद का जन्म छिबरामऊ तहसील, जिला फर्रुखाबाद, उ. प्र. में चमार जाति में हुआ था। उनका स्वाध्याय से अनेक भाषाओं पर अधिकार था। बीसवीं सदी के प्रारंभ में वे कांग्रेस की राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित थे, फिर अर्थ-समाज के धार्मिक समाज सुधार आंदोलन की ओर उन्मुख हुए। 1910 में वे दलितों में सामाजिक जागृति का मंत्र फूंकने के लिए नगर-नगर, गांव-गांव संगठन बनाने के लिए निकल पड़े। उनका बचपन का नाम हीरालाल था। बड़े हुए तो हरिहरानंद हुए। लेकिन अछूतों के समग्र विकास के लिए उन्होंने अपना नाम बदलकर अछूतानंद कर लिया। दलित समाज में वे आदर की दृष्टि से एक मसीहा के रूप में माने जाते हैं। उन्होंने मोतीलाल नेहरू से पत्र व्यवहार किया और सामंत-जमींदारों द्वारा भूमिहीन और छोटी जोत के दलित किसानों की बेदखली और शोषण के खिलाफ आवाज उठाई। नेहरू ने उन्हें सलाह दी कि वे आजादी की लड़ाई में अपना अमूल्य सहयोग दें और स्वराज्य प्राप्ति पर जमींदारी उन्मूलन पर विचार किया जाएगा। स्वामीजी का मानना था कि कांग्रेस में शोषक वर्ग, अस्पृश्यता के परिपोषक सवर्ण हिंदू, दलितों को सताने वाले मुस्लिम नवाब और हिंदू जमींदार, राजा-महाराजा तथा ब्राह्मणें का आधिपत्य है। यहां तक कि गांधी का अस्पृश्यता विरोधी आंदोलन दिखावा है क्योंकि वे वर्ण व्यवस्था के पक्षधर हैं। इसलिए स्वामी जी ने स्वतंत्र रूप से दलितों और अछूतों में सामाजिक, राजनैतिक चेतना के बीज बोए। आर्यसमाज, कांग्रेस, कम्युनिस्ट आंदोलन उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाए। गांधी को उन्होंने अखबार की सुर्खियों में दलित क्रांति करने वाला सवर्ण कांग्रेसी नेता कहा।

उन्होंने तबके संयुक्त प्रांत में **'आदि हिंदू आंदोलन'** खड़ा किया। हिंदू धर्म में सदियों से प्रचलित अस्पृश्यता, जाति प्रथा, सामंतवाद, सामाजिक विषमता और रूढ़ियों पर प्रहार किया। उन्होंने कहा आज हम मुट्ठी भर हैं। कल के भारत में घर-घर में हमारा समाज सुधारक और नेता होगा। भारत उनका होगा जो मेहनत करके खाएगा। उन्होंने सन् 1922

में दिल्ली में एक विशाल दलित सम्मेलन आयोजित किया और बंबई से डॉ. अम्बेडकर और कोल्हापुर से शाहू महाराज को आमंत्रित किया लेकिन वे एक-दूसरे सम्मेलन में व्यस्त होने से पधार नहीं सके।

डॉ. अम्बेडकर का मन था कि उत्तर भारत के दलितों से उनका संपर्क जुड़े। शुरू-शुरू में युवा अम्बेडकर मांग, चम्भार और महार समाज में चर्चित हुए थे। महार उनके आंदोलन , मेरुदंड रहे, लेकिन वे पूरे अछूत समाज के राष्ट्रीय स्तर के नेता थे। 1922 के अखिल भारतीय अछूत सम्मेलन, नई दिल्ली में स्वामी जी ने दलितों का आह्वान् करते हुए कहा था—

"आदिधर्मी अछूत-दलित सवर्ण हिंदुओं, संपन्न मुसलमानों और शासनकर्त्ता अंग्रेज जाति के तिहरे गुलाम हैं। गांव में वे अस्पृश्यता और दासता का शिकार हैं, शहर में उन पर बेरोजगारी की मार है। उनकी अलग गंदी बस्तियां उनकी दयनीय सामाजिक-आर्थिक स्थिति का ज्ञान कराती हैं, साथ ही हिंदू समाज के अनवरत शोषण का पता भी देती हैं जिसकी ओर ब्रिटिश राज ने ध्यान ही नहीं दिया। दलित तो मेहनतकश लोग हैं, लेकिन जाति प्रथा के कलंक और अस्पृश्यता के विष ने उन्हें डस रखा है। यह सब हिंदू समाज की मेहरबानी है, जिस पर अचरज है अभी तक अंग्रेज सरकार का पूरी तरह ध्यान ही नहीं गया।" उन्होंने गांवों में प्रचलित बेगार और बंधुआ मजदूरी प्रथा का विरोध किया। समाज सुधार की शृंखला में उन्होंने मृत्युभोज, शादियों में नाच-तमाशों पर फिजूलखर्ची, मद्य-पान, देवी-देवताओं की पूजा को तिरस्कृत किया। उत्तर भारत में साइमन आयोग के आने पर अम्बेडकर-अछूतानंद का मिलन कई अर्थों में ऐतिहासिक था। अछूतानंद ने साइमन आयोग को बताया, "हमें अंग्रेजों की हमदर्दी नहीं, सम्मान से जीने का हक चाहिए। केंद्र और राज्यों में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित हो जिसमें जनसंख्या के अनुपात से दलितों को प्रतिनिधित्व मिले और उन्हें अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिले।"

सन् 1933 में उनका कानपुर में परिनिर्वाण हुआ। उनकी शवयात्रा में हजारों नर-नारी उपस्थित थे। बीसवीं सदी के प्रथम तीन दशकों में उत्तर भारत के दलित आंदोलन में उनकी प्रभावी भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।"[14]

लेकिन जैसा कि एक अन्य स्थल पर लिखा जा चुका है—

"अछूतानंद के प्रति ईसाइयों की-भी सहानुभूति थी। यद्यपि वे आर्य समाज से प्रभावित थे लेकिन उनके क्रांतिकारी विचार आगरा के बड़े जाटव लोगों (धनी व्यक्तियों) को पसंद नहीं थे, जहां वे अध्यापकी कर चुके थे। लिंच ने लिखा कि उन्हें आगरा से खदेड़ दिया गया था।"[15] हो सकता है उनका कुछ निहित स्वार्थ वालों से पारस्परिक वैचारिक टकराव रहा हो जो सामाजिक क्षेत्र में एक मामूली बात है। वैसे भी वे बाहरी व्यक्ति माने गए।

भारत के दलित कोली और उनकी संस्कृति

सामाजिक स्थिति

पूरे भारत में गुजरात को छोड़कर कोली एक दलित-अछूत जाति मानी गई है। जाटव जाति के बाद सबसे अधिक जनसंख्या इसी जाति की है। सन् 1881 में जनगणनाकारों ने भ्रमवश कोली ओर कोरी (जो अपभ्रंश शब्द है) की अलग अलग जनगणना की थी।

गुजरात में कोली सवर्ण ठाकुर, क्षत्रिय हैं। वे बड़े जमींदार, ठिकानेदार, उद्योगपति, राजनीतिज्ञ हैं। स्वतंत्रतापूर्व के भारत में गुजरात, माही कंठा एजेंसी, बंबई एवं थाणे जिला के अंतर्गत जह्वार आदि में उनके ठिकाने, रियासतें, छोटे-बड़े राज्य थे जिनका पूरा विवरण 'मेमोरेंडम ऑन इंडियन स्टेट्स' में मौजूद है। यहां तक कि गुजरात के कोलियों ने 1857 में ब्रिटिश फौज से सशस्त्र युद्ध किए थे जिसकी वजह से भारी जान-माल का नुकसान हुआ, उनकी रियासतें—गांव, ठिकाने जब्त कर लिए गए और आग लगा दी गई थी। गुजरात के कोली पूरे विश्व में फैले हुए हैं।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप पश्चिम उत्तर प्रदेश के जो कोरी गुजरात के सूती कारखानों में काम करने गए और सौ साल से वहीं बस गए उनकी 'कोरी' जाति को वहां अनुसूचित जाति में गिना जाता है।

थाणे (महाराष्ट्र) में स्वतंत्रता पूर्व 310 वर्गमील में फैली जह्वार रियासत के महाराजा यशवंतराव मुकने कोली जाति के थे। वे भारतीय संसद के कई बार सदस्य बने और नेहरू समेत देश के कई बड़े नेताओं के साथ ग्रेट ब्रिटेन में पढ़े थे।

महाराष्ट्र में कई स्थानों पर कोली जो खेती करते हैं या समुद्री क्षेत्र में मत्स्यजीवी हैं अनुसूचित जनजाति में आते हैं और वे समूचे महाराष्ट्र में इसे अनुसूचित जनजाति के क्षेत्रीय प्रतिबंध को हटाने के लिए संघर्षरत हैं। विधानसभा सत्र के दौरान अपनी मांगों के समर्थन में हुए खूनी संघर्ष में कई लोगों की जानें तक जा चुकी हैं। थाणे में महाराष्ट्र कोली समाज का मुख्यालय है जिसके सम्मेलनों में हजारों लोग एकत्रित होते हैं। महाराष्ट्र के कोली अपनी सांस्कृतिक चेतना के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध हैं। अनेक कोली फिल्म ओर उद्योग जगत की जानी मानी हस्तियां है।

राज्यवार देखें तो हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, मध्य प्रदेश और राजस्थान में कोली एवं कोरी, महाराष्ट्र, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और त्रिपुरा में कोरी, दिल्ली में कोली, तमिलनाडु में कोलियान तथा उत्तरांचल में शिल्पकार (कोली) के नाम से ये लोग अनुसूचित जाति में गिने जाते हैं।

तरक्की के लिहाज से जैसे उत्तर भारत में जाटव या महाराष्ट्र के महार शिक्षा-सामाजिक क्षेत्र एवं राजनीति में उन्नति की हैं उसी प्रकार हिमाचल प्रदेश के 'कोली' दलित जातियों में आगे हैं। बिहार के कोली-कोरी 'तांती' नाम से जाने जाते हैं और वर्षों से अनुसूचित जाति की सूची में आने के लिए संघर्षरत हैं। तांती समाज ने शिक्षा के क्षेत्र में बहुत तरक्की है। इस समाज के हजारों युवक इंजीनियर और अधिकारी वर्ग में हैं।

आंदोलन

सबसे पहले लाला लाजपत राय के आशीर्वाद से सन् 1910 में कुछ छोटे दर्जे के फौजी अधिकारियों, रेल कर्मचारियों और आर्य समाज प्रभावित समाज सुधारकों ने **'भारतवर्षीय कोली सुधार सभा'** लाहौर में गठित की थी। बाद में इसकी शाखाएं स्यालकोट, लुधियाना, जालंधर, कराची और शिमला तथा दिल्ली में स्थापित हुईं। सुधार सभा ने शिक्षा और सामाजिक सुधारों पर जोर दिया। बाल-विवाह, दहेज, शराब-मांस के सेवन, विवाह-जन्म पर फिजूल खर्ची रोकने के लिए सम्मेलन किए। समाज में ऊंचा दर्जा और आदर पाने के लिए आर्य, वर्मा, चौधरी जैसे उपनाम लगाए। यह एक प्रकार से संस्कृतीकरण या सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन था। बाद में कुछ लोग गांधी की तरफदारी करने लगे और कुछ कार्यकर्त्ता अम्बेडकर से प्रभावित लाहौर की 'दलित सुधार सभा' की ओर आकृष्ट हुए। आदि धर्म आंदोलन वालों से भी इनका संपर्क था। भारत विभाजन के बाद इस संस्था के संचालकों का पता नहीं चला। क्योंकि ज्यादातर लोग सरकारी अथवा प्राइवेट संस्थानों के कर्मचारी थे।

संयुक्त प्रांत आगरा और अवध के कोरी कार्यकर्त्ताओं ने सन् 1930 में रायबरेली में प्रांतीय 'कोरी युवक संघ' गठित किया। सामाजिक जागरण की लहर ने इस समाज को सचेत किया। उन दिनों क्षेत्र में किसानों में बड़ी जागृति थी। गांव में लोग खेती करते थे या कपड़ा बुनते थे। 1935 में यह संघ लखनऊ की **'कोरी महासभा'** में विलीन हो गया। इस सभा ने सरकार से कोरी जाति को प्रतिनिधित्व देने, स्कूलों में बच्चों की फीस माफ करने, गांव में जमींदारों के अत्याचार रोकने के लिए मांग की। लखनऊ में स्थापित 'कोरी महासभा' में फूट पड़ गई। कुछ लोग कोरी राजपूत कहने लगे और कुछ लोग कबीर पंथी बन गए।

सन् 1935 में कानपुर में **'कोरी महापंचायत'** बनी। बाद में सन् 1940 में इसे प्रादेशिक स्तर पर 'कोरी महासभा' नाम दिया गया। इस सभा में सूती मिल कर्मचारी, आर्डनेंस फैक्टरी के कर्मचारी और स्थानीय व्यवसायी थे जो ब्रश बनाने का काम करते थे। इनके कार्यक्रम में अधिकाधिक शिक्षा प्राप्त करने, कोरी जाति के अन्तर्गत उपजातियों से ऊपर उठकर जातीय एकता कायम करने, शादी विवाहों में फिजूलखर्ची रोकने, गांवों में जाति पर अत्याचार रोकने, स्थानीय निकायों और विधानसभा में प्रतिनिधित्व देने की बातें प्रमुख थी। इस संगठन की पूरे प्रदेश में शाखाएं बनीं। उन दिनों कुरील, जैसवार, दोहरे, रविदासी जैसी (चमार जाति की) उपजातियों के लोग डॉ. अम्बेडकर और बाबू जगजीवन राम से प्रेरणा प्राप्त कर संगठित हो रहे थे। लेकिन कोरी जाति को अखिल भारतीय अथवा प्रादेशिक स्तर पर संरक्षण और मार्ग दर्शन देने वाला कोई राजनीतिक नेता उपलब्ध नहीं था।

1947 से कानपुर के रामलाल कमल वंशी और हाथरस के तुलसी प्रसाद सहयोगी के नेतृत्व में 'प्रादेशिक कोरी महासभा' ने सामाजिक क्षेत्र में बड़ा काम किया। पच्चीस वर्ष तक यह संस्था समाज की प्रगति के लिए कार्य करती रही। इसने डॉ. अम्बेडकर,

बाबू जगजीवन राम, किसान नेता प्रो. एन.जी. रंगा, गोविन्द वल्लभ पंत, डॉ. पंजाब राव देशमुख, आदि से व्यक्तिगत तौर पर मिलकर समाजोत्थान का कार्य किया। अनेक जिला, मंडल और प्रदेश स्तर पर सम्मेलन, विचार गोष्ठियां आयोजित कीं। 1950 से 2000 के मध्य जिला और प्रदेश ही नहीं अखिल भारतीय स्तर के अनेक कोली-कोरी संगठन अस्तित्त्व में आए हैं। ये सब सांस्कृतिक आंदोलन के प्रतीक हैं।

बंबई के कई बार मेयर रहे बर्लीकर ने पूरे भारत के प्रादेशिक और अखिल भारतीय स्तर के कोली-कोरी संगठनों का एक राष्ट्रीय गैर-राजनीतिक सामाजिक संगठन 'अखिल भारतीय कोली समाज' संगठित किया है जिसका प्रधान कार्यालय नई दिल्ली में है। इस संस्था के तत्त्वावधान में वार्षिक सम्मेलनों में पूरे भारत से सहस्रों लोग एकत्रित होते हैं और सामाजिक विकास के सूत्र तलाशते हुए भारत के दलित आंदोलन में अपनी अस्मिता को पहचानने की कोशिश करते हैं।

उद्योग

भारत में यह एक ऐसी जाति है जो गौतम बुद्ध के जमाने से मौजूद है। आधुनिक युग में गत डेढ़ सौ वर्ष में कोली-कोरी समाज ने कई तरह के उत्थान-पतन देखे हैं। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संकट झेले हैं। इसका मूल कारण है कि यह मुख्यतया एक वयनजीवी जाति है। भारत की अर्थव्यवस्था में सौ साल पहले इसका बड़ा भारी योगदान था और देश की कपड़े की कुल जरूरत पूरा करने और विदेशों में अपने बुने वस्त्र निर्यात करने में सक्षम था। इन लोगों के पास जमीनें थीं पर छोड़ दीं। संगठित सूती मिल उद्योग ही इसके पतन का कारण है। महात्मा गांधी ने खादी की बहुत रट लगाई। चरखे चलवाए, खादी बुनवाई वह सब एक थोथा दर्शन, मिथ्या जाल था। जिन पर खेती नहीं है वे लोग गांवों से शहरों की ओर पलायन कर गए हैं। गांधी और नेहरू तक ने स्वीकार किया है कि स्वतंत्रता आंदोलन में खादी-उत्पादक कोली-कोरी जाति का बड़ा योगदान है। कालांतर में कानुपर के कोरी डॉ. अम्बेडकर के आंदोलन की ओर झुके, ठीक वैसे ही झांसी के कोरी कांशीराम से प्रभावित बसपा में आए।

नव जागरण की लहर

सन् 1935-1950 के मध्य राजस्थान, बुंदेलखंड, उत्तरांचल और दिल्ली के कोली-कोरी 'क्षत्रिय' एवं 'वैश्य' वर्ग में आने के लिए जातीय पंचायतें, सम्मेलन, विचार गोष्ठियां करते थे और आर्य समाज के नेता उन्हें दिग्भ्रमित करते थे। डॉ. अम्बेडकर के समझाने पर उन्हें अपनी भूल मालूम हुई।

महाराष्ट्र के मछुआरे 'कोली' अज्ञानवश कई स्थानीय नाम-भेद के शिकार हैं। डॉ. अम्बेडकर की वे सहानुभूति अर्जित नहीं कर सके। यदि वे अनुसूचित जाति में होते तो

सत्ता महार-चम्भार-कोली जाति के हाथ में होती। सर्वविदित है 'मुंबई' कोलियों ने बसाया है, उनकी मुंबई नगर में भारी जनसंख्या है, समीपस्थ थाणे में भी इस जाति का दबदबा है और गत तीस-पैंतीस वर्ष से दोनों जगह के मेयर इसी कोली जाती के बनते आए हैं। उनमें आज नवजागरण भी है। उनकी देश के अन्य कोली-कोरी समुदाय से अंतरंगता है। उनमें शादी-ब्याह होते हैं। जाति-भोज, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय जातीय गोष्ठियों में वे मिलते हैं। इस सबके मूल में एक बात प्रमुख है कि कोली जाति भगवान् बुद्ध की वंशज है, भले ही वह देश के किसी भी हिस्से में बसी हो।[16]

राजस्थान के रैगर

आज का राजस्थान और स्वतंत्रता से पूर्व का राजपूताना वीर भूमि है। यहां की रैगर दलित-अछूत जाति आज सारे भारत में गतिशीलता के कारण फैल गई है। युगानुरूप यह प्रगति पथ पर है। रैगर जाति चमारों की ही एक उपशाखा है जो मूलतः पूरे राजस्थान में पाई जाती है। आज यह जाति दिल्ली में भी बहुतायत से है। बीसवीं सदी के शुरू में ही अकाल और बेकारी से त्रस्त इस जाति ने इधर-उधर पलायन शुरू कर दिया था। इस जाति का आदिम चरित्र (ट्रायबल करैक्टर) है। समूची दिल्ली में जो रैगर बिरादरी है वह राजस्थान से ही रोजगार के लिए भटकती आई थी ओर दलितों में आज एक समृद्ध कौम मानी जाती है। राजनीति और सामाजिक क्षेत्र में इसने नाम कमाया है। शारीरिक दृष्टि से यह एक मजबूत, भरोसेमंद और शरीफ जाति है। चमारों की उपजाति के रूप में अक्सर इसकी गिनती होती है। दिल्ली में जो लोग स्वातंत्र्योत्तर काल में पलायन करके आए वे मुख्यतः भवन निर्माण या हर प्रकार की मजदूरी करते हैं और शिक्षित लोग सरकारी-अर्द्ध सरकारी विभागों में नौकरी पा गए हैं। दिल्ली में रैगरों का दबदबा है।

राजस्थान में इनका प्रमुख पेशा खेती, खेतिहर मजदूरी, भवन निर्माण और जूता उद्योग का रहा है। औद्योगिक प्रगति के साथ-साथ रोजगारों की विविधता भी बढ़ी है। रैगर समाज में ग्राम, जिला स्तर पर रैगर पंचायतें हुआ करती हैं। जिसमें जातीय-सामाजिक समस्याओं पर फैसले लिए जाते हैं।

राजपूताना मे जब देशी रियासतें थीं, राजे-रजवाड़े दलित-अछूतों की ओर कम ही ध्यान देते थे। लोगों का जीवन कठिन था। बेरोजगारी के साथ-साथ पीने के लिए पानी का अभाव था। लोगों के साथ ऊंची जातियों के सदस्य अच्छा बर्ताव नहीं करते थे। छुआछूत, जातिवाद के साथ-साथ सामंतवाद अपनी पूरी नग्नता के साथ निम्न जातियों को गुलाम से भी बदतर समझते थे।

जब महात्मा गांधी ने हरिजन सेवा का कार्य शुरू किया, कांग्रेस के आंदोलन में अस्पृश्यता निवारण भी जुड़ गया तो रियासतों में भी समाज सुधार की लहर दौड़ गई। रैगरों ने सामाजिक सुधारों और स्वतंत्रता के लिए बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। उन दिनों राजे-रजवाड़े विकास कार्यों पर कम ही ध्यान देते थे। अपने ठाठ-बाट और रुतबे में उन्होंने

कोई कमी नहीं आने दी।

गोल मेज परिषद के दौरान जब डॉ. अम्बेडकर ने अछूतों की दुर्दशा की दर्दनाक कहानी बताई तो रियासतों के प्रतिनिधियों की भी आंखें खुल गईं जो ब्रिटिश राज के अंधे भक्त थे। उनकी ब्रिटिश भक्ति किसी से छिपी नहीं है।[17]

मध्य प्रदेश के सतनामी चमार

सतनामी आंदोलन दृढ़ जातिगत संगठन की दिशा में एक अनूठा प्रयोग माना जा सकता है। यद्यपि कबीर पंथी अपने को इस प्रकार संगठित नहीं कर पाए। मध्य प्रदेश में सतनामी संप्रदाय पहले एक धार्मिक आंदोलन था बाद में सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन बन गया। यह छत्तीसगढ़ इलाके में बहुत प्रभावी है जो एक धान उगाने वाला क्षेत्र है। इसमें पूर्वी मध्य प्रदेश का वह भाग आता है जिसमें दुर्ग, रायपुर, बिलासपुर आदि जिले सम्मिलित हैं। मूल रूप से चमार जाति के लोग सतनामी संप्रदाय में दीक्षित हुए हैं।

छत्तीसगढ़ में यह आंदोलन 1820 और 1830 में फैला। घासीदास इसके जन्मदाता हैं जो जाति से चमार थे। उन्होंने चमार जाति में अपना मत फैलाया कि सभी इंसान जाति-पांत के भेद से बराबर हैं। उन्होंने कहा ईश्वर एक है और उसका नाम 'सतनाम' (सत्यनाम) है। उन्होंने अपने अनुयायियों में शराब, तंबाकू, मांस और लाल रंग की सब्जियों के प्रयोग को निषिद्ध ठहराया।

वे इस मत के प्रथम अधिष्ठाता (गुरु) बने और कहा कि उनके परिवार के पुरुष सदस्य बाद में इसके गुरु के रूप में संचालक रहेंगे।[18] ऐसी धारणा है कि घासीदास से पहले जगजीवनदास ने उत्तर भारत में इसी प्रकार का मत चलाया था (**स्टीफन फुचूस : 1965 : 99**)। यह भी मान्यता है कि कबीर पंथी मत से सतनामी संप्रदाय ने एक संप्रदाय का आदर्श रूप ग्रहण किया था। मध्य प्रांत में कबीरपंथी गद्दी के महंत धर्मदास थे जोकि ऐसा विश्वास है कि 42 पीढ़ियों से उनके वंश में परंपरागत रूप से विद्यमान थी (**वैस्ट कौट : 1953 : 72**)। घासीदास की परंपरा में बहुत कम लिखित धार्मिक वचन मिलते हैं क्योंकि इस संप्रदाय का मूल आदर्श कबीरपंथ था।

घासीदास के उपदेश और धार्मिक अनुष्ठान चमार जाति में मामूली स्तर की सीधी-सादी धार्मिक परंपराओं के रूप में प्रचलित हैं। **धर्मदास** ने एकेश्वरवाद की कल्पना की और उसी का प्रचार किया। वे निसंदेह हिंदू मूर्ति पूजा के विरोधी थे। इसीलिए उनके अनुयायियों ने उनके द्वारा प्रतिपादित सरल धार्मिक अनुष्ठान परंपरा को अपनाया। मांस और मदिरा-सेवन का त्याग सरल पूजा विधि के अंतर्गत आते हैं। इसके मूल में यह भी भावना थी कि चमार जाति जब इन चीजों के खान-पान से परहेज करेगी तो उनका सामाजिक स्तर ऊंचा होगा। उन्होंने तंबाकू के प्रयोग पर भी रोक लगाई। यह एक बुरी लत थी। इससे **घासीदास** के अनुयायियों का सामाजिक स्तर बढ़ा। धार्मिक के त्याग क्रांति को सामाजिक परिवर्तन में बदल दिया गया।[19]

बेवर उन्हें एक 'मसीहा' (महान् गुरु) का दर्जा देते हैं; लेकिन घासीदास को मानवीयकरण का प्रतिनिधि, एक धार्मिक परंपरा का पूर्णरूपेण प्रतिष्ठापक मानने में कठिनाई है; वास्तव में उन्होंने कभी भी विश्व की प्रकृति के संबंध में श्रेण्य धार्मिक प्रश्नों के विषय में अथवा दुर्दैव या अनिष्ट की समस्या, उसकी प्रकृति और उसके समाधान के बारे में दार्शनिक दृष्टि से शायद ही कभी सोचा। उनके एकेश्वरवाद की प्रबल धारणा के धार्मिक क्रियान्वयन को यद्यपि सहज ही देखा जा सकता है; लेकिन घासीदास ने मूर्ति पूजा को रोकने के अतिरिक्त अपने सिद्धांत का और अधिक प्रतिपादन नहीं किया। सतनामी (चमार) आंदोलन का वैचारिक आधार जाति के परंपरागत विचारों से थोड़ा अधिक रहा है जैसा कि हिंदुओं में मान्यता है इससे अनुष्ठान गत दूषण की संभावना है।[20]

घासीदास को सन् 1850 में मृत्यु हुई। तब से यह सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलन क्षेत्रीय चमार जाति में एकता, दृढ़ता, शिक्षा, सांस्कृतिक चेतना के प्रति अनुराग और अंधविश्वासों से परे बढ़ने के लिए प्रेरित करता रहा है। छत्तीसगढ़ के चमार तथा आसपास की अछूत-दलित जातियों के दूसरे लोग भी अपने को संस्कृतिकरण की अवधारणा के अनुसार चमार के स्थान पर सतनामी कहलाने लगे। इस नए जातीय बोध में वही श्रेष्ठता थी जो कबीर पंथी कहलाने में थी (चिस होल्म : 1869 : 47)।[21]

सतनामी संप्रदाय में धार्मिक-वैचारिक तौर पर सन् 1869 में गुरु (पुरोहित) को इस प्रकार परिभाषित किया गया—

> "सामाजिक बहिष्कार के सभी मामलों को प्रधान गुरु (मुख्य महंत) ही निबटायेंगे। किसी को भी जाति में पुनः लेने पर दंड विधान का वे ही निर्णय करेंगे। जो उनके पास व्यक्तिगत रूप से आएंगे, अथवा उनको ले जाने का प्रबंध करेंगे उनके विवाह की रस्म अथवा बालक का नामकरण वे ही संपन्न करेंगे...।"[22]

बाद में सतनाम चमार जाति का संगठन दो स्तरों में उभरा। सर्वोच्च स्तर पर प्रधान गुरु (मुख्य महंत) ग्राम स्तर पर 'भंडारी' बनाए गए। भंडारी का काम अपने स्तर पर समस्याओं को सुलझाना, धार्मिक अनुष्ठान संपन्न कराना था जो बहुत मामूली धार्मिक कर्तव्य थे।

यह (व्यवस्था) एक प्रकार से 'जाति पंचायत' के रूप में थी। यह अभी भी अन्य जातियों में आज भी विद्यमान है। धार्मिक रूप में यह जो एक अछूत जाति का आंदोलन था वह डेढ़ सौ साल में दृढ़ सामाजिक और राजनीतिक रूप धारण कर चुका है। सतनामी चमार समुदाय एक मजबूत वोट बैंक बन चुका है।[23]

घासीदास की मृत्यु के बाद से ही इस संप्रदाय में गद्दी को लेकर अनबन होती रही है। सन् 1952 में महंत आगमदास कांग्रेस टिकट पर सांसद बने। तब राजनैतिक प्रतिद्वंद्विता और बढ़ी। लेकिन आगमदास थोड़े ही दिनों में चल बसे और उनकी दूसरी पत्नी मिनीमाता उप चुनाव में संसद सदस्य बनीं। अब भी राजनैतिक सत्ता प्राप्ति का क्रम जारी है।

सतनामी संप्रदाय के अनुयायी 'दशहरा' उत्सव धूमधाम से नाच-गाकर मनाते हैं। इसी प्रकार हर साल 'घासीदास जयंती' भी उत्साह से मनाई जाती है।[24] इसके मूल में

चमार जाति में चेतना और एकता तथा सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता की भागीदारी के लिए दबाव बनाए रखना भी है। साथ ही सामाजिक-धार्मिक सुधारों को गतिशील बनाने में भी इससे मदद मिलती है।

यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि लगभग डेढ़ सौ वर्ष से भी ऊपर चलने वाला यह सतनामी चमार जाति का धार्मिक-सामाजिक आंदोलन जाति को व्यापक दृढ़ता, सामूहिक प्रगति, कुरीतियों पर विजय पाने वाला एक लोक आंदोलन अवश्य है। क्षेत्रीय स्तर पर यह एक अभिनव जातिगत संगठन का प्रयोग है।

इसकी तुलना में कबीर पंथी संगठित नहीं हुए। उसमें पता ही नहीं चलता कि वे कोरी या चमार हैं या ऊंची जातियों के लोग।

पहाड़ के गांधी बलदेव सिंह आर्य

सौम्य प्रकृति के अत्यंत मिलनसार, गढ़वाल निवासी और कोली (शिल्पकार) जाति में जनमे बलदेव सिंह आर्य उत्तरांचल के प्रमुख सामाजिक कार्यकर्त्ता, शिक्षाविद् और समाज सुधारक थे। वे 1930 के आसपास राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ गए थे और कांग्रेस कार्यकर्ता बने। उत्तरांचल में उन्होंने हरिजन सेवा का अनथक कार्य किया। गांव-गांव टोली बनाकर वे समाज सुधार, शिक्षा और संस्कारपूर्ण जीवन शैली की बात करते थे। उन्होंने लोगों को खादी अपनाने की बात कही। ग्रामीण दस्तकारी, गृह उद्योगों के जरिए आर्थिक स्थिति मजबूत करने का मंत्र दिया क्योंकि ज्यादातर दलितों के पास कृषि योग्य भूमि नहीं थी और वैसे भी पूरा क्षेत्र उद्योग शून्य था।

पहाड़ के दलितों को अलग-अलग जाति नाम से नहीं जाना जाता। उन्हें 'शिल्पकार' नाम से अनुसूचित जाति का दर्जा प्राप्त है। कुछ जातियां थारू, बोक्सा आदिम जातियों में हैं।

गुलाम भारत में पहाड़ों के दलित-शिल्पकार अच्छे कपड़े नहीं पहन सकते थे। उनकी औरतें आभूषण नहीं पहन सकती थीं। शादी-ब्याह या अन्य उत्सव पर उनके यहां वाद्य-यंत्र बजाने या ठाठ-बाट से बारात निकालने पर सामाजिक प्रतिबंध था क्योंकि ऊंची जाति के लोग बारात को अपने घर के सामने से नहीं निकलने देते थे। नई दुल्हन की विदा के वक्त 'डोली-पालकी' में ले जाना सामाजिक निषेध था। सामाजिक कार्यकर्त्ता के नाते बलदेवसिंह आर्य और उनके उत्साही कार्यकर्त्ताओं की टोली ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई। कई जगह संघर्ष हुए। उन्होंने जनमत तैयार किया। इस सामाजिक कुरिति के विरुद्ध आवाज उठाई क्योंकि यह भी अस्पृश्यता और जातिवाद का घिनौना रूप था।[25]

गांधीजी ने उनके अनोखे अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन की प्रशंसा की और उन्हें 'पहाड़ का गांधी' कहा।

1950 में आर्य लोकसभा के लिए निर्वाचित हुए। पहली बार सन् 1952 में उ.प्र.

विधानसभा के लिए चुने गए। वे क्रमशः संसदीय सचिव, तत्पश्चात् उपमंत्री, मंत्री और केबिनेट मंत्री बने और लगभग तीन दशक तक उत्तर प्रदेश के दलितों की सेवा करते रहे। मंत्रिमंडल में रहते हुए भी वे वर्षों तक 'उत्तर प्रदेश हरिजन सेवक संघ' के अध्यक्ष, 'अ.भा. हाथकरघा बुनकर कांग्रेस' एवं 'उ.प्र. हाथ करघा बुनकर कांग्रेस' के क्रमशः उपाध्यक्ष एवं अध्यक्ष तथा 'अखिल भारतीय हरिजन लीग' के कार्यकारी अध्यक्ष रहे। उनकी सोच रचनात्मक व एक दार्शनिक की थी।

उन्होंने उत्तर प्रदेश में अनेक दलित सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को आगे बढ़ाया। वे अजन्म समाज सेवा में लगे रहे तथा रचनात्मक दृष्टि के कारण विवादों से सर्वथा अलग रहे।

उन्होंने थारू आदिम जाति के शोषण को रोकने के लिए ठोस कदम उठाए। आश्रम पद्धति पर कई विद्यालय खोले। प्रदेश के हाथ करघा बुनकरों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति उठाने के लिए संघर्ष किया। सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा और ज्ञान, संकल्प और संगठन की आवश्यकता पर बल दिया।

उन्होंने और तुलसी प्रसाद सहयोगी ने उत्तर प्रदेश के आगरा, मेरठ और रुहेलखंड डिवीजन में कोरी जाति पर क्षेत्रीय प्रतिबंध हटवाया। इससे लाखों कोरी जाति के लोगों को संवैधानिक आरक्षण मिला। इसके लिए अनेक प्रदर्शन, सभाएं, आंदोलन किए गए और प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने लोकसभा से दो तिहाई बहुमत से संशोधन पारित कराया।[26]

उत्तर भारत के अन्य दलित नेता

उत्तर प्रदेश में और भी ऐसे अनेक दलित नेताओं के नाम गिनाए जा सकते हैं जो स्वातंत्र्योत्तर भारत में और उसके बाद भी समाज की प्रगति के लिए जागरूक रहे। जिन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया, या डॉ. अम्बेडकर के साथ कार्य किया अथवा स्वतंत्र रूप से दलितों में समाज सेवा का कार्य किया।

इनमें तिलकचंद कुरील (कानपुर), रामलाल कमल वंशी (कानपुर), डॉ. मानिक चंद जाटव वीर (आगरा), डॉ. धर्मप्रकाश (बरेली), चौ. बिहारीलाल (बिजनौर), रामप्रसाद टमटा (गढ़वाल) आदि के नाम प्रमुख हैं।[27] आरक्षित सीटों पर जब लोग सांसद और विधानसभा सदस्य बने तो दलित जातियों में जागरूकता, चेतना और अधिकारों के लिए संघर्ष करने की भावना का उदय होना स्वाभाविक था। शिक्षा के क्षेत्र में उत्तरोत्तर प्रगति ने उनकी मुक्ति और प्रगति के द्वार प्रशस्त किए। संसद-सदस्य और विधायक, मंत्री या नौकरशाह जैसी अनेक महान् हस्तियां दलितों में मौजूद हैं। ये स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के अलादीनी चिराग में से पैदा हुए हैं। अथवा बिना किसी संघर्ष के राजनीति के झूले पर चढ़कर या प्रतियोगिता के द्वारा ऊंचाईयों पर पहुंचे हैं। इसके लिए कई खंडों की आवश्यकता होगी।

पंजाब का आदि धर्म आंदोलन

बीसवीं सदी के द्वितीय-तृतीय दशक में विभाजन पूर्व के पंजाब का आदि धर्म या आद-धर्म आंदोलन गांव-गांव में पहुंच गया था। अछूत जातियों में यह सामाजिक और धार्मिक आंदोलन का रूप ले चुका था। नगरीय संभ्रांत दलित वर्ग में यह हैसियत का प्रतीक बन गया था। इसने उन्हें समाज में गौरव और आदरपूर्ण स्थान दिलाने में मदद की। लोगों में समाज को संगठित करने का विचार उठा। यह सिख धर्म से बिल्कुल अलग आंदोलन था। पंजाब के धनाढ्य व्यापारियों और पढ़े-लिखे समाज सुधारकों के आर्य समाज, देव समाज और सनातन धर्म से भी यह अलग तरह का आंदोलन था।[28]

इससे पूर्व 1924 में **'आदि-द्रविड़ महाजन सभा आंदोलन'** एम.सी. राजा मद्रास में ने चलाया था। जो कालांतर में सुदृढ़ होता गया। इसी प्रकार पहले से ही आंध्र प्रदेश में 'आदि-आंध्र आंदोलन' भी इसी तरह का था। इन आंदोलनों की बदौलत दक्षिण के आदि धर्मी दलित-अछूत सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से खूब संगठित हुए। उनकी आर्थिक स्थिति भी दृढ़ हुई।

1926 में पंजाब का आदि-धर्म आंदोलन दक्षिण की तर्ज पर सुसंगठित आंदोलन का रूप ग्रहण कर चुका था। इस आंदोलन में दो अछूत जातियां–'चमार' (चर्म उद्योग से संबंधित) और 'चूहड़ा' (सफाई कर्मचारी) शामिल थीं जिनकी पंजाब में भारी तादाद थी। इस आंदोलन के कर्णधारों ने कहा कि वे ही भारत के आदि (मूल) निवासी हैं और उनकी अपनी धार्मिक मान्यताएं हैं जबकि ब्राह्मणों ने उन पर बाद में हिंदू धर्म जबरन थोपा है। 'आदि धर्म आंदोलन' समाज सेवा में दीक्षित और शिक्षित उन नेताओं ने चलाया जो पहले आर्य समाज संस्था से जुड़े थे जो सामाजिक सुधारों में रुचि लेती थी। बाद में उन्होंने आर्य समाज छोड़ दिया क्योंकि वे रामास्वामी नायकर या पेरियार के 'आत्म-सम्मान आंदोलन' से प्रभावित हुए और उसी तरह का आंदोलन पंजाब और उत्तर भारत में चलाने के लिए कार्य करने लगे। उन्होंने कहा कि आर्य समाज केवल 'शुद्धि आंदोलन' पर जोर देता है और हिंदुओं की संख्या बढ़ाता है, साथ ही निम्न जातियों को मंत्र-मुग्ध, या वशीभूत करता है। इतना ही नहीं 'शुद्धि आंदोलन' के जरिए उच्च वर्गीय हिंदू यह भी दर्शाते हैं कि वे अछूतों, निम्नजातियों और धर्मांतरण करने वाले लोगों और बाद में शुद्धि द्वारा हिंदू धर्म में वापिस आने पर भी उनसे छोटे हैं।[29]

आदि धर्म को मानने वाले लोगों से इस आंदोलन के नेताओं ने कहा कि उन्हें समान अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना चाहिए। अक्सर आदि हिंदू समाज के सम्मेलन या बैठक के बाद उसके कार्यकर्त्ता और प्रतिनिधिगण इकट्ठे होकर गांव या नगर के तालाब पर जाते थे और स्नान करके उच्च हिंदू जातियों द्वारा उस परंपरागत प्रतिबंध को तोड़ते थे कि अछूत वहां पानी नहीं भर सकते।[30] यह अस्पृश्यता के विरुद्ध एक ठोस कदम था। इससे जातीय एकता बढ़ी और अछूत जातियों में परस्पर अलगाव की प्रवृत्ति दूर हुई जिसे सवर्ण हिंदुओं ने उनके ऊपर थोपा था।

पंजाब में संगठन चलाने वाले नेताओं ने यह भी मांग की और प्रचार किया कि आगामी जनगणना (1931) में उन्हें हिंदू की बजाय आदि धर्मी लिखा जाना चाहिए। इसने मांग की कि उन्हें सार्वजनिक कुओं से पानी भरने दिया जाए। उन्हें हिंदू जमींदारों की तरह समान भूमि अधिकार दिए जाएं। सार्वजनिक-जातीय संपत्तियों का उपयोग करने की छूट हो और उन्हें ऊंची जातियों के अत्याचारों से बचाया जाए। साथ ही उनके बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार दिया जाए।[31] इस प्रकार पंजाब का आदि धर्म आंदोलन आर्थिक, शैक्षिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अधिकारों का बहुआयामी आंदोलन बन गया। इस आंदोलन के कार्यकर्त्ता जान चुके थे कि सिखधर्म उन्हें समानाधिकार और राजनीतिक अधिकार दिलाने में असमर्थ है।

जब 'लोथियन समिति' के लिए डॉ. अम्बेडकर अछूतों की जनसंख्या संबंधी तथ्य एकत्र कर रहे थे तब उन्होंने सरकार का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया कि सन् 1931 में पंजाब के अछूतों की जनसंख्या में सन् 1911 के मुकाबले गिरावट आई है। डॉ. अम्बेडकर ने कहा :

> "इसकी वजह आदि धर्म आंदोलन है। सन् 1931 की जनगणना में भाग लेने वाले आंदोलन के कार्यकर्त्ताओं ने अपने लोगों और स्वयं को आदि धर्मी लिखवाया था, हिंदू नहीं जैसा कि पहले होता आया था। अम्बेडकर ने लिखा कि सरकार ने उनकी बात मान ली है और आदेश जारी कर दिए हैं कि जो जनगणना कर्मचारी हैं वे उन लोगों को एक नये शीर्षक में 'आदि धर्मी' लिखें जो कि ऐसा लिखवाना चाहते हैं। इससे अछूत जाति पंजाब के कई हिस्सों में बंट गई। इससे सवर्ण हिंदुओं और अछूतों में कई स्थानों पर संघर्ष हुए। क्योंकि उच्च जाति के हिंदू इस व्यवस्था से खफा थे। फलस्वरूप कुछ स्थानों पर अछूतों पर दबाव डाला गया कि वे अपनी पुरानी जाति पर आएं और उसे ही लिखवाएं। हालांकि बहुत से स्थानों पर उन्हें 'आदि धर्मी' ही लिखा गया और जाति नहीं लिखी गई।"[32]

कालांतर पंजाब का आदि धर्म आंदोलन शोध का विषय भी बना और विद्वानों ने इस पर अध्ययन प्रस्तुत किए। आदि धर्मी शिक्षा, उद्योग, राजनीति में आगे बढ़े। बहुत से लोग विदेश भी गए और संपन्न बने। यह सब भारत विभाजन के बाद हुआ।

धोबियों का संगठन

स्वातंत्र्योत्तर भारत में पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की धोबी-जाति ने भी अपने प्रदेश और अखिल भारतीय स्तर पर संगठन बनाए। एक जमाना यह भी था कि अनुसूचित जाति की होते हुए भी गांवों और छोटे शहरों में धोबी बिरादरी अछूत जातियों के कपड़े नहीं धोती थी। बाद में उपभोक्तावाद और नव जागरण के कारण यह रिवाज धीमा पड़ गया। दिल्ली नगर निगम के पूर्व पार्षद बलदेवसिंह आर्य और मध्य प्रदेश के एक सांसद बुलाकी राम वर्मा ने धोबियों के बड़े-बड़े प्रदर्शन दिल्ली में किए और बहुत सी मांगे रखीं। उत्तर प्रदेश में भी धोबी जाति संगठित है तथा काफी शिक्षित जाति है।

अखिल भारतीय हरिजन लीग

आर्य समाज ने पंजाब के चमार और बाल्मीकि समुदाय में सामाजिक सुधारों के लिए बीसवीं सदी के शुरू में ही काम करना शुरू कर दिया था। वह इसलिए भी कि सिख धर्म को स्थापित हुए दो सौ वर्ष हो गए थे जो चमार जाति को रामदासिया (या रविदासी) सिख और बाल्मीकि-मेहतर जाति के लोगों को मजहबी सिख के नाम पर दीक्षित कर अपनी जनसंख्या बढ़ा रहा था यद्यपि सामाजिक सोपान में खत्रियों की ऊंची जातियों के सिखों और जाट सिखों के मुकाबले रामदासिया और मजहबी सिखों का दर्जा बहुत नीचे था। सिख धर्म जाति-पांत में विश्वास नहीं करता, फिर भी परोक्ष रूप में जाति विद्यमान थी। अगर ऐसा नहीं था तो सिख लोग अपने नाम के बाद जातिसूचक शब्द क्यों लगाते हैं? मुसलमानों में भी जाति मौजूद है। उनमें काम करने वाली नीची जातियां हैं। ईसाइयों में भी धर्मांतरण करके दलित ईसाई धार्मिक अल्पसंख्यक के रूप में अपने सामाजिक अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे हैं।

पंजाब में **'आदि धर्म आंदोलन'** बीसवीं सदी के तीसरे दशक में शुरू हुआ था। यह सर्वथा एक सुधारवादी आंदोलन था। इससे दलित एक्टीविस्त जुड़े हुए थे, जो जुझारू थे।

सन् 1932 के आसपास स्वतंत्र-राष्ट्रीय विचारधारा के हरिजन नेताओं ने लाहौर में 'अखिल भारतीय हरिजन लीग' की स्थापना की थी। इसके संस्थापक आर्य समाज से प्रभावित थे। समाज सुधारों, अंतर्जातीय विवाह, उत्तरोत्तर शिक्षा, सरकारी नौकरियों में प्राथमिकता के लिए कार्य करते थे। बंगाल के **हेमचंद्र नस्कर** इसके अध्यक्ष और भगत अमीचंद मंत्री थे। भारत विभाजन के बाद इसका केंद्रीय कार्यालय दिल्ली में स्थानांतरित हुआ। इसकी शाखाएं जम्मू-कश्मीर, पंजाब, हिमाचल, दिल्ली, उत्तर प्रदेश आदि प्रदेशों में सक्रिय रहीं। सन् 1947 में मेघ अछूत जाति के भगत अमीचंद इसके अध्यक्ष बने। वे सन् 1952 में दिल्ली विधानसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और कांग्रेस दल के असेम्बली में सचेतक बने। उस समय दिल्ली में चौधरी ब्रह्म प्रकाश मुख्यमंत्री थे जो भारत में पिछड़ा वर्ग आंदोलन के संस्थापकों में से एक हैं। हरिजन लीग ने अस्पृश्यता निवारण, जाति भेद मिटाने, सामाजिक-आर्थिक प्रगति, अनुसूचित जातियों की सूची में क्षेत्रीय विसंगतियां हटाने के लिए संघर्ष किया। जम्मू-कश्मीर के मुख्यमंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद, प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर और बलराज साहनी, बंबई के फादर विल्सन, ज्ञानी गुरुमुख सिंह मुसाफिर इस संस्था के संरक्षकों में से थे। अपने प्रारंभिक दौर में महात्मा गांधी और सरदार पटेल ने इसके कार्यों की प्रशंसा की थी। जगजीवन राम का अपना 'दलित वर्ग संघ' था और उनके अनुयायी और वे स्वयं एक अरसे तक दलितों का नेतृत्व करते हुए सत्ता में रहे वे भी इसकी संगठन क्षमता और सक्रियता से प्रभावित थे।

इस संगठन की सभाओं में विजयलक्ष्मी पंडित, नेहरू, कृष्णा मेनन, मोरारजी भाई देसाई, डी. संजीवय्या जैसा नेता दलितों को संबोधित करने के लिए आते थे, वहीं हुमायूं कबीर, प्रो. वी.के.आर.वी. राव जैसे शिक्षाविद् दलितों की शैक्षिक-आर्थिक समस्याओं पर

अपने विचार प्रकट करते थे। अविभाजित पंजाब में स्वतंत्रतापूर्व इस संगठन का बड़ा असर था। अमीरचंद कम पढ़े-लिखे थे, लेकिन श्रेष्ठ कोटि के संगठन कर्त्ता थे। जिनका अम्बेडकर और जगजीवन राम लोहा मानते थे। ईसाईयों ने उन्हें बहुत प्रलोभन दिए लेकिन वे किसी भुलावे में नहीं आए। 'हरिजन' लीग के सुझावों पर दलितों के आर्थिक हितों के लिए निगम बने। इसी की पहल पर प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के कार्यकाल में बी.एन. लोकुर की अध्यक्षता में एक उच्चस्तरीय समिति बनी जिसने अनुसूचित जातियों की सूची में क्षेत्रीय प्रतिबंध और जातीय पर्यायों की समीक्षा करते हुए संशोधन प्रस्तुत किए। इससे लाखों-करोड़ों दलितों को लाभ मिले। साथ ही 'लोकुर समिति' ने उन जातियों के जिन्होंने अनुसूचित जातियों के लाभ-सहूलियतों को हथिया लिया है इसकी समीक्षा करते हुए सुझाव दिए। लेकिन इसका जगजीवन राम द्वारा भारी विरोध हुआ और ये सिफारिशें लागू नहीं हो सकीं।[33] उन्होंने अंग्रेजी मासिक 'हरिजन' निकाला जो कई वर्ष तक प्रकाशित हुआ।

सन् 1980 के दशक तक यह संगठन सक्रिय रहा और भगत अमीचंद के निधन के बाद इसकी गतिविधियां ठप्प हो गईं।

बिहार

कलकत्ता विश्वविद्यालय से सन् 1930 में अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद बिहार में जगजीवन राम ने अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ के तत्त्वावधान में दलित जातियों को संगठित किया। जो 1937 के चुनाव में एक शक्तिशाली राजनीतिक दल के रूप में उभरा। पहले इसका कार्य-क्षेत्र सिर्फ बिहार में था बाद में इसकी प्रांतीय शाखाएं बनीं जब जगजीवन राम केंद्र की राजनीति में आए। उत्तर प्रदेश के डॉ. धर्मप्रकाश ने सर्वप्रथम दलित वर्ग संघ गठित किया था।

सन् 1937 में बिहार में जगजीवन राम विधायक चुने गए और संसदीय सचिव बने। सन् 1946 में वे नेहरू द्वारा गठित अंतरिम मंत्रिमंडल के सदस्य बने। बिहार में ही उन्होंने भूमिहीन श्रमिकों को संगठित किया था। इसी शृंखला में 'बिहार खेतिहर मजदूर संगठन' बनाया क्योंकि शत-प्रतिशत अछूत-दलित भूमिहीन श्रमिक थे। उस समय के बिहार की अछूत जातियां सामंत-जमींदारों (भूमिहार-यादवों) के जुल्मों की शिकार थीं। जगजीवन राम ने उन्हें संगठित होने के लिए प्रेरित किया।[34] जगजीवन राम 50 वर्ष तक दलित आंदोलन और दलित राजनीति से जुड़े रहे।

महाराष्ट्र में गैर-ब्राह्मण आंदोलन का स्वरूप

प्रारंभिक दौर में जातिगत आंदोलनों में सबसे रोचक था महाराष्ट्र का 'सत्यशोधक समाज'

जिसमें **गेल ओम्वेदूत** के शोध के अनुसार दो प्रवृत्तियां थीं। इनमें से पहली प्रवृत्ति मद्रास के 'जस्टिस आंदोलन' से बहुत मिलती-जुलती थी और मुख्य रूप से कोल्हापुर के शासक साहू के संरक्षण पर आश्रित थी। (शाहू के अपने ब्राह्मण दरबारियों से अलग ही मतभेद थे।) इसका मुख्य लक्ष्य था–कुछ चुने हुए लोगों के लिए अधिक नौकरियां एवं राजनीतिक अनुग्रह प्राप्त करना। किंतु एक अन्य अधिक जनोन्मुख एवं जुझारू प्रवृत्ति भी थी जो 'बहुजन समाज' की ओर से शेटजी भटजी (ब्राह्मण पुरोहितों, किंतु साथ ही सामान्यतः व्यापारियों एवं धनी लोगों) के विरुद्ध प्रचार करती थी। मुकुंदराव पाटिल के नेतृत्व में इस समाज ने महाराष्ट्र दकन एवं विदर्भ-नागपुर के क्षेत्र में अपना एक अनूठा स्थान बना लिया था। मुकुंदराव पाटिल ने 1910 से अपने पुश्तैनी गांव तारावड़ी से 'सत्यशोधक समाज' का मुखपत्र *'दीनमित्र'* निकालना आरंभ किया था। इस आंदोलन का जनवादी लक्षण इसी बात से स्पष्ट है कि 'सत्यशोधक समाज' का लगभग समस्त साहित्य मराठी में है, अंग्रेजी में नहीं। समाज की 1917 की वार्षिक सभा में 49 शाखाओं से रिपोर्टें प्राप्त हुई थीं जो 14 जिलों में फैली हुई थीं और इनमें से कम से कम 30 स्थानीय इकाइयां 2,000 से भी कम जनसंख्या वाले गांवों में स्थित थीं। इस स्तर पर प्रमुख स्वर जातिगत दमन एवं शोषण को अस्वीकार करने का था, वर्तमान व्यवस्था में ही ऊंची हैसियत पाने के लिए संस्कृतीकरण का नहीं। निसंदेह इस समाज का आधार मुख्यतः समृद्ध किसान वर्ग था, किंतु इस समय ऊंची जातियों के महाजनों एवं भूस्वामियों के विरुद्ध किसान मात्र से साझे हित थे। 'सत्यशोधक समाज' ने ग्रामीण क्षेत्रों में अपना संदेश पहुंचाने के लिए पारंपरिक लोकनाट्य या तमाशे का अपने ही ढंग से प्रयोग किया। (इसी तरीके को 1940 के दशक में कम्युनिस्ट भी 'इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन' के माध्यम से अपनानेवाले थे।) सतारा में, जहां ऐसी तमाशा टोलियां सर्वाधिक सक्रिय थीं, 1919 में स्थानीय सत्यशोधक नेताओं के नेतृत्व में एक किसान विद्रोह भी उठ खड़ा हुआ।[35]

निसंदेह 'सत्यशोधक समाज' के मूल प्रेरणा स्रोत उन्नीसवीं सदी के दलित आंदोलन के प्राण ज्योतिबा फुले थे।

सन् 1920 के बाद महाराष्ट्र के गैर-ब्राह्मण आंदोलन पर राजनीतिक रंग चढ़ गया। ब्रिटिश सरकार के मांटेग्यू आयोग ने सन् 1918 में राजनीतिक सुधारों की घोषणा की और बालिग मताधिकार का अधिकार दिए जाने पर गैर-ब्राह्मण राजनीतिक दृष्टि से उसकी ओर आकर्षित हुए। मद्रास प्रांत के गैर-ब्राह्मण आंदोलन की गतिविधियों से उन्हें प्रेरणा मिली। महाराष्ट्र के गैर-ब्राह्मण नेताओं ने मिलकर भास्कर राव जाधव को ब्रिटेन भेजा ताकि वे गैर-ब्राह्मणों के लिए अलग चुनाव क्षेत्रों के आरक्षण की व्यवस्था के बारे में वार्तालाप करें और वहां तमाम संभावनाओं की पड़ताल करें। उनकी मांग को आंशिक तौर पर मान लिया गया। आगे चलकर जब चुनाव हुए तो भास्कर राव जाधव, श्रीपतराव शिंदे, केशवराव जेधे जैसे गैर-ब्राह्मण नेताओं ने सक्रिय प्रचार किया और गैर-ब्राह्मणों में जागृति का संदेश फूंका।

सन् 1920, 1923 और 1926 में जब चुनाव हुए कई गैर-ब्राह्मण प्रांतीय काउंसिल में सदस्य चुने गए और इसके साथ ही एक गैर ब्राह्मण राजनीतिक दल का गठन कर लिया गया। यह दल गैर ब्राह्मणों के लिए शिक्षा-सुविधाओं, सरकारी नौकरियों में अधिकाधिक प्रतिनिधित्व और योग्यता में शिथिलता आदि के लिए लड़ा और गांव पुरोहितों के अधिकारों को समाप्त करने के लिए 'जोशी वतन समाप्ति' बिल पारित कराने में सफल हुआ। यद्यपि गैर ब्राह्मण दल राजनीतिक दृष्टि से पूर्णरूपेण जाग्रत था और इसने आम जनता का हित संरक्षण किया लेकिन इसने राष्ट्रीय आंदोलन से अपने को सर्वथा अलग रखा। सचाई यह है कि यह संगठन सरकार-समर्थक था।[36]

सन् 1930 में केशवराव जेधे के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी जो गैर ब्राह्मण दल के प्रमुख नेता थे और जिन्हें 1920 के दशक से ही ब्रिटिश समर्थक माना जाता था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में संचालित राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित होकर अपने अनुयायियों के साथ कांग्रेस दल में सम्मिलित हो गए। सन् 1930 के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में कांग्रेस ने गैर ब्राह्मणों में अच्छा-खासा प्रभाव जमा लिया था। उनके कांग्रेस में प्रवेश करते ही गैर ब्राह्मण दल का अलग अस्तित्त्व समाप्त हो गया। उस समय कांग्रेस का नेतृत्व गाडगिल और शंकर राव देव जैसे ब्राह्मण नेता कर रहे थे। इसके गैर ब्राह्मण नेताओं में केशव राव जेधे और शंकर राव मोरे जैसे नेता थे, जो सन् 1947 में भारत की स्वतंत्रता तक कांग्रेस में रहे।

कई रूपों में ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मणों में पारस्परिक मतभेद बढ़ता ही रहा। बहुत से ब्राह्मण युवक सावरकर के क्रांतिकारी दल की ओर आकृष्ट हुए और कुछ अनुदार दल हिंदू महासभा में सम्मिलित हो गए। इन दोनों आंदोलनों को गैर ब्राह्मणों से सहयोग नहीं मिला। कुछ सीमा तक गैर ब्राह्मण जातियों में भी परस्पर फूट थी। परंपरागत रूप में मराठाओं को समाज में ऊंचा दर्जा प्राप्त था, शिक्षा के व्यापक प्रचार ने बहुत से मराठा परिवारों को ऊंचे पदों पर पहुंचाया और चुनावों में मराठा मतों का निर्णयात्मक झुकाव उन्हें दूसरी जातियों के मुकाबले में अधिक मजबूत बनाने में सफल हुआ। के.एस. ठाकरे की रचनाओं में इस प्रभाव की झलक देखने को मिलती है।[37] इस प्रकार महाराष्ट्र में मराठे एक सशक्त गैर-ब्राह्मण जाति के रूप में उभरे और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन में वर्चस्व स्थापित करने में सफल हो गए वैसे ही जैसे कि आंध्र में रेड्डी जो कि गैर-ब्राह्मण जमींदार थे।

स्वतंत्रता के उपरांत ब्राह्मण-गैर ब्राह्मण मतभेद कई तरह से व्यक्त हुआ। गैर-ब्राह्मण दल को पूर्व नेताओं की जिन्होंने सन् 1930 में पहले कांग्रेस में प्रवेश किया लेकिन बाद में उसे छोड़ दिया। उन्होंने एक नई पार्टी 'किसान और कामगार पार्टी' (शेतकरी कामगार पक्ष) गठित किया। इसका झुकाव मार्क्सवाद की तरफ था। इस दल में बहुत थोड़े ब्राह्मण थे। इसके नेताओं ने गैर-ब्राह्मण आंदोलन का आम जनता के वर्ग संघर्ष के रूप में मार्क्सवादी विचारधारा के ढांचे में परिभाषित किया जोकि सुविधा संपन्न ब्राह्मणों के खिलाफ थी। थोड़े वर्षों के बाद जेधे और मोरे ने इस **'शेतकरी कामगार पक्ष'** से इस्तीफा दे दिया और

पुनः कांग्रेस में आ गए। इससे यह दल काफी शक्तिविहीन हुआ।

जब सन् 1948 में एक महाराष्ट्रियन ब्राह्मण ने महात्मा गांधी की हत्या कर दी तो ब्राह्मणों के विरुद्ध हिंसात्मक भावनाएं भड़कीं। ऐसा कहा जाता है कि बहुत से ब्राह्मणों ने उनकी हत्या पर खुशियां मनाईं, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में लोग इसके शिकार हुए। ग्रामीण इलाकों से बहुत से ब्राह्मण शहरों में पलायन को मजबूर हुए। यही नहीं **'सह्याद्रि पत्रिका'** में सन् 1948 में ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया के विषय में परस्पर विरोधी लेख छपे (भिडे; दिवेकर; गाडगिल; खाड्ये; करंदीकर पेंडसे)।[38] सत्यता यह है कि फुले के युग से ही गैर-ब्राह्मण-शूद्र और अछूत जातियां ब्राह्मणों के वर्चस्व के खिलाफ छुटपुट आक्रोश व्यक्त करती रहीं। लेकिन शिक्षा, राजनीति और सामाजिक जीवन में व्यापक दखल और वर्चस्व के कारण ब्राह्मणों को कोई डिगा नहीं सका। गांव पुरोहित उनकी रीढ़ की हड्डी थी तो शहर का ब्राह्मण अध्यापक उनकी आंख और कान था। भारत की स्वतंत्रता ने ब्राह्मणों को आसमान पर बिठा दिया। एक ऐसा भी जमाना था जब प्रधानमंत्री से लेकर सारे मुख्यमंत्री और ऊंचे सरकारी महकमों आदि महत्त्वपूर्ण पदों पर 3 प्रतिशत आबादी वाले ब्राह्मण पदासीन थे। गैर-ब्राह्मण और अछूतों के अलग-अलग आंदोलन थे इसलिए यह वर्चस्व पूरी सदी तक छाया रहा। परांजपे के कथनानुसार :

> "...जो वैचारिक खाई थी जिसने हिंदू समाज को इस क्षेत्र में विभाजित किया वह स्पृश्य और अस्पृश्यता के मध्य संघर्ष था। जाति व्यवस्था जन्य अस्पृश्यता भेदभाव का सबसे घिनौना स्वरूप है। अस्पृश्यता की धारणा और उसका प्रचलन शायद अथवा हो भी सकता है इतनी प्राचीन नहीं है जितनी कि स्वयं जाति व्यवस्था लेकिन इसका उद्‌गम वास्तव में मनु के समय से है जिसने इसका नियमीकरण किया और इसे स्वीकृति प्रदान की। महाराष्ट्र में शायद पेशवा काल में अस्पृश्यता अपने सबसे अधिक घिनौने रूप में प्रचलित थी जबकि एक ब्राह्मण के ऊपर एक अस्पृश्य की छाया पड़ने पर भी उसे भयानक दंड दिया जाता था। पेशवा के शासन का अंत होने पर इस विषय में शायद कुछ ढील हुई और जो कानूनन दंड दिया जाता था वह वापिस ले लिया गया। फुले ने गैर ब्राह्मण आंदोलन के बीज बोए वे बीसवीं सदी में फलीभूत हुए।

प्रारंभिक ब्रिटिश काल में कुछ व्यक्तियों ने जिनमें महाराष्ट्र के **गोपाल हरि देशमुख** और **विष्णु बुआ ब्रह्मचारी** प्रमुख थे उन्होंने अस्पृश्यों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। महात्मा फुले ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने मौखिक सहानुभूति से परे काम किया। उन्होंने न सिर्फ ब्राह्मण वर्चस्व के मिथक को तोड़ा वरन् अस्पृश्यों के लिए विद्यालय प्रारंभ करके उनकी दशा सुधारने के लिए प्रयास किए।

उन्होंने सन् 1868 में अपने निजी जलाशय के उपयोग की अस्पृश्यों को अनुमति दी।

फुले के प्रमुख सामाजिक सुधार-कार्यों को शिवराम जनबा काम्बले ने जारी रखा। उन्होंने उनके विचारों की महत्ता का प्रचार करने के लिए एक पत्रिका निकाली

और ब्रिटिश सरकार से अस्पृश्यों की हालत सुधारने के लिए मांग की। **विट्ठल रामजी शिन्दे ने 'डिप्रैस्ड मिशन सोसायटी'** की सन् 1906 में स्थापना की और अनेक शैक्षिक कार्यक्रम चलाए।

कोल्हापुर के शाहू छत्रपति महाराज ने अपने राज्य में सन् 1918 में 'महार वतन समाप्ति अधिनियम' पारित किया। इससे महार सीधे ही अपनी जमीन के मालिक बन गए और गांव में सैकड़ों प्रकार के फालतू (बेगार) के कार्यों से मुक्त हो गए जो छोटी-सी कृषि भूमि के टुकड़े के लिए दासता थी जिसे वे परंपरागत रूप में जोतते-बोते थे। उन्होंने अपनी रियासत में अछूतों को क्लर्क की नौकरियां दीं और कई शिक्षित अछूतों को बैरिस्टर बनाया। सन् 1919 में उन्होंने कानूनन अछूत बच्चों के स्कूल में पढ़ने के लिए प्रतिबंध और भेदभाव को समाप्त कर दिया।

फुले और शाहू छत्रपति के अतिरिक्त 'सत्यशोधक समाज' के जेधे, भाऊराव पाटिल जैसे नेताओं ने अस्पृश्यता निवारण का कार्य हाथ में लिया। शाहू छत्रपति की तरह, सयाजीराव गायकवाड़ (बड़ौदा महाराज) ने भी अछूतों के उत्थान के आंदोलन को मदद की। उन्होंने अम्बेडकर को अपने यहां नौकरी दी और अमेरिका में उनकी शिक्षा का सारा भार वहन किया।[39]

यहां तक महाराजा बड़ौदा की हर बात काबिले तारीफ है; लेकिन जब डॉ. अम्बेडकर कोलंबिया विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. उपाधि लेकर भारत लौटे और लंदन में अपनी शिक्षा बीच में ही छोड़ आए तथा रियासते बड़ौदा से करार के अनुरूप पुनः बड़ौदा राज्य में काम करने लगे। लेकिन महाराजा ने हर स्तर पर उनके प्रति अस्पृश्यता का बर्ताव होने पर शायद कोई भी मदद नहीं की। अम्बेडकर ने अपना प्रारंभिक जीवन किस प्रकार कष्टों और चुनौतियों में बिताया यह अब पूरे विश्व में पता है। महाराजा की इस बेरुखी पर हम पहले चर्चा कर चुके हैं।

महाराष्ट्र में एक और अन्य प्रमुख व्यक्ति हुए हैं जो अछूतों के उत्थान से संबद्ध रहे हैं। वे थे एस.एम. माटे जिन्होंने सन् 1917 में पूना में अस्पृश्यता निवारण के लिए एक संस्था स्थापित की थी। उन्होंने अछूतों के लिए कई विद्यालय खोले। उन्होंने अछूतों को सफाई से रहने के लिए अभियान छेड़ा। वे अछूतों में स्वतंत्रतापूर्वक इतने घुल-मिल कर रहने लगे कि ब्राह्मणों ने उनके विरुद्ध छींटाकसी की। अछूतों के लिए प्रारंभ में काम करने वाले बहुत से लोग ऊंची जातियों के सहृदय और दयालु लोग थे। अब तक अछूतों में यह परंपरागत विश्वास और धारणा थी कि वे इस दीन-हीन अवस्था को इसलिए प्राप्त हुए कि उन्होंने पूर्व जन्म में पाप किए हैं। ब्राह्मणों ने निहित स्वार्थ वश ऐसी अफवाहें फैला रखी थीं। सुधारकों के प्रयासों से धीरे-धीरे अछूतों में यह बात समझ में आ गई कि अब उन्हें भी अपने आपको उठाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। शिक्षा के नए अवसरों ने नए विचारों के प्रसार में मदद की। शिक्षित अछूत अपने अधिकारों के लिए जाग्रत हो गए।[40]

II.
दक्षिण भारत

दक्षिण में गैर ब्राह्मण आंदोलन

मद्रास में प्रजातांत्रिक आधार पर सन् 1892 में स्थापित **'मद्रास समाज-सुधार संघ'** (मद्रास एसोसिएशन फॉर सोशल रिफामर्स) ने ब्राह्मण वर्चस्व के विरुद्ध आवाज उठाई थी जो सारे सरकारी फ़ायदे उठा रहे थे। संघ ने राजनीतिक स्तर पर कार्य करते हुए अस्पृश्यता मिटाने का संकल्प किया। लेकिन उन दिनों हाल ही में बनी कांग्रेस से इस संघ को कोई मदद नहीं मिली।[41]

उपनिवेशवादी ताकतों ने ब्राह्मण जातियों के आधिपत्य को समाप्त करने के लिए गैर-ब्राह्मणों में असंतोष की आग भड़काई जिन्होंने पहली बार यह विचारधारा रखी कि ब्राह्मण उद्गम आर्यों से है और इसके विरुद्ध दक्षिण के द्रविड़ यहां के मूल निवासी हैं। इस असंतोष में से गैर-ब्राह्मण आंदोलन का जन्म हुआ। महाराष्ट्र की ही तरह दक्षिण में भी इस आंदोलन की दो धाराएं प्रस्फुटित हुईं एक अनुदारवादी और दूसरी प्रजातांत्रिक। अनुदारवादी विचारधारा सन् 1917 में संस्थापित 'जस्टिस पार्टी' के रूप में उदित हुई। जो ब्रिटिश सरकार की समर्थक और कांग्रेस विरोधी थी। इसका सामाजिक आधार था। शिक्षित ऊंचे दर्जे के जमींदार वर्ग की मध्यम जातियों में तमिलों के अंतर्गत वेल्लाल, तेलगु भाषियों में रेड्डी और कम्मा, मलयालियों में नायर सम्मिलित थे, जबकि इसके मुख्य सर्वेसर्वा धनाढ्य तमिल मध्यम जातियों के बुद्धिजीवी और उद्योगपति थे। जस्टिस पार्टी को दक्षिण के आंध्र, केरल और तमिलनाडु क्षेत्र के बड़े जमींदारों का सहयोग प्राप्त था।

ई.वी. रामास्वामी नायकर : एक सशक्त दलित आक्रोश

एक अन्य धारा 'आत्म सम्मान आंदोलन' के समर्थकों की थी जो मुख्यतया तमिल भाषी क्षेत्रों के निवासी थे जो बीसवें और तीसवें दशक में फैला। मुख्य उद्देश्य यही था कि आम जनता के हित में सामाजिक सुधार किए जाएं। इसके नेता और विचार-वेत्ता ई. वी. रामास्वामी नायकर (1879-1973) थे जिन्हें 'पेरियार' (महान आत्मा) नाम से जाना जाता है। वे एक अच्छे खाते-पीते व्यापारी परिवार से संबंध रखते थे। वे ब्राह्मणवाद और हिंदूवादी जातिवाद के सख्त खिलाफ थे। उन्होंने केरल में इझवा अछूत जाति आंदोलन को समर्थन दिया। लेकिन 'मद्रास कांग्रेस पार्टी' जिसमें ब्राह्मण आधिपत्य था इस बात पर उससे नाराज हो गई। समाज सुधारों की उनकी अपीलों और कार्यों के प्रति कांग्रेस ने विरोध जताया।[42]

दक्षिण के उग्र और क्रांतिकारी विचारों के लिए प्रसिद्ध ई.वी. रामास्वामी नायकर की छवि सर्वथा मौलिक और सामाजिक विषमताओं पर प्रहार करने वाले अग्रणी समाज

सुधारक दलित नेता के रूप में आंकी गई है। वे जीवन पर्यंत एक योद्धा की तरह जूझते रहे। उन्होंने प्रारंभ में स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया और समाज सुधारों के लिए जीवन अर्पित कर दिया। उनका व्यक्तित्त्व बहुआयामी था। उन्होंने बहुत सी प्रचलित हिंदू मान्यताओं और विचारों को चुनौती दी। दक्षिण में उन्होंने दलितों में आत्म सम्मान की भावना जाग्रत की। उन्होंने हिंदू समाज के दलित लोगों के लिए संघर्ष किया। बीसवीं सदी के प्रथम चार दशकों में यह एक शांतिपूर्ण दलित क्रांति थी। पेरियार ने बचपन में ही वैदिक साहित्य का अध्ययन करके जान लिया था कि हिंदुओं का कोई भी देवी-देवता वैध संतान नहीं है। युवावस्था में वे ब्राह्मण व्यवस्था के प्रति विद्रोही हो उठे। रूढ़ियों और हिंदू धर्म की प्रचलित आस्थाओं पर प्रहार करते हुए उन्होंने कहा कि राम ने अपनी पत्नी को गर्भावस्था में त्याग दिया, पांडव पत्नी को जुए में हार गए, दशरथ और भीष्म पुत्र कामना के लिए ऋषियों के पास अनुनय-विनय करते हैं, मुनि उद्दालक और उनके पुत्र श्वेतकेतु के सम्मुख ब्राह्मण मुनि उद्दलक की पत्नी से बलात्कार करता है और वह बेबस चिल्लाती रह जाती है। पेरियार ने अपनी पत्नी नागम्मई को हिंदू धर्म की भ्रांतियों, कमजोरियों और अनैतिक आस्थाओं से परिचित कराया तो वह भी उनके सामाजिक सुधारों और दलित क्रांति के प्रयासों की सक्रिय समर्थक बन गई। वेद और धर्मशास्त्रों में वर्णित दलित विरोधी आलेखों को उन्होंने पूरे दक्षिण भारत में उजागर किया और सदियों से दासता और अस्पृश्यता से प्रताड़ित लोगों में चेतना का संचार किया। धीरे-धीरे उनका समाज-सुधार का आंदोलन दलितों में नई जाग्रति का संदेश बनकर उभरा और दलित अंधेरे से निकलकर आत्म-सम्मान और प्रगति के रास्ते पर चल पड़े। यह दलितों में नई सामाजिक क्रांति का संदेश था।

शुरू में पेरियार ने कांग्रेस के ध्वज के तले ब्रिटिश राज द्वारा दलित उपेक्षा की ओर सरकार और समाज का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने विदेशी स्कूलों का बहिष्कार किया, अछूतोद्वार का आंदोलन चलाया, सामाजिक न्याय और सामाजिक समता की बात की। नशाबंदी का नेतृत्व किया। सरकारी अदालतों का बहिष्कार किया। अछूतों को मंदिर प्रवेश और सार्वजनिक स्थानों के उपयोग के लिए संगठित किया। यहां तक कि वे 9 मई, 1925 को महात्मा गांधी ने वाइकोम मंदिर प्रवेश पर उन्हें समझाना चाहा, पर वे अपने दृढ़ संकल्प से विचलित नहीं हुए।

गांधीजी ने ब्राह्मणों को समझाया :

"यदि दलितों को ब्राह्मणों से सड़कों पर चलने की इजाजत नहीं मिलती है तो आंदोलन दिन पर दिन तेज होगा और वे मंदिरों में प्रवेश के लिए भी आवाज उठाएंगे।" अंततः पेरियार की संगठन शक्ति और जनमानस में गहरी पैठ के कारण ब्राह्मणों को झुकने के लिए मजबूर होना पड़ा। दक्षिण में दलित आंदोलन की यह बहुत बड़ी विजय थी। देश-विदेश के पत्रों में भी इसकी चर्चा होना स्वाभाविक बात थी।

पेरियार ने स्पष्टतः कहा–

> "भारत में जब तक ईश्वर का अस्तित्त्व रहेगा, तब तक छुआछूत रहेगी। छुआछूत एक ऐसा घिनौना आविष्कार है, जिससे अछूतों को पशुओं से बदतर माना गया

है। मंदिर बनाने की प्रक्रिया से लेकर मंदिर में मूर्ति को स्थापित करने तक तो न वह जगह अपवित्र होती है और न मूर्ति ही। जब मंदिर बनकर तैयार हो जाता है तो उसमें मूर्ति की स्थापना कर दी जाती है। तो पशुओं के मूत्र आदि से उसे इतना पवित्र बना दिया जाता है कि अछूत आदमी उसे छू न पाए। जिस देश में अस्पृश्यता जैसी प्रथा चालू है वह देश अग्नि, जल-प्रलय, भूकंप आदि से नष्ट क्यों नहीं हो जाता। ऐसी स्थिति में जब अस्पृश्यता युगों से चली आ रही हो और समझ से बाहर हो, तो संसार में यह कैसे संभव हो सकता है कि हम ईश्वर की कृतज्ञता, दया, आदि गुणों का गुण ज्ञान करते रहें और उसकी आराधना के लिए तत्पर रहें।"

अछूत समुदाय से पेरियार ने स्पष्टतः सामाजिक-क्रांति का आह्वान करते हुए कहा कि वे अपने शोषण-उत्पीड़न और दासता से मुक्ति पाने के लिए शक्ति प्रयोग करें :

पेरियार ने कहा :

"अस्पृश्य लोगों के लिए क्या यह वांछनीय नहीं है कि वे शक्ति अथवा हिंसा के बल पर इन विषमताओं से स्वतंत्रता प्राप्त करें या अपने को इस प्रयत्न में समाप्त कर डालें। जिस देश में ऐसी प्रथा का प्रचलन हो क्या वह देश राजनीतिक स्वतंत्रता तथा स्वराज्य की अपेक्षा कर सकता है। अस्पृश्यता का कारण राजनैतिक दासता नहीं, यह तो केवल मात्र हिंदू धर्म की देन है। समाज सुधारकों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे इस अस्पृश्यता रूपी राक्षस का हनन कर डालें। यदि आवश्यकता पड़े तो हिंदू धर्म को भी नष्ट कर डालें।"

यह एक ऐसे महापुरुष की वेदना ही नहीं थीं, वरन् लाखों-करोड़ों मूक और असहाय लोगों की वाणी थी, जो सदियों की दासता, अत्याचारों की शृंखला, सामाजिक भेदभावों और विषमताओं और इन सबसे ऊपर अस्पृश्यता जैसी घिनौनी प्रथा के विरुद्ध पेरियार के मुख से प्रस्फुटित हुई।

सन् 1921 में उनकी अध्यक्षता में 'तमिलनाडु कांग्रेस' का अधिवेशन शूवनमल्हाई नामक स्थान पर हुआ। इस अधिवेशन में उन्होंने दलित अधिकारों की खुलकर वकालत की। जिस दलित समाज को सामाजिक विषमता, अस्पृश्यता और आर्थिक शोषण के विषैले नागपाश से ब्राह्मण वर्ग ने सदियों से जकड़ रखा था उसे पेरियार ने अपने क्रांतिकारी चिंतन से एक झटके में हटा दिया। उन्होंने पूरे दक्षिण भारत में दलित आंदोलन को एक नई गति, एक नई स्फूर्ति प्रदान की। पूरे लोकमानस को झकझोर दिया। उच्च वर्गों में इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। लेकिन पेरियार के पीछे लोक शक्ति थी। ब्राह्मण वर्ग और अन्य ऊंची जातियों के लोग उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए, लेकिन पेरियार के तर्कों और वाकपटुता के सम्मुख उनकी एक भी नहीं चली।

महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, राजगोपालाचारी जैसे शीर्षस्थ नेता उनके तर्कों के आगे निरुत्तर थे। राजगोपालाचारी उनके अभिन्न मित्र थे। लेकिन पेरिचार ही उनके कटु आलोचक थे।

सन् 1925 में जब वे दक्षिण में कांग्रेस के प्रतिष्ठित नेता थे कांग्रेस के कांचीपुरम्

अधिवेशन में गैर-ब्राह्मणों और समस्त दलित वर्ग के नेताओं को साथ लेकर एक मसविदा तैयार करने में प्रवृत्त हुए जिसका आशय था कि ब्राह्मणों को उनकी आबादी के अनुपात से आरक्षण कर दिया जाए। पेरियार के इस क्रांतिकारी चिंतन से ब्राह्मण वर्ग में खलबली मच गई। निसंदेह वैचारिक धरातल पर वे डॉ. अम्बेडकर और अन्य समकालीन दलित चिंतकों से बहुत आगे थे।

उस सामाजिक परिवेश में सामाजिक-समता और सामाजिक न्याय का जो क्रांतिकारी उद्घोष पेरियार ने किया वह कोई सोच भी नहीं सकता था। यद्यपि उनकी आवाज दक्षिण भारत के दलितों को दृष्टि में रखकर उठी थी, लेकिन उसकी ध्वनि पूरे देश में प्रतिध्वनित हुई। गांधी उनके नाम से कांपते थे। शासन थर्राता था। अछूत उन्हें अपना मानते थे।

सन् 1931 में वे योरोपीय देशों के दौरे पर गए। अम्बेडकर तब गोल मेज परिषद वार्त्ताओं में संलग्न थे। उन्होंने रूस, जर्मनी, इंगलैंड, फ्रांस, स्पेन आदि देशों की यात्रा की।

जस्टिस पार्टी

कांग्रेस के दो पुराने नेता डॉ. टी. एम. नायर, सी. एन. मुदलियार एवं सी.पी. त्यागराज चेट्टियार ने जस्टिस पार्टी की स्थापना की थी। नायकर 1923-1926 के मध्य कांग्रेस की अंदरूनी सत्ता की लड़ाई को जानते थे। उन्होंने स्पष्ट किया कि वे अंतरतम से पूर्ण राष्ट्रीय और भारतीय हैं और सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व वाली जस्टिस पार्टी से इसलिए जुड़े हैं कि यह गैर-ब्राह्मण आंदोलन को बढ़ावा देती थी। मद्रास कांग्रेस पार्टी भी इसे मानती थी। रामास्वामी ने ही गैर-ब्राह्मणों के लिए 50 प्रतिशत का आरक्षण दिलाया। 'मद्रास प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' की स्थापना की जिसमें राष्ट्रीय स्तर के ब्राह्मण भी थे, जिन्होंने गैर-ब्राह्मणों को प्रतिनिधित्व का सिद्धांत स्वीकार किया।

'आत्म सम्मान आंदोलन' की वजह से ही रामास्वामी ने कांग्रेस का परित्याग किया था। उन्होंने कहा द्रविड़ जाति की अपनी जातीय मौलिकता है। आर्य परिवार से द्रविड़ परिवार की भाषाएं अलग हैं। उन्होंने कहा कि उनकी इच्छा उत्तर-दक्षिण के परस्पर विरोधी तत्त्वों को एक सूत्र में पिरोने से है। उन्होंने कहा जाति में उनका विश्वास नहीं। उन्होंने कहा कि वे द्रविड़ों को मानवीय आधार पर उनके अधिकार दिलाना चाहते हैं। कुछ बातें निम्न जातियों की प्रगति में बाधक हैं। सन् 1938 में रामास्वामी नायकर जस्टिस पार्टी के अध्यक्ष बने, जबकि वे कारागार में थे।

वे हिंदू धर्म के सबसे मुखर कटु आलोचक थे। इसमें दो राय नहीं कि यदि वे उत्तर भारत में पैदा होते थे दक्षिण भारत की तरह अछूतों के न सिर्फ मसीहा होते वरन् सामाजिक क्रांति के अगुआ बनते। उत्तर भारत के पूर्वअस्पृश्य उन्हें आदर और महान् समाज सुधारक के रूप में मानते हैं।[43]

सुमित सरकार ने मद्रास के गैर-ब्राह्मण आंदोलन का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—

"राजनीतिक दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था 'जस्टिस आंदोलन'। इसकी स्थापना मद्रास में 1915-16 के आसपास मंझोली जातियों की ओर से हुई थी। (इन मंझोली जातियों में रेड्डी, कम्मा और बेल्लाल, नायडू और मलयाली नायर भी सम्मिलित थे।) इसमें अनेक समृद्ध भूस्वामी और व्यापारी थे और उन्हें शिक्षा, सेना एवं राजनीति के क्षेत्रों में ब्राह्मणों का वर्चस्व देखकर ईर्ष्या होती थी। ब्राह्मण मद्रास प्रेसीडेंसी की जनसंख्या का केवल 3.2 प्रतिशत थे, लेकिन 1912 में 55 प्रतिशत डिप्टी कलेक्टर और 72.6 प्रतिशत जिला मुंसिफ ब्राह्मण ही थे। बड़े जमींदार भी ब्राह्मण ही थे, विशेषकर तंजावुर में, और कृषि-कर्म के प्रति उच्च जातियों के निषेध एवं शहरों में व्यवसाय करने के कारण ये ब्राह्मण जमींदार प्रायः अपनी जमींदारी से बाहर ही रहते थे। एनी बेसेंट के ब्राह्मण-प्रधान होमरूल लीग आंदोलन से उत्पन्न होनेवाले भय का लाभ उठाने में मद्रास के अंग्रेज अधिकारी, पत्रकार एवं व्यापारी पीछे नहीं रहे। डी. वेल्बी ने, जो *मद्रास मेल* के संपादक थे और मद्रास शहर के अंग्रेज व्यापारियों के हितों के प्रवक्ता थे, मांटेग्यू द्वारा दिए गए उत्तरदायी शासन के वादे का कड़ा विरोध किया ('और इंगलैंड की आवाज शेर की वह दहाड़ नहीं रह गई है जिससे वे परिचित थे, अपितु इस बंजारे यहूदी की फुसफुसाहट बनकर रह गई है'—*मद्रास मेल*, 19 सितंबर 1917), और उभरती हुई 'जस्टिस पार्टी' से दोस्ती गांठी। 'जस्टिस पार्टी' ने भी अपनी राजभक्ति दिखाने में कोई कसर नहीं उठा रखी। उसे आशा थी कि इसके पारितोषिक रूप में उसके सदस्यों को अधिक नौकरियां और नई विधायिकाओं में अधिक प्रतिनिधित्व मिलेगा। 20 दिसंबर, 1916 के गैर-ब्राह्मण घोषणापत्र में ऐसी किसी भी बात के प्रति विरोध प्रकट किया गया था "जो अंग्रेज शासकों के सत्ताधिकार को किसी भी प्रकार ठेस पहुंचाने का प्रयास करे।...केवल अंग्रेज सरकार ही धर्मों और वर्गों के बीच न्याय कर सकती है।" इस मित्रता को इस बात से और बढ़ावा मिला कि जस्टिस पार्टी के नेता एक अत्यंत विशिष्ट समूह से संबद्ध थे, जिन्हें धन मुख्यतः जमींदारों से ही प्राप्त होता था। किंतु गैर-ब्राह्मणों की शिकायतें भी वास्तविक थीं, जैसाकि 1917 में राष्ट्रीयता-समर्थक मद्रास प्रेसीडेंसी एसोसिएशन की स्थापना से प्रकट है। इसने भी अलग प्रतिनिधित्व की मांग की। आगे चलकर 1920 के दशक में तमिलनाडु में ई.वी. रामास्वामी नायकर के नेतृत्व में एक जुझारू एवं लोकप्रिय ब्राह्मण-विरोधी एवं जाति-विरोधी आंदोलन विकसित हुआ।"[44] पेरियार की दलित क्रांति दक्षिण भारत में गांव-नगर, सब जगह चर्चा का विषय बन गई। लोगों में चेतना और स्वाभिमान जाग उठा।

पेरियार का विरोध

पेरियार का विरोध भी हुआ। रामास्वामी के आंदोलन में वैचारिक भिन्नता और टूटन के शुरू में ही आसार नजर आने लगे थे। यह इसलिए कि उनके साथी साम्यवादी-समाजवादी

दलों में चले गए। सुमित सरकार के शब्दों में—

"सन् 1930 के प्रारंभ में कम्युनिस्ट नेता सिंगारवेलू एम. चेट्टियार एवं पी. जीव नंदन ने पेरियार को सहयोग दिया। उनके 'आत्म सम्मान आंदोलन' के बहुत से सदस्य बाद में कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट आंदोलन में चले गए।"[45] वे एकपक्षीय अछूत समूचा से ऊबे लोग थे।

उनके आंदोलन में जो विचारक प्रगतिशील सिद्धांतों को मानते थे वे भी धीरे-धीरे उन्हें छोड़ गए। बाद में पिछड़े वर्गों की मध्यम जातियां जो जमींदार थीं और धनी थीं वे अपने ही समाज की कमजोर-गरीब जातियों को हेय समझने लगीं"।[46]

गैर-ब्राह्मण आंदोलन ने विभिन्न स्तरों की अनेक गैर-ब्राह्मण जातियों को एकता के सूत्र में पिरोने का कार्य संपन्न किया। लेकिन धीरे-धीरे उनमें आपस में ही वैमनस्य और प्रतियोगिता बढ़ती गई। इसका कारण था कि मध्यम और ऊंची हैसियत की ये जातियां जो ब्राह्मण प्रभुत्व के विरुद्ध थीं अब अपने-अपने क्षेत्र के राजनीतिक जीवन में वर्चस्व के लिए परस्पर संघर्ष पर उतारू हो उठीं।[47] दिखावे के लिए उनमें एकता थी, अंदर टूटन। आर्थिक और भौतिक समृद्धि गैर-ब्राह्मणों में भी हावी हो गई और अपनी जाति के लोगों की उपेक्षा में प्रवृत्त होने लगी।

ए. रामास्वामी मुदालियार

सुप्रसिद्ध शिक्षाविद्, समाज सुधारक तथा पेरियार के एक अनन्य सहयोगी ए.आर. मुदालियार थे, जो मद्रास प्रांत की 'जस्टिस पार्टी' के नेता और अछूतोद्धार के जाने-माने सक्रिय-शीर्षस्थ कार्यकर्त्ता थे। उन्होंने गैर-ब्राह्मण आंदोलन को गतिशील बनाया। वे पेरियार के साथ बड़ी दृढ़ता के साथ खड़े रहे। उन्होंने दलितों को संगठित होकर अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए आगे आने की बात की। उन्होंने ब्राह्मण वर्ग पर प्रहार करते हुए कहा—

> "गैर-ब्राह्मण वर्ग के हित के विरुद्ध ब्राह्मण वर्ग ने जो भूमिका अदा की है वह बेकार नहीं गई। ब्राह्मण संपादकों ने जो दैनिक पत्रों में प्रकाशित किया वह बहुत ही निम्न कोटि का प्रचार था। साधारण जनता पर इसका असर पड़ा। पेरियार की सेवाएं जस्टिस पार्टी को अब प्राप्त हो रही हैं। इससे इस पार्टी को जीवन-दान मिला है।"[48]

कुछ भी हो पर पेरियार क्रांतिदर्शी नेता थे और अस्पृश्यता-जातिभेद के कलंक को मिटाने में उनकी महती भूमिका थी।

केरल का दलित आंदोलन : इझवा समाज में सामाजिक जागरण

केरल में एक लंबे अरसे से डच, पुर्तगाली और अंग्रेज आदि यूरोपीय जातियों का आवागमन रहा है। उनके धार्मिक मिशनरीज (धर्म प्रचारकों) ने अस्पृश्य और समाज के दबे कुचले

लोगों को धर्मांतरण के लिए तरह-तरह के प्रलोभन प्रदान किए, यह बात किसी से छिपी नहीं है। ऊंची जातियों से संत्रस्त अछूत और शूद्रों ने सदियों तक मुंह तक नहीं खोला।

ईसाई धर्म प्रचारक उनका समय-समय पर धर्म परिवर्तन करते रहे और बीसवीं सदी के प्रारंभ तक यह क्रम चलता रहा। इझवा परिवार में सन् 1857 में जन्मे नारायण गुरु ने बड़े होने पर अपने समाज की शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति को देखा जो बड़ी दयनीय थी। समाज में उनका कोई मान नहीं था। मालाबार, कोचीन और ट्रावनकोर (वर्तमान केरल) में इझवा या इलवान (इलवाज) बहुसंख्यक अस्पृश्य जाति है। नारायण गुरु के प्रयत्नों से 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों और बीसवीं सदी के प्रारंभ में वे सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से काफी सदृढ़ हुए। इसका मूल कारण था वे एक अच्छी आर्थिक स्थिति की किसान और ताड़ी-उद्योग में संलग्न जाति थी। उनके मध्य नारायण गुरु एक दार्शनिक, संत और समाज सुधारक के रूप में मौजूद थे। वे दलित वर्गों के एक प्रगतिशील विचारों के दूर-दृष्टा महापुरुष थे। उनके अनुयायियों ने 1902-03 में श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्' (एस.एन.डी.पी.वाई.) नामक सुधार और शैक्षिक संगठन गठित किया। इस संगठन के माध्यम से एझवा तथा अन्य दलित वर्गों में सामाजिक सुधारों, अस्पृश्यता और जाति प्रथा के निवारण का कार्य किया गया। दलितों के मंदिर-प्रवेश और पूजा-उपासना के अधिकारों की लड़ाई लड़ी गई।

नारायण गुरु ने उनको जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति के लिए प्रोत्साहित किया। सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से संपन्न और संगठित इझवा समाज ने सन् 1918 में ट्रावणकोर सरकार से अपील की कि राज्य में सभी धर्मस्थल न सिर्फ हिंदुओं वरन् दलित जातियों के लिए खोले जाने चाहिए क्योंकि सामाजिक-धार्मिक भेदभाव को प्रश्रय देना असामाजिक और अनैतिक कृत्य है। नारायण गुरु के प्रमुख अनुयायी डॉ. पल्पू और टी.के. माधवन इझवा समाज को गांधीवाद के प्रभाव में लाने में सफल हुए। उन्हें धर्मांतरण के मोह से बचाया। देश की मुख्य राष्ट्रीय धारा में जोड़ा और सामाजिक-राजनीतिक उन्नयन का पथ प्रशस्त किया।

पूरे दक्षिण भारत के आदि-आंध्र (दलित) नारायण गुरु की शिक्षाओं से प्रभावित थे। यहां तक कि सन्.1921 में इझवा जाति ने सरकार और समाज को यह धमकी भी दी कि यदि उन्हें उच्च वर्गों के समान नहीं समझा गया तो वे ईसाई धर्म अपना लेंगे। इसका आशय और संदेश यही था कि वे समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने के लिए विह्वल थे और देर तक अस्पृश्य और दलित जाति का पट्टा गले में लटकाना नहीं चाहते थे। वे तमाम सामाजिक विषमताओं के बंधन तोड़ देने के इच्छुक थे।

सन् 1924-25 में ट्रावणकोर में वैकम सत्याग्रह ने महात्मा गांधी का ध्यान आकृष्ट किया कि वे अपने प्रभाव का इस्तेमाल करते हुए केरल के गैर-ब्राह्मण और दलितों द्वारा वैकम मंदिर के परिपार्श्व से गुजरती सड़क पर चलने की पाबंदी को समाप्त कराएं। दलितों के लंबे संघर्ष के पश्चात् नम्बूद्री ब्राह्मण-पुरोहित, जो अपनी हठधर्मिता और धार्मिक संकीर्णता के लिए सुप्रसिद्ध थे, तथा तत्कालीन राज्य सरकार के मध्य अंततः समझौता हुआ कि

मंदिर को स्पर्श करता राजमार्ग दलित-अस्पृश्यों के लिए खोल दिया जाए। लेकिन सन् 1936 तक यह ज्ञात नहीं हो सका कि यथार्थ में क्या अस्पृश्य मंदिर में प्रवेश कर सकते थे या नहीं?

नारायण गुरु के सक्षम नेतृत्व में इझवा तथा अन्य अस्पृश्यों में आई चेतना, राष्ट्रीय भावना के व्यापक जोर, अम्बेडकर आंदोलन के प्रभाव, गांधी द्वारा दलित (हरिजन) कष्ट मुक्ति के प्रयास, तथा इझवाओं द्वारा ईसाई धर्मांतरण की धमकी ने राज्य सरकार को मंदिर प्रवेश प्रतिबंध निवारण के लिए विवश कर डाला। इस प्रकार देश में ट्रावणकोर पहला राज्य था जिसने इस प्रकार का कानून बनाया। इससे दलित आंदोलन को बड़ा बल मिला। डॉ. अम्बेडकर वैइकम तो नहीं जा सके, लेकिन सन् 1924 में उन्होंने महाराष्ट्र में एक दलित सम्मेलन को संबोधित करते हुए कहा था–

> "वैकम सत्याग्रह देश के लाखों-करोड़ों अछूतों के लिए सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व की घटना है। अगले वर्ष डॉ. अम्बेडकर ने पुनः दुहराया कि वैकम-सत्याग्रह दलितों की एक बड़ी उपलब्धि है। यह आश्चर्य का विषय है कि गांधी के अतिरिक्त देश के किसी अन्य समाज सुधारक और नेता ने पूजा के अधिकार के विभेद को समाप्त करने के लिए एक शब्द भी नहीं बोला।"[49]

ब्राह्मण–वर्चस्व का विरोध

सामाजिक जीवन में डॉ. अम्बेडकर के प्रवेश के डेढ़ दशक पूर्व ही तमिलनाडु में 1910 के आसपास गैर-ब्राह्मण आंदोलन जन्म ले चुका था। सच तो यह है कि सन् 1840 में सलेम के 32 पंचलारों ने यह आवाज उठाई कि समस्त महत्त्वपूर्ण सरकारी पद ब्राह्मणों को ही क्यों दिए जा रहे हैं? उन्होंने मांग की कि बिना किसी जातीय भेदभाव के सभी को सरकारी नौकरियां प्रदान की जानी चाहिए। 1896 में अनंतपुर के एक दर्जन से ऊपर लोगों ने एक ही ब्राह्मण प्रशिक्षक के परिवारी-जनों द्वारा सभी सरकारी पद हथियाने की निंदा की और इसे खतरनाक बताया।[50]

एक शताब्दी पूर्व इसी प्रकार सन् 1897 में विश्व कुलोत्थर्मा संघ, मद्रास ने ब्राह्मण वर्चस्व के विरोध में आवाज उठाई। नेल्लौर में एक परिवार के 50 ब्राह्मण सदस्यों ने माल-गुजारी विभाग की नौकरियों पर कब्जा कर रखा था। जब 1853-1854 में यूरोपियन अधिकारियों को इस बात का पता चला तो वे बहुत दुखी हुए। मद्रास रेवेन्यू बोर्ड ने सन् 1853 में जिला कलेक्टरों को अपने स्थायी आदेश में यह चेतावनी दी कि सभी जातियों के उम्मीदवारों में से भर्ती होनी चाहिए। सन् 1871 में डब्ल्यू.आ. कोर्निश, जो मद्रास के जनगणना अधीक्षक थे उन्होंने यह चेतावनी जारी की लेकिन 1880 तक इसके पालन में देरी हुई। लेकिन गैर-ब्राह्मण जागरूक थे और ब्राह्मणों पर नजर रखे हुए थे। 1890 के दशक में शैक्षिक सुधारों और शिक्षा प्रसार के कारण शिक्षित ब्राह्मण युवकों का प्रतिशत बहुत अधिक था, जबकि दो दशक तक गैर-ब्राह्मण शिक्षितों का प्रतिशत बहुत ही कम

था। नतीजतन ब्राह्मणों को ब्रिटिश सरकार की नौकरी आसानी से मिलीं। सन् 1917 में 'साउथ इंडियन लिबरल फेडरेशन' (जस्टिस पार्टी) और गैर-ब्राह्मणों के घोषणा पत्र के प्रकाशन के बाद ब्राह्मण-वर्चस्व का विरोध पूर्णरूपेण साफ या स्पष्ट हो गया। इस प्रकार मद्रास में एक क्रांतिकारी, रचनात्मक एवं सुधारात्मक आंदोलन की शुरुआत गैर-ब्राह्मणों के अधिकारों की रक्षा के लिए हुई। यह शिक्षा, रोजगार, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में ब्राह्मण और अन्य प्रमुख हिंदू जातियों के वर्चस्व के विरोध में सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष था।[51]

सत्यता यह है कि गैर-ब्राह्मण आंदोलन का नेतृत्व धनी और शक्तिशाली पिछड़ी किसान जातियों—रेड्डी, कम्मा, वेल्लाल, वेलमाज, नायर और उनके समर्थकों ने शुरू किया था। गैर-ब्राह्मणों ने स्वयं को द्राविड़ बताया और ब्राह्मणों को आर्य कहा। भारत सरकार अधिनियम, 1919 के अंतर्गत मद्रास विधान सभा की 98 चुनावी सीटों में से गैर-ब्राह्मणों को 28 सुरक्षित सीटें निर्धारित की गईं। 'जस्टिस पार्टी' के लिए यह एक बड़ी उपलब्धि थी। नवंबर, 1927 में एक जातीय उदाहरण के सरकारी आदेश में सरकारी नौकरियों में जातीय अनुपात का निर्धारण कर दिया गया। जो इस प्रकार था—12 नियुक्तियों की एक यूनिट में 5 गैर-ब्राह्मण हिंदुओं के लिए (41.7%) दो प्रत्येक ब्राह्मण, ऐंग्लो-इंडियन और ईसाईयों तथा मुस्लिम के लिए (16.7%) और एक (8.3%) अन्यों हेतु निर्धारित की गई। यहां यह स्मरणीय है कि मद्रास प्रेसीडेंसी में ब्राह्मणों की कुल आबादी मात्र 3 प्रतिशत है, जबकि गैर-ब्राह्मण आंदोलन से पूर्व उनको ब्रिटिश सरकारी नौकरियों में ऊंची नौकरियों में शत-प्रतिशत और छोटी जगहों में काफी अच्छा प्रतिनिधित्व प्राप्त था। यह तर्क दिया जाता है कि गैर-ब्राह्मण आंदोलन से फायदा उठाने वालों में अगड़े गैर-ब्राह्मण जातियों के लोग थे और सबके लिए समान अवसर और किसी को अन्याय न होने की बात ही खत्म हो जाती है। सन् 1920-1950 के मध्य तीन दशकों में शक्तिशाली गैर-ब्राह्मणों ने सामाजिक-राजनीतिक प्रगति हासिल की। जबकि इस बीच दलित जातियों के लोग जो अछूत और शूद्र थे तथा पिछड़ी जातियों के हिंदू बहुत ज्यादा फायदा नहीं उठा सके।[52]

सन् 1923 में मद्रास के प्रमुख दलित नेता एम.सी. राजा ने राज्यपाल से एक प्रतिनिधिमंडल के साथ भेंट की जिसमें जस्टिस पार्टी पर आरोप लगाया गया कि उसने विधानसभा, स्थानीय निकायों, सरकारी नौकरियों और शिक्षा में दलितों को सहूलियतें नहीं दी हैं। उन्होंने मांग की कि दलित जातियों के विद्यार्थियों को अधिकाधिक छात्रवृत्तियां प्रदान की जाएं और प्रवेश नीति को उनके मामले में उदार बनाया जाए। 'आदि-द्रविड़ महाजन सभा' की ओर से राजा ने सन् 1924 में राज्यपाल से यह मांग की कि दलितों का एक सदस्य मंत्रिमंडल और कार्यसमिति में लिया जाए और दलित जाति कल्याण विभाग खोला जाए। सन् 1928 के दौरान जब साइमन आयोग भारत में आया तो कांग्रेस ने इसके देशव्यापी दौरे का विरोध किया। 'आदि-द्रविड़ महाजन सभा' ने साइमन आयोग का स्वागत किया और दलितों के लिए 'पृथक् निर्वाचन मंडल' की मांग की। 'मद्रास दलित वर्ग महासंघ' के प्रांतीय अधिवेशन और अन्य अधिवेशनों में इन मांगों के प्रति निष्ठा प्रकट

की गई और ब्रिटिश राज से आग्रह किया गया कि यदि सत्ता सौंपी गई तो हिंदू वर्चस्व वाले कांग्रेस राज में उन्हें कुचल दिया जाएगा। राजा ने अम्बेडकर के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य किया और भारत अधिनियम, 1935 के अंतर्गत मद्रास के दलितों के लिए 215 सीटों में से विधानसभा की सदस्यता के लिए 30 सीटों के प्रावधान की लड़ाई जीती।[53]

मद्रास की 'जस्टिस पार्टी' की सरकार के विरुद्ध 1923 में अविश्वास प्रस्ताव आया। यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। 'शिल्पकार जाति संगठन' (विश्व ब्राह्मण समाज) ने जो सामाजिक दृष्टि से पिछड़े थे पी.जी. रामामूर्ति और मद्रास विधान परिषद के अन्य 27 सदस्यों की मदद से सन् 1932 में विश्व ब्राह्मणों को दलित वर्ग सूची में सम्मिलित किए जाने की मांग की। राजमुन्द्री के 'विश्वकर्मा युवजन संघ' और 'साहित्यिक संघ' ने इस मांग का समर्थन किया; लेकिन सरकार ने इस मांग को यह कहकर ठुकरा दिया कि इससे अन्य दलित जातियों और गैर-ब्राह्मणों के अधिकारों पर कुठाराघात होगा। सन् 1934 में पुनः रामामूर्ति और अन्य लोगों ने विश्व ब्राह्मण, सेट्टी बालिजों, चकलियों, देवाङ्गों, नाडरों, नम्बूद्री ब्राह्मणों और अन्य पिछड़ी जातियों के लिए दलित जाति सूची में जोड़े बिना प्राथमिकता के आधार पर सहूलियतों की मांग की यह मांगें बाद के वर्षों में भी दुहराई गईं।[54]

दलित जातियों के साथ-साथ इस प्रकार मद्रास में पिछड़ी जातियों का सहूलियतें प्राप्त करने का आंदोलन तेजी पकड़ता गया। ये वे दिन थे जब सारे भारत का सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्य बदल रहा था। पूना पैक्ट (गांधी अम्बेडकर समझौता) तथा सवर्ण हिंदुओं द्वारा हरिजनों के लिए कार्य करने के निर्णयों से गैर-ब्राह्मण जातियां भी उत्साहित थीं।

इस बीच दक्षिण की गैर-ब्राह्मण वन्नियार जाति भी अपने अधिकारों के लिए दावे पेश करने लगी।

सन् 1935 में वन्नियार ने अलग से प्रतिनिधित्व मांगा और उसके नेता नानजप्पा ने दावा किया कि वे पूरी जनसंख्या के 6.3 प्रतिशत के अनुपात में हैं और उनकी पूरी तरह उपेक्षा कर दी गई है। सन् 1938 में 'वन्नियकुल क्षत्रिय महासंगम' ने जिसकी मद्रास में सन् 1888 में स्थापना हुई थी यह मांग रखी कि शिक्षा और रोजगार में उन्हें प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए। सन् 1938 से 1940 तक वन्नियार यह कहकर ब्रिटिश राज पर दबाव बनाए रहे कि उन्होंने तो गरीब-पिछड़ी जातियों को सदा न्याय दिया है लेकिन 'जस्टिस पार्टी' और ब्राह्मणों ने उनकी जायज मांगों को पूर्णतः ठुकरा दिया है। केवल अगड़े गैर-ब्राह्मण ही सुविधाएं प्राप्त करने में सफल हैं।[55]

'मद्रास प्रांतीय दलित वर्ग संघ' जिसकी सन् 1932 में स्थापना हुई थी और जो सन् 1935 में एक सामाजिक, गैर-राजनीतिक संगठन के रूप में पंजीकृत हुआ उसने पिछड़ी हिंदू जातियों के सामाजिक आर्थिक विकास के लिए बहुत बड़ा काम किया। एम.ए.एम. नायकर, एस.ए. नानजप्पा, पी.के. रामचंद्र पदायची एवं एच.ए. गाउडर इस आंदोलन के पीछे एक मार्गदर्शक शक्ति के रूप में थे।[56]

नवंबर, 1933 में सी. वासुदेव ने दावा किया कि कुछ अगड़ी गैर-ब्राह्मण हिंदू जातियां

फायदे उठा रही है और गरीब तथा हाशिए पर पटके पिछड़े लोगों की पूर्ण उपेक्षा हो रही है। वासुदेव ने एक प्रतिनिधि मंडल के साथ राज्यपाल की कार्यकारी समिति के रेवेन्यू सदस्य से भेंट की। सन् 1937 में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के संज्ञान में यह मामला लाया गया जो मद्रास के तत्कालीन मुख्यमंत्री थे। लेकिन वे कठोर ब्राह्मण थे और उनकी मांगों को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया।

'पिछड़ा वर्ग लीग' (बैकवर्ड क्लासैज लीग) ने अपना अखबार भी निकाला। सम्मेलन किए। प्रतिनिधि मंडलों ने भेंट की और अपनी मांगें दुहराईं। अंततः 1947 में सरकारी आदेश को पुनरीक्षित करते हुए उन्हें नौकरियों, शिक्षा आदि में भागीदारी प्रदान की गई।[57]

सन् 1950 में स्वतंत्रता के पश्चात्, मद्रास हाई कोर्ट ने एक व्यवस्था देते हुए मद्रास सरकार के आदेश को संविधान विरोधी कहते हुए निरस्त कर दिया। ई.वी. रामास्वामी नायकर जिन्हें गैर-ब्राह्मण और दलित आंदोलन का शिखर नेता माना जाता है उन्होंने इस व्यवस्था के खिलाफ मोर्चा संभाला, तथा राज्यभर में 'सरकारी आदेश बचाओ' के समर्थन में विरोध जुलूस और सभाएं आयोजित की गईं। सन् 1951 में प्रदेश व्यापी प्रदर्शन-हड़ताल और सामाजिक अशांति को देखते हुए मद्रास विधान सभा ने सरकार को ऐसे कार्य करने को अधिकृत किया जिससे सभी जातियों के कल्याण के लिए जैसे कि स्कूल-कालेजों में प्रवेश, सरकारी नौकरियों में सहूलियतें प्राप्त हों।

सरकार ने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए 15 प्रतिशत, सामाजिक शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ों के लिए 25 प्रतिशत और शेष जनसंख्या के लिए खुली प्रतियोगिता के कोटे का निर्धारण कर दिया। सन् 1969 के पिछड़ा वर्ग आयोग की अनुशंसा के आधार पर एम. करुणानिधि के नेतृत्व में द्रविड़ मुनेत्र कषगम (डी.एम.के.) मंत्रिमंडल ने आरक्षण कोटा 25 से 31 प्रतिशत बढ़ा दिया और अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के मामले में 15 प्रतिशत से 18 प्रतिशत कर दिया। सन् 1979 में अखिल भारतीय अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कषगम (ए.आई.डी.एम.के.) ने जिसका नेतृत्व एम.जी. रामचन्द्रन कर रहे थे यह प्रस्तावित किया कि आरक्षण का लाभ पिछड़ों में भी अति पिछड़ों को जिन्हें कुछ भी नहीं मिला है मिलना चाहिए और देखा जाना चाहिए कि प्रभावशाली ऊपरी तबके के लोग इसे मार न ले जाएं, इसलिए पिछड़े वर्ग का आरक्षण 31 से 50 प्रतिशत बढ़ा दिया गया। इस आदेश की लोगों ने न्यायालय में विचारार्थ चुनौती दी। सन् 1982 में उच्चतम न्यायालय ने तमिलनाडु सरकार को आदेश दिया कि मौजूदा पिछड़ी जाति सूची का तथ्य पूर्ण-वैज्ञानिक पुनरीक्षण किया जाए।[58]

मद्रास में गैर-ब्राह्मण पिछड़ी जातियों में आरक्षण नीति का इस प्रकार राजनीतिकरण हो गया और कई तरह की खींचातानी हुई। इसलिए सरकार ने पिछड़ा वर्ग आयोग की रपट को सदन के पटल पर नहीं रखा जो सन् 1985 में पूरी हुई थी, वरन् कई सरकारी आदेश निकाले। शांति भंग होने और सांप्रदायिक-जातीय संघर्षों की संभावना को टालने के लिए इस रिपोर्ट के चुने हुए हिस्सों को ही आदेश के रूप में लागू किया गया। अपनी मांगें मनमाने के लिए सन् 1980-88 के मध्य वन्नियरों ने अपना भारी रोष प्रकट किया

था और संघर्ष जारी रखा था। सन् 1987 में वन्नियर आंदोलन इतना हिंसक हो उठा था कि 20 लोगों की जानें गई थीं और पुलिस तथा अनुसूचित जाति के लोगों के साथ संघर्ष हुए थे। इस संघर्ष में 20,000 से अधिक लोगों ने भाग लिया था। यद्यपि यह आंदोलन सरकारी नीति के विरुद्ध था, लेकिन उन्होंने अनुसूचित जाति के लोगों के साथ भी संघर्ष किया, यद्यपि दोनों में समानताएं अधिक थीं भले ही वह राजनीतिक पिछड़ापन हो या गरीबी का प्रश्न हो।[59]

दक्षिण के अन्य गैर-ब्राह्मण आंदोलन

अन्य जातियों में नवजागरण की लहर से प्रभावित मद्रास में **सी.आर. रेड्डी** ने **'प्रजा मित्र मंडली'** नामक संगठन की स्थापना की जिसका उद्देश्य गैर-ब्राह्मणों की सामाजिक प्रगति और राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ना था। इसे 'ब्राह्मण विरोधी मंच' के रूप में गठित किया गया था। तमिलनाडु में रेड्डी एक किसान जाति है, जिसकी सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से उपेक्षा हुई और शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ गई थी। शुरू में इस संगठन में कर्नाटक में 'लिंगायत शिक्षा निधि' और 'वोक्कालिंग संघ' एक गैर-ब्राह्मण आंदोलन के रूप में प्रतिष्ठापित हो चुके थे। इन्होंने सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ सरकारी नौकरियों में सहूलियतों की मांग की।

एक धार्मिक मत के रूप में लिंगायतों का अपना बहुत गरिमापूर्ण इतिहास रहा है। तमिलनाडु और कर्नाटक में लिंगायत एक धार्मिक समुदाय है। जिन्हें 12वीं सदी में एक प्रमुख धार्मिक मत के रूप में मान्यता मिली। फर्कुहर के मतानुसार—

> "ये लोग अधिकांशतः पहले जैन धर्म (दिगम्बर) अथवा शैव मत के अनुयायी थे। नया मत निश्चित तौर पर शैवों को एक विशेष धार्मिक आधार प्रदान करने के लिए अस्तित्त्व में आया।
>
> नम्बूद्री-ब्राह्मण केरल समाज में बहुत धनी और प्रभावशाली बन गए हैं। वे सरकार को लगान नहीं देते थे यद्यपि उनके पास बड़े-बड़े कृषि फार्म थे। उन्होंने भूमिहीन मजदूरों का शोषण किया जो कि अछूत-शूद्र थे। नम्बूद्री ब्राह्मण मंदिरों में पुरोहित थे जहां वे अछूतों को आने से रोकते थे। इस सामाजिक विषमता के विरुद्ध के. रामकृष्ण पिल्लई और मन्नथ पद्मनाभन के नेतृत्व में दलित नायरों ने भारी संघर्ष किया और ब्राह्मण वर्चस्व के खिलाफ आवाज उठाई। उन्होंने ट्रावणकोर दरबार से मांग की कि उन्हें सामाजिक और राजनीतिक अधिकार तथा उनके साथ समानता का व्यवहार किया जाए। नायर समाज ने सामाजिक सुधारों में भारी रुचि ली। शिक्षा प्रचार-प्रसार के लिए संकल्प किया। जाति की मान्यताओं को तोड़ते हुए चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को नकार दिया और सर्वधर्म समभाव को प्रोत्साहित किया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि लिंगायत धर्म के अनुयायी समय-समय पर विभिन्न जातियों से धर्मांतर करके आए हैं। अपनी सामाजिक-जातीय और धार्मिक एकता

के कारण दक्षिण भारत में लिंगायत एक शक्ति बनकर उभरे हैं।"[60]

सुमित सरकार ने मैसूर और त्रावणकोर के आंदोलनों की समीक्षा करते हुए लिखा—"1918 में मैसूर रियासत के 65 प्रतिशत राजपत्रित पदों पर ब्राह्मण समुदाय के लोगों का अधिकार था। ये मुख्यतः शहरी और कुल जनसंख्या का 3.8 प्रतिशत थे, जबकि वोक्कालिगा और लिंगायत समुदाय मुख्य ग्रामीण समूह थे। 1905-06 में एक लिंगायत एजुकेशन फंड एसोसिएशन एवं एक वोक्कालिगा संघ की स्थापना हुई। 1917 में सी. आर. रेड्डी ने, जो मद्रास के एक गैर-ब्राह्मण राजनीतिज्ञ थे और मैसूर महाराजा कॉलेज के अध्यापक थे, ब्राह्मण-विरोधी मंच पर रियासत के सर्वप्रथम राजनीतिक संगठन प्रजा-मित्रमंडली की स्थापना की। लेकिन ये संगठन मात्र शहरी व्यावसायिक गुट बनकर ही रह गए, जो केवल वैयक्तिक संपर्क के बल पर ही दरबार की राजनीति को प्रभावित करने के प्रयास करते थे।"[61]

त्रावणकोर रियासत के नम्बूद्री ब्राह्मणों का छोटा-सा वर्ग (कुल जनसंख्या में 1 प्रतिशत से भी कम) विशाल कर-मुक्त जेनमी जागीरों पर आश्रित था और शिक्षा एवं नौकरियों की स्पर्धा से प्रायः अलग रहता था। किंतु गैर-मलयाली (मराठी देशस्थ अथवा तमिल मूल के) ब्राह्मणों को रियासत में विशेष सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, और 1891 में उनके पास उतने ही प्रशासनिक पद थे जितने कि स्थानीय नायरों के पास, जो एक प्रमुख जाति थे और जिनकी संख्या 28,000 गैर-मलयाली ब्राह्मणों की तुलना में पांच लाख थी। साक्षरता का प्रसार त्रावणकोर की एक मुख्य विशेषता थी। इस साक्षरता का कारण था—ईसाईयत के इस पुराने केंद्र में मिशनरियों द्वारा इझवा एवं अन्य निम्न जातियों के बीच गहन मिशनरी गतिविधियों का चलाया जाना। साथ ही दीवान माधवराव (1860-72) ने उच्च जातियों में शिक्षा के प्रसार के प्रयत्न भी किए। 1901 में त्रावणकोर में शहरी साक्षरता 36 प्रतिशत थी, जो कलकत्ता की तुलना में कहीं बहुत अधिक थी। नायरों ने अनुभव किया कि गैर-मलयाली ब्राह्मण उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। साथ ही उन्हें सीरियाई ईसाइयों से और इझवाओं की प्रगति से भी खतरा प्रतीत हुआ। (उत्तरी त्रावणकोर में अनेक भू-स्वामी और समृद्ध व्यापारी सीरियाई ईसाइयों के समुदाय के थे और आधुनिक पत्रकारिता के क्षेत्र में भी वे अग्रणी थे।) नायरों की अनेक आंतरिक समस्याएं भी थीं : उनकी पारंपरिक मातृसत्तात्मक/संयुक्त परिवार की प्रथा तरावाड के संबंध में अनुभव किया जाने लगा था कि यह आधुनिक समय की तरावाडों के पास अधिक भूमि भी नहीं थी और बढ़ती हुई कीमतों के कारण उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। (यहां वैसी ही स्थिति बनती जा रही थी जैसी अन्य कई प्रदेशों में कुलीन वर्गों के बुद्धिजीवियों की हो रही थी)। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के साथ नायर समाज के अनेक रीति-रिवाज लज्जाजनक प्रतीत होने लगे थे, विशेष रूप से नम्बूद्री अतिथियों के सामने नायर स्त्रियों के छाती खोले जाने और उनके साथ अस्थायी संबंध स्थापित करने की प्रथा।[62]

इस सबके परिणामस्वरूप लगभग एक साथ ही अनेक प्रवृत्तियां उभरीं—समाज-सुधार, ब्राह्मण विरोधी भावनाएं, राष्ट्रवाद और यहां तक कि आमूल परिवर्तनवाद के तत्त्व भी।

इस प्रकार केरल के प्रथम आधुनिक उपन्यास, चंद्र मेनन कृत *'इंदुलेखा'* (1889) में नम्बूद्री ब्राह्मणों के सामाजिक प्रभुत्व एवं तरावाड प्रथा के कारण रूमानी प्रेम पर लगाई जानेवाली बंदिशों पर हमला किया गया है। सी.वी. रामन पिल्लई के ऐतिहासिक उपन्यास 'मार्तंड वर्मा' में नायक आनंद पद्मनाभन् के माध्यम से नायरों के खोए हुए सैन्य गौरव का आह्वान करने का प्रयास किया गया है। 1891 के 'मलयाली मेमोरियल' का संगठन करने में रामन पिल्लई अग्रणी थे, जिसने सरकारी नौकरियों में ब्राह्मणों के प्रभुत्व की आलोचना की थी। यद्यपि इसमें कुछेक ईसाई और इझवा भी थे, तथापि यह मुख्य रूप से नायरों का ही आयोजन था। 1890 के दशक के अंत तक रामन पिल्लई का समूह सरकारी अभिजन में पूरी तरह सम्मिलित हो चुका था। लेकिन 1900 के पश्चात् के. रामकृष्ण पिल्लई और मन्मथ पद्मनाभ पिल्लई के रूप में एक अधिक सशक्त नायर नेतृत्व उभरकर सामने आया। पद्मनाभ पिल्लई ने 1914 में 'नायर सर्विस सोसायटी' की स्थापना की जो आज भी जीवित है। इसमें जातिगत आकांक्षाओं के साथ कुछ आंतरिक समाज-सुधार के प्रयासों को भी स्थान दिया गया था। रामकृष्ण पिल्लई ने 1906 से लेकर 1910 तक *'स्वदेशाभिमानी'* का संपादन किया। राजदरबार के प्रति इसके आक्रामक रवैये एवं राजनीतिक अधिकारों की मांग के फलस्वरूप रामकृष्ण पिल्लई को त्रावणकोर से निष्कासित कर दिया गया। टी.एम. नायर के 'जस्टिस आंदोलन' से भी रामकृष्ण पिल्लई के कुछ संबंध रहे थे, किंतु 1916 में अपनी असामयिक मृत्यु के दो वर्ष पूर्व वे मलयालम में कार्ल मार्क्स की पहली जीवनी भी प्रकाशित कर चुके थे।

इस प्रकार की बहुमुखी गतिविधियां केवल नायर समुदाय तक ही सीमित नहीं थीं। इझवा लोगों में भी जागृति आ रही थी। ये लोग पारंपरिक रूप से नीची जाति के माने जाते थे और नारियल की खेती करते थे। नारियल उत्पादों के बाजार में विस्तार के साथ इस जाति में एक अपेक्षाकृत समृद्ध वर्ग उभरने लगा था। इझवा जागरण धार्मिक नेता श्री नारायण गुरु (लगभग 1855-1928) एवं उनके आरूविपुरम् मंदिर के इर्द-गिर्द केंद्रित था। 1902-03 में श्री नारायण गुरु, प्रथम इझवा स्नातक डॉ. पल्पू, और महान मलयाली कवि एन. कुमारन आशान ने श्रीनारायण धर्म परिपालन योगम् की स्थापना की। इस संगठन में क्विलों में (जनवरी 1905 में) एक सफल औद्योगिक प्रदर्शनी का आयोजन किया जिसके पश्चात् नायर-इझवा दंगों की बाढ़-सी आ गई। आगे चलकर 1920 में श्रीनारायण धर्म परिपालन योगम् ने गांधीवादी राष्ट्रीय आंदोलन में महत्त्वपूर्ण संबंध स्थापित किया, जबकि उससे अगली इझवा पीढ़ी निश्चित रूप से कम्युनिस्टों की ओर झुकी। आरंभ में जातिगत समितियों के माध्यम से समाज-सुधार का प्रयास शीघ्र ही आमूल परिवर्तनवाद में परिणत हो गया, और यह बात केरल के जीवन में बारंबार दिखाई देनेवाला लक्षण हो गई : ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद ने भी अपने राजनीतिक जीवन का आरंभ 1920 के दशक में नम्बूद्री वेलफेयर एसोसिएशन के कार्यकर्ता के रूप में ही किया था।[63]

संदर्भ

1. सरकार, सुमित : माडर्न इंडिया (हि.स.), पृ. 187-188
2. चन्द्रा, आर. एंड चंचरीक, कन्हैयालाल : दलित आइडेंटिटी–हिस्ट्री एंड ट्रेडीशन, पृ. 193
3. लिंच, ओवन एम. : पॉलिटिक्स ऑफ अनटचेबिल्टी, पृष्ठ 66 तथा आगे।
4. वही, पृ. 67-70
5. वही, पृ. 72-73, 75
6. वही, पृ. 76-77
7. वही, पृ. 78-79
8. वही, पृ. 80
9. वही, पृ. 81
10. वही, पृ. 82
11. वही, पृ. 83
12. वही, पृ. 84-85
13. विस्तृत अध्ययन को देखें ओवन एम. लिंच : पॉलिटिक्स ऑफ अनटचेबिल्टी, पृ. 66-86
14. दृष्टव्य डीन्कर, डी.सी. : स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान, पृ. 83-86
15. लिंच, ओवन, एस : पॉलिटिक्स ऑफ अनटचेबिल्टी, पृ. 66
16. देखें चंचरीक, कन्हैयालाल : कोली जाति का इतिहास तथा राय, डॉ. शिवानी; कोली कल्चर, इम्पीरियल गजेटियर (बम्बई), मेमोरेंडम ऑन इंडियन स्टेट्स आदि संदर्भ।
17. के.एल. मोहनपुरिया (पूर्व सचिव, विधि, न्याय एवं कंपनी कार्य मंत्रालय, भारत सरकार) से वार्त्तालाप के आधार पर।
18. सन् 1868 की बिलासपुर जिले की लैंड रेवेन्यू सैटिलमेंट रिपोर्ट के आधार पर बाब, लारेंस, स. : सतनामीज पॉलिटिकल इन्वालमेंट ऑफ ए रिलीजियस मूवमेंट पृ. 143-151 (महार, जे. माइकेल द्वारा संपादित अनटचेबिल्स इन कन्टेम्परेरी इंडिया में शोध-पत्र)
19. वही, पृ. 144-145
20. वही, पृ. 145
21. वही, पृ. 145
22. वही, पृ. 145
23. वही, पृ. 146
24. वही, पृ. 150
25. चंचरीक, कन्हैयालाल : कोली जाति का इतिहास, पृ. 208-209
26. दृष्टव्य चन्द्रा एंड चंचरीक, पृ. 195
27. उपरोक्त, पृ. 196
28. चंद्रा, आर. एवं चंचरीक, कन्हैयालाल : दलित आइडेंटिटी हिस्ट्री एंड ट्रेडीशन, पृ. 194
29. इकनामिक एंड पालिटिकल वीकली, बंबई अंक 7-8 (1979), पृ. 256, 259
30. यूरलोवा, ई.एस. : शिडयूल्ड कास्ट्स इन इंडिया, पृ. 71
31. काम्बले, जे.के. : राइज एंड अवेकिनिंग ऑफ डिप्रैस्ड क्लासेज इन इंडिया, पृ. 71
32. अम्बेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचैज, खंड 2, पृ. 491-500 एवं यूरलोवा, पृ. 83
33. चंद्रा एंड चंचरीक, पृ. 194 तथा अखिल भारतीय हरिजन लीग की वार्षिक रिपोर्ट्स 1947-1980
34. चंद्रा एंड चंचरीक, पृ. 193-194
35. सरकार, सुमित, पृ. 192

36. परांजपे, ए.सी. : कास्ट प्रिजुडिस, एंड इंडिवीज्युल, पृ. 28-29 (चंद्रा एंड चंचरीक से उद्धृत, पृ. 157)
37. उपरोक्त, पृ. 29 (चंद्रा एंड चंचरीक द्वारा पृ. 158 पर उद्धृत)
38. उपरोक्त, पृ. 30 (चंद्रा एंड चंचरीक द्वारा उद्धृत, पृ. 138-139)
39. उपरोक्त, पृ. 31-32
40. उपरोक्त, पृ. 32
41. राम, एन. : द्राविडियन मूवमेंट इन इट्स प्री-इंडिपेंडेंस-फेज, इकनामिक पॉलिटिकल वीकली, फ़रवरी 1979 (वार्षिक अंक)
42. यूरलोवा, ई.एस. : शिडयूल्ड कास्ट्स इन इंडिया, पृ. 58-59
43. चंद्रा एंड चंचरीक, पृ. 192-193 तथा द्रौपदी हरित, पृ. 194-206, 208
44. सरकार, सुमित : माडर्न इंडिया (हि.सं), पृ. 188-
45. सरकार, सुमित : माडर्न इंडिया (1885-1947), पृ. 244, 288 यूरलोवा, पृ. 61
46. उपरोक्त, पृ. 62
47. वही, पृ. 62
48. हरित, द्रौपदी, पृ. 207
49. चंद्रा, आर एंड चंचरीक, के.एल : दलित आइडेंटिटी हिस्ट्री एंड ट्रेडीशन, पृ. 189-191
50. चंद्रा, एंड चंचरीक : दलित आइडेंटिटी, पृ. 184-185
51. वही, पृ. 185
52. वही, पृ. 185-186
53. वही, पृ. 186-187
54. वही, पृ. 187
55. वही, पृ. 187
56. वही, पृ. 187-188
57. वही, पृ. 188
58. वही, पृ. 188-189
59. वही, पृ. 189
60. वही, पृ. 191-192
61. सरकार, सुमित, पृ. 189-190
62. वही, पृ. 190
63. वही, पृ. 191

5

डॉ. अम्बेडकर और दलित आंदोलन की दिशा

प्रथम चरण
(1916-1926)

"डॉ. अम्बेडकर के नेतृत्व में महाराष्ट्र का महार समुदाय दलित जागृति और राजनीतिक सक्रियता में अनेक दलित समुदायों के लिए हरावल दस्ते की तरह रहा है। परंतु महार राजनीति आंदोलन के परिणामस्वरूप भी दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां उभरी हैं। एक तो दलितों का एक भाग विभिन्न प्रकार की सरकारी 'सहूलियतों' का लाभ उठाकर बुर्जुआ वर्ग में शामिल हो रहा है। उसका गांवों और गरीबों से विशेष संपर्क नहीं रह गया है। दूसरे गुणवत्ता और सुरक्षा की दृष्टि से अधिकतर दलितों की जीवन-परिस्थितियों में गिरावट आ रही है।"[1]

फुले युग से ही महाराष्ट्र के महारों में शिक्षा के प्रभाव राजनीतिक चेतना और नौकरी के कारण आर्थिक संपन्नता के साथ-साथ सांस्कृतिक क्रांति और संस्कृतीकरण की भावना ने भी जोर मारा है।

फिर भी जातीय भेदभाव के कारण ब्राह्मण-मराठों में उनका सामाजिक दर्जा नीचे का था।

भारत में दलित-आंदोलन के संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका के प्रथम चरण में हम उनके कई रूप देखते हैं। इन्हीं के आधार पर उनकी गहन शोध-परक अध्ययन वृत्ति और सामाजिक सक्रियता का अध्ययन किया जा सकता है। इस संबंध में निम्न बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है :

1. जाति प्रथा के उद्‌गम और विकास के गंभीर अध्येता

डॉ. अम्बेडकर को प्रथमतः सन् 1916 में जब वे 'कोलंबिया विश्वविद्यालय', न्यूयॉर्क के शोध छात्र थे तभी से उन्हें हम भारत में जातिप्रथा के एक गंभीर अध्येता के रूप में पाते हैं। 9 मई, 1916 को डॉ. गोल्डन वाइज़र ने कोलंबिया विश्वविद्यालय में नृविज्ञान

पर गोष्ठी आयोजित की और अम्बेडकर को भारत में 'जातिप्रथा संरचना, उत्पत्ति और विकास' पर शोध प्रबंध पढ़ने के लिए आमंत्रित किया। इस प्रबंध में डॉ. अम्बेडकर ने जाति प्रथा के आधार पर जाति तंत्र की प्रकृति पर प्रकाश डाला और नृजाति विज्ञान के विद्वानों के विचारों का उदाहरण देते हुए 'जाति' को परिभाषित किया। जाति प्रथा के प्रचलन की मान्यताओं की व्याख्या की।

एक स्थल पर डॉ. अम्बेडकर ने लिखा : ...''शुरू में मैं एक बात याद दिलाऊं कि अन्य समाजों के समान भारतीय समाज भी चार वर्णों में विभाजित था, ये हैं : (1) ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग (2) क्षत्रिय या सैनिक वर्ग (3) वैश्य अथवा व्यापारिक वर्ग (4) शूद्र अथवा शिल्पकार वर्ग या श्रमिक वर्ग। इस बात पर उन्होंने इसमें बताया कि आरंभ में यह अनिवार्य रूप से वर्ग विभाजन या श्रम विभाजन का आदिम स्वरूप था। इसके अंतर्गत व्यक्ति-दक्षता के आधार पर अपना वर्ण बदल सकता था और इसीलिए वर्णों को व्यक्तियों के कार्यों की परिवर्तनशीलता स्वीकारी थी। हिंदू इतिहास में किसी समय पुरोहित वर्ग ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया और इस तरंह स्वयं सीमित प्रथा से जातियों का सूत्रपात हुआ। दूसरे वर्ण भी समाज विभाजन के सिद्धांतानुसार अलग-अलग खेमों में बंट गए। कुछ का संख्या बल अधिक था तथा कुछ का नगण्य। वैश्य और शूद्र वर्ण मौलिक रूप से वे तत्त्व हैं, जिनकी जातियों की अनगिनत शाखा, प्रशाखाएं कालांतर में उभरी हैं। क्योंकि सैनिक व्यवसाय के लोग असंख्य समुदायों में सरलता से विभाजित नहीं हो सकते, इसलिए यह वर्ण सैनिकों और शासकों के लिए सुरक्षित हो गया।

समाज का यह उप-वर्गीकरण स्वाभाविक है। किंतु उपरोक्त विभाजन में अप्राकृतिक तत्त्व यह है कि इससे वर्णों में परिवर्तनशीलता के मार्ग अवरुद्ध हो गए और वे संकुचित बनते चले गए, जिन्होंने जातियों का रूप ले लिया।''

उनका यह प्रबंध एक वर्ष उपरांत 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी', बंबई की शोधपत्रिका 'इंडियन एंटीक्वेरी' के मई, 1917 के अंक में प्रकाशित हुआ।[2]

2. अस्पृश्यता और सामाजिक विषमता : विषपायी अम्बेडकर

कोलंबिया में डॉ. अम्बेडकर ने जून 1916 में 'नेशनल डिवीडेंड फॉर इंडिया : ए हिस्टॉरिक एंड एनेलीटिक स्टडी'[3] विषय पर डाक्टरेट के लिए शोध प्रबंध प्रस्तुत किया, जो बाद में 'ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त व्यवस्था का विकास' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस प्रबंध के अंत में उन्होंने सामाजिक उत्पीड़न और सामाजिक अन्याय पर प्रकाश डाला और जोर डाला कि राजनीतिक ताकत के बिना कोई देश कैसे तरक्की कर सकता है? अमेरिका में उच्च शिक्षा समाप्त कर अर्थशास्त्र आदि की पढ़ाई हेतु जून, 1916 में वे 'लंदन स्कूल ऑफ इकनॉमिक्स एंड पॉलिटिकल साइंस' तथा बैरिस्टरी हेतु 'ग्रेज़ इन' में प्रवेश ले चुके थे। लेकिन लंदन में शिक्षा के एक वर्ष के पश्चात उन्हें नए संकट से गुजरना पड़ा। अनुबंध के अनुसार बड़ौदा के महाराज सयाजीराव ने उनकी छात्रवृत्ति नहीं बढ़ाई, न उन्हें ब्रिटेन में पढ़ने की अनुमति प्रदान की।

बीच में पढ़ाई छोड़कर अंततः जुलाई, 1917 में उन्हें विवश भारत लौटना पड़ा। वे महाराजा बड़ौदा के सैनिक सचिव बने ताकि भविष्य में उन्हें राज्य का वित्त मंत्री पद दिया जा सके। लेकिन अमेरिका और ब्रिटेन में उच्च शिक्षा प्राप्त बड़ौदा राज्य के सर्वोच्च अधिकारियों में से कोई युवा डॉ. अम्बेडकर को अछूत जाति का होने के कारण न लेने आया, न मिलने आया। उन्हें इस नाते बड़ौदा में किसी होटल अथवा होस्टल में रहने की जगह तक नहीं मिली। बड़ी मुश्किल से अम्बेडकर जाति बदलकर एक पारसी होटल में रुके लेकिन वहां भी उन्हें अछूत जाति का होने के कारण निकाल बाहर किया गया। राज्य के चपरासी सरकारी फाइलों को मेज पर दूर से फेंककर जाते थे। वे इस व्यवहार से व्यथित हो उठे। उन्होंने महाराजा को इस विषय में एक टिप्पणी भेजी। लेकिन राज्य के दीवान ने (जो राज्य में प्रधानमंत्री स्तर का होता था) इस विषय में (महाराजा की ओर से) कुछ भी मदद करने से मना कर दिया। ऊंची जातियों की घृणित मानसिकता को एक विद्वान अस्पृश्य अधिकारी बदल नहीं पाया, न रूढ़िवादी परंपराओं पर डॉ. अम्बेडकर की विद्वता का प्रभाव पड़ा। भूखे-प्यासे और अपमानित अम्बेडकर को मजबूरन नवम्बर 1917 में बड़ौदा छोड़कर बंबई आना पड़ा। इसी समय उन्होंने अपना शोध प्रबंध 'भारत में छोटी जोत और उनका हल' (स्माल होल्डिंग्स इन इंडिया एंड देयर रेमेडीज़) प्रकाशित किया।[4]

3. अग्नि परीक्षा में खरे उतरे

अस्पृश्यता के विष से दंशित डॉ. अम्बेडकर बड़ौदा से बंबई आ गए। बंबई में उनके जीवन के ये अत्यंत संघर्षपूर्ण क्षण थे। उन्होंने समाज को बदलने का स्वप्न देखा। दैनिक जीवन में हिंदुओं के पक्षपातपूर्ण व्यवहार से वे क्षुब्ध हो गए थे। लेकिन उन्होंने हार नहीं मानी। अगर उनके साथ बड़ौदा में सब कुछ ठीक ठाक चलता तो शायद भारत के करोड़ों अछूत मानवता का त्राण करने वाले इस मसीहा को खो देते। निस्संदेह वह उनके मुक्ति संग्राम का योद्धा बनने के लिए ऊंची से ऊंची शिक्षा प्राप्त करके विदेश से लौटे थे जहां मानवता और वैयक्तिक गुणों तथा नागरिक स्वतंत्रता का बोलबाला था। एक पारसी सज्जन की मदद से जीविका के लिए अम्बेडकर ने दो छात्रों को ट्यूशन तक पढ़ाया। उन्होंने स्टाक और शेयर के क्षेत्र में उद्यमियों और व्यापारियों को सलाह देने का केंद्र भी चलाया। लेकिन अस्पृश्य होने के कारण उनके पास कोई नहीं आया। वे आर्थिक समस्या को हल करने और सामाजिक अस्तित्त्व के लिए किसी भी संघर्ष के लिए उद्यत थे। यह उनकी अग्नि परीक्षा का समय था।[5]

4. दलित जाति सम्मेलनों में भागीदारी

"नवंबर 1917 में बंबई में दलित जातियों के दो अधिवेशन हुए। एक सम्मेलन में एक प्रस्ताव के जरिए यह मांग की गई कि सरकार अछूतों के हितों की रक्षा करे और इसके लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात के अनुसार विधानसभाओं में दलित जातियों को अपने

प्रतिनिधि-निर्वाचित करने का अधिकार प्रदान करे। एक अन्य प्रस्ताव में सम्मेलन ने कांग्रेस-लीग के समझौते का समर्थन किया। ताकि रीति-रिवाज और धर्म के नाम पर दलित जातियों पर जो आयोग्यताएं लगाई गई थीं उन्हें हटाया जा सके और इसके लिए उच्च जाति के हिंदुओं को प्रभावित किया जा सके।

दूसरे दलित सम्मेलन में सवर्ण-हिंदुओं के हाथों में सत्ता-हस्तांतरण का विरोध करते हुए यह भी मांग की गई कि उन्हें अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिलना चाहिए। लेखक अम्बेडकर का विचार था कि कांग्रेस-लीग समझौता दलितों के हित में ठीक नहीं। इससे कार्यपालिका और विधायिका की शक्तियां उनके हाथ में केंद्रित होने का भय था।''[6]

''मार्च 23 और 24, 1918 को बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ की अध्यक्षता में अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन का बंबई में आयोजन किया गया जिसमें प्रमुख नेताओं ने भाग लिया। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य देश में फैली अस्पृश्यता को मिटाने का आह्वान करना था। तिलक ने तो यहां तक कह डाला कि वे ईश्वर की सत्ता नहीं मानेंगे यदि अस्पृश्यता का कलंक नहीं मिटाया जाता। लेकिन उच्च जाति के हिंदुओं द्वारा चलाया गया इस प्रकार का अस्पृश्यता विरोधी अभियान डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में एक मृग मरीचिका सदृश था।

अम्बेडकर की सोच में यथार्थ की झलक थी क्योंकि जिस महाराजा बड़ौदा ने उन्हें विदेश में छात्रवृत्ति देकर उच्च अध्ययन के लिए भेजा था, वह उन्हें अपने राज्य में अस्पृश्यता के पक्षधर रूढ़िवादी सवर्ण हिंदुओं से बिलकुल भी नहीं बचा पाए और उन्हें न सिर्फ उनकी रियासत में एक महत्त्वपूर्ण पद से हाथ धोना पड़ा, वरन् एक वर्ष पूर्व लंदन में अधूरी पढ़ाई छोड़कर भारत लौटना पड़ा और संकीर्ण-रूढ़िवादियों का दुर्व्यवहार झेलना पड़ा।''[7] यही वे क्षण थे जब उनमें सामाजिक क्रांति के विचार पनपे। न सिर्फ सामाजिक तौर पर अस्पृश्यता मिटाने वरन् इसको जड़ से मिटाने और सत्ता में भागीदारी के संकल्प ने जन्म लिया। वैसे वे अपने बचपन और विद्यार्थी जीवन में अस्पृश्यता, जातिभेद, गरीबी और सामाजिक विषमता की मार झेल चुके थे।

नवम्बर, 1918 में उन्हें बंबई के सिडेनहम कालिज में राजनीतिक अर्थतंत्र के प्रोफेसर की जगह मिल गई। उनकी इतनी ख्याति बढ़ी कि दूसरे कालेजों के छात्र उनकी कक्षा में उनका लैक्चर सुनने आते थे। लेकिन लोगों के सामाजिक व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आया था। धनंजय कीर के अनुसार, ''प्राध्यापकों के लिए जिस बर्तन में पीने का पानी रखा जाता था उसमें से डॉ. अम्बेडकर पानी नहीं पी सकते थे। सवर्ण जाति के प्रोफेसरों को एतराज था।'' वे इस पद पर 11 नवम्बर, 1918 से मार्च 11, 1920 तक रहे और लंदन में उच्च अध्ययन की ज्ञान पिपासा को शांत करने के कारण स्वतः त्याग पत्र दे दिया।[8]

5. महाराष्ट्र में गैर-ब्राह्मण आंदोलन के जनक शाहू महाराज के साथ

''1890 में ज्योतिबा फुले की मृत्यु के बाद दलितों और शूद्रों के सामाजिक विकास और

शैक्षिक प्रगति के कार्य में व्यवधान आ गया था। गैर-ब्राह्मण आंदोलन के समर्थक दो भागों में बंट गए। एक पक्ष में मध्यम दर्जे की मराठा जाति के शहरी बुद्धिवादी लोग थे दूसरी ओर वे क्रांतिधर्मी लोग थे जिनका मराठा किसानों में प्रभाव था। पहले पक्ष के लोग शूद्र की बजाय मराठा क्षत्रिय कहलाना श्रेयस्कर समझते थे। सन् 1900 में कोल्हापुर के महाराज शाहू महाराज ने इनका नेतृत्व किया और खुले आम ब्रिटिश सरकार का समर्थन किया और इस राजभक्ति का प्रयोग बाल गंगाधर तिलक जैसे धुरंधर कांग्रेसी नेता से लड़ने में किया।"[9]

"सन् 1919 में इस पक्ष ने एक गैर-ब्राह्मण दल बनाया। यहां तक कि ब्राह्मण विरोध की आड़ में उन्होंने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। इस पक्ष के लोग बीसवीं सदी के दूसरे दशक के मध्य में कांग्रेस की नीतियों के आलोचक बने। इन्हीं दिनों बंबई के मजदूरों में कम्युनिस्ट प्रभाव पड़ने लगा था। इस पक्ष ने अछूतों के संगठनों के नेताओं को प्रभावित किया। इस गैर-ब्राह्मण आंदोलन ने जो वास्तव में ब्राह्मण विरोधी आंदोलन था अछूतों को अपने संगठन से पृथक रखा। इसे शेठजी-भट जी (महाजन-साहूकार एवं ब्राह्मण) विरोधी 'बहुजन आंदोलन' की संज्ञा प्रदान की गई। महाराष्ट्र के सतारा जिले के 30 गांवों में सन् 1919-1921 के मध्य इस गैर-ब्राह्मण पक्ष से प्रभावित किसान जातियों ने जमींदारों की फसलें उजाड़ दीं, मंदिर तोड़-फोड़ डाले और ब्राह्मणों पर हमले किए।"[10]

उन दिनों फुले के समाजिक परिवर्तन और शैक्षिक आंदोलन, छत्रपति शाहू महाराज के ब्राह्मण-विरोधी या गैर-ब्राह्मण आंदोलन तथा महारों में सामाजिक-राजनीतिक चेतना की धारा बह रही थी। ऐसे में डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक क्षेत्र में व्यापक स्वागत हुआ। शाहू महाराज ने तो इतना तक कह डाला कि युवा अम्बेडकर के रूप में दलित-अस्पृश्यों को उनका मसीहा मिल गया है।

दलित-अस्पृश्यों की समस्याओं के विषय में पूरे महाराष्ट्र में छोटे-बड़े सम्मेलनों के आयोजन होने लगे थे। ऐसा ही एक दलित जातियों का सम्मेलन 1918 में नागपुर में हुआ जिसकी अध्यक्षता शाहू महाराज ने की। डॉ. अम्बेडकर आदि दलित नेता इसमें सम्मिलित हुए। मार्च 21, 1920 में दूसरा विशाल दलित सम्मेलन कोल्हापुर में आयोजित किया गया। महार बहुल इन दलित सम्मेलनों में डॉ. अम्बेडकर तथा अन्य प्रमुख नेता सम्मिलित हुए।

इन दोनों सम्मेलनों में कोल्हापुर के महाराजा ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। ब्राह्मणवादी विषमता की संस्कृति पर प्रहार किए, दलितों को एकजुट होने का आह्वान किया।

इसी सम्मेलन में महाराजा ने कहा "डॉ. अम्बेडकर में वह सामर्थ्य और क्षमता है कि वह अस्पृश्यों के अखिल भारतीय स्तर के नेता बनेंगे।"

मई 1920 के नागपुर सम्मेलन में दलितों को संबोधित करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने विट्ठल रामजी शिंदे के 'दलित वर्ग मिशन' (डिप्रैस्ड क्लासेज मिशन) की जमकर आलोचना की जो सर नारायण चंद्रावरकर की सहायता से संगठित किया गया था। डॉ. अम्बेडकर

ने स्पष्टतः कहा कि ऐसे संगठन और व्यक्ति दलित अधिकारों की वकालत करने के पात्र ही नहीं, न उन्हें ऐसा कहने का कोई अधिकार है जो अछूतों द्वारा संचालित नहीं हैं।

दूसरे शब्दों में केवल अस्पृश्य ही दलितों के संगठन चलाने के हकदार हैं और अस्पृश्य ही दलितों की भलाई की बात सोच सकते हैं। यह एक ऐसी स्पष्ट घोषणा थी जिसने अम्बेडकर की भावी रणनीति निश्चित करने में मदद की।[11]

6. करवीर के शंकराचार्य की उदासीनता

डॉ. अम्बेडकर ने एक स्थल पर लिखा है कि धार्मिक नेता और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अस्पृश्यों की किस प्रकार उपेक्षा करते हैं। वे लिखते हैं : "...लोग यह समझते हैं कि उनके पूर्वजों को अनंत भविष्यकाल तक देखने की दिव्य दृष्टि और अतिमानवीय क्षमता प्राप्त थी जिसके बल पर उन्होंने आने वाले युग-युगों तक के लिए सारी व्यवस्था पहले से ही तय कर दी है। यह गहरी बैठी धारणा हिंदू समाज के पुनर्निर्माण में बाधक हुई है और जनहित में निहित स्वार्थों पर अंकुश लगाने के मार्ग में आड़े आई है। मार्च 1, 1918 में बम्बई में **अस्पृश्यता निवारण सम्मेलन** एक स्वांग जैसा हुआ। करवीर के ख्यातिप्राप्त शंकराचार्य डॉ. कुर्तकोटि सम्मेमलन में आने का वायदा करके भी नहीं आए और एक या दो दिन पहले किसी जरूरी काम के बहाने उत्तर भारत चले गए।

बाल गंगाधर तिलक ने सम्मेलन में एक छोटा-सा भाषण दिया जो सौभाग्य से अभी तक छपा नहीं है। लेकिन यह सब अछूतों को मौखिक सद्भावना दिखाने की बात मात्र थी क्योंकि जब अस्पृश्यता निवारण की घोषणा का मसौदा तिलक के सामने रखा गया तो उन्होंने उस प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करने की कृपा नहीं की।[12]

7. साउथबरो समिति के समक्ष साक्ष्य

शंकराचार्य और तिलक की अछूतों के प्रति इस उपेक्षा से डॉ. अम्बेडकर विचलित नहीं हुए। वरन् दलित आंदोलन को गतिशील बनाने के लिए उन्हें और स्फूर्ति मिली। इस नाटकीय घटना के मात्र एक वर्ष पश्चात् सन् 1919 में 'साउथबरो समिति' के समक्ष मताधिकार के प्रश्न पर उन्हें साक्ष्य प्रस्तुत करने का मौका मिल गया। इन्होंने बंबई प्रेसीडेंसी के अछूत वर्ग के प्रतिनिधित्व पर ठोस जनसंख्या और जातिवार आंकड़े प्रस्तुत करके राजनीतिक प्रतिनिधत्व की मांग की ओर 46 बिंदुओं वाला साक्ष्य तथा 10 बिंदुओं वाला संपूरक वक्तव्य समिति के समक्ष प्रस्तुत किया। इसमें हिंदू समाज में अछूत वर्ग के शोषण, सामाजिक-राजनीतिक उपेक्षा का वर्णन हैं। उनकी अधोगति का तथ्यपूर्ण विशद् आलेख अंग्रेजों के सामने कभी प्रस्तुत नहीं किया गया था।

उन्होंने तथाकथित **'दलित वर्ग मिशन'** (**डिप्रैस्ड क्लास मिशन**) द्वारा प्रस्तुत योजना को सर्वथा मनगढंत और अव्यवहारिक बताया। यद्यपि मिशन का गठन दलित वर्ग के लोगों पर ऊंची जाति के लोगों द्वारा किए गए सामाजिक अत्याचारों से मुक्ति दिलाकर उनकी दशा सुधारने के लिए किया गया था। लेकिन उसकी **'साउथबरो समिति'** के समक्ष

कार्य योजना अछूत वर्ग के हित में कतई नहीं थी क्योंकि यह दलित विरोधी ज्यादा थी।[13] सन् 1919 में 28 वर्षीय अम्बेडकर सिडेनहम कालेज, मुंबई में प्राध्यापक थे। उन्होंने साउथबरो समिति के समक्ष 27 जनवरी, 1919 को अपना साक्ष्य दिया जिसमें लार्ड साउथबरो, अध्यक्ष के अतिरिक्त, सर फ्रैंक जी स्लाई, बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, हैली, श्रीनिवास शास्त्री जैसे ख्यातिनामा लोग सदस्य थे। अपने लिखित बयान में उन्होंने लार्ड डफरिन का उद्धरण प्रस्तुत किया जिसमें वास्तविक भारत का चित्रण दिया गया है कि 'वह एक ऐसा जनसमूह है...जिसमें अलग-अलग प्रकार की अन्य जातियां हैं। उनमें से अनेक के बीच और भी गहरा अलगाव है। उनके पूर्वाग्रह, आचार-व्यवहार के स्रोत और यहां तक कि भौतिक हित भी अलग-अलग हैं। भारत हिंदू, मुसलमान और छोटी-छोटी जातियों में बंटा हैं उनमें नृजातीय अथवा राजनीतिक आधार पर भारी अलगाव है।...बहुसंख्य जातियों के मध्य हमें एक साथ सभ्यता की उन सभी विभिन्न अवस्थाओं के दर्शन हो सकते हैं जिनसे होकर मानव जाति प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक गुजरी है।'' अम्बेडकर ने 'जातीय, धार्मिक गुटों में बंटे भारत का सामंजस्यपूर्ण राजनीतिक जीवन और वैचारिक समानता के उपाय सुझाते हुए ब्राह्मणेतर वर्ग में शिक्षा के पिछड़ेपन तथा हिंदुओं में नवचेतना जहां अस्पृश्यों के अलग हितों की बात मौजूद है' उजागर की।

1919 में **'साउथबरो समिति'** को प्रस्तुत साक्ष्य में डॉ. अम्बेडकर ने इस तथ्य का भी उद्घाटन किया कि : अछूतों के साथ जुड़ी हुई अस्पृश्यता ही उनके भौतिक एवं नैतिक उत्थान में बाधक होती है। धन-संपदा प्राप्ति के मुख्य स्रोत अथवा जरिए होते हैं—व्यापार, उद्योग और राजकीय अथवा अन्य क्षेत्रों में नौकरी। अछूत वर्ग के लोग अपनी अस्पृश्यता के कारण इनमें किसी क्षेत्र में भी काम का अवसर नहीं पा सकते। कोई भी हिंदू किसी अछूत हिंदू दुकानदार से सौदा नहीं खरीदेगा। एक अछूत कोई लाभकर पेशा नहीं अपना सकता। ईस्ट कंपनी कंपनी के शासन काल के दौरान में महार अछूतों का सैनिक सेवा पर एक प्रकार से एकाधिकार था। वे सेना में बहुत बड़ी संख्या में भर्ती हुए थे।

इसी पर तो मार्क्विस द्वीडलडेल ने सन् 1859 के 'इंडियन आर्मी कमीशन' को प्रस्तुत अपनी टिप्पणी में लिखा था कि, सिपाही विद्रोह (1857) के बाद जब अंग्रेजी हुकूमत को मराठों में से सिपाही मिलने लगे तो अस्पृश्य और निम्न जातियों की स्थिति, जो बंबई सेना के प्रमुख आधार थे, इस संबंध में अनिश्चित सी और कमजोर पड़ गई। इसका कारण यह नहीं कि मराठा बेहतर सिपाही थे बल्कि इसकी वजह यह थी कि मराठे अपने धर्मशास्त्र के आधार पर बने पूर्वाग्रहों से बंधे होने के कारण नीची जातियों के अफसरों के मातहत काम करने को तैयार नहीं थे। यह पूर्वाग्रह इतना प्रबल था कि अंग्रेजों को जिनमें जाति प्रथा नहीं है, अछूतों की सेना में भरती बंद कर देनी पड़ी। इसी तरह पुलिस बलों में भी अछूतों की भरती नहीं होती। कई सरकारी दफ्तरों में भी अछूतों को नौकरी मिलना असंभव है।''[14]

अछूत दया के पात्र

'आमतौर पर अस्पृश्य लोग दया के पात्र समझे जाते हैं, लेकिन किसी राजनीतिक योजना में उनकी इस आधार पर उपेक्षा कर दी जाती है कि उनका ऐसा कोई हित नहीं है जिसकी रक्षा की जाए। लेकिन फिर भी उनके हित सबसे महान हैं। ऐसा नहीं है कि उनकी कोई बहुत बड़ी संपत्ति है, जिसे जब्त होने से बचाया जाए। उनका तो व्यक्तित्व ही जब्त कर लिया गया है। सामाजिक-धार्मिक अशक्ताओं ने अस्पृश्यों को मानव के स्तर से गिरा दिया है। अतः दांव पर लगे उनके हित मानव मात्र के हित हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण हितों की तुलना में संपत्ति संबंधी हित तो तुच्छ हैं।'[15]

दास की परिभाषा

दास को परिभाषित करते हुए अम्बेडकर ने साक्ष्य में लिखा : "...दास की परिभाषा करते हुए प्लेटो ने कहा है कि दास वह है, जो दूसरों के कार्य करता है तथा दास का आचरण दूसरों द्वारा नियंत्रित होता है। यदि हम इस परिभाषा को मान लें तो अस्पृश्य सचमुच ही दास हैं। अस्पृश्यों को ऐसे सामाजिक ढांचे में ढाला गया है कि वे अपनी दयनीय दशा पर उफ तक न करें। इससे भी घटिया बात यह है कि वे सपने में भी कभी नहीं सोचते कि वे अपनी दशा सुधारें और अन्य वर्गों को उस सामान्य सम्मानजनक व्यवहार के लिए विवश करें, जिसकी एक व्यक्ति दूसरे से अपेक्षा करता है। उनका जन्म तो उनके भाग्य के अनुसार हुआ है, यह धारणा उनके मन में इतना धर कर गई है कि वे कभी यह विचार करते ही नहीं हैं कि भाग्य ही सब कुछ नहीं हैं। कोई भी कभी भी उन्हें यह बात नहीं समझा सकेगा कि सभी मानव एक ही मिट्टी के बने हुए हैं अथवा उनके साथ जो बर्ताव किया जा रहा है, वे उससे बढ़िया बर्ताव के हकदार हैं।"[16]

अस्पृश्यता: विकास में बाधा

अस्पृश्य शब्द में उनकी विपत्तियों और कष्टों का निचोड़ आ जाता है। अस्पृश्यता ने न केवल उनके व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध करा दिया है, बल्कि उनकी आर्थिक उन्नति के रास्ते में भी कांटे बोए हैं। उसने उनके कतिपय नागरिक अधिकारों को भी हड़प लिया है। कोंकण में अस्पृश्य आम रास्ते पर नहीं चल सकते। यदि कोई सवर्ण जाति का व्यक्ति उसके सामने आ जाता है तो उसे मार्ग से हटना पड़ता है और इतनी दूरी पर खड़ा होना पड़ता है कि उसकी परछाईं सवर्ण व्यक्ति पर न पड़े। अस्पृश्य नागरिक भी नहीं है। नागरिकता तो अधिकारों का पुंज है, यथा (1) व्यक्तिगत स्वतंत्रता, (2) व्यक्तिगत सुरक्षा, (3) निजी संपत्ति रखने के अधिकार, (4) विधि के समक्ष समता, (5) अंतःकरण की स्वतंत्रता, (6) वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य, (7) सम्मेलन का अधिकार, (8) देश की सरकार में प्रतिनिधित्व का अधिकार, और (9) राज्य के अधीन पद धारण करने का

अधिकार। कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार ने धीरे-धीरे ये अधिकार सिद्धांत रूप में अपने भारतीय प्रजाजनों को दे दिए हैं। नागरिकता की सार्थकता के लिए दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार हैं—पहला, प्रतिनिधित्व का अधिकार और दूसरा राज्य के अधीन पद धारण करने का अधिकार। लेकिन अस्पृश्यों की अस्पृश्यता उन्हें इन अधिकारों की पहुंच से कोसों दूर रखती है। कुछ स्थानों पर तो उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत सुरक्षा जैसे मामूली अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। विधि के समक्ष समता का भी उन्हें सदा आश्वासन नहीं मिलता। ये सब अस्पृश्यों के हित हैं। जैसा कि स्वतः स्पष्ट है, उनका प्रतिनिधित्व केवल अस्पृश्य ही कर सकते हैं। वे उनके वास्तविक हित हैं और वास्तव में कोई अन्य उनके लिए आवाज नहीं उठा सकता। मुक्त व्यापार हित की आवाज एक ब्राह्मण, एक मुसलमान अथवा मराठा समान रूप से उठा सकता है। लेकिन उनमें से कोई भी अस्पृश्यों के हितों की आवाज नहीं उठा सकता, क्योंकि वे अस्पृश्य नहीं हैं। अस्पृश्यता के अधीन एक निश्चित हित समूह आता है और उसके लिए केवल अस्पृश्य ही आवाज उठा सकते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि हमें ऐसे अस्पृश्यों को खोजना ही होगा, जो अपनी शिकायतों और हितों को प्रस्तुत कर सकें। दूसरे, हमें उन्हें इतनी संख्या में खोजना होगा कि वे ऐसी शक्ति बन सकें कि अपने दुख-दर्द के बारे में मांग प्रस्तुत कर सकें।"[17]

मताधिकार

डॉ. अम्बेडकर ने लोकतंत्र के एक प्रमुख बिंदु मताधिकार के विषय में लिखा :

"...मताधिकार क्या है, यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। एक तर्क के अनुसार यह आग्रह किया जाता है कि मताधिकार केवल उन्हीं लोगों को दिया जाना चाहिए, जिनसे आशा की जा सके कि वे उसका विवेकपूर्ण उपयोग करेंगे। इसके विपरीत प्रो. एल. टी. हाबहाउस ने कहा है, 'यह सच है कि लोकतंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि मतदाताओं को दिए गए अवसर पर उनकी प्रतिक्रिया क्या है। लेकिन इसका दूसरा पक्ष यह है कि वोटरों की प्रतिक्रिया जानने के लिए उनको अवसर प्रदान किए जाने चाहिए। लोकप्रिय सरकार का प्रयोग स्वयं में एक संपूर्ण शिक्षा है।...मताधिकार को अपने आप में स्पष्टतः एक ऐसी प्रेरणा कहा जा सकता है जो रुचि पैदा करने के लिए आवश्यक होती है। मात्र मतदान का अधिकार एक शांतिप्रिय नागरिक को नारेबाजों तथा कुचक्रियों के अत्याचारों से मुक्त करता है। वर्तमान निष्क्रियता की धारणा इस बात का पर्याप्त कारण नहीं है कि उसे उत्तरदायी सरकार से वंचित किया जाए अथवा मतदान के क्षेत्र को सीमित किया जाए।' इस बात को ध्यान में रखते हुए कि मताधिकार एक प्रकार की शिक्षा है और ऐसे समूह हैं जिनके बीच धन और शिक्षा का समान वितरण नहीं है तथा इन समूहों के विचार भी एक जैसे नहीं हैं, रिपोर्ट तैयार करने वालों ने ठीक ही कहा है कि मताधिकार की एकरूपता को कायम नहीं रखा जा सकता।"[18]

निर्वाचक मंडल की आवश्यकता

"लेकिन अस्पृश्यों के मामले में जहां उनके प्रतिनिधियों की संख्या कम करने के संबंध में कुछ कारण हैं, वहीं उनके निर्वाचक-मंडलों का विस्तार करने के लिए भी अनेक कारण हैं। यदि वर्तमान मताधिकार की छाया में अस्पृश्य बड़ी संख्या में निर्वाचक नहीं बन सकते, तो यह उनका दोष नहीं है। अस्पृश्यों में पर्याप्त मतदान शक्ति पैदा करने के लिए कैसा मताधिकार और क्या योग्यता-स्तर अपेक्षित है? आंकड़ों के अभाव में इसका निर्णय मैं समिति पर छोड़ता हूँ। बेहतर होगा कि मताधिकार के योग्यता-स्तर को कम किया जाए, ताकि राजनीतिक जीवन में यथासंभव अधिक-से-अधिक अस्पृश्य प्रवेश कर सकें। उनका दर्जा इतना घटा दिया गया है कि वे आत्मबोध ही खो बैठे हैं। मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व के बारे में निर्णय करते समय समिति अस्पृश्यों के हितों का ध्यान रखेगी।"[19]

डॉ. अम्बेडकर ने लार्ड मार्ले समिति का स्मरण कराते हुए कहा कि उसके अनुसार सरकार का उद्देश्य विधान परिषदों में संबंधित समुदायों की वास्तविक सामाजिक शक्तियों, आस्थाओं तथा आकांक्षाओं का संतुलित, यथार्थ तथा प्रभावशाली प्रतिनिधित्व देना था।

उन्होंने कहा कि कांग्रेस मुसलमानों को सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व देना स्वीकार करती है, लेकिन अस्पृश्यों की उपेक्षा कर रही है। शास्त्रों के जरिए अस्पृश्यों को स्पृश्य समर्थक बनने और स्पृश्यों को अस्पृश्य विरोधी बनने की शिक्षा दी जाती है। यह मतिभ्रम और चालबाजी है। जिनका मुखौटा तो राजनीतिक परिवर्तनवादियों का है, पर हैं वे सामाजिक रूढ़िवादी। उन्हें शंका थी कि उच्च जाति के लोग अस्पृश्यता मिटाने, अंतर्जातीय विवाहों की अनुमति देने, सार्वजनिक मंदिरों, स्कूलों तथा सड़कों के इस्तेमाल पर लगी रोक को दूर करने के लिए कानून बनाने में दिलचस्पी नहीं लेंगे।[20]

अस्पृश्यों के प्रति सहानुभूति की कमी

डॉ. अम्बेडकर ने निर्भीकतापूर्वक लिखा : "काउंसिल में उच्च जाति के लोग नहीं चाहते कि विधान-मंडल के सामने कोई सामाजिक समस्या लाई जाए। इंपीरियल विधान परिषद में 1916 में माननीय श्री दादाभाई नौरोजी ने जो संकल्प प्रस्तुत किया था, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह सबको पता है और उसे दुहराने की जरूरत नहीं है कि जो अनेक लोग अस्पृश्यों के प्रति कुछ सहानुभूति रखते हैं, उन्होंने इसकी कटु आलोचना की। लेकिन इस बात का किसी को पता नहीं है कि यद्यपि संकल्प पास नहीं हुआ था, प्रस्तावक को माफ नहीं किया गया, क्योंकि ऐसे अप्रिय संकल्प को लाना ही पाप माना गया। बाद के चुनाव में प्रस्तावक को हटना पड़ा और उनके स्थान पर माननीय श्री खापरर्डे आए, जिन्होंने एक बार एक लेख में कहा था : 'जो अस्पृश्यों के उत्थान के लिए कार्य करते हैं, स्वयं निम्नकोटि के हैं।'

अस्पृश्यों के प्रति उच्च जाति के सवर्णों की यह सहानुभूति क्या प्रतिशोधपूर्ण सहानुभूति नहीं है?

"जो यह फरमाते हैं कि अस्पृश्यों के लिए एक या दो सदस्य काफी होंगे, वे राजनीतिक हक के सही आशय को नहीं समझते। भले ही सारांश रूप में तकनीकी दृष्टि से यह कहा जाता है कि राजनीतिक हक का मुख्य आशय वोट देने का अधिकार है, पर न तो वह कानूनों के अथवा कानून बनाने वालों के पक्ष में वोट देने का अधिकार है। न तो वह किसी बिल के पक्ष या विपक्ष में बोलने का अधिकार है और न ही नाम पुकारे जाने पर हां अथवा ना कहने की योग्यता है। अनेक लिखित नामों वाले कागज के टुकड़े को मतदान पेटी में डालने की योग्यता ऐसा कार्य है जो उक्त कार्यों की भांति स्वयं कोई महत्त्व नहीं रखता, भले ही उस पर दिनचर्या के अनेक सर्वाधिक सामान्य कार्यों से स्वतः बेहतर होने का ठप्पा लगा दिया जाए। वे किसी अन्य कार्य की भांति शिक्षाप्रद हैं। मताधिकार अथवा राजनीतिक अधिकार का महत्त्व यह है कि उन शर्तों के विनियमन में सक्रिय तथा सीधी भागीदारी का अवसर दिया जाए, जिन पर सामाजिक जीवन आधारित होगा। जिन शर्तों पर आज स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों का सामाजिक जीवन निर्भर है, वे स्पृश्यों के लिए अति अपयशकारी तथा अस्पृश्यों के लिए अति घातक है। यदि लोगों की क्षमताओं को कारगर बनाना है तो उनके प्रयोग की सामाजिक शर्तों को निश्चित करने की शक्ति होनी ही चाहिए। यदि शर्तें अत्यंत कठोर हों तो यह स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों, दोनों के हित में होगा कि शर्तों में संशोधन किया जाए। अस्पृश्यों की ऐसी स्थिति होनी ही चाहिए कि वे संशोधन को अपने अनुकूल करा सकें। उनके हितों के महत्त्व को देखते हुए यथा प्रस्तावित उन्हें उनका प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात में मिलना चाहिए। एक या दो प्रतिनिधि का होना यह प्रदर्शित करता है कि उन्हें अनुकंपा के आधार पर लिया गया है। यह न तो न्यायोचित है और न ही पर्याप्त। जैसा कि लार्ड मार्ले के पिछले उद्धरण में कहा गया है, प्रतिनिधित्व जरूरतों के अनुसार होना चाहिए, न कि संख्या के अनुसार।"[21]

शिंदे के दलित वर्ग मिशन का विरोध

अपने साक्ष्य आलेख (डाक्यूमेंट) के अंत में डॉ. अम्बेडकर ने विट्ठल आर. शिंदे के 'दलित वर्ग मिशन' की योजना को भ्रामक बताया। उन्होंने लिखा :

> "हाल ही में 'दलित वर्ग मिशन' द्वारा अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व के बारे में एक विरोधी योजना कार्यान्वित की गई है। उसे सहयोजन की योजना कहा जाता है। योजना में प्रस्ताव रखा गया है कि अस्पृश्यों के प्रतिनिधियों को काउंसिल के निर्वाचित सदस्यों के सहयोजन से नामित किया जाए। यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि अस्पृश्यों के लिए मिशन के प्रयोजन को हास्यास्पद माना जाए या उस पर खेद प्रकट किया जाए। खेद इस बात का है कि इस प्रकार की बेतुकी योजना प्रायः स्वीकार की जाएगी। अतः उसका उपहास करना ही ठीक है। इस योजना से आसानी से पता लगाया जा सकता है कि जिसे कभी-कभी परोपकारी हित कहा जाता है,

उसका दूसरा रूप भी हो सकता है, जिसके अनुसार अस्पृश्यों को यह बताया जाता है कि उनका भला किस बात में होगा। इस संबंध में अस्पृश्यों के विचारों से सहमत होने का प्रयास नहीं किया जाता, ताकि वे अपनी भलाई की खोज कर सकें तथा उसे प्राप्त कर सकें। यह कहना होगा कि मिशन की स्थापना इस उद्देश्य से ही की गई थी कि दलितों की दशा सुधारी जाए और उन्हें उच्च जाति के लोगों के सामाजिक अत्याचारों से मुक्त कराया जाए। यह मिशन इतना असफल सिद्ध हुआ कि उसे ऐसी योजना का समर्थन करना पड़ा, जिससे उसके आश्रित या उसके प्रतिनिधियों को अपने विगत आकाओं का दास बनना पड़ेगा। इस प्रकार आकाओं तथा मिशन ने मिलकर एक योजना तैयार की है, जिसके अधीन दलित वर्ग सदैव पद-दलित रहेंगे और उनकी मुक्ति की कोई आशा नहीं रहेगी। ऐसे हथकंडे अस्पृश्यों को धोखा नहीं देते, जबकि वे अनभिज्ञ हैं, मताधिकार समिति को तो वे क्या धोखा दे सकेंगे। एक अन्य दृष्टि से भी मिशन की योजना स्वीकार नहीं की जा सकती। यह देखकर खेद होता है कि मिशन एक ओर तो अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व की योजना प्रस्तुत कर रहा है, और दूसरी ओर अपनी प्रशासनिक परिषद में अस्पृश्य को लेने से बराबर मना कर रहा है। चूंकि यह मिशन निहित स्वार्थों वाला एवं अनौपचारिक है, अतः उसकी योजना को अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए।''[22]

8. पत्रकार अम्बेडकर : दलितों को वाणी दी

एक नन्हीं-सी किरन अनंत विश्वास और साधना के बल पर अंधेरे घरों में रोशनी देने के लिए कैसे सूरज बन जाती है, एक नन्हा-सा बीज कैसे विशाल वृक्ष बनने लगता है जो हजारों बेघरों को छांव देता है, एक नन्हीं-सी बूंद कैसे विशाल समुद्र का रूप धारण कर लेती है और असंख्य लोगों की सदियों की तृष्णा शांत करती है और बंबई के सागर तट, महाराष्ट्र की भूमि पर कैसे एक अकेले कंठ की पुकार, लाखों-करोड़ों, मूक-दलित, दबे-कुचलों की ओजस्वी वाणी बन जाती हैं, यदि इसे समझना है, पहचानना है तो हमें डॉ. अम्बेडकर की जीवन शैली को देखना चाहिए। यह एक नए मसीहा, एक नए बुद्ध के अवतरण की कथा है।[23]

क्रमशः सन् 1920 और सन् 1927 में डॉ. अम्बेडकर ने नितांत साधनहीन होते हुए 'मूकनायक' और 'बहिष्कृत भारत' पाक्षिक पत्रों का श्रीगणेश किया। इन पत्रिकाओं के अग्रलेखों में बाबा साहेब ने दलितों और बहिष्कृतों की तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को उजागर किया है। उनकी दयनीय दशा ने उन्हें सामाजिक विसंगतियों पर क्षोभ व्यक्त करने तथा सवर्णों के अन्याय और शोषण का निर्भीकता से विरोध करने के लिए प्रेरित किया। यद्यपि 'बहिष्कृत भारत' और 'मूक नायक' में अग्रलेखों के अलावा सामयिक घटनाएं, आत्म परिचय, पत्र-व्यवहार, विचार-विनिमय आदि अन्य स्तंभ भी थे, जो समकालीन यथार्थ जगत के परिप्रेक्ष्य में उतने प्रासंगिक नहीं हैं।''[24]

उनकी लेखनी से निकला हर वक्तव्य संदेशात्मक होता था। इनसे दलित आंदोलन

में उनकी उत्कट अभिरुचि और योगदान का पता चलता है जब देश में अस्पृश्यों की अपनी कोई आवाज नहीं थी। समस्त राजनीतिक दल और समाज सुधार संस्थाएं जिनकी लगाम सवर्ण हिंदू जातियों या संभ्रांत लोगों के हाथों में होती थीं वे दलित जातियों को अपने-अपने राजनीतिक लाभों के लिए इस्तेमाल किया करते थे। वर्ण-व्यवस्था के अभिशापों के मूलोच्छेदन के लिए किसी भी दल, किसी भी नेता या समाज सुधारक ने उल्लेखनीय कार्य नहीं किया।

अम्बेडकर की स्पष्ट धारणा थी कि अभी दलितों की सामाजिक हालत और मनस्थिति यह बात समझने के लायक नहीं कि सवर्णों द्वारा छेड़े गए आजादी के आंदोलन से उनका कितना सरोकार है, वे तो पहले ही पुरोहित वर्ग, तथा सवर्ण समाज द्वारा थोपी गई अस्पृश्यता, जातिप्रथा और गरीबी का भारी बोझ ढोकर पशुवत्, नरकतुल्य जीवन जी रहे हैं। अंग्रेज राज्य ने भी उनके शोषण और दमन के चक्र को रोका नहीं, उसे और मजबूत और गतिशील बनाया है। इन सब विसंगतियों, विषमताओं, दुहरे शोषण के कुचक्र को तोड़ने के लिए ही अम्बेडकर ने पत्रिकाओं का संपादन-प्रकाशन किया।

'मूकनायक' का संपादन

'मूकनायक' पत्रिका के प्रथमांक में 31 जनवरी, 1920 को 'मनोगत' शीर्षक लेख में डॉ. अम्बेडकर ने जातीय और धार्मिक विषमता पर कटाक्ष करते हुए लिखा :

"हिंदू धर्मावलंबियों में व्याप्त यह विषमता जितनी अनोखी है, उतनी ही निंदनीय भी है। कारण यह है कि विषमता के अनुरूप होने वाले व्यवहार का स्वरूप हिंदू धर्म के शील के लिए शोभनीय नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि हिंदू धर्म में समाविष्ट होने वाली जातियां ऊंच-नीच की भावना से प्रेरित हैं। हिंदू समाज एक मीनार है तथा उसकी एक एक जाति उसकी एक-एक मंजिल है। किंतु ध्यान में रखने लायक बात यह है कि इस मीनार में सीढ़ी नहीं है। और इसलिए एक मंजिल पर से दूसरी मंजिल पर जाने के लिए मार्ग नहीं है। जो जिस मंजिल में जन्म लेगा उसे उसी मंजिल पर मरना हैं नीचे की मंजिल का आदमी चाहे वह कितना भी लायक हो, ऊपर की मंजिल में उसे प्रवेश नहीं मिलता है तथा ऊपर की मंजिल का आदमी, चाहे वह कितना भी नालायक हो, उसे नीचे की मंजिल में ढकेल देने की ताकत किसी में नहीं है।"[25]

"यदि स्पष्टतः कहना है, तो यह कहना पड़ेगा कि जातियों में व्याप्त पारस्परिक ऊंच-नीच की भावना गुण-अवगुण पर आधारित नहीं है। उच्च जाति में उत्पन्न व्यक्ति कितना भी दुर्गुणी हो वह उच्च ही कहलाएगा। उसी प्रकार नीच जाति में उत्पन्न व्यक्ति कितना भी गुणवान् हो, वह नीच ही रहेगा। दूसरे आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार न होने से इस आत्मीय व्यवहार में एक जाति दूसरे से टूट जाती है।"[26]

'मूकनायक' के अंक 2 में 14.2.1920 को 'स्वराज्य की समानता' के विषय में डॉ. अम्बेडकर ने लिखा :

"साधारणतः राज्य शासन के दो उद्देश्य हैं, एक शासन तथा दूसरा संस्कृति। शासन अर्थात अनुशासन एवं शांति। शांति भंग दो प्रकार से हो सकती है विदेशी आक्रमण से या आंतरिक असामंजस्य से। किसी भी राष्ट्र में वर्ग तथा गुट रहेंगे ही। यही नहीं, वर्गों तथा शक्ति के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व धार्मिक हित-संबंध परस्पर विरोधी होते हैं। ऐसे विरोध के कारण एक व्यक्ति अथवा वर्ग द्वारा अपने भले के लिए दूसरे व्यक्ति अथवा वर्ग का शोषण करना, प्राण घातक हमला करना, संपत्ति को नुकसान पहुंचाना अथवा अन्य किसी तरीके से नुकसान पहुंचाना प्रारंभ कर दिया तो आंतरिक शांति भंग होने की संभावना होती है। शांति के अभाव में सामाजिक जीवन धोखे का होता है तथा मानव का नित्यप्रति का कार्य अवरुद्ध हो जाता है।"[27] डॉ. अम्बेडकर की सोच आज भी सार्थक है जब अराजकता, आतंकवाद, अशांति को बढ़ावा मिल रहा है। भाई भाई का गला काट रहा है। मानवता नहीं, धार्मिक उन्माद और कट्टरता सिर उठा रहे हैं। सामाजिक और आर्थिक विषमताएं ज्यों की त्यों हैं। उनके रूप बदले हैं और सामाजिक परिवर्तन के नाम पर लूट खसोट जारी है।

28 फरवरी 1920 के मूकनायक के तीसरे अंक में डॉ. अम्बेडकर ने लिखा कि :
"जो सामाजिक बंधन वरिष्ठ हिंदुओं के लिए पोषक हुए हैं, वे इस बहिष्कृत समाज के लिए इतने घातक बन गए हैं कि यह वर्ग नागरिकता से भी वंचित हो गया है।"[28]

1920 में ही उन्होंने लिखा कि "व्यक्तिगत स्वतंत्रता, व्यक्तिगत संरक्षण, व्यक्तिगत धन संपत्ति रखने का अधिकार, कानून की दृष्टि में समानता, सद्विवेक, बुद्धि के अनुरूप कार्य करने की स्वतंत्रता, भाषण की स्वतंत्रता तथा अपने अभिमत की स्वतंत्रता, सभा करने का अधिकार, देश के शासन कार्य में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार, सरकारी नौकरी आदि प्राप्त करने का अधिकार किसी भी व्यक्ति के नागरिक अधिकार होते हैं।"[29] मनुवादी व्यवस्था में यह सब बहिष्कृत समाज को प्राप्त नहीं थे। यह सब अस्पृश्यता और जाति भेद के कारण हुआ। जब स्वतंत्र भारत के संविधान की डॉ. अम्बेडकर ने संरचना की भारत के सभी नागरिकों को उन्होंने नागरिक अधिकार सुनिश्चित किए। बहिष्कृत समाज की प्रगति के अवरुद्ध मार्ग को उन्होंने खोला।

उन्होंने सच्चे देशभक्त की तरह **मूकनायक के छठे अंक में 10 अप्रैल, 1920 को संकेत दिया कि** "हिंदुस्तान द्वारा पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने का पक्का निश्चय किए बिना पूर्ण स्वराज्य नहीं मिलेगा।" उन दिनों कांग्रेस का गरम दल पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति के लिए अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकना चाहता था, नरम दल ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वराज्य मांगनेवालों की राजनैतिक जमात थी। लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने सदियों से सताए लोगों को संगठित कर उन पर थोपे गए सामाजिक बंधनों को काटने के लिए सक्रिय कार्य किया।"[30]

5 जून, सन् 1920 को प्रकाशित मूकनायक के 10वें अंक में **'अखिल भारतीय बहिष्कृत समाज परिषद'** द्वारा नागपुर में 30 तथा 31 मई तथा 1 जून, 1920 को आयोजित त्रिदिवसीय सम्मेलन की कार्यवाही, प्रतिनिधियों के भाषण और प्रस्ताव आदि का पूरा वृतांत है, जो

दलित आंदोलन और अस्पृश्य महारों में सामाजिक-राजनीतिक जागृति तथा अधिकारों के प्रति सजगता का परिचय देता है।

प्रथम दिवस की कार्यवाही

यह सम्मेलन कोल्हापुर के महाराजा छत्रपति शाहू महाराज की अध्यक्षता में अत्यंत ठाट-बाट से संपन्न हुआ। इसमें दस हजार से अधिक प्रतिनिधि तथा प्रेक्षक सम्मिलित हुए। सम्मेलन के मंच पर युवा दलित लोकनायक डॉ. अम्बेडकर के अतिरिक्त सर गंगाधर चिटनवीस, शंकरराव चिटनवीस, सर बी. के. बोस, मिस्टर पंडित, बैरिस्टर बी. आर. द्रविड़, डॉ. परांजपे, कोठारी, बाबूराव यादव, श्रीपतराव शिंदे, रणदिवे, दत्तोपंत दलवी, पाटील, कदम इत्यादि वरिष्ठ एवं प्रतिष्ठित हिंदू नेता तथा शिवतरकर, भौंसले, रा. सा. पापन्ना, शिवराम जानबा कांबले, मेजर कृष्णराव कांबले, गोविन्द गोपाल कांबले तथा स्वागताध्यक्ष बाबू कालीचरण जैसे अस्पृश्य जाति के नेता और समाज सुधारक विराजमान थे। नागपुर शहर और महाराष्ट्र में दलित समाज के इतिहास में शायद इतना भव्य और विशाल सम्मेलन कभी नहीं हुआ था जिसमें समूचे भारत के अस्पृश्य वर्ग के प्रतिनिधि और हिंदू समाज के सुधारक एकत्रित हुए हों।

शाहू महाराज ने कहा कि "किसी भी मनुष्य के लिए अस्पृश्य शब्द का प्रयोग निंदनीय है। आप सभी के लिए यह शब्द प्रयोग में आता है, यह भ्रांति है। दरअसल तुम हिंदी राष्ट्र के ज्यादा बुद्धिमान, ज्यादा पराक्रमी, ज्यादा सुविचारी और ज्यादा स्वार्थ त्यागी घटक हो। कुछ लोगों ने बनावटी और स्वार्थवश ऊंच-नीच का भाव करके धर्म को ही नीचे गिराया और अपने ही बंधु-बांधवों को पशुवत् बनाया।

अंग्रेजी राज ने मनु और धर्मशास्त्र, जो जातिवाद को, असमानता को बढ़ावा देते हैं हटाकर मानवतावादी कायदे-कानून लागू किए और हिंदी प्रजा में सम-समान अधिकार स्थापित किए। राष्ट्रीयता की भावना और सामाजिक समता का आदर्श रखा। लेकिन उसे भी इन लोगों ने आगे नहीं बढ़ने दिया। मिशनरियों ने पाठशालाएं प्रारंभ कीं, हमारे अस्पृश्य समाज के बच्चों के साथ ममता का व्यवहार किया। इन्हें यह भी नहीं सुहाया।" शाहू महाराज के भाषण में अंग्रेजी राज का गुणगान अवश्य था, लेकिन कुछ सच्चाइयां भी थीं। जैसे मद्रास में ब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मणेतर समाज के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार, देश में जाति का मिथ्यात्व और अस्पृश्यता का व्यवहार। महाराजा का भाषण इतना भावप्रद, सहानुभूतिपूर्ण, करुणा और प्रेममयी भाषा में था कि दलित प्रतिनिधियों की आंखों में आंसू आ गए। उसमें समाज को जगाने, निर्भीक रहने, शिक्षा प्राप्त करने और एक जुट रहने का संदेश था।

डॉ. परांजपे ने अस्पृश्यता की प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करते हुए कहा कि "प्रत्येक समाज में अच्छे-बुरे लोग होते हैं। वर्ण व्यवस्था, गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार थी, आज उसका खोखलापन सिद्ध हो गया है, ब्राह्मणों को अपशब्द कहने की बजाय अस्पृश्य और दलितों का अपना आंदोलन चालू और दृढ़ रखना चाहिए।"

उत्तर स्वरूप कोठारी ने कहा कि "ब्राह्मणेतर समाज की, अस्पृश्य वर्ग के आंदोलन की कुल्हाड़ी किसी जाति पर नहीं वर्णाश्रम धर्म पर, प्राचीन रूढ़ियों पर पड़ती है पर ब्राह्मण समाज को गुस्सा आता है। सौ वर्षों में अंग्रेजों ने शिक्षा व्यवस्था कम-ज्यादा की उसका दोष हम निकालते हैं, लेकिन 2500 वर्षों से अधिक ब्राह्मणों ने इतर वर्गों को शिक्षा से क्यों वंचित रखा, हर तरह के अधिकार क्यों छीने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। अब समय आ गया है निर्बल वर्ग को ऊंचा उठाना है, उसे रास्ता दिखाना है। यह काम समाज और सरकार दोनों का है।"

द्वितीय दिवस की कार्यवाही

दूसरे दिन सम्मेलन की कार्यवाही सर गंगाधर राव चिटनवीस की अध्यक्षता में संपन्न हुई। उन्होंने परिषद् द्वारा चलाए गए 'अस्पृश्य-बहिष्कृत आंदोलन' के प्रति सहानुभूति प्रकट की। श्रीपतराव शिंदे ने अपने ओजस्वी भाषण में कहा करोड़ों बहिष्कृतों के साथ मनुष्यता के व्यवहार से राष्ट्र का भाग्योदय होगा। इस समाज की चिंता न की गई तो राष्ट्र की हानि होगी। अब तक बहिष्कृत समाज के जागृत होने का सारा श्रेय मिशनरियों को जाता है। उच्च वर्ग के समाज ने उनके साथ खुद नीचता दिखाई है। अस्पृश्य धर्म और नीति से नहीं डिगे। अब उन्हें शिक्षा, समान अधिकार मिलने चाहिए। मानसिक गुलामगिरी उन्हें खुद छोड़नी होगी। सार्वजनिक स्थानों पर खुद-ब-खुद अपने अधिकार को जताना होगा। जो उन्हें अस्पृश्य कहता है, वह स्वयं अस्पृश्य है। अगर ब्राह्मण का स्पर्श होता है तो अस्पृश्यों को खुद स्नान करना चाहिए। तभी छुआछूत मिटेगी।

इसके बाद कोठारी ने अपने भाषण में कहा कुछ लोग ब्राह्मणेतर तथा अस्पृश्यों में फूट डालना चाहते हैं। अतः अपने आंदोलन को सफल बनाने के लिए उन्हें सतर्क रहता होगा। हमें समाज के किसी भी अन्याय से प्रतिकार लेना है, ऐसा संकल्प लेना होगा। जाति भेद राष्ट्र की उन्नति में बाधक है। अस्पृश्य तरुण भारत को स्वाभिमानी होना चाहिए तभी अस्पृश्यता दूर होगी, अन्य लोगों को सहानुभूति मिलेगी, समाज और राष्ट्र की तरक्की होगी।

तत्पश्चात् बाबूराव ने कहा कि वे सत्यशोधक हैं, सुरंग लगाकर पहाड़ उड़ाते हैं। भाषणबाजी व्यर्थ है। मराठा लोगों को चाहिए वे ब्राह्मण वर्ग के पीछे दौड़ने के बजाय अस्पृश्य लोगों से सहकार्य करें। ब्राह्मणों ने सदैव मराठों में द्वेषभाव, फूट डाली है, आज भी छत्रपति शाहू महाराज जब नागपुर पधारे तो नागपुर के राजा साहब पलायन कर गए। यह सब ब्राह्मणद्वेष का मामला है। दलितों को एकजुट होना समय की पुकार है। दलित आंदोलन उनकी मुक्ति का आह्वान है। इसके बाद शिवराम जानबा कांबले ने अपने मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा, "जाति भेद का ढकोसला ब्राह्मणों की देन है और हमारे उन्नति के मार्ग में कांटे के समान है। हमारे पूर्वजों ने आर्कट, कोरेगांव में अंग्रेजी फौज में रहते हुए विजय दिलाई और अपार वीरता का परिचय दिया, उन्हीं के बहादुर और पराक्रमी वंशज जातिभेद, धर्म और अस्पृश्यता के बंधनों को झेल रहे हैं, उसे तोड़ डालिए। कोल्हापुर के छत्रपति

महाराज अपने राज्य में हमारे अस्पृश्य वर्ग को समानता का व्यवहार देकर और अन्यत्र हमें मार्गदर्शन प्रदान करके हमारी मुक्तिदाता बन गए हैं। इसका हमें आभार मानना चाहिए।''

'डिस्प्रैस्ड क्लास मिशन' के बर्वे बोले कि समय आ गया है ब्राह्मणों को छिया-बिलाई का खेल बंद करना पड़ेगा। तभी देश, जाति का भला होगा। शिक्षा और संगठन से सब चीजें हासिल करनी हैं। सामाजिक न्याय, समानता, अधिकार प्राप्त करने के लिए सबको मिल जुल कर अपने मुक्ति आंदोलन को सुदृढ़ बनाना, यही हमारी आजादी की बात होगी।

इसके बाद शिवतरकर ने कहा आज शिक्षा की कुंजी ब्राह्मणों के हाथ में है; इसलिए हमें अनिवार्य शिक्षा चाहिए, तभी समानता और अधिकार प्राप्त होंगे। हमारे कुछ व्यक्ति कोर्ट मार्शल कौंसिल के अध्यक्ष रहे हैं, विधि विशेषज्ञ रहे हैं तो हममें योग्यता का अभाव कहां हैं? समान अवसर मिलेंगे, शिक्षा मिलेगी तो हम प्रतिभावान्, पराक्रमी और राष्ट्र निर्माता बन सकेंगे।

बैरिस्टर बक ने दलित आंदोलन का सुदृढ़ करने के लिए स्थायी फंड बनाने पर जोर दिया। इसके तुरंत बाद शाहू महाराज ने इस फंड में 5,000 रुपए, बाबू कालीचरण ने 1,000 रुपए तथा बहिष्कृत प्रतिनिधियों ने मोटी रकमें दीं। कुछे लोगों ने आर्थिक सहयोग के अभिवचन दिए। बाद में रायसाहब पापन्ना जालय्या की अध्यक्षता में विषय नियामक समिति की बैठक संपन्न हुई। शाहू महाराज ने कहा कि उनके मित्र निंबालकर, भौंसले, बाबूराव यादव, कदम, दत्तोबा पेंटर तथा बेलगाम के पटेल ने 'बहिष्कृत आंदोलन' और दलित मुक्ति संग्राम में अपना जीवन अर्पित करने की शपथ ली है।

नागपुर त्रिदिवसीय सम्मेलन के प्रस्ताव

तीसरे दिन बड़ौदा राज्य अस्पृश्य वर्ग शाला के निरीक्षक और शिक्षाविद कृष्णराव कांबले की अध्यक्षता में प्रस्ताव पारित किए गए। पहले प्रस्ताव में सरकार के प्रति निष्ठा व्यक्त की गई। दूसरे प्रस्ताव में विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व की मांग की गई और बहिष्कृत वर्ग को राजनीतिक सत्ता में भागीदारी के लिए अपील की गई। तदनुरूप प्रस्ताव में बंबई प्रेसीडेंसी में पांच और मध्यप्रांत और बरार (सेंट्रल प्रोविंसेज एंड बरार) में पांच प्रतिनिधि कौंसिल में नामांकित किए जाने की मांग की गई।

प्रस्ताव के अनुमोदन में गवई ने कहा, 'होमरूल आंदोलन' राजनैतिक सत्ता अर्थात् स्वराज्य प्राप्ति का आंदोलन हैं। स्वराज्य में हमें प्रतिनिधित्व मिले, इसीलिए हमने बहिष्कृत (दलित) आंदोलन चलाया है। हमें जनसंख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। प्रस्ताव करतल ध्वनि से पारित हुआ।

तीसरे राजनीतिक प्रस्ताव में बहिष्कृत वर्ग के प्रतिनिधियों के नामांकन में 'डिप्रैस्ड क्लास मिशन' (भारतीय निराश्रित सहायता मंडल) की खुलकर आलोचना की गई जो समाज विरोधी संगठन बन कर रह गया है। बी.आर. द्रविड और रा. कदम जो वकील थे ने साफ-साफ कहा कि यह मिशन बहिष्कृत आंदोलन को ठंडा करने वाला है। भटकर के

प्रस्ताव का अनुमोदन गणेश अवकाजी गवई ने किया कि मिशन की बजाय हमारी परिषद से नामांकन के विषय में राय ली जानी चाहिए।

चतुर्थ प्रस्ताव में कहा गया कि अब तक सरकार ने बहिष्कृत वर्ग की सामाजिक-आर्थिक उन्नति और शिक्षा प्रभार में विशेष रुचि नहीं दिखाई। हमारे लोगों ने उनके सालों तक हर विभाग में बिना मेहनताने बेगार की। इसलिए हमारी प्रगति के लिए जिलेवार काम करने के लिए स्वतंत्र विभाग बनाया जाए।

पांचवे प्रस्ताव में स्थानीय निकाय और जिला परिषदों में बहिष्कृत समाज के प्रतिनिधि नामांकित किए जाने की अपील की गई।

छठवें प्रस्ताव में लड़के-लड़कियों की अनिवार्य शिक्षा के लिए सरकार से अनुरोध किया गया। प्रस्ताव पर शिवतरकर, पुराणिक महोदय, श्रीमती बनसोड, कुमारी रुक्मिणीबाई कोटांगले ने अपने विचार रखे। प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ।

सातवें प्रस्ताव को प्रस्तुत करते-हुए दत्तोपंत पवार ने कहा कि शिक्षामंत्री ब्राह्मणेतर होना चाहिए। मकेसर महोदय ने अनुमोदन किया और बाबूराव यादव ने पुष्टि की। यह प्रस्ताव भी सर्वसम्मति से पास हुआ।

आठवें प्रस्ताव में बहिष्कृत वर्ग के अधिकाधिक विद्यार्थी टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में प्रविष्ट करने के लिए अपील की गई। इसे सेनू नारायण मेढ़े ने प्रस्तुत किया और वासनिक महोदय ने अनुमोदित किया।

नवम् प्रस्ताव में नौकरियों में आयु सीमा बढ़ाए जाने की मांग की गई ताकि दलित वर्ग को नौकरियां प्राप्त हो सकें।

"बहिष्कृत दलित-अस्पृश्य समाज के सर्वमुखी उन्नयन और विकास के लिए कुछ अन्य प्रस्ताव भी पारित किए गए जो दलित आंदोलन की भावी नीति तैयार करने में डॉ. अम्बेडकर आदि नेताओं के मार्ग दृष्टा बने। यहां यह उल्लेखनीय है कि उन दिनों कांग्रेस ने देश में ब्रिटिश सरकार से शांतिपूर्ण असहयोग करते हुए नागरिक अवज्ञा आंदोलन चला रखा था और राजकाज को पंगु बनाने के लिए बहिष्कार की घोषणा कर दी थी।"[31]

9 अक्टूबर 1920 के मूक नायक के 18वें अंक में उन्होंने 'उन्नति के साधन' शीर्षक मराठी अग्रलेख में दलितों को शिक्षा के महत्त्व को उजागर किया। उन्होंने बहिष्कृत समाज से आशा की कि वे "अपनी वास्तविक उन्नति के साधन शिक्षा को अत्यंत तृषातुर होकर अभी से पान करते हुए अन्य लोगों के साथ सुधार हेतु पढ़ाई में स्वयं का स्तर ऊंचा उठाने का अवसर नहीं गवायेंगे।"[32]

23 अक्टूबर 1910 के मूकनायक के 19वें अंक में "हिंदी राष्ट्र की प्राण प्रतिष्ठा" शीर्षक मार्मिक मराठी अग्रलेख में लिखा कि "अंग्रेजी विद्या के अध्ययन तथा पाश्चात्य देशों एवं वहां की संस्थाओं के इतिहास के अनुशीलन से हिंदुस्तान के युवाजनों को राजा तथा प्रजा के अधिकतर समझ में आने लगे। अनियंत्रित राजसत्ता की कमियां उनकी नजरों में आईं। स्वतंत्रता की कल्पना स्पष्टतः समझ में आने लगी। स्वतंत्रता के लिए ब्रिटिश जनता द्वारा किए गए तथा चलाए गए संघर्ष उनके ध्यान में आए, व्यक्ति स्वातंत्र्य का

मार्मिक अर्थ समझ में आने लगा। देश की अधोगति का चित्र हृदय पटल पर प्रतिबिंबित हुआ...अन्याय, विषमता तथा प्रजा के अधिकारों की अवहेलना के प्रकरण सरकार के सामने रखे गए।''

आगे उन्होंने कहा कि ''कुलीन और संभ्रांत लोगों ने अंग्रेजों से सांठ गांठ करके खूब कमाया-खाया। ऊंची शिक्षा पाई। नौकरियां हासिल कीं। अब वे पूर्ण सत्ता के लिए सरकार के काम में व्यवधान डाल रहे हैं। इधर ये अब उठ खड़े हुए हैं। परन्तु अछूत अभी नहीं खड़े है। धर्म बंधु 'बहिष्कृत भारत' की कोई परवाह नहीं करते।''[33]

'बहिष्कृत भारत' का संपादन

डॉ. अम्बेडकर दलित आंदोलन को नई दिशा प्रदान करने और बहिष्कृत समाज की सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक आवाज उठाने के लिए सन् 1927 में 'बहिष्कृत-भारत' पत्रिका निकाली। इंगलैंड से लौटकर अपने जीवन का उद्देश्य दलितों को समर्पित करके उन्होंने यह युग परिवर्तनकारी कार्य किया। इसी संदर्भ में 14 मार्च, 1927 को महाड़ में ''कोलाबा जिला बहिष्कृत परिषद्'' स्थापित की जिसके तत्त्वावधान में सामाजिक आंदोलन और अप्रैल 1927 से **'बहिष्कृत भारत'** का प्रकाशन शुरू किया। इसके संपादन का दायित्व उन्होंने स्वयं संभाला। एक वर्ष की अल्पावधि में उन्होंने समूचे महाराष्ट्र और महाराष्ट्र को स्पर्श करने वाले प्रांतों में तथाकथित ब्राह्मण अभिमान को चूर चूर कर दिया। अस्पृश्य जातियों के शोषण और उन पर किए जाने वाले अत्याचारों, उनके मौलिक अधिकारों के हनन और सामाजिक बंधनों के विरुद्ध तूफान खड़ा कर दिया। 'बहिष्कृत भारत' मराठी भाषी लाखों दलित-अछूतों की आवाज बन गया।

लगभग दो वर्षों तक वे इसका नियमित प्रकाशन करते रहे। इस बीच मुंबई विधान सभा में सदस्य के रूप में उन्होंने विद्वत्तापूर्ण भाषण दिए, लेकिन मराठी में पत्रकारिता जारी रखी। उन्होंने दलितों की दयनीय अवस्था के साथ-साथ हिंदू धर्म की कमजोरियों, अस्पृश्यता के व्यवहार और जाति व्यवस्था पर चोट की।

डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में, ''बहिष्कृत भारत की आर्थिक स्थिति इतनी सुदृढ़ नहीं थी कि इसके लिए किसी व्यक्ति को संपादक के रूप में नियुक्त किया जा सके। दलितों में ऐसा स्वार्थ त्यागी, शिक्षित युवक भी उपलब्ध नहीं था जो इस कार्य को अवैतनिक रूप से संपन्न करता। इसके अतिरिक्त सामाजिक कार्य में वांछित रुचि के अभाव में इस पत्रिका को अन्य लेखकों का उतना सहयोग नहीं मिल सका जो सामान्यतः अपेक्षित था। ऐसी परिस्थिति में पत्रिका के 24-25 पृष्ठ स्वयं मराठी में लिखकर तैयार करने की समस्त संपादकीय जिम्मेदारी भी मुझे ही निभानी आवश्यक थी।''

मराठी लोकभाषा में 'बहिष्कृत भारत' में प्रकाशित बाबा साहेब के अग्रलेखों में उनके चिंतन, अद्वितीय तर्कशक्ति तथा लेखन कौशल की अनुभूति सहज ही हो जाती है। हिंदू धर्मशास्त्रों का गहन अध्ययन और विश्लेषण करके उन्होंने प्रतिष्ठित ब्राह्मण वर्ग

द्वारा स्वयं की श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए अपनाई गई धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों का तर्क के आधार पर विरोध किया। उन्होंने दलितों से आग्रह किया कि वे उन्हें तिलांजलि देकर स्वयं का उद्धार करें। अपने इन लेखों में उन्होंने जाति भेद, अस्पृश्यता, अंधविश्वास, कुप्रथाओं पर चोट की तथा दलित शिक्षा के लिए प्रोत्साहन दिया।''[34]

'मूकनायक' और **'बहिष्कृत भारत'** को चलाने के लिए डॉ. अम्बेडकर के पास किसी थैलीशाह का समर्थन नहीं था। अछूतों के हित में सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में उनकी इतनी अधिक व्यवस्तता थी कि वे पूरा समय भी अब इनके लिए नहीं दे पाते थे। संपादन का कार्य देखने और धन जुटाने से लेकर समस्त औपचारिकताएं उन्हें ही पूरी करनी पड़ती थीं। जो सहयोग मिलता था वह अपर्याप्त था। वे अंधेरे से अकेले सूरज की भांति लेखनी की किरणों से जूझते रहे। दलित आंदोलन को गतिशील बनाने के लिए उन्होंने पुनः 1930 में 'जनता' शीर्षक से एक अन्य पत्रिका का प्रकाशन किया। यह पत्रिका बहुत लोकप्रिय हुई। जिनका सन् 1956 में नाम बदलकर 'प्रबुद्ध भारत' कर दिया गया।[35]

9. पुनः लंदन में उच्च शिक्षा हेतु प्रस्थान

यहां स्मरणीय है कि सितंबर, 1920 में डॉ. अम्बेडकर अपनी अर्थशास्त्र और बैरिस्टरी की अधूरी शिक्षा पूरी करने हेतु पुनः लंदन गए। उन्होंने स्वयं लगभग सात हजार रुपए एकत्रित किए थे, शाहू महाराज ने भी उन्हें 1500 रुपए की आर्थिक सहायता प्रदान की।

लंदन स्कूल ऑफ इकनामिक्स एंड पॉलिटिकल साइंस में एम. एस. सी. (अर्थशास्त्र) एवं ग्रेज़ इन में बैरिस्टरी की पढ़ाई हेतु नाम लिखाया। वे लंदन विश्वविद्यालय पुस्तकालय, गोल्डस्मिथ अर्थशास्त्र पुस्तकालय, ब्रिटिश म्युजियम पुस्तकालय तथा इंडिया आफिस लायब्रेरी में पूरे दिन बारी-बारी से अध्ययन किया करते थे। जून 1921 में लंदन विश्वविद्यालय से ब्रिटिश भारत में इंपीरियल वित्त के प्रांतीय विकेंद्रीकरण पर उन्हें अर्थशास्त्र में एम. एस.सी. की डिग्री प्राप्त हुई। 1922-23 में कुछ माह वे जर्मनी के बोन विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्ययन करने गए। मार्च 1923 में उन्होंने 'रुपए की समस्या—इसके उद्गम और समाधान' पर डी. एस. सी. डिग्री प्राप्त की।

दिसंबर 1923 में लंदन के प्रकाशक पी. एस. किंग एंड कंपनी ने इसको प्रकाशित किया। यह शोध ग्रंथ विश्व के अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में उच्च कोटि का अर्थशास्त्रीय शोध था। जिसने आगे चलकर भारत की मद्रा और बैंकिंग की स्थिति का मार्गदर्शन किया। सन् 1923 में ही उन्होंने लंदन से बैरिस्टरी की परीक्षा भी पास कर ली।

भारत में दलित-अस्पृश्यों के बारे में वे लगातार अपने सहयोगियों और मित्रों के संपर्क में रहे। उन्होंने भारत के दलितों के बारे में लंदन में भारत सचिव ई. एस. मॉन्टेग्यू से भी विचार-विमर्श किया। साथ ही विट्ठलभाई पटेल से भी अस्पृश्यता और दलित समस्या पर बातचीत की।[36] लंदन प्रवास में उन्होंने वहां के पुस्तकालयों में भारत के शूद्र, दलित, अछूतों पर दुर्लभ शोध सामग्री का अवलोकन किया।

10. संघर्ष का रास्ता : सीधी कार्यवाही

10.1 महाड़ तालाब सत्याग्रह

दलित आंदोलन के इतिहास में 1926-27 का दौर बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह सीधी कार्यवाही या संघर्ष का रास्ता था। बंबई विधान परिषद में, "एस. के. बोले ने एक प्रस्ताव के जरिए अस्पृश्यों हेतु सार्वजनिक जल-स्रोतों, कुओं, सरकार द्वारा निर्मित धर्मशालाओं, सरकारी स्कूलों, कचहरी, कार्यालयों और दवाखानों के उपयोग की मांग की। 11 सितंबर, 1923 के सरकारी आदेशानुसार उक्त प्रस्ताव को क्रियान्वित कर दिया गया। फिर भी स्थानीय निकायों और म्युनिस्पिल बोर्डों ने इस आदेश की अवहेलना की और दलितों को नागरिक अधिकारों से वंचित रखा। अगस्त 5, 1926 को बोले ने पुनः प्रस्ताव रखा कि उन स्थानीय निकायों या म्युनिस्पिल बोर्डों की आर्थिक सहायता बंद कर दी जाए जो परिषद के उक्त संकल्प और आदेश का अनुपालन नहीं करते।

'महाड़ म्युनिस्पिल बोर्ड' ने उक्त प्रस्ताव के संदर्भ में महाड़ तालाब जो चावदार तालाब नाम से विख्यात था, सभी जातियों के उपयोग के लिए खोल दिया। लेकिन सवर्ण हिंदू इस व्यवस्था के प्रति नाराज थे।"[37]

"इस पर 19 और 20 मार्च, 1927 को 10,000 प्रतिनिधियों की द्विदिवसीय दलित जातियों की सभा आयोजित की गई जिसमें डॉ. अम्बेडकर ने आह्वान किया कि वे अपने मौलिक अधिकारों के लिए आगे आएं। स्व-सहयोग, स्वाभिमान और स्व-ज्ञान के माध्यम से ही वे प्रगति कर सकेंगे। उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा उन्हें शिक्षित बन ऊंची नौकरी हासिल करनी चाहिए। दासता की प्रतीक वंशगत वतनदारी छोड़ कर जंगली भूमि प्राप्त कर उस पर कृषि करनी चाहिए।

एक प्रस्ताव के जरिए सवर्ण जातियों और सरकार से मांग की गई कि वह बोले संकल्प के क्रियान्वयन में मदद करें। दो सवर्ण हिंदुओं ने भी इस प्रस्ताव का समर्थन किया।

10.2 ऐतिहासिक मार्च

सम्मेलन समाप्ति पर डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा से लगभग 10,000 प्रतिनिधियों ने अपने मौलिक अधिकार का प्रयोग करने की दिशा में चावदार तालाब की ओर पानी पीने के लिए प्रस्थान किया। शरारती तत्त्वों ने एक और अफवाह फैला दी कि दलितों ने वीरेश्वर मंदिर में प्रवेश कर लिया है। इस पर सवर्ण हिंदू संगठित होकर सम्मेलन के पंडाल में टूट पड़े और प्रतिनिधियों की धुनाई कर दी। प्रतिनिधियों ने मुस्लिम लोगों के घरों में घुसकर प्राण बचाए। डॉ. अम्बेडकर को पुलिस स्टेशन में प्राणरक्षा के लिए शरण लेनी पड़ी।

दलित आंदोलन के इतिहास में मौलिक अधिकारों के लिए इस प्रकार एक और संघर्षपूर्ण अध्याय जुड़ गया। अब दलितों के सामाजिक बहिष्कार का मामला चल पड़ा।

उन्हें कृषि-भूमि से बेदखल किया जाने लगा। अनेक गांवों में उन पर हमले हुए।

"डॉ. अम्बेडकर ने अपने अनुयायियों से कहा कि वे भी संघर्ष करे। सार्वजनिक स्थानों, कुओं-तालाबों से पानी भरें और पिएं तथा मंदिर प्रवेश के लिए चूक नहीं करें।

यह करो और मरो अथवा सीधी कार्यवाही का आह्वान था। इस पर एक विचारक के अनुसार 'समृद्ध, भरपेट हिंदू अंग्रेज से लड़ता था। अस्पृश्य, दलित मानव अधिकारों के लिए अंधविश्वासी-कट्टर-हिंदूवाद से लड़ते थे।'

'इस संघर्ष में कोलाबा जिले के अंतर्गत महाड़ म्युनिस्पिल्टी अध्यक्ष नाना साहेब टिपनिस, सवर्ण हिंदू नेता डॉ. वी. प्रधान, अनंतराव चित्रे, जोशी, श्रीनिवासन तथा समाज समता मंडल के बहुत से सवर्ण हिंदुओं ने पूरा सहयोग और समर्थन दिया।'

'महाराष्ट्र के 'सत्यशोधक आंदोलन' के दो प्रमुख नेता जवालकर और जेधे ने भी अछूतों के इस सत्याग्रह का साथ दिया। उन्होंने कहा कि समस्त ब्राह्मणों को इस आंदोलन में से बाहर निकाल देना चाहिए और इसे एक व्यापक जन आंदोलन के रूप में शांतिपूर्ण ढंग से चलाना चाहिए।'

डॉ. अम्बेडकर ने घोषणा की कि सब ब्राह्मणों को अस्पृश्यों का शत्रु मानना एक भारी त्रुटि होगी।"[38] नेताओं को छोड़कर अधिकांश शिक्षित ब्राह्मण और उच्च जातियों के लोगों की उनके प्रति सहानुभूति थी।

दलितों का यह आंदोलन लंबी अवधि तक चला। पुनः दिसम्बर 25, 1927 को महाड़ में सत्याग्रहियों का सम्मेलन बुलाया गया। एक मुस्लिम नागरिक ने अपनी जगह में सम्मेलन करने की अनुमति प्रदान की। स्थानीय व्यापारियों ने इस सम्मेलन का बहिष्कार किया। यहां तक कि खाने-पीने के लिए बाहर से व्यवस्था करनी पड़ी। 200 सत्याग्रहियों को लेकर डॉ. अम्बेडकर बंबई गए। 3000 सत्याग्रही पूरी तरह तैयार थे। जिलाधिकारी ने डॉ. अम्बेडकर से प्रस्तावित सत्याग्रह स्थगित करने की अपील की। अम्बेडकर ने कहा सब बुराइयों और असमानता का मूल कारण वर्ण व्यवस्था है। उन्होंने कहा कि समानता का अर्थ है समान अवसर और व्यक्ति में छिपे गुणों को शक्ति रूप में रूपांतरित करना। उन्होंने जोर देकर कहा हिंदू समाज को दो सिद्धांतों पर पुनर्गठित किया जाना चाहिए, समानता को मान्यता और जातिप्रथा का बहिष्कार।

10.3 मनुस्मृति दहन

इस दलित सत्याग्रह-सम्मेलन में एक प्रस्ताव द्वारा वर्ण व्यवस्था की परिपोषक और अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था की पक्षधर मनुस्मृति के दहन का सर्वसम्मति से निर्णय लिया गया। सामाजिक क्रांति की दिशा में यह अनोखी घटना थी।

डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि 'मनुस्मृति अस्पृश्यों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक दासता को जिंदा रखती है। मनुस्मृति ने हिंदुओं का सिर लज्जा से झुका दिया है।'

सम्मेलन के निर्णयानुसार '25 दिसंबर, 1927 को मनुस्मृति को जलाया गया। गैर ब्राह्मण आंदोलन के एक प्रमुख नेता भास्कर राव जेधे ने जो ब्राह्मणवाद के अत्यंत खिलाफ

थे कहा कि हिंदुओं के पवित्र धर्मग्रंथों में बुराई की अपेक्षा अच्छी बातें अधिक हैं।

एक अन्य प्रस्ताव में पुरोहित पेशे का प्रजातंत्रीकरण किए जाने का अनुरोध किया गया और सभी इच्छुक लोगों को पुरोहित बनने का अवसर प्रदान किए जाने की मांग की गई।

डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं इस प्रस्तावित सत्याग्रह और संघर्ष के विषय में संकल्प प्रस्तुत किया था। उन्होंने भावपूर्ण और वैचारिकता से ओत-प्रोत शब्दों में कहा, "वर्तमान परिस्थिति में सरकार को नाराज नहीं किया जाना चाहिए, हमें उसे विरोधी नहीं बनाना चाहिए।"[39]

डॉ. अम्बेडकर के सत्याग्रही स्वरूप को प्रकट करने वाला यह संघर्ष अधिकार प्राप्ति के लिए एक सफल प्रयोग ही नहीं वरन् अस्पृश्यता निवारण, अन्यायपूर्ण और क्रूर जाति-प्रथा, सामाजिक-राजनीतिक जागृति एवं दलित शक्ति को प्रदर्शित करने वाला आंदोलन था।"[40]

'कोलाबा दलित जातीय सम्मेलन' में उच्च जाति के दिग्भ्रमित लोगों ने अस्पृश्यों पर जो हमला किया उसका वृतांत उन दिनों के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' एवं 'बंबई क्रोनीकल' आदि पत्रों में प्रकाशित हुआ। यह सम्मेलन महाड़ में 19-20 मार्च, 1927 को संपन्न हुआ था। उसकी सही तस्वीर तीसरे दशक की हिंदू मानसिकता और जातीय दंभ को प्रदर्शित करती है पत्र में छपा बयान अधूरा था। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार :

" 'टाइम्स आफ इंडिया' ने अपने 24 तारीख के अंक में महाड़ के दंगों पर एक बयान छापा, परंतु क्योंकि वह बयान अधूरा था और वहां जो हुआ, उसकी सही तस्वीर प्रस्तुत नहीं करता, इसलिए दंगे का पूरा और सही विवरण देना आवश्यक है।

10.4 महाड़ संघर्ष : सही तसवीर

"कोलाबा जिले के दलित जातियों का एक सम्मेलन महाड़ में 19-20 मार्च 1927 को डॉ. भीमराव अम्बेडकर की अध्यक्षता में हुआ। दलितों की उपस्थिति ढाई हजार से अधिक थी और उनमें भारी उत्साह था। परंतु दंगे के कारण सम्मेलन के काम में गंभीर बाधा पड़ी जिसकी पूरी जिम्मेदारी महाड़ के ऊंची जाति के हिंदू निवासियों पर है। सम्मेलन के पहले दिन जब अध्यक्षीय भाषण के बाद कई सवर्ण हिंदुओं ने भी सम्मेलन को संबोधित किया और दलितों को आश्वासन दिया कि वे हर प्रकार से उनकी सहायता के लिए तैयार हैं और आग्रह किया कि दलित लोग सवर्ण हिदुओं के विरुद्ध घृणा न फैलाएं। इसे देखते हुए विषय समिति ने जिस प्रस्ताव का प्रारूप तैयार किया उसमें यह भी कहा गया था कि ऊंची जाति के हिंदुओं को दलितों के उत्थान के लिए क्या करना चाहिए। विषय समिति में कुछ लोगों ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया कि महाड़ में दलित लोगों को पीने के पानी की बहुत दिक्कत है। यह दिक्कत महाड़ के दलित निवासियों के सामने ही नहीं है, बल्कि गांव आने वालों को भी उठानी पड़ती है जो व्यक्तिगत कार्यों या सरकारी कार्यों से महाड़ आते हैं। वहां पानी का इतना अभाव है कि सम्मेलन के लिए 15 रुपए रोज का पानी खरीदना पड़ा। कुछ दिन पहले महाड़ नगरपालिका ने एक प्रस्ताव पारित करके यह घोषणा की थी कि शहर के तालाबों पर जनता को जाने की अनुमति है परंतु

उसने वहां कोई बोर्ड नहीं लगाया था। लोग वहां जाने से डरते थे। इसलिए विषय समिति के सम्मेलन में उच्च जाति के लोगों के विचार इस विषय में जानकर यह फैसला किया गया कि सम्मेलन में शामिल लोग **चावदार तालाब** पर इकट्ठे होकर जाएं और दलित जाति के लोगों को पानी लेने का उनका अधिकार दिलाने में सहायता दें।"[41]

10.5 झूठी अफवाह : असामाजिक तत्त्वों की शरारत

जब 20 तारीख की सुबह सम्मेलन फिर शुरू हुआ तो पहला संकल्प जिसमें यह घोषणा की गई कि सवर्ण हिंदू दलितों के लिए क्या करें, दलित वर्गों के सदस्यों द्वारा सम्मेलन के समक्ष रखा। अध्यक्ष ने सर्वश्री पुरुषोत्तम प्रभाकर जोशी और गोविंद नारायण धारिया (ऊंची जातियों के प्रतिनिधि) से संकल्प पर बोलने का अनुरोध किया। संकल्प में अंतर्जातीय विवाह से संबंधित एक खंड को छोड़कर उन दोनों ने संकल्प को स्वीकार किया। इस संकल्प को लेकर आम सहमति थी। इसलिए सम्मेलन का सत्र समाप्त होने के बाद सभी लोग एकत्र होकर उस तालाब की ओर बढ़े। जुलूस अत्यंत शांत था और सब कुछ शांति से गुजरा। परंतु लगभग दो घंटे बाद बाहर के कुछ बददिमाग लोगों ने एक अफवाह फैला दी कि दलित वर्गों के लोगों का इरादा वीरेश्वर मंदिर में घुसने का है जिससे बदमाश लोगों की बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठा हो गई। उनके पास लाठियां भी थी। भीड़ शीघ्र आक्रामक हो गई और सारा शहर गुंडों की चपेट में आ गया जो दलितों के खून के प्यासे लगते थे।

10.6 बीस घायल :दलितों का संयम

दलित वर्गों के लोग अपने-अपने गांवों को रवाना होने से पहले खाना खा रहे थे। जब उनमें से अधिकांश चले गए तो गुंडे रसोई में घुस गए जहां दलित लोग खाना खा रहे थे। दोनों दलों के बीच युद्ध छिड़ सकता था परंतु दलित वर्गों के नेताओं ने अपने लोगों को रोक लिया और इस प्रकार भीषण दंगा टल गया। जब गुंडों को मुकाबला करने वाला कोई नहीं मिला तो उन्होंने सड़क पर घूमना शुरू कर दिया और उन इक्का-दुक्का दलितों पर हमला करना शुरू कर दिया जो अपने गांवों को लौट रहे थे। वे दलितों के घरों में भी घुस गए और उन्हें बुरी तरह पीटा। कुल मिलाकर 20 दलित घायल हुए। इस घटना में दलितों का व्यवहार प्रशंसनीय था जबकि बड़ी जातियों के अनेक लोगों का बर्ताव निंदनीय था। जो दलित वहां इकट्ठा हुए थे, उससे कहीं ज्यादा बड़ी जातियों के लोग आ धमके परंतु क्योंकि उनके नेताओं का उद्देश्य अहिंसक और पूरी तरह संविधानसम्मत था इसलिए दलितों ने कोई आक्रामक रुख नहीं अपनाया। दलित वर्गों के पक्ष में यह बहुत बड़ी बात हैं कि यद्यपि उन्हें बुरी तरह उकसाया गया था किंतु इसके बावजूद उन्होंने आत्मसंयम बरता। 'महाड़ सम्मेलन' से यह सिद्ध होता है कि ऊंची जातियां दलितों को सार्वजनिक पनघटों से पानी लेने जैसे प्राथमिक नागरिक अधिकारों के उपयोग के विरुद्ध है।"[42]

"महाड़ और कोलाबा जिलों में सवर्ण हिंदुओं का सबसे निंदनीय कार्य यह था कि विभिन्न गांवों के अपनी जाति भाइयों को उन्होंने तुरंत संदेश भेज दिया कि जैसे ही सम्मेलन

से भाग लेकर दलित लोग अपने गांवों में पहुंचे, उन्हें दंड दें। इसके परिणामस्वरूप जो लोग महाड़ सम्मेलन से लौटे, उनके साथ गांव पहुंचने से पहले या बाद में मारपीट की गई।''[43]

11. दलित बहुसंख्यकों के अत्याचारों के शिकार

'साइमन कमीशन' को अम्बेडकर साफ तौर पर बता चुके थे कि दलित बहुसंख्यकों के अत्याचार सहन करते हैं। मुसलमान अत्याचार नहीं सहते। उन्हें बुनियादी मानवीय अधिकार प्राप्त हैं। ''परंतु दलितों की स्थिति भिन्न है उन्हें अपने मानवीय अधिकारों के लिए सतत संघर्ष करना पड़ता है, जो बहुसंख्यकों के लिए सतत चुनौती है। उनको ये अधिकार देना नहीं चाहते। इसका नतीजा यह है कि दलितों को बराबर बहुसंख्यकों का विरोध सहना पड़ता है। इतना ही नहीं है अगर मुसलमानों पर बहुसंख्यकों का कोई जुल्म होता है तो पुलिस और मजिस्ट्रेट के लम्बे हाथ उनकी सहायता करते हैं, परंतु जब किसी दलित पर बहुसंख्यकों का अत्याचार होता है तो पुलिस और मजिस्ट्रेट कभी-कभार ही उसकी रक्षा करते हैं। दलित के खिलाफ उनकी बहुसंख्यकों से मिलीभगत होती है। उसकी सीधी-सी वजह है कि प्रांत की पुलिस और मजिस्ट्रेट के कार्यालय में मुसलमान कार्यालय में तैनात अपने अनेक परिचितों तथा संबंधियों तक पहुंच सकते हैं, जबकि दलितों का कोई सगा-संबंधी उन विभागों में नहीं होता और यह भी ध्यान रखने की बात है कि दलितों को केवल रूढ़िवादी हिंदुओं की मार को ही झेलना नहीं पड़ता। उसे मुसलमान को भी भुगतना पड़ता है। आमतौर पर समझा जाता है कि मुसलमान उन सामाजिक पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं जो दलितों के प्रति हिंदू रखते हैं। इससे बड़ी भूल और कोई हो नहीं सकती। शहरी क्षेत्रों की बात छोड़ दें, गांवों में भी तो मुसलमानों का रवैया हिंदुओं जैसा विषैला ही है। कोलाबा जिले के मानगांव तालुक के हरकुल ग्राम में जो दंगे हुए, वे इस बात के प्रमाण हैं। इस जिले में दलितों ने समाजोत्थान का एक अभियान चलाया और उन गंदे रिवाजों का परित्याग करने का संकल्प लिया जो उन पर घटिया दर्जे का इंसान होने का ठप्पा लगाते हैं। इस जिले के जिन हिंदुओं ने उन्हें उपदेश दिया था कि वे गंदे कामों को त्याग दें तभी उनका उद्धार संभव है, उन्हीं का अत्याचार इन गरीबों को झेलना पड़ा और उनका सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार कर दिया गया। इस बात की कभी उम्मीद ही नहीं थी कि जिले के मुसलमानों का व्यवहार भी अपने पड़ोसी हिंदुओं जैसा ही होगा। इसके विपरीत दलितों को आशा थी कि स्पृश्य हिंदुओं के खिलाफ संघर्ष में मुसलमान उनका साथ देंगे परंतु उनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया क्योंकि शीघ्र यह पता चल गया कि छुआछूत न मानने पर भी मुसलमान हिंदुओं की भांति इस गंदी धारणा से जकड़े हुए थे कि उनका जन्म ही घटिया सामाजिक स्तर के लिए हुआ है और अपनी गंदी आदतों को छोड़कर वे अपने उद्धार के जो प्रयत्न कर रहे हैं, वह उनका अपमान और निरादर है और उसे कुचल दिया जाए। इसके फलस्वरूप दलितों और मुसलमानों के बीच जिले में कई झगड़े हुए। उनमें से एक में हरकुल ग्राम में एक दलित को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।''[44]

"इसलिए यह स्पष्ट है कि दलितों की समस्या मुसलमानों की समस्या से ज्यादा विकट है। भले ही जाति के रूप में मुसलमान पिछड़े हो सकते हैं, पर कम से कम वे शिक्षा के क्षेत्र में इतने उन्नत हुए हैं कि केवल उन्नत हिंदुओं से ही पीछे हैं। परंतु निश्चित रूप से वे बाधाग्रस्त नहीं हैं। अतः प्रोत्साहन और प्रयास से वे आगे बढ़ सकते हैं। दूसरी ओर दलित जातियां न सिर्फ पिछड़ी हैं बल्कि बाधाग्रस्त भी हैं। इसलिए कोई प्रयास या प्रोत्साहन तब तक उनके उत्थान में सहायक नहीं हो सकता जब तक कि सबसे पहले उनकी बाधा दूर न की जाए। दोनों के बीच यह फर्क है। मुसलमानों की पिछड़ी स्थिति सुधारने के लिए जितनी राजनीतिक शक्ति जरूरी है, दलितों का पिछड़ापन दूर करने के लिए उससे दुगुनी की आवश्यकता है, भले ही उससे अधिक की न हो। इसके बावजूद मेरे साथियों ने उनके प्रतिनिधित्व का अनुपात उलट दिया है। मुसलमान आबादी का 19 प्रतिशत हैं और उनका एक मजबूत अल्पसंख्यक वर्ग है। उन्हें परिषद में 31 प्रतिशत स्थान दिए गए हैं, जबकि अति अनुदार अनुमान के अनुसार दलितों की संख्या आबादी का 8 प्रतिशत है और उनके लिए परिषद में केवल 7 स्थान नियत किए गए हैं। वह वास्तव में उनकी आबादी के अनुपात से एक प्रतिशत कम हैं।

यह कहा जाता है कि दलितों की समस्या सामाजिक समस्या है इसलिए इसका समाधान सामाजिक मंच पर खोजा जाए। मुझे आश्चर्य है कि उच्च वर्णों का भी ऐसा ही दृष्टिकोण है। मेरा यह विचार है कि यह दृष्टिकोण अपनाने वाले यह भूल जाते हैं कि मानव समाज में प्रत्येक समस्या एक सामाजिक समस्या है। पीने की समस्या, मजदूरी की समस्या, काम के घंटे, आवाज, बेरोजगारी, बीमा, ये सभी सामाजिक समस्याएं हैं। इसी तरह छुआछूत भी सामाजिक समस्या है। पर सवाल यह नहीं है कि यह समस्या सामाजिक समस्या है या नहीं। सवाल यह है कि क्या राजनीतिक शक्ति से वह हल की जा सकती है। मेरा जोरदार जवाब है कि निश्चय ही हल हो सकती है। यही कहना ठीक है कि भारत की सरकार, भले ही स्पृश्य और अस्पृश्य चाहें या न चाहें, उन्हें एक ही परिवार के लोगों की तरह रहने के लिए विवश नहीं कर सकेगी। ना ही सरकार विधायिका के अधिनियम या विधायिका की परिषद के आदेश द्वारा उनमें प्यार-मोहब्बत करवा सकती है या उन्हें गले से लगवा सकती है। लेकिन सरकार उन सभी बाधाओं को दूर कर सकती है जो अस्पृश्यों को उनकी दयनीय दशा में रहने के लिए विवश करती हैं। यदि यह दृष्टिकोण सही है तो किसी भी अन्य समुदाय की अपेक्षा पर्याप्त राजनीतिक प्रतिनिधित्व की जरूरत दलित वर्गों को है।

मेरे साथियों ने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया है कि किस कारण मुसलमानों को अपनी जनसंख्या के अनुपात से 12 प्रतिशत अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए। जिस कारण दलितों को उतना ही प्रतिनिधित्व न दिया जाए जो जनसंख्या के आधार पर उनके हिस्से में आता है। यह उल्लेखनीय बात है कि मुसलमानों के गवाहों ने जो दलील दी थी कि उन्हें बढ़ा हुआ प्रतिनिधित्व दिया जाए, जैसी कि आशा की जाती थी, वह इस आधार पर नहीं मांगा गया था कि उनकी प्रगति अथवा उनके कल्याण के लिए वह आवश्यक

था। उनकी एकमात्र दलील यह थी कि वे शासक वर्ग के वंशज हैं और उन्हें बढ़े हुए प्रतिनिधित्व की आवश्यकता है क्योंकि उन्हें आशंका है कि इसके बिना उनका महत्त्व और प्रभाव घट जाएगा। इससे यह प्रकट होता है कि मुसलमान यह व्यवस्था अपनी पर्याप्तता के आधार पर नहीं अपितु अपनी श्रेष्ठता के आधार पर मांगते हैं।"[45]

इस प्रकार दलितों के अधिकारों के लिए डॉ. अम्बेडकर के संघर्ष ने पूरे महाराष्ट्र में नवजागरण का उद्‌घोष कर दिया। जिसकी आवाज पूरे भारत में सुनी गई। थोड़े ही अर्से में वे भारत की राजनीति और सामाजिक जीवन में चर्चित हो गए।

संदर्भ

1. गोखले, जयश्री : फ्राम कंसेशंस टू कन्फ्रंटेशन, पृ. 348
2. कुबेर, डब्ल्यू. ए. : बी. आर. अम्बेडकर, पृ. 14 एवं इंडियन एंटीक्वेरी (रायल एशियाटिक सोसायटी, बंबई) मई 1917 का अंक।
3. वही, पृ. 15
4. वही, पृ. 14
5. वही, पृ. 17
6. वही, पृ. 16
7. वही, पृ. 17
8. वही, पृ. 17
9. रणदिवे, बी.टी. : कास्ट, क्लास एंड प्रोपर्टी रिलेशन, पृ. 33
10. यूरलोवा : शिडयूल्ड कास्ट्स इन इंडिया, पृ. 55 56
11. वही, पृ. 18
12. मून, वसंत संपा. : डॉ. अम्बेडकर—लेख एवं भाषण, उ. प्र. सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, खंड 1, पृ. 349
13. वही, पृ. 310 361
14. वही, 349
15. बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड 2, पृ. 28
16. वही, पृ. 28
17. वही, पृ. 28-29
18. वही, पृ. 34
19. वही, पृ. 35-36
20. वही, पृ. 36
21. वही, पृ. 38
22. वही, पृ. 39
23. 'स्वराज्य की दिशा' में देवेन्द्र दीपक के उद्‌गार (मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी का प्रकाशन)
24. परांजपे, डॉ. एन. वी. : संपादकीय टिप्पणी (स्वराज्य की दिशा)
25. मूकनायक (प्रथमांक) 31.1.1920 : मनोगत मराठी लेख के हिंदी अनुवाद
26. वही
27. मूकनायक (अंक 2) 14.2.1920
28. मूक नायक (तृतीय अंक) 28.2.1920

29. वही
30. वही (छठवां अंक) 10.4.1920
31. मूकनायक (दशम् अंक) 30 मई-1 जून, 1920
32. मूकनायक (अठारहवां अंक) 9.10.1920
33. वही, (उन्नीसवां अंक) 23.10.1920
34. स्वराज्य की दिशा (सं. एन. बी. परांजपे), पृ. 13-14
35. मूकनायक एवं बहिष्कृत भारत के मराठी लेख महाराष्ट्र शासन द्वारा अनूदित करके प्रकाशित हो चुके हैं (देखें 'स्वराज्य की दिशा' पृ. 14-15) तथा मंत्री, गणेश, गांधी और अम्बेडकर, पृ. 133
36. कुबेर, पृ. 19
37. वही, पृ. 24
38. कुबेर, पृ. 25 एवं सत्यनारायण : डॉ. अम्बेडकर पृ. 154
39. कुबेर, पृ. 26
40. चंचरीक, कहैंया : फाइट फॉर दि राइट्स ऑफ दि डिप्रेसड क्लासैज
41. बाबा साहेब, डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङमय, खंड 4, पृ. 170
42. वही, पृ. 71
43. वही
44. वही, पृ. 68
45. वही, पृ. 69

(द्वितीय चरण)
(1927-1940)

डॉ. अम्बेडकर : दलितों की पीड़ा उजागर

ब्रिटिश सरकार ने 8 नवम्बर, 1927 को भारतीय शासन अधिनियम, 1919 (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1919) के अंतर्गत सर जान साइमन की अध्यक्षता में सभी दलों के सात सदस्य लेकर एक आयोग नियुक्त किया। इस आयोग का मुख्य कार्य या उद्देश्य ब्रिटिश भारत के शासन कार्य, शिक्षा में प्रगति, अल्पसंख्यक वर्गों के हित में विकास कार्य, समता के व्यवहार की जांच कर इस बात का प्रतिवेदन प्रस्तुत करना था कि भारत में उत्तरदायी शासन का सिद्धांत लागू करना, प्रांतों में कौंसिलों की स्थापना आदि उचित है या नहीं।

इस आयोग के सभी सदस्य अंग्रेज सांसद थे और भारतीयों का प्रतिनिधित्व शून्य था इसलिए कांग्रेस ने इसका देश भर में बहिष्कार करने का संकल्प किया। लेकिन डॉ. अम्बेडकर तथा अन्य दलित नेताओं ने कहा यह आयोग हमारे लिए आशा की एक धुंधली सी किरण है। हम अपनी दुख-तकलीफें उसे बता सकते हैं, यहां अछूतों की कोई सुनने वाला नहीं है। उनका यह कथन सही भी था।

अंततः 3 जनवरी, 1928 को इंगलैंड से आयोग भारत में आया। उसी दिन से पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार कांग्रेस ने इसका देश भर में हड़ताल-प्रदर्शन करके बहिष्कार किया और आगे जहां भी आयोग के सदस्य जांच हेतु गए उन्हें काले झंडे दिखाए, 'साइमन वापिस जाओ' के नारे लगाए और विरोध स्वरूप जुलूस-सभाएं आयोजित कीं।

दूसरी ओर पिछड़ी और अस्पृश्य जातियों के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं ने इस आयोग का जगह-जगह स्वागत किया। छोटी-बड़ी सभाएं कीं। समर्थन में जवाबी नारे लगाए।

लखनऊ में 28 नवम्बर 1928 को जब यह आयोग आया तो पिछड़े-दलित वर्ग के नवयुवक कार्यकर्त्ता रामचरण मल्लाह और शिवदयाल सिंह चौरसिया तथा ननकूराम कोरी ने साइमन आयोग के स्वागत में चार बाग में नौटंकी और सभा का आयोजन किया। उनका मानना था कि भारत की दबी-पिछड़ी, अस्पृश्य-दलित जातियों के साथ ऊंची जातियों का जो असमानता का दुर्व्यवहार होता है यह आयोग उसे भी देखेगा।

दिल्ली में चौधरी यादराम (आर्य पुरा) और सरदार पृथ्वी सिंह जाटव (पहाड़गंज) ने एक सभा आयोजित की।

कानपुर के कुछ स्थानों पर पिछड़े और अछूत जातियों के मुहल्लों में इस आयोग के साथ अछूतों के नेता डॉ. अम्बेडकर और स्वामी अछूतानंद भी अवलोकन और जांच के समय उपस्थित थे।[1] इस अवसर पर मजदूर नेता छेदीलाल मिस्त्री और बाबू राम नारायण कोरी भी मौजूद थे।

आगरा में बौहरे खेमचंद जाटव ने जो एम. एल. सी. रहे और 1920-30 में जिला बोर्ड, आगरा के सदस्य थे, साइमन कमीशन के समक्ष साक्ष्य देने उपस्थित हुए।[2]

डॉ. अम्बेडकर ने सर जॉन साइमन से अपनी भेंटवार्ता में स्पष्ट कहा था कि, "ब्रिटिश सरकार से पददलित अछूत जातियां संतुष्ट नहीं हैं। सच तो यह है कि हम दोहरी गुलामी में जी रहे हैं। अंग्रेज नौकरशाही सरकार ने अछूतों के हित में कुछ भी नहीं किया है। जहां तक वे समझते हैं ब्रिटिश सरकार ने सामंतों से ज्यादा उन पर जुल्म ढाए हैं। अगर यहां के पाखंडी, धर्मांध लोगों द्वारा अमानवीय व्यवहार किया गया तो ब्रिटिश सरकार ने उसे नजरअंदाज किया, अथवा उल्टे उन्हीं वर्गों का साथ दिया। ब्रिटिश सरकार यहां के अछूतों की दशा से क्या वाकिफ नहीं है या जानबूझकर उदासीन बनी रही? सार्वजनिक स्थानों पर जाने, मंदिर प्रवेश, राजपथों पर चलने, पीने योग्य पानी के सार्वजनिक कुओं, तालाबों से पानी लेने के अधिकार के संबंध में क्या कोई कानून बनाए?"

डॉ. अम्बेडकर ने कहा, "ब्रिटिश सरकार अछूतों-पिछड़ों को बंधक बनाकर भारत से हजारों मील दूर अफ्रीकी देशों, गायना, मॉरीशस, फीजी आदि जगहों पर ले जाती है जहां उनके साथ जो अमानवीय व्यवहार किया जाता है उसकी मिसाल मिलना मुश्किल है। लोग अपने वतन से हजारों मील दूर बेबसी में घुटन भरी जिंदगी व्यतीत करने के लिए बाध्य ही नहीं बल्कि बंधक बने हुए हैं।"

"...और भारत में यहां के सामंत-बंधुआ मजदूर रखे हुए हैं जिनकी जिंदगी पशुओं से बदतर है। खाने के लिए दिन भर में चूनी-भूसी की रोटी और मिट्टी के बर्तन, रहने के लिए मवेशी खाने, तन ढंकने के लिए फटा-पुराना उतरा हुआ कपड़ा, करोड़ों नारियां अर्धनग्न तथा बच्चे बिना कपड़े के पुआलों में रहते हैं और रात दिन खेत-खलिहानों में कड़ी मेहनत कर रहे हैं।"

डॉ. अम्बेडकर ने आगे कहा, "हम चाहते हैं ब्रिटिश सरकार यहां से चली जाए, हमको आजादी चाहिए, पूरी आजादी। ताकि अछूत भी गुलामी दर गुलामी से छूट कर आजादी की जिंदगी जी सकें।"

उनका यह स्पष्ट, घुमा-फिराए बिना कथन अछूतों की सच्ची कहानी कहने वाला था, जिसने साइमन के सामने सही तस्वीर प्रस्तुत की। यह उनके द्वारा चलाए गए दलित आंदोलन का एक तथ्यपूर्ण सक्रिय अध्याय है।[3]

उन्हें इस बात से निसंदेह संतोष हुआ कि उन्होंने अंग्रेज सरकार के समक्ष भारत के करोड़ों अछूतों की समस्याएं रख दीं और अपनी देशभक्ति का परिचय दे दिया है।

'सतारा जिला महार संस्था' के अध्यक्ष ज्ञानदेव ध्रुवनाथ घोलप ने 'साइमन आयोग' को अपने ज्ञापन में मांग की कि अस्पृश्यों के लिए मुसलमानों की भांति निर्वाचक मंडल का प्रावधान रखा जाए।[4]

'साइमन आयोग' को अम्बेडकर और उनके अनुयायियों ने अपूर्व सहयोग दिया। इस विषय में जेलियट ने लिखा :

"साइमन आयोग' के भारत दौरे के बारे में दलित वर्गों का रुख कांग्रेस और नरमपंथियों के बिलकुल विपरीत था। लगभग 18 दलित वर्गों के संगठनों ने आयोग के सम्मुख साक्ष्य प्रस्तुत किए, जिसमें 16 संगठनों ने अछूतों के लिए अलग निर्वाचक मंडल

की मांग की। बंबई लॉ कालेज में जहां डॉ. अम्बेडकर प्राध्यापक थे उनके छात्र 'साइमन आयोग' के बहिष्कार में कक्षा से बाहर चले गए। डॉ. अम्बेडकर ने 'साइमन कमीशन' के समक्ष अपना विरोध प्रदर्शित करते हुए कहा कि यद्यपि वे उसका स्वागत करते हैं, क्योंकि इसमें किसी भी भारतीय को सम्मिलित नहीं किया गया, यह बात अछूतों के हित में है। इससे आयोग अछूतों की दुरावस्था की वास्तविकता जान सकेगा। यद्यपि उन्होंने सन् 1919 की तरह अछूतों के लिए पृथक् निर्वाचक मंडल की बात नहीं की। अम्बेडकर ने वयस्क मताधिकार के साथ बंबई विधान सभा में 22 आरक्षित सीटों की मांग दुहराई। यह कुल 140 सीटों के अंतर्गत आती थीं (जिनमें 15 उनकी संख्या के अनुपात से और 7 उनके अधिकारों पर बल देते हुए) मांगी गई थीं। वे अपने संगठन 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' (दलित वर्ग संगठन) की इतनी-सी मांग पर ही संतुष्ट थे। उन्होंने इसके लिए सरकार द्वारा गारंटी मांगी। 'सैंट्रल प्राविन्सेज दलित वर्ग संगठन' की ओर से और कड़ी भाषा में जिसके हस्ताक्षर कर्त्ताओं में किशन फागोजी बनसोड समेत पांच महार, दो चमार, एक मांग और एक भंगी जाति के सदस्य सम्मिलित थे लगभग ऐसी ही मांग की गई।

इससे अम्बेडकर का पक्ष और भी मजबूत हुआ। साइमन आयोग के समक्ष इस संगठन की 5 प्रमुख मांगे थीं : (1) अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए सरकार को 'वीटो पावर' मिलनी चाहिए (2) केवल विधायिका में ही आरक्षण नहीं वरन् स्थानीय निकायों और विश्वविद्यालयों में भी उनकी जनसंख्या के अनुपात से आरक्षण मिलना चाहिए (3) सरकारी सेवाओं में न्यूनतम योग्यताओं के आधार पर नौकरियां मिलनी चाहिए (4) मंत्रिमंडल में प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए (5) शिक्षा के लिए विशेष अनुदान की व्यवस्था हो (6) दलितों के हितों को प्रभावित करने वाले बिल को विचारार्थ स्वीकृत ही नहीं किया जाए। इस तरह विदर्भ और बंबई से अस्पृश्य महारों की मांगों से आयोग को परिचित कराया गया।"[5]

इसमें बुरी बातों का रोना धोना नहीं था, भविष्य की पीढ़ियों और वर्तमान को संवारने का संदेश छिपा था।

मोतीलाल नेहरू समिति का प्रतिवेदन : दलितों की उपेक्षा

'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' ने पूरी शक्ति के साथ 'साइमन आयोग' (1927) का बहिष्कार किया था। जबकि दलित और पिछड़े वर्ग के नेताओं ने इसका स्वागत किया था। डॉ. अम्बेडकर आदि दलित नेताओं ने आयोग को पूरा समर्थन दिया और उसे अछूतों के हित में आशा की किरण बताया।

लंदन में भारत सचिव ने कहा कि आयोग का बहिष्कार एक अत्यंत साधारण और आसान बात है, किंतु क्या भारतवासी एक सर्वमान्य संविधान बनाने में सक्षम हैं?

कांग्रेस ने इस चुनौती को गंभीरता से स्वीकार किया और देश के सभी राजनीतिक

दलों का एक सम्मेलन बुलाया। फरवरी और मई, 1928 में इसकी बैठकें हुईं। सभी राजनीतिक दलों के इस सम्मेलन ने मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक सर्वदलीय समिति गठित की जिसका मुख्य कार्य भारत के नए संविधान के आधारभूत सिद्धांत और नीति निर्धारित करना था। इस समिति को निर्देश दिया गया कि वह यथाशीघ्र अपनी रपट तैयार करे और सर्वदलीय सम्मेलन के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करे।[6]

फलतः सर्वदलीय सम्मेलन की बंबई में 19 मई, 1928 को आयोजित बैठक में एक संकल्प के अनुसार नेहरू समिति का निम्न प्रकार गठन किया गया :

"यह बैठक निर्णय करती है कि एक समिति गठित की जाए जिसमें पंडित मोतीलाल नेहरू अध्यक्ष, सर तेजबहादुर सप्रू, सर अली इमाम, श्रीयुत प्रधान, श्रीयुत शुएब कुरैशी, श्रीयुत सुभाषचंद्र बोस, श्रीयुत माधवराव अणे, श्रीयुत एम. आर. जयकर, श्रीयुत एन. एम. जोशी और सरदार मंगलसिंह होंगे, जो आगामी पहली जुलाई से पूर्व भारत के संविधान के निर्माण के सिद्धांत तय करेगी और यह समिति देश भर के विभिन्न संगठनों को विचारार्थ मसौदा भेजेगी। यह समिति सांप्रदायिक एकता के विषय में मद्रास कांग्रेस के प्रस्ताव को पूर्णतः दृष्टिगत रखेगी साथ ही 'हिंदू महासभा', 'मुस्लिम लीग', 'सिख लीग' और दिल्ली में सर्वदलीय सम्मेलन में आए अन्य संगठनों से वैचारिक समन्वय रखेगी और उन सुझावों पर ध्यान देगी जो इसे प्राप्त होंगे, यह समिति दिल्ली सर्वदलीय सम्मेलन की विभिन्न उप समितियों की सिफारिशों पर पूरा ध्यान देगी।

अगस्त, 1928 के प्रारंभ में सर्वदलीय सम्मेलन की पुनः बैठक आयोजित की जाएगी जो इस समिति के प्रतिवेदन पर विचार करेगी।"[7]

इस समिति ने शीघ्र ही जोर-शोर से अपना कार्य प्रारंभ कर दिया। दरअसल इसका मुख्य कार्य-कलाप हिंदू-मुस्लिम समाज के बीच की खाई को पाटना था। इसे स्वराज्य संविधान निर्माण का पहला प्रयास बताया गया।

इस प्रतिवेदन में स्वशासित ब्रिटिश अधिराज्यों के ढर्रे के पूर्ण उत्तरदायी शासन की सिफारिश की गई थी। अल्पसंख्यकों समेत अछूतों के पृथक निर्वाचक मंडल की मांग प्रतिवेदन में पूरी तरह खारिज कर दी गई थी और संयुक्त निर्वाचक मंडल की सिफारिश की गई थी। भारत में संघात्मक शासन तथा केंद्र में दो सदनों की संसद, विधायिका के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी कार्यपालिका, उच्चतम न्यायपालिका और मूलभूत अधिकारों के लिए प्रावधान रखने की सिफारिशें नेहरू समिति के प्रतिवेदन में थीं।[8]

इस प्रतिवेदन ने दलितों के विशेष निर्वाचक मंडल और सीटों के आरक्षण को व्यर्थ और हानिकारक बताया और नामांकन का पर्याप्त विरोध किया। इसमें कहा गया कि वयस्क मताधिकार उनके जीवन स्तर में स्वतः सुधार लाएगा और इससे उनकी राजनीतिक शक्ति में वृद्धि होगी।[9] मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट की यह संकल्पना दलित-अछूतों के हितों और मानवीय अधिकारों के लिए घातक थी।

दलितों की उपेक्षा

आश्चर्य की बात है नेहरू समिति में देश के लगभग आधी जनसंख्या वाले अछूत, शूद्र और पिछड़ी जातियों के प्रतिनिधियों को कोई जगह नहीं दी गई। जबकि दक्षिण, केरल, महाराष्ट्र और उत्तर भारत में अस्पृश्य और पिछड़े वर्गों में राजनीतिक चेतना और सामाजिक हलचल उत्पन्न हो चुकी थी। फलतः और गैर-ब्राह्मण दलित-आंदोलन पूरे देश में फैल रहा था।

डॉ. अम्बेडकर समेत सभी दलित नेता नेहरू प्रतिवेदन की दलित विरोधी सिफारिशों से चकित रह गए। दक्षिण के दलित नेताओं का मानना था नेहरू के पास देने के लिए कुछ भी नहीं हैं वे खुद अंग्रेजों से सत्ता की भीख मांग रहे हैं।

नेहरू समिति ने अपने प्रतिवेदन में गैर ब्राह्मण और दलित जातियों के प्रतिनिधित्व पर विचार किया और अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की जो निम्न प्रकार हैं :

गैर ब्राह्मण : "हिंदू बहुसंख्यक वर्ग में जो दो मुख्य वर्ग हैं वे हैं गैर-ब्राह्मण और दलित जातियां। ब्राह्मण और गैर ब्राह्मण का तीव्र विभाजन सिर्फ दक्षिण में है और भारत के अन्य हिस्सों में इसका असर नहीं। जहां भी गैर-ब्राह्मण मिलते हैं वे या तो पूर्ण बहुसंख्यक हैं जैसे कि दक्षिण भारत में अथवा आबादी के हिसाब से बहुत कम संख्या में हैं जैसे कि बंबई के हिस्सों में। उन्हें विधायिकाओं में कोई आरक्षण देने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि हाल में हुए चुनावों से सिद्ध हो चुका है। ब्राह्मणों के विरुद्ध उनकी शिकायतें देश में ब्राह्मणों द्वारा देश के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में ऊंचाईयों को स्पर्श करने की वजह से हैं। उनके बौद्धिक विकास से ही यह प्रगति संभव हुई है। अब जिसे गैर-ब्राह्मणों के त्वरित उत्थान से चुनौती मिल रही हैं"[10]

दलित जातियां : "हाल के वर्षों में दलित या दबी-कुचली जातियों की समस्या उभर कर आई है और भारत के राजनीतिक विकास के साथ उनकी वर्तमान दशा को तर्कपूर्ण ढंग से पेश किया जाने लगा है। हम यह तथ्य स्वीकार करते हैं कि इस विशाल वर्ग का हिंदुओं की वजह से शोषण हुआ है, उन्हें दबाया गया है, लेकिन साथ ही हम यह भी साफ-साफ समझते हैं कि ब्रिटिश सरकार का इस वर्ग के लिए जो उदारता पूर्ण झुकाव है उसके अपने कारण हैं जो इस वर्ग के प्रति मानवता या प्रेम से सर्वथा अलग है। चूंकि देश में राष्ट्रीय आंदोलन बढ़ता जा रहा है, इससे सरकार की दृष्टि में दलित वर्गों की राजनीतिक कीमत में वृद्धि हो रही है। यह सब सन् 1917 से घटित हो रहा है यहां तक कि उनके सरकारी प्रतिवेदनों में अलग शैक्षिक संदर्भ और उनको प्रदत्त शिक्षा संबंधी सुविधाओं के आंकड़े प्रस्तुत किए जा रहे हैं। अब तक इन वर्गों के लिए प्रदत्त सरकारी मदद के परिणाम अच्छे नहीं निकले। उन्हें विधायिकाओं में कुछ सीटों पर नामांकित किया गया है और विशेष स्कूलों में कुछ सहायता प्रदान की गई है।"

"जबकि उनका जीवन स्तर ऊपर उठाने के लिए इससे अधिक और प्रभावी प्रयास भारत की गैर सरकारी संस्थाओं ने किया है। ईसाई धर्म संस्थानों ने भी उनके लिए कार्य

किया है। सन् 1920 में ही कांग्रेस ने अस्पृश्यता निवारण को अपने कार्यक्रमों में प्राथमिकता प्रदान की और जैसा कि सर्वविदित है महात्मा गांधी ने इस आंदोलन में अपनी सारी शक्ति और क्षमता समर्पित कर दी है। दूसरे राजनीतिक संगठनों और हमें हर्ष है कि सांप्रदायिक संगठनों ने भी अस्पृश्यता निवारण के लिए उसी प्रकार प्रयास किए हैं। जो व्यावहारिक कार्य किए गए हैं और जो परिणाम निकले हैं उससे सिद्ध होता है कि यह मात्र पवित्र संकल्प ही नहीं था।

हम महसूस करते हैं कि देश में अभी भी ऐसे अनुदार तत्त्व मौजूद हैं जो रास्ते में मुश्किलें उपस्थित करते हैं और इस आंदोलन की प्रगति में बाधक बनते हैं। लेकिन हमारा दृढ़ विश्वास है कि अस्पृश्यता मिटकर रहेगी।''

'नेहरू समिति' प्रतिवेदन में आगे कहा गया कि : ''हमारे संविधान विषयक सुझावों में विधायिकाओं में दलित वर्गों हेतु प्रतिनिधित्व के बारे में कोई विशेष प्रावधान नहीं है।

यह विशेष निर्वाचक मंडल या नामांकन द्वारा ही संभव है।...हम नहीं चाहते कि यह मूर्खतापूर्ण और हानिकारक सिद्धांत, अगर हमारा वश चले, जारी रहे। इस प्रकार हम नहीं समझते कि उनके लिए कुछ सीटें देने से उनका भला होने वाला हैं। हम नामांकन के तो सख्त खिलाफ हैं। इसका अंत में यह परिणाम होगा कि जैसा कि आज की सरकार में हो रहा है नामांकित व्यक्ति को सरकार का साथ देना पड़ता है और ऐसी परिस्थितियों में वह किसी का भी प्रतिनिधित्व नहीं करेगा।''[11]

नामांकन के विरोध के साथ नेहरू प्रतिवेदन में आगे कहा गया :

''हम दृढ़तापूर्वक अनुभव करते हैं कि 'दलित वर्ग' (शब्द?) को या तो समाप्त कर देना चाहिए या उनका सामाजिक-आर्थिक रूप से स्तर उठाया जाना चाहिए ताकि समाज में वे ठीक स्थान प्राप्त कर सकें। सबसे प्रभावी कदम होगा कि उन्हें शिक्षा और अन्य सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं और उन तमाम बाधाओं को समाप्त कर दिया जाए जो उनके मार्ग में आती हैं।...

...वयस्क मताधिकार उनके जीवन स्तर में स्वतः वृद्धि करेगा और उनकी राजनीतिक शक्ति बढ़ाएगा। अंत में हमने सिफारिश की है कि समस्त पिछड़े वर्गों की शिक्षा राज्य का विशेष कार्य होना चाहिए। अगर इन तमाम सिफारिशों पर अमल होता है तो 'दलित वर्ग' यथाशीघ्र समाप्त हो जाएंगे (दलित प्रगति करके मुख्य धारा में समाहित हो जाएंगे) और एक स्वावलंबी-प्रगतिशील वर्ग का उदय होगा, जो अन्य समुदायों के साथ समस्त समाज के कल्याणार्थ सहयोगी बनेंगे।''[12]

नेहरू प्रतिवेदन की आलोचना

दलित-जातियों के विषय में जो बातें नेहरू प्रतिवेदन में थी, उनकी डॉ. अम्बेडकर ने डटकर आलोचना की। उन्होंने कहा कि दलित हितों को अनदेखा करते हुए नेहरू प्रतिवेदन ऊंची जातियों और ब्राह्मणों की सत्ता स्थापित करना चाहता है। उन्होंने मुस्लिम समाज की इस

मांग का भी विरोध किया कि नेहरू रिपोर्ट में वर्णित संघ के अधिकारों तथा शक्तियों के अलावा शेष अधिकार और शक्तियां संघ के घटक राज्यों को मिलें।

डॉ. अम्बेडकर शक्तिशाली केंद्र के समर्थक थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी गांव ऊंची जातियों की मनमानी के दुर्ग और ब्राह्मण वर्चस्व के शक्ति केंद्र हैं। वे जीण-शीर्ण रूढ़ियों और दलित शोषण के परिपोषक रहे हैं। जान साइमन ने भी नेहरू प्रतिवेदन की आलोचना की ओर इसे अव्यवहारिक बताया।

देश की जनता ने इस पर अधिक ध्यान भी नहीं दिया। चूंकि संपन्न मुसलमानों और सवर्ण जाति के हिंदू वकीलों का यह एक गैर सरकारी दस्तावेज था, इसलिए इस प्रतिवेदन को सर्वदलीय सममेलन के सम्मुख रखा गया जिसमें दलित वर्ग की पूरी तरह उपेक्षा की गई थी। जवाहर लाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस ने इस प्रतिवेदन को पूरी तरह ठुकराते हुए कहा कि हमें ब्रिटिश अधिराज्य डोमिनियन स्टेट्स की जगह पूर्ण स्वराज्य चाहिए।

दलित महार-वतनदारों का प्रश्न

बंबई प्रेसीडेंसी के दलित-महारों की दयनीय दशा से द्रवित डॉ. अम्बेडकर ने वहां की लेजिस्लेटिव काउंसिल में 3 अगस्त 1928 को 'वंशानुगत कार्य अधिनियम, 1874' में संशोधन प्रस्तुत किया। इस क्षुद्र कर्म को करने वालों में दक्खन के महार, गुजरात के बेठिया अथवा वर्थनिया, कर्नाटक के रामोशी या जुगलिया तथा होलिया वर्ग के हैं। बंबई में ये क्षुद्रकर्मी महार जाति के रहे हैं जिनकी सेवा का लाभ सिंचाई, राजस्व, टीकाकरण, शिक्षा, स्वायत्त शासी विभाग, पुलिस, आबकारी आदि विभाग उठाते हैं तथा भृत्य (सेवादार) के रूप में उसे दिन हो या रात कभी भी तलब किया जाता रहा है। पंजीकृत व्यक्ति के कारणवश अनुपस्थित रहने पर उसके परिवार के किसी भी व्यक्ति को सेवा के लिए बुलाया जा सकता था। वंशानुगत सामंती युग से प्रचलित दासता की इस क्रूर प्रथा को अंग्रजों ने बरकरार रखा और बदले में एक-डेढ़ रुपया मासिक मेहनताना दिया जाता रहा। महार वतनदारों की आय के दो साधन रहे—इनाम भूमि और वतनदारों को ग्रामीणों द्वारा दिए गए बलूतें। इनामी भूमि उन्हें राजा-महाराजाओं के काल से मिली हुई थीं, अंग्रेजों ने नहीं दी। टुकड़ों में बंटते-बंटते जमीन इस तरह नगण्य हो गई कि उसका कोई मूल्य नहीं रह गया। साल भर मेहनत के बाद भी किसान से उसे बलूता मिलने में कठिनाई होती रही है। गांवों में ऊंची जातियों के लोग उनका सामाजिक बहिष्कार अलग से करते आए हैं। डॉ. अम्बेडकर ने उक्त संशोधन के माध्यम से इस अन्यायपूर्ण प्रणाली को खत्म करने और महारों को तत्काल सेवा कार्य से मुक्ति की शायद प्रथम बार जोरदार वकालत की।

डॉ. अम्बेडकर ने बताया कि उन्होंने गत 3 वर्ष वतनदार महारों की सभाएं की हैं। उन्होंने यह भी कहा अगर उनके लिए तत्काल कुछ नहीं किया गया तो वे उनकी मुक्ति का संग्राम शुरू कर देंगे। यह विधेयक पारित नहीं किया गया तो वे परिषद की सदस्यता त्याग कर समस्त समय उनकी हड़ताल-प्रदर्शन संगठित करने में लगा देंगे।[13]

लंदन के गोलमेज सम्मेलन

डॉ. अम्बेडकर की सिंह गर्जना ब्रिटिश राज को जगा देने के लिए काफी थी। आगे चलकर महाराष्ट्र के महार समुदाय की बातें सुनी गई और उन पर उचित कार्यवाही हुई। थोड़े समय के उपरांत ब्रिटिश सरकार ने लंदन में भारत के संविधान की रचना के विषय में व्यापक चर्चा करने के लिए भारत के प्रमुख नेताओं, विधि विशेषज्ञों, जन प्रतिनिधियों और प्रमुख रियासतों के शासकों को 1930 में आमंत्रित किया। देशभर से कुल 89 आमंत्रित लोगों में 16 प्रतिनिधि तीन ब्रिटिश राजनीतिक दलों के थे। 53 विभिन्न हितों के प्रतिनिधि थे जिसमें कांग्रेस के प्रतिनिधि शामिल नहीं थे। डॉ. अम्बेडकर और राव बहादुर श्रीनिवासन को दलित वर्गों के प्रतिनिधि के रूप में लंदन आमंत्रित किया गया। दलित आंदोलन की दिशा में यह बहुत महत्त्वपूर्ण मोड़ था। उन्होंने बैठक में यह सुझाव दिया कि उन्हें गैर-हिंदू माना जाय, क्योंकि वे गुलाम और दास से ज्यादा कुछ नहीं थे। हिंदू उन्हें इसलिए अपना आदमी कहते हैं ताकि उन्हें सस्ते गुलाम मिल सकें जिनके कोई मानवीय अधिकार नहीं। उन्होंने यह भी कहा कि वे दलितों की समस्या संयुक्त राष्ट्र में उठाएंगे।

दलितों की सत्ता में भागीदारी

20 नवंबर, 1930 को लंदन गोलमेज सम्मेलन की पांचवीं बैठक में 'दलित वर्गों' के लिए राजनीतिक सत्ता में भागीदारी की आवश्यकता पर अम्बेडकर ने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा : "मैं इस सभा में संवैधानिक सुधारों के प्रश्न पर उन दलित वर्गों का पक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिनका मुझे और मेरे सहयोगी राव बहादुर श्रीनिवासन को प्रतिनिधित्व करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह ब्रिटिश भारत की 430 लाख जनता अथवा 1/5 जनसंख्या का पक्ष है। दलित वर्ग स्वयं में ऐसे लोगों का समूह है, जो मुसलमानों से भिन्न एवं अलग हैं। यद्यपि उन्हें हिंदू कहा जाता है, किंतु वे हिंदू जाति का किसी भी अर्थ में अविभाज्य अंग नहीं हैं। वे न केवल उनसे अलग रहते हैं, अपितु उन्हें जो दर्जा प्राप्त है, वह भी भारत में अन्य जातियों के दर्जे से बिल्कुल भिन्न है। भारत में अनेक जातियां अत्यंत दयनीय एवं गुलामी की स्थिति में रह रही हैं, किंतु दलित वर्गों की स्थिति बिल्कुल भिन्न हैं। अंतर केवल इतना है कि कृषि कर्मियों और नौकरों के साथ छुआछूत का बर्ताव नहीं किया जाता, जबकि दलित वर्ग छुआछूत के अभिशाप के शिकार हैं। उससे भी खराब बात यह है कि छुआछूत के कारण उन पर लादी गई गुलामी से न केवल सार्वजनिक जीवन में उनके साथ भेदभाव बरता जाता है, बल्कि उन्हें समान अवसरों और मानवीय जीवन के लिए आवश्यक नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा जाता है। मुझे विश्वास है कि इतने बड़े वर्ग, जिसकी जनसंख्या इंग्लैंड अथवा फ्रांस की जनसंख्या के बराबर है और जो अपने अस्तित्त्व के लिए संघर्ष करने के लिए भी संक्षम नहीं है, के दृष्टिकोण को हृदयंगम करने से ही राजनीतिक समस्या का सही समाधान संभव होगा। मैं चाहता हूँ कि इस दृष्टिकोण से यह अधिवेशन प्रारंभ से ही अवगत हो जाएं।"[14]

"मैं दलित वर्गों के पक्ष को यथासंभव संक्षेप में रखने का प्रयास करूंगा। भारत में नौकरशाह प्रणाली को बदलकर एक ऐसी सरकार स्थापित की जाए जो जनता की हो, जनता द्वारा चलाई जाए और जनता के लिए हो। मुझे विश्वास है कि दलित वर्गों के इस पक्ष पर कुछ हलकों में लोगों को विस्मय होगा। दलित वर्ग और ब्रिटिश एक असाधारण बंधन में बंधे हुए हैं। दलित वर्गों ने अंग्रेजों का रूढ़िवादी हिंदुओं के सदियों पुराने जुल्मों और अत्याचारों से मुक्ति दिलाने वालों के रूप में स्वागत किया था। उन्होंने हिंदुओं, मुसलमानों और सिक्खों के विरुद्ध युद्धों में लड़कर अंग्रेजों को भारत का यह विशाल साम्राज्य जीत कर दिया था, जिसके लिए उन्होंने दलित वर्गों के संरक्षक की भूमिका ग्रहण की थी। दोनों में इस प्रकार के घनिष्ठ संबंधों को दृष्टिगत रखते हुए भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति दलित वर्गों के विचारों में इस प्रकार का परिवर्तन निस्संदेह एक अत्यंत अद्भुत एवं महत्त्वपूर्ण घटना है। इस परिवर्तन के कारणों को जानने के लिए दूर नहीं जाना होगा। हमने यह निर्णय इसलिए नहीं लिया कि हम बहुसंख्यक जाति के साथ अपना भाग्य आजमाना चाहते हैं, जैसा कि आप जानते हैं कि बहुसंख्यकों और दलित वर्गों में कोई मधुर संबंध नहीं है, हमने यह निर्णय स्वतंत्र रूप से लिया है। अपनी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर हमने वर्तमान सरकार का मूल्यांकन किया है और देखा है कि इसमें एक अच्छी सरकार के आवश्यक आधारभूत तत्त्वों का भी अभाव है। जब हम अंग्रेजी शासन से पहले की अपनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से अपनी वर्तमान स्थिति की तुलना करते हैं तो हम देखते हैं कि आगे बढ़ने के बजाय हम वहीं के वहीं खड़े हैं। अंग्रेजी शासन से पहले अस्पृश्यता के अभिशाप के कारण हम घृणास्पद जीवन व्यतीत कर रहे थे। अंग्रेजी शासन ने अस्पृश्यता को दूर करने के लिए कोई कदम उठाया है? अंग्रेजी शासन से पहले मंदिरों में हमारा प्रवेश वर्जित था। क्या अब हम मंदिरों में प्रवेश कर सकते हैं? अंग्रेजी शासन से पहले हमें पुलिस में नौकरी नहीं दी जाती थी। क्या अब हम पुलिस में जा सकते हैं? अंग्रेजी शासन से पहले हम सेना में भर्ती नहीं हो सकते थे। क्या सरकार ने हमारे लिए यह रास्ता खोला? इन प्रश्नों में किसी प्रश्न का उत्तर 'हां' में नहीं है। हम पर अंग्रेजी शासन का लंबे अरसे तक काफी प्रभाव रहा है। उन्होंने हमारा जो भी भला किया, हम उसे स्वीकार करते हैं। किंतु हमारी स्थिति में निश्चय ही कोई मूलभूत अंतर नहीं आया है। ब्रिटिश सरकार ने, वस्तुतः, जहां तक हमारा संबंध है, सामाजिक व्यवस्थाओं को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया और विश्वासपूर्वक उन्हें इस चीनी दर्जी की भांति सुरक्षित रखा जिसे पुराने कोट के नमूने पर जब नया कोट सिलने दिया गया, तो उसमें गर्व से पैबंद, खौंच आदि सभी लगा दिए गए। अंग्रेजी शासन के 150 वर्ष बीत जाने पर भी हमारी तकलीफें उन खुले घावों की तरह हैं, जिन पर मरहम लगाने का कोई प्रयास नहीं किया गया।"[15]

"हमारा आरोप यह नहीं है कि अंग्रेजी शासन ने हमारी उपेक्षा की है अथवा उनकी हमारे प्रति सहानुभूति नहीं है। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वह हमारी समस्याओं का समाधान कर ही नहीं सकते हैं। यदि उन्होंने हमारी उपेक्षा की होती तो बात इतनी

गंभीर नहीं थी और उसके कारण हमारे विचारों में इतना गंभीर परिवर्तन नहीं आता। स्थिति का गहन विश्लेषण कर हम यह जान गए हैं कि यह केवल उपेक्षा का मामला नहीं है, बल्कि इस कार्य को करने के लिए उनमें बिल्कुल भी काबलियत नहीं है। दलित वर्गों ने देखा है कि भारत में अंग्रेजी सरकार के सामने दो बड़ी गंभीर सीमाएं हैं। पहली आंतरिक सीमा है, जो सत्तारूढ़ लोगों के चरित्र, उद्देश्य और हितों के द्वारा पैदा हुई हैं बात यह नहीं हैं कि ऐसा करना उनके चरित्र, उद्देश्य और हितों के विरुद्ध है। बाहरी विरोध के भय से भी वह हमारी सहायता नहीं कर रहे हैं। भारत सरकार उन सामाजिक बुराइयों को दूर करने की आवश्यकता को समझती है, जो भारतीय समाज को घुन की तरह खाए जा रही है जिसके कारण दलित वर्ग अनेक वर्षों से अभिशप्त जीवन जीने को विवश हैं। भारत सरकार जानती है कि जमींदार जनता का खून चूस रहे हैं और पूंजीपति कामगारों को जीवनयापन के लिए उचित मजदूरी नहीं दे रहे हैं तथा उनके लिए काम की बेहतर स्थिति भी पैदा नहीं करते हैं। बड़े दुख की बात है कि सरकार ने इन बुराइयों को दूर करने का साहस नहीं दिखाया। इसका कारण क्या है? क्या इन बुराइयों को दूर करने के लिए उसके पास कानूनी शक्ति का अभाव है? नहीं, यह बात नहीं है। इसका कारण यह है कि उन्हें भय है कि वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करने से उसका विरोध होगा। ऐसी सरकार जनता के लिए किस काम की है? इन दो सीमाओं के पाटों में फंसी सरकार दलित वर्गों की स्थिति में सुधार करने और उनके जीवन को बेहतर बनाने के लिए कुछ नहीं कर सकती। हमें ऐसी सरकार चाहिए जिसमें सत्ता में बैठे व्यक्ति देश के हित में अविभाजित राज्यनिष्ठा प्रदान करेंगे। हमें ऐसी सरकार चाहिए जिसमें सत्ता में बैठे व्यक्ति इस बात को समझते हों कि कब सरकार की आज्ञाकारिता समाप्त हो जाती है और प्रतिरोध आरंभ हो जाता है, फिर वे न्याय और समय की आवश्यकताओं को देखते हुए सामाजिक और आर्थिक जीवन की आचार संहिताओं में परिवर्तन करने में नहीं हिचकिचाएं। अंग्रेजी सरकार यह भूमिका कभी नहीं निभा सकेगी। यह कार्य केवल वही सरकार कर सकती है जो जनता की सरकार हो, जो जनता के लिए हो तथा जनता द्वारा चुनी गई हो।''[16]

''दलित वर्गों की ओर से उठाए यह कुछ प्रश्न हैं और उनकी दृष्टि में उन प्रश्नों के ये उत्तर हैं। इसलिए दलित वर्ग इस अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि भारत की नौकरशाह सरकार के सदाशय के बावजूद हमारी तकलीफों को दूर करने के लिए किसी प्रकार का परिर्वतन नहीं ला सकती। हम महसूस करते हैं कि हमारे अतिरिक्त हमारे दुख-दर्द को कोई भी दूर नहीं कर सकता और जब तक राजनीतिक शक्ति हमारे हाथों में नहीं आती, हम भी उसे दूर नहीं कर सकते। जब तक अंग्रेजी सरकार बनी रहेगी, तब तक इस राजनीतिक सत्ता का अंश मात्र भी हमें मिलने वाला नहीं। स्वराज्य के अंतर्गत ही हमें राजनीतिक सत्ता में साझेदारी का कोई अवसर मिल सकता है, राजनीतिक सत्ता के बिना हमारे लोगों का उद्धार संभव नहीं है।''

''महोदय, मैं एक बात की ओर आपका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

मैंने दलित वर्गों का पक्ष पस्तुत करते समय 'डोमिनियन स्टेटस' शब्दावली का इस्तेमाल नहीं किया। मैंने इस शब्दावली का इस्तेमाल नहीं किया, इसलिए नहीं कि मैं उसका अभिप्रायः नहीं समझता और न ही इसका यह अर्थ है कि दलित वर्ग डोमिनियन स्टेटस भारत को दिए जाने के विरोधी हैं। इस शब्दावली का इस्तेमाल न करने के पीछे मेरा मुख्य उद्देश्य यह है कि दलित वर्ग क्या चाहते हैं, इससे उसका संप्रेषण नहीं हो पाता। दलित वर्ग भारत के लिए सुरक्षोपायों सहित डोमिनियन स्टेटस चाहते हैं, किंतु इस प्रश्न पर वे बल देना चाहते हैं कि डोमिनियन भारत का कैसे संचालन किया जाएगा? राजनीतिक सत्ता का केंद्र कहां होगा? यह सत्ता किसके हाथों में होगी? क्या दलित वर्ग उसके वारिस होंगे? उनके लिए यह विचारणीय प्रश्न है। दलित वर्ग यह अनुभव करते हैं कि जब तक नए संविधान की निर्मात्री राजनैतिक मशीनरी विशिष्ट प्रकार की नहीं होगी, दलित वर्गों की राजनीतिक सत्ता में रत्ती भर भी साझेदारी नहीं होगी। नए संविधान का निर्माण करते समय भारत की सामाजिक व्यवस्था के कुछ ठोस तथ्यों को ध्यान में अवश्य रखा जाना चाहिए। इस बात को मानकर चलना होगा कि यहां की सामाजिक व्यवस्था उच्च वर्ग के लिए आदर और निम्न वर्ग के लिए घृणा की अन्याय-परक मान्यताओं पर आधारित है। इसलिए वर्ग और जाति पर आधारित इस व्यवस्था में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के लिए आवश्यक समता और बंधुत्व की मानवीय भावनाओं के विकास की कोई संभावना नहीं है। इस बात को भी मानना होगा कि यद्यपि बुद्धिजीवी भारतीय समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं किंतु यह सभी उच्च वर्ग से आते हैं, यद्यपि यह देश-हित की बात करते हैं और राजनीतिक आंदोलनों का नेतृत्व करते हैं, किंतु वे जातिगत संकीर्णताओं का परित्याग नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, दलित वर्ग यह चाहते हैं कि राजनीतिक तंत्र ऐसा हो, जो समाज के मनोविज्ञान के अनुकूल हो। अन्यथा आप एक ऐसे संविधान का निर्माण करेंगे, जो चाहे कितना ही संतुलित क्यों न हो, वह एक विकृत संविधान होगा और जिस समाज के लिए उसे बनाया जाएगा, उसके लिए उपयुक्त नहीं होगा।''

''इस विषय पर अपनी बात समाप्त करने से पहले मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। हमें बार-बार याद दिलाया जाता है कि दलित वर्गों की समस्या एक सामाजिक समस्या है और उसका समाधान राजनीति में नहीं है। हम इस विचार का जोरदार विरोध करते हैं। हम यह महसूस करते हैं कि जब तक दलित वर्गों के हाथ में राजनीतिक सत्ता नहीं आती, उनकी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। यह सत्य है और हमारे विचार में इसके अलावा और कुछ सत्य हो ही नहीं सकता कि दलित वर्गों की समस्या मुख्य रूप से एक राजनीतिक समस्या है और उसे ऐसा ही माना जाना चाहिए। हम जानते हैं कि राजनीतिक सत्ता अंग्रेजों के हाथ से निकल कर ऐसे लोगों के हाथों में जा रही है जिनका हमारे जीवन पर अत्यधिक आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक प्रभुत्व है। हम चाहते हैं कि सत्ता का हस्तांतरण हो, चाहे स्वराज्य का विचार अतीत में हम पर किए जुल्म, अत्याचार और अन्याय की याद दिलाते हैं और हो सकता है कि स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात हमें पुनः उन जुल्मों और अत्याचारों का शिकार होना पड़े। हम इस आशा पर यह खतरा

भी उठाने के लिए तैयार हैं कि अपने देशवासियों के साथ-साथ हमें भी राजनीतिक सत्ता में पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलेगा। उसे हम एक ही शर्त पर स्वीकार करेंगे कि हमारी समस्याओं के समाधान में विलंब नहीं किया जाएगा, क्योंकि हमने किसी चमत्कार के होने की पहले ही लंबी प्रतीक्षा की है। जब-जब अंग्रेजी सरकार ने सरकार में और प्रतिनिधित्व देने के लिए कदम उठाए हैं, हर बार दलित वर्गों को जान-बूझकर छोड़ दिया गया हैं, राजनीतिक सत्ता में उनके दावे पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। मैं इस बात का पुरजोर विरोध करता हूँ और अब हम उसे और सहन नहीं करेंगे। सामान्य राजनीतिक समझौते के साथ ही हमारी समस्या का समाधान किया जाना चाहिए और उसे भावी शासकों की सहानुभूति और सद्‌भावना की बालू पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए। दलित वर्ग इस बात पर क्यों जोर दे रहे हैं, इसके स्पष्ट कारण हैं।"

"यह सर्वविदित है कि जिस व्यक्ति के पास सत्ता होती है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक ताकतवर होता है, जिसके पास यह नहीं होती। हम सभी जानते हैं कि जिनके पास सत्ता होती है, वह उनके पक्ष में यह सत्ता छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं होते, जो सत्ता के बाहर होते हैं। अतः हमें आशा नहीं है कि हमारी सामाजिक समस्या का समाधान होगा। आज हम जिन्हें सत्ता और सम्मान के सिंहासन पर आरूढ़ करने के लिए सहायता कर रहे हैं, उन्हें हटाने के लिए हमें एक और क्रांति करनी होगी, तभी सत्ता हमारे हाथों में आ सकेगी। अपनी सुरक्षा के लिए अत्यधिक विश्वास कर बरबाद हो जाने के बदले अपनी दुश्चिंताओं और आशंकाओं के कारण हमसे कोई घृणा करे, हम इसे अधिक पसंद नहीं करेंगे। इस बात पर बल देना उचित है कि हमारी समस्या के समाधान के लिए एक ऐसा अनुकूल राजनीतिक तंत्र हो, जिससे हमारा भी उस पर कुछ अधिकार हो। हम उनकी इच्छा पर निर्भर नहीं कर सकते, जो उस तंत्र पर अपना निरंकुश अधिकार जमाने के लिए जोड़-तोड़ कर रहे हैं।

दलित वर्ग अपनी सुरक्षा एवं संरक्षण के लिए किस प्रकार का राजनैतिक तंत्र चाहते हैं, इसके बारे में मैं अधिवेशन को उचित समय पर बताऊंगा। इस समय मैं बस इतना कहना चाहता हूँ कि यद्यपि हम एक जिम्मेदार सरकार चाहते हैं, किंतु हम ऐसी सरकार नहीं चाहते, जिसमें केवल शासक बदल जाएं। यदि कार्यपालिका को उत्तरदायित्व पूर्ण बनाना है तो विधायिका को वस्तुतः पूरी तरह एक प्रतिनिधि संस्था बनाया जाना होगा।"[18]

"अध्यक्ष महोदय, खेद है कि मुझे अपनी बात इतने स्पष्ट शब्दों में कहनी पड़ी है। इसका कोई और विकल्प नहीं था। दलित वर्गों का कोई मित्र नहीं हैं सरकार ने अपना अस्तित्त्व बनाए रखने के लिए अभी तक उनका इस्तेमाल किया है हिंदू उन पर अपना दावा उनको अधिकारों से वंचित करने अथवा यों कहना चाहिए उनके अधिकारों को हड़पने के लिए करते हैं। मुसलमान उनके पृथक अस्तित्त्व को इसलिए मान्यता नहीं देते, क्योंकि उनको भय है कि एक प्रतिद्वंद्वी को शामिल करने से उनके अधिकार कम हो जाएंगे। सरकार द्वारा दबाए, हिंदुओं द्वारा सताए और मुसलमानों द्वारा उपेक्षित दलित वर्ग बिल्कुल ऐसी निस्सहाय एवं दयनीय स्थिति में है, जिसकी कोई मिसाल नहीं है और इसकी ओर

मुझे आपका ध्यान आकर्षित करना पड़ा।

चर्चा के लिए रखे गए एक अन्य प्रश्न के बारे में मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस विषय को एक सामान्य बहस के साथ जोड़ दिया गया है। यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि इस पर बहस के लिए एक सत्र की आवश्यकता है। सरसरी उल्लेख से इस विषय के साथ न्याय नहीं हो सकता। यह ऐसा विषय है, जिसमें दलित वर्गों की गहरी रुचि है और वे इसे एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय मानते हैं। अल्पसंख्यकों के सुरक्षोपायों के रूप में हम चाहते हैं कि बहुसंख्यकों के कुशासन से अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए केंद्र सरकार को प्रांतीय बहुसंख्यकों पर प्रभावी अंकुश लगाना चाहिए। भारतीय होने के नाते भारतीय राष्ट्रवाद में मेरी गहरी रुचि है, मैं यह स्पष्ट तौर पर कह देना चाहता हूं कि एकात्मक शासन प्रणाली में मेरा अटूट विश्वास है और इसमें किसी प्रकार के विघ्न की बात मुझे विचलित कर देती है। भारतीय राष्ट्र के निर्माण में एकात्मक शासन प्रणाली की जबरदस्त भूमिका रही है। एकीकरण की प्रक्रिया जो एकीकृत शासन प्रणाली के कारण आरंभ हुई, अभी तक पूरी नहीं हुई है और निर्माण काल में और इस प्रक्रिया के पूरी होने से पहले इस शक्तिशाली प्रणाली को समाप्त करना अनुचित होगा।

तथापि, जिस रूप में इस प्रश्न को प्रस्तुत किया गया है, उसका मात्र एक सैद्धांतिक महत्त्व है और यदि वह सिद्ध कर दिया जाए कि स्थानीय स्वायत्तता एकात्मक शासन प्रणाली के प्रतिकूल नहीं है, तो मैं संघीय शासन प्रणाली पर विचार करने के लिए तैयार हूँ।"[19]

"महोदय, दलित वर्गों के प्रतिनिधि के रूप में उनकी ओर से मुझे जो कहना था, मैंने कह दिया है। भारतीय होने के नाते मैं आपकी अनुमति से एक-दो शब्दों में यह बताना चाहता हूँ कि हम किस स्थिति में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस संबंध में इतनी बातें कहीं गई हैं कि उसकी गंभीरता के संबंध में मैं आगे कुछ नहीं कहना चाहता, यद्यपि मैं इस आंदोलन का मूक दर्शक नहीं हूँ। इस संबंध में मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या हम समस्या के समाधान के लिए सही दिशा में जा रहे हैं? उसका समाधान केवल इस पर निर्भर करेगा कि ब्रिटिश प्रतिनिधित्व मंडल के सदस्य क्या रुख अपनाते हैं। मैं उनसे केवल यही कहना चाहूंगा कि यह उन्हें तय करना है कि समस्या का समाधान समझौते से करना है अथवा बल प्रयोग से, क्योंकि यह केवल उन्हीं की जिम्मेदारी है। जो बल प्रयोग करना चाहते हैं और जिन्हें विश्वास है कि इससे स्थिति सुधरेगी, मैं उन्हें राजनीतिक दर्शन के महान् विद्वान एडमंड बर्क के स्मरणीय शब्दों की याद दिलाना चाहता हूँ, जब अंग्रेजी राष्ट्र अमरीकी उपनिवेशों की समस्या का सामना कर रहा था, तो उन्होंने कहा था :

> 'बल प्रयोग से समस्या का स्थायी समाधान संभव नहीं होता है, यह नीति थोड़ी देर के लिए तो सफल हो सकती है, किंतु इससे पुनः दमन की जरूरत समाप्त नहीं होती। जिस राष्ट्र को बार-बार जीतना पड़े उस पर शासन नहीं किया जा सकता। दमन से अनिश्चय की स्थिति समाप्त नहीं होती। दमन से हमेशा आतंक पैदा नहीं होता और शास्त्र और सेना से विजय नहीं होती। यदि आप सफल नहीं होते, तो कोई विकल्प शेष नहीं रहता। समझौते की कोई आशा नहीं बचती। सत्ता

और प्राधिकार कभी-कभी दयालुता दिखाकर प्राप्त किए जा सकते हैं, किंतु उन्हें निरुपाय और पराजित हिंसा द्वारा भिक्षा के रूप में कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। शक्ति के बल पर समस्या के समाधान के विरुद्ध यह भी आपत्ति है कि उससे जिस चीज को सुरक्षित करने के प्रयास किए जाते हैं, वह विकृत हो जाती है। जनता की वफादारी को जितने के लिए लड़ाई की जाती है। वह प्राप्त नहीं होती अपितु हाथ लगती है निंदा, अवज्ञा, विनाश।'

आप सभी जानते हैं कि यह कितनी मूल्यवान अच्छी सलाह थी। आपने इस सलाह को माना नहीं और इसके लिए आपको अमरीका महाद्वीप से हाथ धोना पड़ा। आपने जब इसे माना, तो उससे आपका भला हुआ। शेष डोमीनियन आपके साथ हैं। जो लोग समझौते की नीति अपनाना चाहते हैं, उनसे मैं एक बात कहना चाहता हूं। एक ऐसी धारणा बन गई है कि प्रतिनिधि मंडलों के सदस्यों को यहां डोमीनियन स्टेटस के पक्ष और विपक्ष में बोलने के लिए आमंत्रित किया गया है और जिस पक्ष का पलड़ा भारी रहेगा, 'डोमीनियन स्टेटस' देना न देना उस पर निर्भर करेगा। जो लोग तर्क-वितर्क के लिए तैयार हो रहे हैं, मैं उनसे पूरे आदर के साथ निवेदन करना चाहता हूँ कि इस विषय पर तर्क के सूत्र के आधार पर निर्णय करने से बड़ी और कोई भूल नहीं हो सकती। मेरा तर्क और तार्किकों के साथ कोई झगड़ा नहीं है, किंतु मैं उन्हें चेतावनी देना चाहता हूँ कि यदि वे अपने निष्कर्षों के लिए सही तर्कों का चयन नहीं करेंगे, तो निश्चय ही उसके विनाशकारी परिणाम होंगे। मुझे भय है कि इस बात को पूरी तरह से महसूस नहीं किया जा रहा कि देश की वर्तमान मानसिकता को देखते हुए ऐसा कोई संविधान सफल नहीं होगा, जो अधिकांश जनता को मान्य न हो। वह दिन चले गए जब आप जैसा भी निर्णय लेते थे, भारत उसे मान लेता था। अब वह समय कभी वापस नहीं आएगा। यदि आप चाहते हैं कि आपका क्या संविधान मान्य हो तो आप उसे तर्क पर नहीं, जनता की सहमति के आधार पर बनाएं।''[20]

दलित और अल्पसंख्यक : पृथक् समस्याएं

डॉ. अम्बेडकर ने गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यक उपसमिति की बैठक में दलित और अल्पसंख्यकों की समस्याओं को पृथक बताते हुए कहा :

''दलित वर्ग की समस्याएं रखने का जो दायित्व मुझे सौंपा गया है, वह काफी कठिन है। मैं समझता हूँ कि यह शायद पहला अवसर है, जब दलितों की समस्याओं पर राजनैतिक दृष्टिकोण से विचार किया जा रहा है। वैसे देश के राजनीतिक उत्थान पर जब-जब बहस छिड़ी है, हर बार दलितों की समस्याओं को रेखांकित किया गया है और सरकारी दस्तावेजों में उन्हें बाकायदा दर्ज किया गया है। लेकिन यह सब कुछ मात्र कागजी कार्यवाही बनकर रह गया। समस्याएं दर्ज कर ली गईं, लेकिन उनका कोई समाधान नहीं खोजा गया। वे ज्यों-की-त्यों बनी रहीं। जो दायित्व हमें सौंपा गया है, वह बड़ा कठिन है। इस समिति

में ढेर सारे सदस्य हैं, लेकिन चार करोड़ तीस लाख जनता की समस्याओं को समिति के समक्ष रखने का काम दो लोगों को सौंपा गया है, और समस्याएं ऐसी हैं कि जिनकी देश के अन्य किसी भी समुदाय की समस्याओं से कोई तुलना नहीं हो सकती। इन बातों को दृष्टिगत रखते हुए मैं चाहता था कि दलितों की समस्याओं को रखने के लिए जो समय मुझे दिया गया है, वह थोड़ा और बढ़ाया जाता। लेकिन पूर्ण अधिवेशन के अनुभवों को देखते हुए मैंने और मेरे सहयोगी राव बहादुर श्रीनिवासन ने तय किया है कि हम सम्मेलन के समक्ष लिखित ज्ञापन रखेंगे, जिसमें सुस्पष्ट शब्दों में यह बात दर्ज होगी कि दलित अपनी राजनैतिक सुरक्षा के लिए भारत के भावी संविधान में क्या कुछ चाहते हैं। वह लिखित ज्ञापन इस समिति के सभी सदस्यों के बीच वितरित कर दिया गया है। मुझे आशा है कि वह सबको मिल गया होगा और सभी सदस्यों ने उसे पढ़ लिया होगा। ऐसी स्थिति में मैं अध्यक्ष से अधिक समय नहीं लेना चाहूंगा। मैं ज्ञापन का सारांश रखना चाहूंगा। ताकि उसके मुख्य-मुख्य पहलुओं पर प्रकाश पड़ सके।''

''महोदय, सर्वप्रथम मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाना चाहूंगा कि हालांकि भारत वर्ष में अनेक अल्पसंख्यक वर्ग हैं, जिनकी अपनी राजनैतिक पहचान होनी चाहिए, लेकिन ये सभी अल्पसंख्यक वर्ग एक जैसे नहीं है, इनमें अनेक असमानताएं हैं, एक दूसरे से भिन्नताएं हैं। प्रत्येक अल्संख्यक वर्ग की सामाजिक हैसियत अलग-अलग है। उदाहरण के लिए भारत का सबसे छोटा अल्पसंख्यक वर्ग है, पारसी समुदाय। इस समुदाय की सामाजिक हैसियत बहुसंख्यकों की सामाजिक हैसियत से कम नहीं है। दूसरी ओर दलित वर्ग है। देश के सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय, अर्थात मुस्लिम समुदाय के बाद दूसरे नंबर पर आने वाला अल्पसंख्यक वर्ग। इस समुदाय की सामाजिक हैसियत एक अदने आदमी की सामाजिक हैसियत से भी गई-गुजरी है।''

''एक बात और कि यदि हम अल्पसंख्यक वर्गों का वर्गीकरण उनके सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों के आधार पर करें, तो पाएंगे कि कई अल्पसंख्यक वर्गों को सामाजिक-राजनैतिक अधिकार मिले हुए हैं, और उनका अल्पसंख्यक होना उन्हें इन नागरिक अधिकारों से वंचित नहीं करता। लेकिन दलितों के मामले में स्थिति सर्वथा अलग ही है। कुछ मामलों में तो उन्हें कोई अधिकार प्राप्त ही नहीं है और जहां कुछ मिले हुए भी हैं, वहां बहुसंख्यक वर्ग दलितों को उनके इस्तेमाल से वंचित किए हुए हैं।

इस समिति से मेरा पहला निवेदन यह है कि हमें यह समझ लेना चाहिए कि सभी अल्पसंख्यक वर्ग एक नाव में सवार तो हैं, लेकिन बैठे हैं अलग-अलग श्रेणियों में। जैसे कोई पहले दर्जे में सफर कर रहा है, तो कोई दूसरे दर्जे में, और कोई तीसरे दर्जे में। लेकिन दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इसी नाव में सवार दलित तीसरे या चौथे दर्जे में तो क्या, पांचवें दर्जे में भी नहीं हैं।

वैसे मैं यह जानता हूँ कि कुछ **मामलों में दलित वर्गों** की हालत भारत के बाकी अल्पसंख्यकों जैसी ही है। दलित वर्ग की तरह अन्य अल्पसंख्यक वर्गों को यह भय है कि भारत का भावी संविधान इस देश की सत्ता को जिन बहुसंख्यकों के हाथों में सौंपेगा,

वे और कोई नहीं रूढ़िवादी हिंदू ही होंगे। इन्हें आशंका है कि ये रूढ़िवादी हिंदू अपनी रूढ़ियों और पूर्वग्रहों को नहीं छोड़ेंगे। और जब तक वे अपनी रूढ़ियों, कट्टरपन और पूर्वग्रह को नहीं छोड़ते, अल्पसंख्यकों के लिए न्याय, समानता और विवेक पर आधारित समाज एक सपना ही रहेगा। अल्पसंख्यकों को इस बात का खतरा है कि कानून बनाने में, प्रशासनिक कार्यों में या अन्य नागरिक अधिकारों जैसे नागरिकता के अधिकार के मामले में उनके साथ पक्षपात बरता जा सकता है। इसलिए ऐसी व्यवस्था की जानी आवश्यक है, जिससे अल्पसंख्यकों का हितरक्षण हो सके और इनके साथ भविष्य में पक्षपात का खतरा न रहे।''[21]

''इसके लिए अल्पसंख्यकों को विधायिका और कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व दिया जाए। देश की सार्वजनिक सेवाओं (नौकरियों) में प्रतिनिधित्व मिले। भविष्य में बहुसंख्यक अपने विधायी अधिकारों का दुरुपयोग करते हुए ऐसा कोई कानून न बनाने पाएं, जो व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेदभाव करता तो। इसके लिए संविधान में ऐसा प्रावधान होना चाहिए, जो भावी केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों में बहुसंख्यकों के विधायी अधिकारों पर अंकुश लगाए, उन्हें ऐसा कानून बनाने से रोके जो अल्पसंख्यकों के प्रति पक्षपात के परिचायक हों। पक्षपात का यह खतरा सभी अल्पसंख्यक वर्गों के समक्ष है। अतः मैं दलित वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से इस मामले में अन्य अल्पसंख्यक वर्गों की मांगों का समर्थन करता हूँ।''

''महोदय, अब मैं आपको यह बताने जा रहा हूँ कि भारत में दलित वर्ग की स्थिति अन्य अल्पसंख्यक वर्गों से भिन्न कैसे हैं। पहली बात, इस देश में दलितों को कुछ ऐसे नागरिक अधिकार तक प्राप्त नहीं है, जो कानूनी रूप से अन्य अल्पसंख्यकों को प्राप्त हैं। मैं एक-दो उदाहरण देकर अपनी बात समाप्त करूंगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे पास समय अधिक नहीं है। पुलिस और सेना में भर्ती का मामला लें, 'भारत सरकार अधिनियम' में यह प्रावधान है कि सार्वजनिक सेवाओं में रोजगार का अधिकार हर व्यक्ति को समान रूप से है। जाति, धर्म या वर्ण के आधार पर किसी को इस अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। इस कानून के हिसाब से दलित वर्ग का कोई भी व्यक्ति किसी भी सरकारी नौकरी को पाने का हकदार है, बशर्ते वह उसके लिए निर्धारित शर्तें पूरी करता हो। लेकिन हो क्या रहा है? जब भी दलित वर्ग का कोई व्यक्ति पुलिस की नौकरी के लिए अर्जी देता है तो अधिकारी का दो-टूक जवाब होता है कि दलित वर्ग का कोई व्यक्ति पुलिस विभाग में काम नहीं कर सकता, क्योंकि वह अछूत है। सेना में भी यही स्थिति है। सन् 1892 तक स्थिति यह थी कि 'मद्रास आर्मी' और 'बंबई आर्मी' के लगभग सारे-के-सारे सैनिक दलित वर्ग के थे। भारत के इतिहास में जितनी भी बड़ी लड़ाइयां लड़ी गईं, उन सब में मद्रास और बंबई प्रेसिडेंसी के दलित वर्ग के सैनिक ही थे। फिर भी सन् 1892 में एक कानून बनाकर दलितों की सेना में भर्ती पर रोक लगा दी गई। आज भी यदि लेजिस्लेटिव काउंसिल में यह सवाल उठाया जाए तो उत्तर मिलेगा कि दलितों की सेना में भर्ती में सबसे बड़ी बाधा उनका अछूत होना है। हालांकि अब 'भारत सरकार अधिनियम' बन गया है, जिसके तहत दलितों को अन्य लोगों के समान

सेवा में भर्ती का अधिकार मिल गया है, लेकिन यह महज कागजी अधिकार है। छुआछूत की कुरीति आज भी इतनी प्रभावी है जितनी वह कानून बनाकर लागू की जाती।''[22]

''मैं अन्य भी अनेक उदाहरण दे सकता हूँ, जैसे दलितों को यात्रा के समय किसी सार्वजनिक धर्मशाला में नहीं ठहरने दिया जाता, दूसरे वर्गों के लोगों के साथ यात्रा करने से रोका जाता है। जिन विद्यालयों को दलितों ने अपने श्रम से बनाया है, उनमें उनके ही बच्चों को प्रवेश नहीं मिलता। यहां तक कि उन्हें कुएं से पानी तक नहीं भरने दिया जाता। ऐसे अनेक मामले हैं, जिनका ब्यौरा यहां देना आवश्यक नहीं है। मुख्य बात, जो दलित वर्ग को अन्य अल्पसंख्यकों से अलग करती है, वह यह है कि दलित वर्ग नागरिक अधिकारों से वंचित हैं, और दलितों को नागरिक अधिकारों से वंचित रखने की परंपरा इतनी मजबूत है, जितनी कि कोई कानून बनाकर की जाती।''

''दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, दलितों का सामाजिक उत्पीड़न। भारत में दलितों का जितना घृणित सामाजिक उत्पीड़न होता है, वैसा दुनिया में शायद ही कहीं होता हो। बंबई प्रेसिडेंसी की सरकार ने 1928 में दलितों की स्थिति का अध्ययन करने के लिए एक समिति गठित की थी। मैं उस समिति की रिपोर्ट का एक छोटा-सा अंश पढ़ कर सुनाना चाहता हूँ। समिति ने यह पता लगाने का प्रयास किया था कि दलितों को अन्य नागरिकों की तरह कानून ने जो अधिकार दिए हैं, उनकी प्राप्ति में कोई बाधा तो नहीं पहुंच रही है। समिति की रिपोर्ट का एक अंश :

'समाज में दलित अपने नागरिक अधिकारों का उपयोग बिना किसी बाधा के कर सकें, इसके लिए हमने कई उपाय सुझाए हैं। लेकिन हमें आशंका है कि आने वाले समय में दलितों के रास्ते में बाधाएं आएंगी। पहली आशंका तो यही है कि रूढ़िवादी वर्गों के लोग कहीं दलितों के खिलाफ खुली हिंसा पर न उतर आएं। हमें याद रखना चाहिए कि हर गांव में दलितों का एक छोटा-सा वर्ग रहता है और बहुसंख्यक आबादी रूढ़िवादियों की है। ये कट्टरपंथी रूढ़िवादी दलितों का ऐसा कोई कदम नहीं उठाने देंगे, जिससे इन कट्टरपंथी रूढ़िवादियों की सामाजिक हैसियत और उनके हित प्रभावित होते हों, उन पर कोई आंच आती हो। वैसे दलितों के विरुद्ध हिंसा का मार्ग अपनाने से ये लोग थोड़ा कतराएंगे, क्योंकि पुलिस और मुकदमे का भय रहेगा।

दलितों में नागरिक अधिकारों के रास्ते में दूसरी सबसे बड़ी बाधा उनकी अपनी आर्थिक स्थिति है। प्रेसिडेंसी के ज्यादातर हिस्सों में दलितों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब है। कुछ लोग गांव के बड़े जमींदारों के यहां बटाई पर खेती करते हैं, जमींदार जब चाहें उन्हें खेती से बेदखल कर सकता है। कुछ लोग जमींदारों के यहां खेतिहर मजदूर हैं और बाकी लोग इन्हीं जमींदारों के यहां मजदूरी करके उसके बदले में मिले भोजन या अनाज से अपना पेट पालते हैं। रूढ़िवादी जमींदारों की आर्थिक हैसियत ही इनका सबसे बड़ा हथियार है, जिसके बल पर ये दलितों का उत्पीड़न करते हैं, उन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित रखते हैं। जब भी दलित अपने नागरिक अधिकारों के लिए आवाज उठाते हैं, उन्हें खेत से बेदखल कर दिया जाता है, मजदूरी करने से रोक दिया जाता है। गांव की चौकीदारी

करने से भी रोक दिया जाता है। दलितों का इस तरह का बहिष्कार सुनियोजित ढंग से किया जाता है, ताकि वे बाध्य होकर जमींदारों की शर्तों पर फिर से काम करने लगें। दलितों के लिए गांव के सार्वजनिक रास्ते तक बंद कर दिए जाते है। बनिए सौदा देने से इंकार कर देते हैं। गांव के साझा कुएं से पानी भरने पर भी रोक लगा दी जाती है। कभी-कभी तो मामूली-सी घटना के चलते दलितों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है। इस तरह की कई घटनाएं प्रकाश में आई हैं, जैसे किसी दलित ने जनेऊ पहन लिया, जमीन खरीद ली, अच्छे कपड़े या गहने पहन लिए, दूल्हा घोड़ी पर चढ़कर गांव के आम रास्ते पर चले आए, तो उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया।'

'दलितों के दमन का सबसे बड़ा हथियार यही सामाजिक बहिष्कार का हथियार है। दमन के इस सफल तरीके के समक्ष अब खुली हिंसा का तरीका भी कमजोर पड़ गया है। आप जिससे चाहे संबंध रखें, जिससे चाहें न रखें, इस अधिकार ने 'सामाजिक बहिष्कार' के हथियार को कानूनी जामा पहना दिया है, जिससे यह सबसे खतरनाक हथियार सिद्ध हो रहा है। यदि हमें दलितों का उत्थान करना है, उन्हें अभिव्यक्ति और काम की स्वतंत्रता का अधिकार सही मायनों में देना है, तो हमें बहुसंख्यकों के इस अत्याचार को हर कीमत पर रोकना होगा।''[23]

''तीसरी बात, दलितों को एक डर और है कि नए विधान-मंडल में दलितों को चाहे जितना प्रतिनिधित्व दिया जाए, कुल मिलाकर उनका स्वरूप एक छोटे वर्ग का ही रहेगा। विधानमंडल में प्रभुत्व बहुसंख्यक रूढ़िवादियों का ही होगा। दलितों के प्रति इस वर्ग का जो व्यवहार है, उसे देखते हुए दलितों के मन में यह भय है कि उनके हितों की अनदेखी की जाएगी, या कुछ ऐसे कदम उठाए जा सकते हैं जो दलितों के हितों के प्रतिकूल हों। इन सारी बातों के मद्देनजर दलितों के हितों की सुरक्षा के कुछ उपाय सुझा रहा हूँ।''

''सबसे पहले तो प्रस्तावित संविधान में एक ऐसे मौलिक अधिकार की व्यवस्था की जाए, जो सार्वजनिक जीवन में छुआछूत को पूरी तरह अवैध घोषित करे। भावी संविधान के बारे में किसी सहमति पर पहुंचने से पहले हमें इस घृणित सामाजिक कुरीति से पूर्णतः मुक्ति का रास्ता ढूंढ़ना ही होगा। यह मौलिक अधिकार इस तरह की अन्य कुरीतियों को भी दूर करे, जो मानव-मानव के बीच भेदभाव और पक्षपात बरतती है। अभी मैंने 'सामाजिक बहिष्कार' का उल्लेख किया था। इसके विरुद्ध भी कानून बनना चाहिए। इस बारे में मैंने ज्ञापन में कुछ प्रस्ताव रखे हैं। ये बर्मा में आजकल लागू एक अधिनियम से लिए गए हैं। इस समय इन प्रस्तावों पर मैं विस्तृत चर्चा नहीं करना चाहता। कुल मिलाकर हम चाहते हैं कि दमन और उत्पीड़न रोकने की जो जिम्मेदारी सरकारी अधिकारियों को सौंपी गई है, उसे और प्रभावी बनाया जाए। फिलहाल 'भारत सरकार अधिनियम' की धाराएं 110 और 111 जो अधिकारियों को यह जिम्मेदारी सौंपती हैं, बहुत स्पष्ट नहीं हैं और अंत में हम चाहते हैं कि दलितों को किसी भी तरह के पक्षपात या उनके हितों की अनदेखी के खिलाफ केंद्र सरकार से अपील करने और वहां से असफल होने पर भारत मंत्री के सम्मुख अपील करने का अधिकार मिले। दलितों के उत्थान के लिए भारत सरकार में एक विशेष विभाग बनाया जाए।''

''इस तरह मोटे तौर पर हमने आपको बता दिया है कि दलितों की समस्याएं क्या हैं और वे इन समाधान के लिए क्या सुरक्षा चाहते हैं। इन उपायों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, विधानमंडल में दलितों को उचित प्रतिनिधत्व का अधिकार। मैं दो-चार शब्द इस बारे में भी कहना चाहता हूँ कि एक बात जिस पर हम सभी सहमत हैं, वह यह है कि प्रतिनिधित्व चुनाव के जरिए हो, नामांकन से नहीं। दलितों के मामले में नामांकन से प्रतिनिधित्व का नतीजा बहुत ही खराब रहा है। इसका इस सीमा तक दुरुपयोग हुआ है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की गई थी। नामांकन पद्धति से दलितों को कभी भी उचित और स्वतंत्र प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया। अब इस पद्धति को दलित वर्ग कदापि स्वीकार नहीं करेगा।

जहां तक संयुक्त या पृथक निर्वाचन-मंडल का सवाल है, हमारा मानना है कि यदि 'समान वयस्क मताधिकार' का सिद्धांत अपनाया जाता है, तो हम अपने लिए 'पृथक निर्वाचन-मंडल' की मांग करेंगे।''

''जहां तक सीटों की संख्या का सवाल है, इस बारे में कोई निश्चित संख्या अभी तय करना हमारे लिए संभव नहीं है। हां, हम इतना जरूर कहना चाहेंगे कि इस मामले में हम किसी तरह का पक्षपात सहन नहीं करेंगे। हम व्यवहार में समानता चाहते हैं। कुल मिलाकर इस सवाल का जवाब इस बात पर निर्भर है कि शेष अल्पसंख्यक वर्गों को कितनी सीटें दी जाती हैं। इस बारे में मैं दो बातें कहना चाहूंगा। पहली तो यह कि हमें हिंदुओं से पूर्णतः अलग करके देखा जाए। हमें तो महज राजनैतिक कारणों से हिंदू कहा जाता है। हिंदुओं ने हमें कभी भी सामाजिक तौर से अपना बंधु नहीं माना। हमारी संख्या और हमारे वोट की शक्ति का इस्तेमाल कर उन्होंने सारे राजनैतिक लाभ अपनी झोली में डाल लिए और बदले में हमें कुछ नहीं दिया। बदले में हमें मिला शोषण, उत्पीड़न। हिंदुओं ने हमारे साथ जो बर्ताव किया है, वैसा तो उन्होंने उन शेष समुदायों के साथ भी नहीं किया जिन्हें हिंदू नहीं मानते।

दूसरी बात, 'अधि-प्रतिनिधित्व' देने के सिद्धांत को लेकर है। 'अधि-प्रतिनिधित्व पद्धतियों' का बहुत उपयोग किया गया है। मैं अधि-प्रतिनिधित्व देने के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं हूँ। मैं इस सिद्धांत के खिलाफ हूँ कि किसी भी दशा में अल्पसंख्यकों को यह लाभ उनकी आबादी के अनुपात में ही मिलना चाहिए। उदाहरण के लिए एक अल्पसंख्यक वर्ग की आबादी बहुत ही कम है। अब अगर आबादी के अनुपात में उसे प्रतिनिधित्व दिया जाएगा तो वह इतना कम होगा कि इससे अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का उद्देश्य ही पूरा नहीं हो सकेगा। अतः यदि आप सही मायने में अल्पसंख्यकों का भला करना चाहते हैं, तो कुछ मामलों में इस सिद्धांत को लचीला बनाना होगा।''[24]

दलित शिक्षा पर मालवीय

18 सितंबर, 1931 की गोलमेज सम्मेलन में दलित शिक्षा पर मदनमोहन मालवीय ने अपने उदगार प्रकट करते हुए कहा :

"मैं यह नहीं कहता कि दलित वर्ग को प्रतीक्षा करनी चाहिए। 'मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रस्तावों' की आलोचना करते समय जब इन सुधारों की 1918 में पहले पहल घोषणा हुई थी, तब मैंने यह आलोचना प्रकाशित भी की थी—मैंने यह निवेदन किया था कि जहां तक दलित वर्ग का प्रश्न है और खास तौर से शिक्षा का प्रश्न है, मैंने यह कहा था, और जिसे मैं अब भी कहता हूं, कांग्रेस भी यही कहती है कि सार्वजनिक रूप से प्राइमरी शिक्षा होनी चाहिए। जब से कांग्रेस स्थापित हुई है तब से ही वह यह वर्षों से कहती आई है। और अगर भारत की सरकार ने जिसके अधीन देश के सारे संसाधन हैं, जनता में प्राइमरी शिक्षा के प्रसार पर पर्याप्त धन व्यय किया होता, तब 'दलित वर्ग' जैसा शब्द अब तक इतिहास बन गया होता—आज से कई वर्ष पहले। हम यह चाहते हैं कि उन्हें प्रारंभिक शिक्षा मिले, प्राइमरी शिक्षा मिले, उन्हें सैकेंडरी शिक्षा मिले, उन्हें ऊंची से ऊंची शिक्षा मिले। मुझे एक विश्वविद्यालय—काशी हिंदू विश्वविद्यालय के कुलपति होने का गौरव प्राप्त है और वहां दलित वर्ग के विद्यार्थी को वही स्थान दिया जाता है, जो किसी और वर्ग के विद्यार्थी को दिया जाता है। वहां कोई भेद नहीं है। और जिन्हें शिक्षा प्राप्त होती है, वे अपनी प्रतिभा का अच्छा प्रदर्शन करते हैं। मैं कहूंगा कि मेरे मित्र डॉ. अम्बेडकर ने इसे सिद्ध भी कर दिया है।"[25]

डॉ. अम्बेडकर ने उसी वक्त टोकते हुए कहा कि "मैं आज भी 'अस्पृश्य' हूँ, हालांकि पढ़ा-लिखा हूं। मेरी शिक्षा मुझे बाहर नहीं निकाल सकी।"

बैठक में अपना वक्तव्य जारी रखते हुए मालवीय बोले : "क्षमा कीजिए, आप अस्पृश्य नहीं हैं, आप एक प्रिय मित्र और प्रिय साथी हैं, एक ऐसे भाई जिसके साथ आपके कट्टर से कट्टर मित्रों को रहने और काम करने से सुख मिलता है और आप जानते हैं कि वह आपके साथ काम भी करते हैं। आज दलित वर्ग के लोगों के हित के लिए अधिकतर ब्राह्मण कार्य कर रहे हैं। मैं सोचता हूं कि यह एक वास्तविक बात है, इसे मेरे मित्र डॉ. अम्बेडकर स्वीकार करेंगे।"[26]

गोलमेज सम्मेलन में गांधी और अम्बेडकर

गांधी दलितों के विशेष प्रतिनिधित्व के खिलाफ थे। वह वयस्क मताधिकार के लिए कृत संकल्प थे और अस्पृश्यता को मिटाने के हक में भी। लंदन में गांधी ने यही कहा। लेकिन डॉ. अम्बेडकर अपनी बात पर अड़े रहे। गांधी ने तो अल्पसंख्यक समिति को भंग करने की भी बात की।

गांधी जी : "हममें से प्रायः सभी लोग उस दल या वर्ग के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं हैं जिनके हम प्रतिनिधि कहे जाते हैं। हम यहां सरकार द्वारा नामजद होने की वजह से हैं। हम लोग ऐसे व्यक्ति नहीं हैं जिनकी सर्वसम्मत हल पाने के लिए यहां होने की भारी जरूरत थी। इसके अलावा, कृपया मुझे यह कहने की अनुमति दें कि सभी अल्पसंख्यक समिति की बैठकें बुलाने का कोई उचित समय नहीं था। यह असलियत भी नहीं है क्योंकि

हम यह निश्चित रीति से नहीं जानते थे कि इस बातचीत के बाद हमें क्या मिलने वाला है। अगर हम निश्चित रूप से यह जानते होते कि जो कुछ हम चाहते हैं हमें मिल जाएगा तब हम बातचीत को कलह की टोकरी में डालने के पहले दो बार अवश्य सोचते। यह ऐसा ही था कि मानो हमें बताया गया हो। इस बातचीत से किसी निष्कर्ष पर पहुंचना मौजूदा प्रतिनिधि द्वारा सांप्रदायिक समस्या का सर्वसम्मत हल निकालने की योग्यता पर निर्भर करता है। यह समाधान स्वराज के संविधान का मुकुट तो बन सकता है, उसकी नींव नहीं बन सकता। यह इसलिए कि हमारे मतभेद स्थायी हो गए हैं और अगर वह पैदा नहीं हुए तो इसकी वजह विदेशी हुकूमत है। मुझे इस बात में तनिक भी शक नहीं कि सांप्रदायिक मतभेदों का हिमशैल स्वतंत्रता के सूरज का ताप पाकर पिघल जाएगा।

मैं इसलिए यह सुझाव देने की धृष्टता कर रहा हूं कि अल्पसंख्यक समिति को अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित कर दिया जाए और संविधान के मूलभूत सिद्धांतों को जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी तय कर दिया जाए। इस बीच सांप्रदायिक समस्या का अनौपचारिक रूप से एक वास्तविक समाधान ढूंढ़ने का काम जारी रहेगा और जारी रहना चाहिए। इस कारण संविधान के बनाने के काम को रुकने देना नहीं चाहिए। हमें इस तरफ से ध्यान हटा लेना चाहिए और संरचना के मुख्य भाग के निर्माण पर सारा ध्यान केंद्रित करना चाहिए।"[27]

डॉ. अम्बेडकर : "मुझे ऐसा लगता है कि अब दो ही विकल्प हैं—या तो यह कि अल्पसंख्यक समिति इस समस्या को सुलझाने और किसी संतोषप्रद हल, अगर यह संभव है तो उसे ढूंढ़ने के लिए अपने प्रयत्न जारी रखे और अगर यह संभव न हो तब ब्रिटिश सरकार इस समस्या को खुद हल करने का दायित्व स्वीकार करे। हम इस समस्या को तीसरे पक्ष के विवेचन के लिए छोड़ने के लिए सहमति नहीं दे सकते, जिसमें उत्तरदायित्व की वही भावना हो, जैसी कि ब्रिटिश सरकार में उत्तरदायित्व की भावना होनी चाहिए।

प्रधानमंत्री जी, मुझे एक बात स्पष्ट कर देने की अनुमति दीजिए। दलित वर्ग इसके लिए उत्सुक नहीं है, शोर नहीं मचा रहा है, उसने कोई आंदोलन नहीं छेड़ रखा है कि ब्रिटिश लोगों से सत्ता तुरंत भारतीयों को सौंपी जानी चाहिए। ब्रिटिश लोगों के खिलाफ उनकी अपनी शिकायतें हैं और मैं समझता हूँ कि मैंने उनकी भावनाओं को स्पष्ट करने के लिए यह यथेष्ट रूप से व्यक्त भी कर दिया है कि हमारी ये शिकायतें वास्तविक हैं। लेकिन सच बात यह है कि दलित वर्गों के लोग राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण किए जाने के लिए उत्सुक नहीं हैं। उनकी स्थिति साफ शब्दों में यदि बताई जाए तो यह है कि हम सत्ता का हस्तांतरण नहीं चाहते। लेकिन अगर ब्रिटिश सरकार इन शक्तियों को दबाने में असमर्थ है तो देश में सत्ता के हस्तांतरण के लिए हो-हल्ला मचाए हुए हैं—और हम जानते हैं कि दलित वर्गों के लोग इन शक्तियों को मुकाबला करने की स्थिति में नहीं हैं—तब हमारा निवेदन है कि अगर आप यह हस्तांतरण करते हैं तब इस हस्तांतरण के साथ ऐसी शर्त और ऐसा प्रावधान होना चाहिए कि सत्ता किसी गुट, किसी अल्पतंत्र, कुछ लोगों के वर्ग के हाथों में नहीं आ जाएगी, वो चाहे मुसलमान हो या हिन्दू, बल्कि

इसका समाधान ऐसा होगा कि इस सत्ता में सारे समुदायों की अपने-अपने अनुपात के अनुसार साझेदारी होगी। इसलिए, मेरी समझ में यह नहीं आ रहा कि जब तक मुझे यह पता न चल जाए कि मेरी या मेरे समुदाय की स्थिति क्या है, तब तक मैं इस संघीय संरचना समिति के विचार-विमर्श में किस प्रकार कोई दायित्वपूर्ण भाग ले सकता हूँ।"[28]

उसी बैठक में डॉ. अम्बेडकर के तुरंत बाद महात्मा गांधी ने कहा :

गांधी जी "अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों के बारे में एक बात और है। मैं अन्य अल्पसंख्यकों के द्वारा उठाए गए दावों को समझ सकता हूं, लेकिन अस्पृश्य लोगों की तरफ से किए जाने वाले दावे रह जाते हैं, जिनकी सभी बेरहमी के साथ उपेक्षा करते आए हैं। इसका मतलब है कि हमने उन्हें हमेशा के लिए बदनसीब बना दिया है। मैं अस्पृश्यों के जीने के अधिकार को नहीं छीनूंगा, चाहे यह भारत के लिए आजादी हासिल करने की शर्त ही क्यों न हो। मैं खुद को असंख्य अस्पृश्यों का नुमाइंदा कहता हूँ। यहां मैं सिर्फ कांग्रेस की ओर से ही नहीं, बल्कि अपनी ओर से बोलता हूँ और मेरा दावा है कि अगर अस्पृश्यों का मत लिया जाएगा, तब उनके सबसे ज्यादा मत मेरे पक्ष में होंगे और मैं देश में एक कोने से दूसरे कोने तक यह बताने का काम करूंगा कि अस्पृश्यता के इस कलंक को 'पृथक निर्वाचन पद्धति' और 'पृथक आरक्षण' से दूर नहीं किया जा सकता जो उनके लिए नहीं, बल्कि कट्टर हिंदुओं के लिए शर्म की बात है।

अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए इससे पहले गांधी कह चुके थे कि आखिरी बात यह है कि इस विचार-विमर्श में मेरे भाग लेने की सिर्फ एक ही वजह है कि मैं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधि हूँ। मुझे इसकी स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए। आपको जो कुछ दिखाई देता है, खासतौर से इंग्लैंड में, उसके उल्टे यह कांग्रेस सारे देश का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है। यह निश्चित रूप से लाखों गूंगे लोगों का प्रतिनिधि होने का भी दावा करती है, जिनमें ढेर सारे अछूत शामिल हैं, जिन्हें दलित कहने के बजाय कुचला ज्यादा गया है और वे लोग भी शामिल हैं जो इन्हीं की तरह से बहुत ही अभागे और उपेक्षित हैं और जिन्हें 'पिछड़ा वर्ग' कहा जाता है।

ऐसा कहा गया लगता है कि मैं विधान-मंडल में अछूतों का कोई भी प्रतिनिधित्व दिए जाने के खिलाफ हूँ। यह असलियत से उल्टी बात है। मैंने जो कुछ कहा और जिसे मैं दुहरा रहा हूँ, वह यह है कि मैं आपका विशेष प्रतिनिधित्व होने के खिलाफ हूँ। मैं यह अच्छी तरह मानता हूँ कि इससे उन्हें कोई लाभ नहीं होगा, उल्टे ज्यादा नुकसान ही होगा। लेकिन कांग्रेस वयस्क मताधिकार के लिए कृत संकल्प है। इसलिए उनमें से लाखों लोगों के नाम मतदाताओं की सूची में आ जाएंगे। अस्पृश्यता की भावना तेजी से खत्म होती जा रही हैं ऐसी स्थिति में यह असंभव-सा लगता है कि इन मतदाताओं के द्वारा नामजद व्यक्तियों का दूसरे लोगों के द्वारा बायकाट किया जाएगा, लेकिन इन व्यक्तियों का दूसरे लोगों के द्वारा बायकाट किया जाएगा, लेकिन इन व्यक्तियों के लिए विधान-मंडलों में चुनकर आने की अपेक्षा सामाजिक और धार्मिक उत्पीड़न से सुरक्षा की अधिक आवश्यकता है। हमारे आचार-विचार ने जो कानून से अक्सर ज्यादा शक्तिशाली

हैं, उन्हें इतना गिरा दिया है कि हर समझदार हिंदू को लज्जा का अनुभव करना चाहिए और इसके लिए पश्चाताप करना चाहिए। इसलिए मैं कठोर से कठोर कानून चाहता हूँ, जिसके अधीन इस प्रकार के आचार-विचार अपराध घोषित किए जा सकें, जो श्रेष्ठ कहे जाने वाले वर्ग के लोग मेरे देश के इन निवासियों पर कर रहे हैं। ईश्वर का धन्यवाद, हिंदुओं का विवेक जाग गया है, अस्पृश्यता की भावना अब शीघ्र ही हमारे पापमय इतिहास का अवशेष बनकर रह जाएगी।"[29]

दलितों के बारे में, यहां दृष्टव्य है कि गांधी भी उसी 'मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट' (1928) की तर्ज पर लंदन में बोले। जिसने दलित अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाया, नामांकन, प्रतिनिधित्व का विरोध किया, सिर्फ शिक्षा पर बल दिया।

डॉ. अम्बेडकर ने दृढ़तापूर्वक कहा कि :

"मैं अपने बारे में बता रहा हूँ कि मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि अगर भारत के दलित वर्ग के लोगों को इस समिति के लिए प्रतिनिधि चुनने का मौका दिया गया तब मुझे यही स्थान मिलेगा। मैं इसलिए कहता हूँ कि चाहे मैं नामजद होऊं या नहीं, मैं पूरी तरह से अपने समुदाय का प्रतिनिधि हूँ। किसी को इस बारे में कोई भ्रम नहीं होना चाहिए।

गांधी हमेशा से यह दावा करते आ रहे हैं कि कांग्रेस दलित वर्ग के लिए है और कांग्रेस दलित वर्गों का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व करती है, जितना मैं व मेरे साथी कर सकते हैं।"[30]

डॉ. अम्बेडकर की राय में गांधी का दलित हितैषी होने का दावा खोखला, बेबुनियाद था। उन्होंने स्पष्टतया कहा ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यक समिति के माध्यम से अपने प्रयास जारी रखे और गांधी के बयान पर ध्यान न दे, या स्वयं इसे हल करे।

डॉ. अम्बेडकर का स्पष्ट कहना था कि गैर-जिम्मेदार लोग दलितों का हितैषी बनने का दावा कर रहे हैं जबकि वे खुद और उनके साथ सर्वाधिक दलित हितैषी हैं और उनके जीवन-मरण के प्रश्न को सुलझाने में समर्थ हैं। गांधी जी तिलमिला उठे। गांधी जी : अंत में गांधी ने जोर कहा कि "मैं चाहता हूँ कि यह समिति और सारी दुनिया इस बात के समझे कि आज हिंदू सुधारवादियों की एक जमात है, जो अस्पृश्यता के इस कलंक को मिटाने के लिए कृत संकल्प है। हम अपने कागजों में जनसंख्या के आंकड़ों में अस्पृश्यों को एक पृथक वर्ग के रूप में ही नहीं रखा जाना चाहते। सिख हमेशा सिख के रूप में रहें, इसी तरह मुसलमान और यूरोपियन भी। क्या अस्पृश्य हमेशा अस्पृश्य रहेंगे? अगर अस्पृश्यता रहेगी तब मुझे डर है कि कहीं हिंदुत्व न खत्म हो जाए। इसलिए मैं डॉ. अम्बेडकर के प्रति और उनकी इच्छा के प्रति कि अस्पृश्यों का उद्धार हो और उनकी योग्यता के प्रति पूरे आदर के साथ अत्यंत विनम्रतापूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि उन्होंने जिन अत्याचारों को झेला है और उन्हें जो कड़वे अनुभव हुए हैं, उनके इस निर्णय की पृष्ठभूमि में यही काम कर रहे हैं। मुझे यह कहते हुए दुख होता है। लेकिन अगर मैं यह सब न कहूं तब मैं अस्पृश्यों के हितों के प्रति निष्ठावान नहीं रहूंगा, जो मुझे अपनी जिंदगी से भी

ज्यादा प्यारे हैं, अगर मैं कुछ न बोलूं कि मैं सारे संसार के स्वामित्व के लिए भी उनके अधिकारों के साथ कोई सौदेबाजी नहीं करूंगा। मैं यह बात पूरे उत्तरदायित्व के साथ कह रहा हूँ और मैं यह कहता हूँ कि जब डॉ. अम्बेडकर भारत के सारे अस्पृश्य की बात कहते हैं, तब उनका यह कहना उचित नहीं है कि उनके वही एकमात्र प्रतिनिधि हैं।"[31]

उस बैठक में भावविह्वल गांधी इतना तक कहने पर उतर आए कि "जो लोग अस्पृश्यों के लिए राजनीतिक अधिकार की बात करते हैं, वे लोग अपने भारत को नहीं समझते। ...अगर मुझे उसकी मुखालफत अकेले ही करनी पड़ी, तब मैं सारी जिंदगी इसकी मुखालफत करता रहूंगा।"[32]

डॉ. अम्बेडकर जो दलित आंदोलन के नेता थे और महात्मा गांधी जो भारत की आजादी की लड़ाई लड़ते थे दलित समस्या के समाधान के लिए अपना पक्ष प्रस्तुत करते रहे। मूल प्रश्न यह था कि दलितों का सच्चा प्रतिनिधि और हिमायती कौन है?

अपने तर्कों, अपनी विद्वत्तापूर्ण वाक्-शैली, दलितों के लिए छेड़े गए मुक्ति संग्राम के अनुभवों, जगह-जगह घिनौने जातिवाद, अस्पृश्यता और अभावों की चोटें सहने वाले लौह पुरुष डॉ. अम्बेडकर ने ब्रिटिश साम्राज्य के शिखर राजपुरुषों के सम्मुख सिद्ध कर दिया कि वे ही दलितों के सच्चे प्रतिनिधि हैं। वे उन करोड़ों मूक लोगों की वाणी हैं जिन्हें समाज ने सदियों से हाशिए पर बहिष्कृत-तिरस्कृत बनाकर रखा।

इस प्रकार 'गोलमेज परिषद् वार्ता' में उन्हें अपने सपनों का भारत बनाने, अछूतों की समस्या के समाधान का अवसर मिल गया और दलित मुक्ति संग्राम ने आकाश की ऊंचाइयों को स्पर्श कर लिया।

स्वाधीन भारत के भावी संविधान में दलित वर्गों की सुरक्षा के लिए डॉ. अम्बेडकर और राव बहादुर आर. श्रीनिवासन ने कुछ सामाजिक-राजनीतिक उपाय रखे। वे इस प्रकार हैं :

शर्त 1

समान नागरिकता

दलित वर्ग के लोग अपनी वर्तमान आनुवांशिक गुलामी की दशा में बहुसंख्यक शासन को अपनी सहमति नहीं देंगे। बहुसंख्यक शासन लागू होने से पहले दलितों को अस्पृश्यता की कुरीति से पूरी तरह मुक्ति मिलनी चाहिए। इस मामले को बहुसंख्यकों की इच्छा पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए। दलितों को अन्य नागरिकों की तरह सभी अधिकार मिलने चाहिए।

(क) अस्पृश्यता को समाप्त करने और समान नागरिकता का अधिकार बहाल करने के लिए निम्नलिखित मौलिक अधिकार को संविधान में दर्ज किया जाए।

मौलिक अधिकार

'भारत के सभी नागरिक कानून की निगाह में एक समान हैं और सबके नागरिक अधिकार बराबर हैं। वर्तमान समय में छुआछूत के बारे में लागू कोई भी अधिनियम, कानून, आदेश, व्याख्या या रिवाज जो किसी व्यक्ति को दंडित करता है, असुविधा पहुंचाता है, अयोग्य करार देता है, या पक्षपात करता है, तो उसे नए संविधान के लागू होते ही समाप्त माना जाएगा।'

[संयुक्त राज्य अमरीका संविधान संशोधन 14 और आयरलैंड सरकार अधिनियम 1920, 10 व 11, जी.ई.ओ. 5, अध्याय 67, धारा 5 (2)]

(ख) 'भारत सरकार अधिनियम', 1919 की धारा 110 और 111 के तहत अधिशासी अधिकारियों को मिलने वाली छूट को समाप्त करना और उन्हें ठीक उसी तरह की जिम्मेदारी सौंपना जैसी कि ब्रिटेन और यूरोप में है।

[ऐसा सभी संविधानों में है, देखें प्रो. कीथ की टिप्पणी 207 पृष्ठ 56क]

शर्त 2
समान अधिकारों का स्वतंत्र उपयोग

दलितों के समान अधिकारों की घोषणा करना ही काफी नहीं है। यह असंदिग्ध है कि दलितों को समाज की रूढ़िवादी ताकतें समान नागरिकता के अधिकार का उपयोग नहीं करने देंगी। कई तरह की बाधाएं खड़ी करेंगी। अतएव, दलितों का मानना है कि अगर ये अधिकार महज कागजी नहीं हैं, तो अधिकारों का हनन करने वालों को दंड देने की व्यवस्था की जाए।

(क) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दलित चाहते हैं कि 'भारत सरकार अधिनियम', 1919 भाग 11 जो अपराध, प्रक्रिया एवं दंड परिभाषित करता है, उसके साथ निम्नांकित धारा जोड़ दी जाए।

(i) नागरिकता हनन का अपराध

यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को, सार्वजनिक वास, लाभ, सुविधा, धर्मशाला में ठहरने के अधिकार, शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश, सड़क, राह, गली, तालाब, कुआं व पानी के उपयोग के अन्य स्थान, सार्वजनिक वाहन, भूमि, हवा अथवा पानी, नाट्य गृहों अथवा कला व रंगकर्म से जुड़े अन्य सार्वजनिक स्थलों के उपयोग से रोकता है, तो उसे अस्पृश्यता के बारे में पहले से चले आ रहे शर्तों पर विचार किए बिना पांच वर्ष तक की कारावास की सजा अथवा दोनों दी जाएगी।

[अमरीकी कानून नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 9, अप्रैल 1866 और 1 मार्च 1875। ये कानून नीग्रो लोगों को दासता से मुक्ति के बाद उनके अधिकारों के संरक्षण के लिए बनाए गए थे।]

(ख) दलित वर्गों के लोग अपने अधिकारों का स्वतंत्र उपयोग कर सकें, इस मार्ग में रूढ़िवादियों की रुकावटें ही दलितों की परेशानी का कारण नहीं हैं। दलितों को सबसे बड़ा खतरा सामाजिक बहिष्कार से है। रूढ़िवादियों के पास सबसे खतरनाक हथियार यही है, जिसके बल पर वे दलितों को वह सब कुछ करने से रोकते हैं, जो इन रूढ़िवादियों को पसंद नहीं है। बहिष्कार का हथियार कब और कैसे इस्तेमाल किया जाता है, इसका पूरा ब्यौरा उस समिति की रिपोर्ट में है, जिसे 1928 में बंबई सरकार ने गठित किया था। इस समिति का काम बंबई प्रेसिडेंसी के दलित वर्गों (अस्पृश्यों) और आदिवासियों की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक स्थिति का पता लगाना और उनके उत्थान के उपाय सुझाना था। **रिपोर्ट का संक्षिप्त सारांश :**

दलित वर्ग और सामाजिक बहिष्कार

समाज में दलित अपने नागरिक अधिकारों का उपयोग बिना किसी बाधा के कर सकें, इसके लिए हमने कई उपाय सुझाए हैं। लेकिन हमें आशंका है कि आने वाले समय में दलितों के रास्ते में बाधाएं आएंगी। पहली आशंका तो यही है कि रूढ़िवादी वर्गों के लोग कहीं दलितों के खिलाफ खुली हिंसा पर न उतर आएं। हमें याद रखना चाहिए कि हर गांव में दलितों का एक छोटा-सा वर्ग रहता है और बहुसंख्यक आबादी रूढ़िवादियों की है। वे कट्टरपंथी रूढ़िवादी दलितों को ऐसा कोई कदम नहीं उठाने देंगे, जिससे इन रूढ़िवादियों की सामाजिक हैसियत और उनके हित प्रभावित होते हों, उन पर कोई आंच आती हो। वैसे दलितों के खिलाफ खुली हिंसा का रास्ता अपनाने से ये लोग थोड़ा कतराएंगे, क्योंकि पुलिस और मुकदमे का डर रहेगा।

दलितों के नागरिक अधिकारों के रास्ते में दूसरी सबसे बड़ी बाधा उनकी अपनी आर्थिक स्थिति है। प्रेसिडेंसी के ज्यादातर हिस्सों में दलितों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब है। कुछ लोग गांव के बड़े जमींदारों के यहां बंटाई पर खेती करते हैं, जमींदार जब चाहे उन्हें खेती से बेदखल कर दें। कुछ लोग इन्हीं जमींदारों के यहां खेतिहर मजदूर हैं और बाकी लोग इन्हीं जमींदारों के यहां मजदूरी करके उसके बदले में मिले भोजन व अनाज से अपना पेट पालते हैं। रूढ़िवादी जमींदारों की आर्थिक हैसियत ही इनका सबसे बड़ा हथियार हैं, जिसके बल पर ये लोग दलितों का उत्पीड़न करते हैं, उन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित रखते हैं। जब भी दलित अपने नागरिक अधिकारों के बारे में आवाज उठाते हैं, उन्हें खेत से बेदखल कर दिया जाता है, मजदूरी करने से रोक दिया जाता है, गांव की चौकीदारी करने से भी रोक दिया जाता है। दलितों का इस तरह का बहिष्कार सुनियोजित तरीके से किया जाता है, ताकि वे मजबूर होकर जमींदारों की शर्तों पर फिर से काम करने लगे। दलितों के लिए गांव के सार्वजनिक रास्ते बंद कर दिए जाते हैं। बनिए सौदा देने से इंकार कर देते हैं।

गांव के साझा कुएं से पानी भरने पर भी रोक लगा दी जाती है। कभी-कभी तो मामूली-सी घटना के चलते दलितों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है। इस तरह की कई घटनाएं प्रकाश में आई हैं, जैसे किसी दलित ने जनेऊ पहन लिया, जमीन खरीद ली, अच्छे कपड़े या गहने पहन लिए, दूल्हा घोड़ी पर चढ़कर गांव के आम रास्ते पर चले आए, तो उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया।" (डॉ. अम्बेडकर द्वारा उद्धृत पृ. 163-164)

'दलितों के दमन का सबसे बड़ा हथियार यही सामाजिक बहिष्कार का हथियार है। दमन के इस सफल तरीके के समक्ष अब खुली हिंसा का तरीका भी कमजोर पड़ गया है। आप जिससे चाहे संबंध रखें, जिससे चाहें न रखें, इस अधिकार ने 'सामाजिक बहिष्कार' के हथियार को कानूनी जामा पहना दिया है, जिससे यह सबसे खतरनाक हथियार सिद्ध हो रहा है। यदि हमें दलितों का उत्थान करना है, उन्हें अभिव्यक्ति और कर्म की स्वतंत्रता का अधिकार सही मायनों में देना है, तो हमें बहुसंख्यकों के इस अत्याचार को

हर कीमत पर रोकना होगा।'

दलितों का मानना है कि 'सामाजिक बहिष्कार' की इस कुरीति से उन्हें तभी छुटकारा मिलेगा, जब इसे दंडनीय अपराध के रूप में दर्ज किया जाएगा। अतः 'भारत सरकार अधिनियम', 1919 भाग 11 में निम्नांकित धारा को जोड़ा जाए।

I. बहिष्कार के अपराध की परिभाषा

(क) एक व्यक्ति यदि दूसरे व्यक्ति को जमीन या मकान किराए या पट्टे पर देने, उसके साथ व्यापार करने, कोई अन्य काम करने से मना करता है जिसे सामान्य परिस्थितियों में वह करता, तो उसे बहिष्कार माना जाएगा।

अथवा

(ख) समाज में प्रचलित ऐसे सामाजिक, व्यवहारिक अथवा व्यापारिक संबंध में रखने से जो संविधान में दर्ज मौलिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं करते, आपत्ति व्यक्त करता है, अथवा

(ग) दूसरे व्यक्ति के विधिक अधिकारों के उपयोग में बाधाएं खड़ी करता है, रोकने की कोशिश करता है, हस्तक्षेप करता है।

[यह बर्मा के 'बहिष्कार विरोधी अधिनियम', 1922 से लिया गया है। भारत की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इसमें कुछ संशोधन किए गए हैं।]

II. बहिष्कार के लिए दंड

कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के ऐसे काम पर जिसे वह कानूनन कर सकता है, अथवा ऐसा काम न करने पर जिसे कानूनन नहीं करना चाहिए, बहिष्कार करता है, अथवा इस आशय से कि कोई व्यक्ति ऐसा काम करे जो कानूनन उसे नहीं करना चाहिए, या ऐसा काम न करे जिसे वह करने का हकदार है, अथवा इस व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक क्षति पहुंचाने, प्रतिष्ठा गिराने, संपत्ति को नुकसान पहुंचाने, कारोबार में बाधा डालने, उसके रहन-सहन को प्रभावित करने के उद्देश्य से इस व्यक्ति का, या इससे संबद्ध दूसरे व्यक्ति का बहिष्कार करता है, उसे सात साल की कैद अथवा जुर्माना, या दोनों दंड दिए जाएंगे।

अपवाद : अगर अदालत इस बात से संतुष्ट है कि अभियुक्त ने यह काम किसी दूसरे व्यक्ति के उकसाने या उसकी साठ-गांठ या किसी षड्यंत्र या किसी सामूहिक समझौते के तहत नहीं किया है, तो इस कृत्य को इस धारा के तहत अपराध नहीं माना जाएगा।

III. बहिष्कार के लिए उकसाने अथवा प्रोत्साहित करने के लिए दंड

कोई भी व्यक्ति जो किसी दूसरे व्यक्ति या समूह के बहिष्कार के लिए—

(क) सार्वजनिक रूप से कोई प्रस्ताव रखता हो, प्रकाशित करता हो या बांटता हो, अथवा

(ख) इस उद्देश्य से या यह जानते हुए कि इससे बहिष्कार को बढ़ावा मिलेगा सार्वजनिक रूप से किसी बयान, अफवाह या रिपोर्ट को पढ़ता हो, प्रकाशित कराता हो या बांटता हो, अथवा

(ग) किसी और तरीके से बहिष्कार करने के लिए उकसाता हो, प्रोत्साहित करता हो तो उसे पांच वर्ष की कैद अथवा जुर्माना या दोनों से दंडित किया जाएगा।

स्पष्टीकरणः इस धारा के तहत, अपराध हुआ है, यह मानने के लिए प्रभावित व्यक्ति का नाम या वर्ग इंगित होना जरूरी नहीं है। यदि व्यक्ति या वर्ग प्रभावित हुआ है या प्रभावित हो सकता है, तो माना जाएगा कि अपराध हुआ है।

IV. बहिष्कार की धमकी के लिए दंड

कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के ऐसे काम पर, जिसे वह कानूनन कर सकता है अथवा ऐसे काम न करने पर, जिसे कानूनन उसे नहीं करना चाहिए बहिष्कार की धमकी देता है, अथवा इस आशय से कि कोई व्यक्ति ऐसा काम करे जो कानूनन उसे नहीं करना चाहिए या ऐसा काम न करे जिसे वह करने का हकदार है, इस व्यक्ति का या इससे संबद्ध और किसी व्यक्ति के बहिष्कार की धमकी देता है तो उसे पांच वर्ष के कारावास अथवा जुर्माना या दोनों का दंड मिलेगा।

अपवाद : निम्नांकित कार्य बहिष्कार नहीं माने जाएंगे—

(1) श्रमिक विवादों के मामले में,

(2) सामान्य व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा में।[34]

शर्त 3
भेदभाव के खिलाफ संरक्षण

दलित वर्गों को आशंका है कि भविष्य में जो भी कानून बनाए जाएंगे या सरकारी आदेश जारी होंगे, उनमें दलितों के प्रति भेदभाव बरता जा सकता है। अतः कानूनी रूप से ऐसे उपाय किए जाएं, ताकि विधान-मंडलों या कार्यपालिकाओं के लिए भेदभाव वाले कानून बनाना असंभव हो जाएगा और जब तक यह सुनिश्चित नहीं किया जाएगा, दलित वर्ग के लोग भविष्य में बहुसंख्यकों के शासन को अपनी सहमति नहीं देंगे :

संविधान में निम्नांकित चीजें दर्ज होनी चाहिए :

(1) संविदा का अधिकार और उसके अनुपालन का अधिकार। मुकदमा दायर करने, पक्ष करने, साक्ष्य देने, उत्तराधिकार पाने, खरीदने, पट्टे पर देने, बेचने, रखने और निजी संपत्ति का अधिकार।

(2) नागरिक और सैनिक सेवाओं, और शिक्षण संस्थाओं में भर्ती का अधिकार। सरकार विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के लिए शर्तें या प्रतिबंध लगा सकती है।

(3) आवास, सार्वजनिक सुविधाओं, शिक्षण संस्थाओं, धर्मशालाओं, नदियां, झरनों, कुओं, तालाबों, सड़कों, गलियों, रास्तों, सार्वजनिक वाहनों, विमान सेवाओं, नौवाहन, थिएटर व आम सार्वजनिक स्थलों का अन्य नागरिकों की भांति समान रूप से इस्तेमाल करने का अधिकार। सरकार उचित कारणों से कुछ प्रतिबंध लगा सकती है, बशर्ते ये शर्तें या प्रतिबंध सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू होते हों।

(4) सार्वजनिक हित में गठित किसी धर्मार्थ ट्रस्ट का लाभ बिना किसी भेदभाव के पाने का अधिकार। यदि किसी धर्म विशेष के लिए गठित है, तो इस धर्म के सभी लोगों को बिना किसी भेदभाव के इसका लाभ मिलने का अधिकार।

(5) नागरिकों के जीवन और संपत्ति की रक्षा के लिए बने कानूनों और कानूनी प्रक्रियाओं का अन्य नागरिकों की तरह समान रूप से लाभ उठाने का अधिकार। इसमें अस्पृश्यता की कोई पूर्व शर्त या परंपरा आड़े नहीं आनी चाहिए।[35]

शर्त 4
विधान-मंडल में समुचित प्रतिनिधित्व

दलित वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए विधायिका और कार्यपालिका पर अपना प्रभाव डाल सकें, इसके लिए उन्हें पर्याप्त राजनैतिक अधिकार मिलने चाहिए। इसके लिए चुनाव कानून में निम्नांकित चीजें जोड़ी जाएं :

(1) प्रांतीय और केंद्रीय विधान-मंडलों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व का अधिकार,

(2) अपने ही लोगों को अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार।

(क) वयस्क मताधिकार द्वारा और (ब) शुरू के 10 वर्ष के लिए पृथक निर्वाचन-मंडलों द्वारा और उसके बाद संयुक्त निर्वाचन मंडलों और आरक्षित सीटों द्वारा। यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि संयुक्त निर्वाचन-मंडल की बात दलित वर्ग तभी मानेगा, जब चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा।

नोट : दलितों के लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व क्या है, इस बारे में कोई संख्या बताना तब तक संभव नहीं है, जब तक कि यह पता न चल जाए कि अन्य समुदायों को कितनी सीटें मिल रही हैं। यदि दूसरे समुदायों को दलितों से बेहतर प्रतिनिधित्व दिया जाएगा, तो दलित इसे कभी स्वीकार नहीं करेंगे। जैसे मद्रास और बंबई में दलितों को अन्य अल्पसंख्यकों की तुलना में ज्यादा प्रतिनिधित्व तो मिलना ही चाहिए।[36]

शर्त 5
नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व

सरकारी नौकरियों में ऊंची जाति के अधिकारियों ने दलितों को बहुत सताया है। अपने अधिकारों और कानून का अपनी जातियों के हितों के लिए गलत ढंग से इस्तेमाल किया हैं। न्याय, समानता और विवेक के सिद्धांत की धज्जियां उड़ाई हैं, दलितों का भयावह शोषण किया है। इसे रोकने का एक ही उपाय है, सरकारी नौकरियों पर हिंदू सवर्णों के एकाधिकार को समाप्त करना। नौकरियों में भर्ती की ऐसी पद्धति अपनाई जाए, ताकि दलित समेत समाज के अन्य अल्पसंख्यक वर्गों के लोग भी उचित हिस्सा पा सकें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दलितों की मांग है कि संविधान में निम्नांकित चीजें जोड़ी जाएं—

(1) भारत में तथा उसके सभी प्रांतों में सरकारी नौकरियों में भर्ती के लिए लोक सेवा आयोग का गठन किया जाए।

(2) लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य को केवल विधान-मंडल में प्रस्ताव पास करके ही हटाया जा सकेगा और उसके सेवा-निवृत होने के बाद उसे किसी सरकारी पद पर नहीं रखा जाएगा।

(3) लोक सेवा आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह व्यक्ति की क्षमता को परखते हुए :

(क) लोगों की भर्ती इस तरह करे ताकि सभी समुदायों को उचित प्रतिनिधित्व मिलें।

(ख) प्रतिनिधित्व घटने-बढ़ने पर यह देखें कि किस समुदाय को प्राथमिकता देनी चाहिए।[37]

शर्त 6
पक्षपात अथवा हितों की अनदेखी का निराकरण

दलित जानते हैं कि आजादी के बाद सत्ता बहुसंख्यक रूढ़िवादियों के हाथ में ही होगी। दलितों को आशंका है कि ये बहुसंख्यक उनके साथ न्याय नहीं करेंगे। इस तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए कि दलितों को चाहे जितना प्रतिनिधित्व दे दिया जाए, वे सभी विधान-मंडलों में अल्पसंख्या में ही रहेंगे। दलित चाहते हैं कि संविधान में ऐसी व्यवस्था की जाए, ताकि उनके साथ पक्षपात या उनके हितों की अनदेखी न होने पाए। इसके लिए भारत के संविधान में निम्नांकित चीजें दर्ज की जाएं—

(1) भारत और उसके सभी प्रांतों के विधान-मंडलों, कार्यपालिकाओं और कानूनी मान्यता प्राप्त अन्य संस्थाओं की यह जिम्मेदारी होगी कि वे शिक्षा, स्वास्थ्य-सफाई, नौकरियों में भर्ती व दलितों के राजनैतिक व सामाजिक उत्थान से संबद्ध अन्य मामलों में दलितों की भेदभाव रहित भागीदारी के लिए प्रावधान बनाएं।

(ब्रिटिश उत्तरी अमरीका अधिनियम, 1867, धारा 93)

(2) भारत में या उसके किसी प्रांत में जहां कहीं भी इस धारा का उल्लंघन होगा, दलितों को संबद्ध प्रांतीय अधिकारी या अधिकारियों के खिलाफ काउंसिल में गवर्नर-जनरल के यहां अपील करने का अधिकार होगा और यदि कोई केंद्रीय अधिकारी या प्राधिकरण इसका उल्लंघन करता है, तो भारत मंत्री के यहां अपील करने का अधिकार होगा।

(3) इस तरह के किसी भी मामले में यदि गवर्नर जनरल या भारत मंत्री को महसूस होता है कि प्रांतीय या केंद्रीय अधिकारियों, प्राधिकारियों ने इस धारा को ठीक से लागू करने के लिए उचित कदम नहीं उठाए हैं, तो गवर्नर-जनरल या भारत मंत्री खुद इस मामले में कोई आदेश जारी कर सकते हैं। इसके खिलाफ अपील सुनने वाला प्राधिकारी इस आदेश को मानने के लिए बाध्य होगा।[38]

शर्त 7
विशेष विभागीय देखभाल

दलितों की वर्तमान दुर्दशा के लिए बहुसंख्यक रूढ़िवादी ही जिम्मेदार हैं। ये किसी भी हालत में दलितों को अपने बराबर नहीं आने देंगे। यह कहना ही काफी नहीं है कि दलित बहुत गरीब हैं, भूमिहीन हैं, इस तथ्य को दृष्टिगत रखना चाहिए कि दलितों की दयनीय आर्थिक स्थिति का कारण यह है कि जीवन-यापन के सारे रास्ते उनके लिए बंद हैं और यह सब सामाजिक पूर्वाग्रहों के कारण हैं। यह एक ऐसा तथ्य है, जो दलितों को अन्य सामान्य जातियों के श्रमिकों से अलग करता है। इसके चलते कई बार दलितों और अन्य

निचली जातियों के बीच संघर्ष की नौबत तक आ जाती हैं, दलितों पर तरह-तरह के भयावह अत्याचार किए जाते हैं। दलितों में इतनी क्षमता नहीं है कि वे अपने लिए बचाव का रास्ता ढूंढ़ सकें। पूरे भारत में दलितों पर कैसे-कैसे अत्याचार किस-किस तरह किए जाते हैं, इसका ब्यौरा मद्रास सरकार राजस्व बोर्ड की रिपोर्ट (5 नवंबर 1882, संख्या 723) में है। इसका सार अंश :

134. अत्याचार के तमाम तरीके हैं। पेरिया लोगों को मालिकों की बात न मानने पर—

(क) ग्राम पंचायतों या फौजदारी अदालतों में झूठे मुकदमे दर्ज कराए जाते हैं।

(ख) पेरिया लोगों की बस्तियों के आसपास की जमीन सरकार से पट्टे पर ले ली जाती हैं, जिससे पेरिया अपने पशुओं को वहां चरा न सकें। सवर्णों के मंदिर में प्रवेश न कर सकें।

(ग) पेरिया लोगों को जमीन हड़पने के लिए सरकारी दस्तावेजों में फर्जी नाम दर्ज करा दिए जाते हैं।

(घ) झोपड़ियां गिरा दी जाती हैं।

(ङ) पीढ़ियों से चली आ रही काश्तकारी से बेदखल कर दिया जाता है।

(च) फसलें काट ली जाती हैं और विरोध करने पर उल्टा पेरियां लोगों के खिलाफ चोरी और दंगे के मुकदमें दायर कर दिए जाते हैं।

(छ) सादे कागज पर अंगूठा लगवा दिया जाता है और बाद में इस पर जो चाहे लिखकर पेरिया लोगों को सताया जाता है।

(त) खेतों में पानी ले जाने से रोका जाता है।

(झ) ब्याज नहीं चुकाने पर बिना किसी कानूनी नोटिस के पेरिया लोगों की संपत्ति कुर्क कर ली जाती है।

135. वैसे इस तरह के अत्याचारों के खिलाफ न्याय पाने के लिए दीवानी और फौजदारी अदालतें हैं, लेकिन ये दलितों की पहुंच से बहुत दूर हैं। अदालत में वही जा सकता है, जिसके पास वकील की फीस देने के लिए पैसा हो, अदालत तक जाने का किराया हो और लंबी अवधि तक मुकदमा लड़ने के लिए रोजी रोटी का पक्का इंतजाम हो। दूसरी बात, ज्यादातर मामलों में निचली अदालत का फैसला ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है और इन निचली अदालतों में फैसला कौन सुनाता है? ज्यादातर उन्हीं ऊंची जातियों के भ्रष्ट अधिकारी, जो जमीदारों की ही मदद करते हैं, उन्हीं के पक्ष में फैसला सुनाते है।

136. प्रशासन में इस वर्ग की पहुंच कितनी है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। हर कार्यालय में ऊपर से नीचे तक इन्हीं के लोग भरे हैं। इस हालत में इनके हितों की अनदेखी कैसे हो सकती है। इस तरह का कोई प्रयास किया भी गया, तो ये अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर, उसे रुकवाने या निष्प्रभावी बनाने के लिए कोई कसर उठा नहीं रखेंगे।

इन सारे तथ्यों के मद्देनजर एक बात तो साफ हो गई है कि यदि दलितों को वास्तव में न्याय दिलाना है, तो यह दायित्व सरकार को लेना होगा। कुछ निश्चित नीतियां बनानी होंगी और उन पर अमल के तरीके तय करने होंगे। यह देखना सरकार की जिम्मेदारी

होगी कि दलित भी औरों की तरह अपने अधिकारों का स्वतंत्र उपयोग कर पा रहा है या नहीं। जो भी बाधाएं हैं, उन्हें दूर करना सरकार का काम है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दलित चाहते हैं कि सरकार में एक अलग विभाग बनाया जाए। भारत सरकार पर ऐसा विभाग बनाने की कानूनी जिम्मेदारी डालने के लिए 'भारत सरकार अधिनियम' में निम्नलिखित धारा जोड़ी जाएं :

(1) नए संविधान के लागू होने के साथ ही भारत सरकार में दलितों की हितों की रक्षा और उनके उत्थान के लिए एक अलग विभाग बनाया जाए, जिसका प्रमुख एक मंत्री हो।

(2) मंत्री इस विभाग का कामकाज तब तक देखेगा, जब तक कि उसे केंद्रीय विधानमंडल का विश्वास प्राप्त है।

(3) मंत्री का काम यह देखना होगा कि पूरे भारत में कहीं भी दलितों के साथ सामाजिक अन्याय, उनका शोषण-उत्पीड़न न न होने पाए। इस तरह के किसी भी मामले को रोकने के लिए वह प्रभावी कदम उठाएगा। इसके अलावा दलितों के उत्थान के लिए भी वह कदम उठाएगा।

(4) गवर्नर-जनरल को कानूनी रूप से निम्नांकित अधिकार होंगे—

(क) दलितों के कल्याण के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, इत्यादि से संबद्ध किसी अधिनियम के तहत प्राप्त अधिकारों, जिम्मेदारियों को वह पूरी तरह या आंशिक रूप से मंत्री को सौंप सकता है।

(ख) प्रत्येक प्रांत में 'दलित वर्ग कल्याण ब्यूरो' बना सकता है, जो मंत्री के अधीन काम करेगा और उसे सहयोग देगा।[39]

शर्त 8
दलित वर्ग और मंत्रिमंडल

दलितों ने अपने हितों की रक्षा के लिए विधान-मंडल में प्रतिनिधित्व मांगा है। सरकार पर अपना प्रभाव डालने के लिए जितना जरूरी यह है, उतना ही आवश्यक है नीति-निर्धारण में उनकी हिस्सेदारी। यह तभी संभव है जब किसी दलित को मंत्रिमंडल में स्थान मिले। दलितों की मांग है कि अन्य अल्पसंख्यकों की तरह दलितों का भी मंत्रिमंडल में प्रतिनिधित्व होना चाहिए। यह दलितों का नैतिक अधिकार है। दलितों का प्रस्ताव है कि गवर्नर या गवर्नर जनरल मंत्रिमंडल में दलितों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करें। यह उनकी जिम्मेदारी होगी।[40]

परिशिष्ट 2

उप-समिति संख्या 3 (अल्पसंख्यक) की रिपोर्ट

ये दलित वर्गों के हितों से संबंधित रिपोर्ट के कुछ पैराग्राफ हैं जो पूर्ण सम्मेलन की समिति द्वारा 19 जनवरी 1931 को अनुमोदित किए गए हैं।

3. उप-समिति के समक्ष रखे गए मुख्य प्रस्तावों में से एक यह था कि संविधान में मूल अधिकारों की घोषणा शामिल की जाए, जिसके अनुसार विभिन्न समुदायों के सांस्कृतिक तथा धार्मिक जीवन को संरक्षण प्रदान किया जा सके और प्रत्येक व्यक्ति को बिना प्रजाति, जाति, धर्म या लिंग के भेदभाव के आर्थिक, सामाजिक तथा नागरिक अधिकार दिलाए जाएं (डॉ. अम्बेडकर ने संविधान में मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए संवैधानिक व्यवस्थाओं को शामिल करने की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित किया, जिनमें उनके उल्लंघन किए जाने पर निवारण का अधिकार भी शामिल हो)।

4. हालांकि यह सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया था कि संयुक्त स्वतंत्र निर्वाचक मंडल की प्रणाली लोकतांत्रिक सिद्धांतों के सर्वथा अनुकूल है, जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है, और कुछ ही दिनों की सक्रमण अवधि के बाद वह दलित वर्गों को स्वीकार्य होगी, बशर्ते कि मताधिकार वयस्क मताधिकार पर आधारित हों। किंतु यह भी विचार व्यक्त किया गया कि भारत में समुदायों के वितरण और उनके आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव के असमान होने के कारण इस बात का प्रस्ताव में खतरा है कि ऐसी प्रणाली के अंतर्गत अल्पसंख्यकों को जो प्रतिनिधित्व दिया जाएगा, वह सर्वथा अपर्याप्त होगा और ऐसी प्रणाली सामुदायिक सुरक्षा नहीं दे पाएगी।

5. अतः विभिन्न समुदायों ने यह मांगें की कि प्रतिनिधित्व और स्थानों के नियत अनुपात के लिए प्रबंध किया जाए। यह भी अनुरोध किया गया कि अल्पसंख्यक समुदाय के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या किसी जनसंख्या में उसके अनुपात से किसी भी स्थिति में कम नहीं होनी चाहिए। इसे सुनिश्चित करने के मुख्य रूप से तीन तरीके हो सकते थे। (1) नामांकन, (2) संयुक्त निर्वाचक-मंडल जिनमें स्थानों का आरक्षण किया जाए, और (3) पृथक निर्वाचक-मंडल।

8. चर्चा ये यह बात स्पष्ट हो गई कि केवल एक मांग जिसे आम स्वीकृति प्राप्त हो पाएगी, पृथक निर्वाचक मंडल की मांग है।..."[41]

"...अम्बेडकर ने स्पष्ट किया कि अल्पसंख्यक तथा दलित वर्ग उस दावे पर अटल थे कि यदि उनकी मांगें उचित रूप से पूरी न की गईं तो वे भारत के किसी भी स्वशासन संविधान पर सहमत नहीं होंगे।"

दलित इतिहास में एक और नया अध्याय

स्वतंत्र भारत का जब संविधान रचा गया, इन्हीं सुझावों और मांगों के आधार पर दलितों

के सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों को संवैधानिक दर्जा मिला। अंग्रेजों द्वारा सत्ता हस्तांतरण के समय डॉ. अम्बेडकर की यह बात नहीं मानी गई कि यदि उनके अधिकारों की गारंटी नहीं मिलती है तो वे कोई भी संविधान स्वीकार नहीं करेंगे। लेकिन जब संविधान सभा बनी देश में उन्हें छोड़कर ऐसा कोई महापुरुष नहीं था जो स्वतंत्र भारत के संविधान की संरचना कर सके। अतः अम्बेडकर को संविधान रचने का स्वतंत्र भार मिला जो दलितों के लिए एक गौरव की बात है।

सन् 1931 के आखिरी महीने दिसंबर का अंतिम सप्ताह बड़े तनावपूर्ण था। 28 दिसंबर, 1931 को गांधी लंदन से स्वदेश वापस लौटे तो उन्हें नेहरू की गिरफ्तारी का समाचार मिला। पूरे देश में दमनकारी अध्यादेशों का दौर था। 23 नवंबर 1931 को दूसरे गोलमेज परिषद की अल्पसंख्यक समिति में गांधी कह आए थे कि "...अछूतों की तरफ से जो दावा पेश किया गया है, वह मेरे लिए वज्राघात की तरह है। ...अपने देश की आजादी के लिए भी मैं अछूतों के प्राण समान हितों को नहीं बेचूंगा।

...यह समिति और दुनिया समझ ले कि आज ऐसे हिंदू सुधारक मौजूद हैं, जिन्हें लगता है कि यह अछूतों का नहीं बल्कि सनातन हिंदू धर्म का कलंक है।"[42]

तीन लाख बंबई वासियों के आगे गांधी ने कहा, "यह सत्ता हमको नपुंसक बनाने को तैयार है, पिछली लड़ाई में हमने मात्र गालियां खाई थी। अब की जो लड़ाई आ रही है उसमें गोलियों के लिए तैयार रहना होगा।"[43]

देश में पहले ही सांप्रदायिक दंगे चालू थे। लेकिन उतावली ब्रिटिश सरकार ने मात्र छः दिन बाद गांधी को 4 जनवरी 1932 को गिरफ्तार कर लिया। एक तरफ लंदन में दोस्ती का हाथ बढ़ाया, इज्जत बख्शी, दूसरी ओर यह दमनात्मक कार्यवाही, ऐसे माहौल में अछूत, मजदूर-खेतिहार किसान और रोजाना काम-काज करके रोजी कमाने वाले लोग मुसीबत में पड़ गए थे।

लंदन में गांधी अम्बेडकर के दृढ़ विचारों को पिघला नहीं सके थे। उधर ब्रिटिश सरकार डॉ. अम्बेडकर के अकाट्य तर्कों से पूरी तरह प्रभावित थी।

"मताधिकार प्रणाली निर्धारित करने के लिए नियुक्त 'लोथियन समिति' 17 जनवरी 1932 को भारत आ गई थी। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने इसे ऐसे तथ्य भी एकत्रित करने का निर्देश दिया था जो दलित वर्गों के पृथक प्रतिनिधित्व के पक्ष में युक्ति तैयार करने में भी सहायक हों। मार्च के आरंभ तक समिति का काम पर्याप्त प्रगति कर चुका था। इससे लगने लगा था 'सांप्रदायिक सवाल' पर ब्रिटिश सरकार किसी भी क्षण अपने निर्णय की घोषणा कर सकती थी।"[44] अल्संख्यकों में अछूत ऐसे अल्पसंख्यक थे जो बहु संख्यक समाज के हाथों उत्पीड़न, शोषण, प्रताड़ना, बहिष्कार के शिकार थे।

अब डॉ. अम्बेडकर भी दलितों के प्रतिनिधित्व के बारे में बहुत सक्रिय थे। वे कोई भी अवसर चूकना नहीं चाहते थे। वे पहले से ही कई सप्रमाण ज्ञापन, टिप्पणियां, पत्र-व्यवहार, भाषण, समारोह-प्रदर्शन आदि द्वारा दलित अधिकारों के आंदोलन को आगे बढ़ा चुके थे।

जेल से 11 मार्च 1932 को गांधी ने भारत सचिव सैम्युअल होर को खत लिखा था कि वे खुद अंत्यजों में से एक हैं और इस बात के विरोधी नहीं कि दलितों को धारासभाओं में प्रतिनिधित्व मिले। गांधी ने आगे लिखा कि अछूतों को अलग निर्वाचक मंडल प्रदान करना नुकसानदेह होगा। दलित कथित सवर्ण समाज में बिखरे हुए हैं। अलग निर्णायक मंडल हिंदू समाज को टुकड़ों में विभक्त कर देगा।''[45] भारत सचिव को लिखे गए इस पत्र के जरिए गांधी जी ने आमरण अनशन की धमकी दे डाली।

लेकिन सांप्रदायिक निर्वाचक मंडल के बारे में ब्रिटिश सरकार पहले ही दृढ़ प्रतिज्ञ थी। इसमें अछूतों के लिए अलग से विशेष निर्वाचन क्षेत्र बनाने के अलावा उनको सामान्य सीटों पर भी खड़े होने का अधिकार दिया गया था। इसमें यह भी व्यवस्था थी कि 20 साल बाद पृथक् निर्वाचक मंडल की व्यवस्था स्वयं समाप्त हो जाएगी।

कम्युनल अवार्ड

आखिर 17 अगस्त 1932 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्जे मैकडॉनल्ड ने 'कम्युनल अवार्ड' प्रकाशित कर दिया। इसके अंतर्गत निर्वाचन क्षेत्र का आधार जातिभेद के मुताबिक था। प्रत्येक मुख्य धर्म या कौम की अलग मतदाता सूची तैयार होती, देश टुकड़ों में बंट जाता। देश के नेताओं ने कहा देश जाति और संप्रदाय में बंट जाएगा। अस्पृश्यता और जातिभेद का कलंक मिटने के बजाय और मजबूत होगा।

गांधी ने इसका घोर विरोध किया और कहा : ''इस नवीन व्यवस्था के बदले तो अच्छा होगा हिंदू धर्म ही निर्मूल हो जाए। सदियों से अस्पृश्यता की घृणित प्रथा चल रही है जो देश व समाज के लिए कलंक थी। अब बीसवीं सदी में उन्नत राजनीति में इस कुरीति को स्थायी स्वरूप देना भीषण भूल होगी।''[46]

18 अगस्त 1932 को गांधी ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को पत्र लिखा कि वे 'कम्युनल अवार्ड' के विरोध में आमरण अनशन करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। उन्होंने कहा वे दोपहर 20 सितंबर 1932 से अपना अनशन शुरू करेंगे।

20 सितंबर को गांधी ने 'कम्युनल अवार्ड' के प्रतिकार में आमरण उपवास प्रारंभ किया। कांग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्र बाबू चिंतित हो उठे। उन्होंने अछूतों के नेताओं से बात चलाई। सर तेजबहादुर सप्रू और माधवराव जयकर ने एक तरफ वायसराय से बात की दूसरी ओर डॉ. अम्बेडकर से इस गंभीर मसले पर चर्चा की कि गांधी के प्राण कैसे बचाए जाएं और कम्युनल अवार्ड का कोई सर्वसम्मत हल खोजा जाए। अंग्रेज सरकार ने सारा निर्णय डॉ. अम्बेडकर पर छोड़ दिया जो दलितों के एकमात्र मुक्तिदाता थे। उस समय तक भारत में ऐसा कोई दलित नेता नहीं जनमा था जो उनकी बराबरी कर सके।[47] तब तेजबहादुर सप्रू और जयकर ने इस गंभीर राष्ट्रीय समस्या के हल के लिए एक फार्मूला निकाला कि 'कम्युनल अवार्ड' के बदले हरिजनों के लिए कुछ सीटें सुरक्षित कर दी जाएं

जहां से अछूत जाति के प्रतिनिधि के अलावा हिन्दू-मुसलमान या अन्य धर्मावलंबी चुनाव न लड़ सकें। उन परिस्थितियों में यह व्यवस्था अम्बेडकर को पसंद आई, साथ ही गांधी को भी इसे मानने में विशेष आपत्ति नहीं थी। इसमें आरक्षित चुनाव क्षेत्र में हरिजनों समेत सारे मतदाताओं को अनुसूचित जाति का प्रतिनिधि ही चुनना था जो समाज सुधार, अस्पृश्यता निवारण, जातिभेद मिटाने और समरस समाज निर्माण के लिए एक प्रभावी कदम था। तब सप्रू, जयकर, डॉ. अम्बेडकर स्वयं यरवदा (पूना) जेल में गए जहां गांधी आमरण अनशन कर रहे थे।

उस समय बड़ी गंभीरता, शालीनता और प्रेम से वार्तालाप हुआ। अंत में गांधी-अम्बेडकर के मध्य जो फैसला हुआ उसके अनुसार 26 सितंबर 1932 को छह दिन उपवास के बाद ब्रिटिश सरकार ने 'कम्युनल अवार्ड वापिस' ले लिया।

''अम्बेडकर को इस बात का पूरा अहसास था कि देश के सबसे लोकप्रिय और सर्वाधिक प्रभावशाली नेता के प्रबल विरोध के बावजूद अछूतों को विशेष राजनीतिक अधिकार दिलाने में वे सफल हुए हैं। 'पृथक निर्वाचक मंडल' का गठन अछूतों के लिए ही नहीं उनके अपने लिए भी एक व्यक्तिगत उपलब्धि थी। यह एक ऐतिहासिक सफलता थी। इसे वे क्यों आसानी से छोड़ देते? इसलिए गांधी से भी उनका रुख विनिमय का ही रहा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा, 'मुझे तो अपनी बिरादरी के लिए सत्ता चाहिए। यह हमारे जीवित रहने के लिए अनिवार्य है।' उन्होंने 'पृथक निर्वाचक मंडल' के बदले में अन्य रियायतों की मांग की। यह एक स्पष्ट संकेत था कि अस्पृश्यों को यदि विधान मंडलों में 'संयुक्त निर्वाचक मंडल' के साथ आरक्षित सीटें मिल जाएं तो वे पृथक् निर्वाचक मंडल के लिए आग्रह नहीं करेंगे।''[48]

''गांधी ने भी डॉ. अम्बेडकर के साथ समझौते के द्वार पूरी तरह से बंद नहीं किए थे।''[49]

डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि ''आश्चर्य की बात यह थी कि मुझे भारत के अछूतों के प्रतिनिधि और नेता होने की स्थिति पर कांग्रेसियों ने प्रश्न चिह्न नहीं लगाया। वरन् उसे वास्तविक रूप में स्वीकार किया। स्वभावतः सबकी आंखें मेरी ओर लगी थीं।''

''...मेरे सामने जो मानवीयता का सबसे बड़ा कर्त्तव्य था गांधी जी के प्राणों की रक्षा करना, दूसरी ओर समस्या थी अछूतों के उन अधिकारों की रक्षा करने की जिन्हें ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने दिए थे। मैंने मानवता की पुकार का वरण किया और महात्मा गांधी की प्राण रक्षा की और 'कम्युनल अवार्ड' में ऐसे परिवर्तन करने पर सहमत हो गया जिस पर गांधी जी सहमत थे।'' यह गांधी-अम्बेडकर समझौता दलित इतिहास में पूना पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[50]

इस प्रकार यरवदा या पूना पैक्ट दलित मुक्ति का एक सफल प्रयोग था कि सदैव के लिए दलित समस्या ब्रिटिश सरकार के भरोसे हल नहीं हो सकती। उसे स्थानीय स्तर पर स्थानीय नेताओं के साथ मिल जुलकर सुलझाया जा सकता है। मंदिर प्रवेश, सहभोज,

स्कूलों में शिक्षा, नौकरियां, धारासभाओं की सदस्यता दरअसल बहुत छोटी बातें थीं, इसकी लड़ाई आर्थिक स्तर सुधारने की थी, कृषि योग्य ज़मीन प्राप्त करने की थी, सामाजिक न्याय और सामाजिक समता के लिए आर्थिक उन्नयन जरूरी था। पूना पैक्ट से राजनीतिक अधिकार जरूर मिल गए। बाबा साहेब अम्बेडकर की बदौलत कुछ लोगों के भाग्य सुधर गए, उन्नति हुई, सात पीढ़ियां निहाल हो गईं, लेकिन आर्थिक दासता, अस्पृश्यता कलंक, जातिभेद मिटने का कोई आश्वासन आज तक प्राप्त नहीं हो सका।

लेकिन क्या गांधी-अम्बेडकर के सौहार्दपूर्ण मिलन के बिना यह कार्य पूरा हो सकता था? इस प्रश्न को गंभीरता से लिया ही नहीं गया।

सच्चाई यह है कि दलित आंदोलन के अध्ययन को महार बिरादरी और विदेशी लेखकों ने एकपक्षीय बनाकर रख दिया है, बहुत से ऐतिहासिक सच अभी गर्भ में छिपे हुए हैं, जिन पर खोज होना आवश्यक है।

दलित आंदोलन का राजनीतिक स्वरूप : 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' का गठन

1935 तक डॉ. अम्बेडकर दलितों के मुक्तिदाता और विशेषतया महाराष्ट्र की महार जाति के उद्धारक के रूप में उभरे। 'गोलमेज परिषद' में दलितों के अधिकारों की लड़ाई लड़कर उन्होंने ब्रिटिश राज को बताया कि भारत में उनकी दुर्दशा, अस्पृश्यता-जातिवाद के कारण है, जो सवर्णों की गुलाम बनाए रखने की परंपरागत धार्मिक नीति का परिणाम है।

देश में अछूत-दलित आंदोलन तेजी पकड़ता गया। सामाजिक सुधारों की प्रक्रिया में गतिशीलता आई। अछूतों में अपनी मुक्ति, स्वतंत्रता की चेतना जागी। इसके लिए राजनीतिक सत्ता हासिल करना अनिवार्य था। उन्होंने सामाजिक विषमताओं से जूझने, अन्याय से लड़ने, राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने तथा अछूतों को कांग्रेस और गांधी के बहकावे से दूर रखने के लिए अपना स्वतंत्र राजनीतिक दल **'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी'** का गठन किया।

डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि सवर्ण जाति के लोग सही प्रतिनिधियों को राजनीति में नहीं आने देंगे। उन्हें भय था कि वे अपने पिछलग्गुओं को ही प्राथमिकता देंगे। इस प्रकार कुछ दिनों तक गांधी-अम्बेडकर का सहयोग पर्व जो 'पूना-पैक्ट' (1932) के बाद चला इसी वर्ष में आरोप-प्रत्यारोप के कलह-प्रकरण में बदल गया। इस दौर में राजनीतिक गतिविधियों में तीव्रता आई। यहां तक कि महाराष्ट्र में दलित आंदोलन 'महार बनाम गैर महार' विवाद में फंस गया।'[51]

जेलियॉट की राय में तो 'निस्संदेह यह ब्रिटेन की 'लेबर पार्टी' के प्रति सम्मान भाव की सचेत अभिव्यक्ति थी।'[52]

गैल ओम्बेद्त ने महाराष्ट्र के ब्राह्मणेतर और दलित आंदोलन का ऐतिहासिक-भौतिकवादी दृष्टि से आकलन किया है। उनकी राय में 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' (आई.एल.पी.) ब्रिटिश

लेबर पार्टी के सांचे में ढले होने का अर्थ था तत्कालीन भारतीय संदर्भ की पूरी तरह उपेक्षा कर देना। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि राजनीति में आगे बढ़ने के लिए निपट अकेले, साधनहीन डॉ. अम्बेडकर ने आई.एल.पी. को सिर्फ दलित दल के रूप में नहीं वरन् मजदूरों और किसानों को पार्टी के रूप में प्रस्तुत किया।''[53]

गोरे ने कहा ''डॉ. अम्बेडकर अपने राजनीतिक दल को साम्यवादियों की यूनियनों से अलग रखना चाहते थे। इसकी अलग पहचान बनाने के लिए ही उन्होंने अपनी पार्टी का नाम 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' रखा था।''[54]

कुबेर के शब्दों में ''भारत अधिनियम, 1935 के अंतर्गत सन् 1937 में आम चुनाव होने थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस देश में सबसे बड़ा राजनीतिक दल था जिसकी हर प्रांत में शाखा थी। इसके अतिरिक्त लिबरल (उदारपंथी) थे, मुस्लिम लीग आदि दल थे, लेकिन अछूतों का अपना कोई स्वतंत्र दल नहीं था। ऐसे संक्रांति काल में अम्बेडकर ने आगे बढ़कर अगस्त 1936 में 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' बनाई।''[55] जगजीवन राम का अपना 'दलित वर्ग संघ' था, लेकिन उसने कांग्रेस का पहलू थाम रखा था।

''अम्बेडकर की इस 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' ने तात्कालीन बंबई प्रांत में चुनाव लड़ा, क्योंकि इसका कार्यक्षेत्र बंबई प्रांत था। आम चुनावों में इस दल ने दलित वर्गों के लिए आरक्षित 15 सीटों में से 13 सीटों पर विजय प्राप्त की और दो अन्य सामान्य सीटें भी जीतीं।

डॉ. अम्बेडकर ने पी. बालू (चमार) जो विख्यात क्रिकेट खिलाड़ी थे, उन्हें पराजित करते हुए चुनाव जीता। कांग्रेस चुनावों के जरिए विधान सभाओं में आई क्योंकि वह अधिनियम को तार-तार करना चाहती थी, लेकिन डॉ. अम्बेडकर तद्नुरूप कार्य करना चाहते थे। 'आई. एल. पी.' का महारों में असर था क्योंकि अम्बेडकर के अनुसार दलित जातियों में उनकी सर्वाधिक संख्या थी। अम्बेडकर ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि कांग्रेस दलित-अस्पृश्यों का प्रतिनिधित्व नहीं करती। अम्बेडकर का मूलतः यह विचार था कि दलित जातियों का एक राजनीतिक दल संगठित किया जाए। यद्यपि वे यह सोचते थे कि संप्रदायवादी दलों का अब ज़माना लद गया। उन्होंने अपने मित्रों से विचार विनिमय किया कि दूसरी जातियों से राजनीतिक सहयोग संपर्क स्थापित करना आवश्यक था और दलित जातियां उनके कार्यक्रम का एक आवश्यक अभिन्न अंग थीं।

उन्होंने लेबर शब्द की व्याख्या में कहा कि लेबर पार्टी का अर्थ है उसके समस्त कार्यक्रम श्रमिकों की भलाई के लिए संपन्न होंगे यहां लेबर शब्द व्यापक अर्थ में मेहनतकश दलितों के लिए प्रयुक्त किया गया था।''[56] इस प्रकार अम्बेडकर ने दलित आंदोलन को नए अर्थ और नये आयाम दिए।

''कांग्रेस के कार्यक्रम 1931 के कराची कांग्रेस अधिवेशन के प्रस्तावों पर आधारित थे। अम्बेडकर ने उसके मौलिक अधिकारों को देखा था और अपना स्वयं कार्यक्रम तैयार किया था। यह व्यापक हित वाले और क्रांतिकारी प्रयास थे। इसमें समाजवादी सुगंध थी।

इसका मुख्य उद्देश्य मेहनतकश, श्रमजीवी समाज का कल्याण करना था। इसमें ब्रिटिश संसदीय परंपरा के प्रति उनका मोह छलकता था। वे केवल दलित जातियों के लिए ही नहीं सभी श्रमजीवियों के हितपोषक थे। इसमें लोगों को 'राज्य प्रबंध और राज्य संपत्ति' के रूप में देखा गया था।'' यह वैचारिक दर्शन आज भी ब्रिटेन के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन का लक्ष्य है जहां व्यक्ति के पूर्ण विकास और सामाजिक सुरक्षा के लिए विधि विधान मौजूद हैं।

सन् 1937 में बंबई प्रेसीडेंसी समेत कांग्रेस ने आठ प्रांतों में अपनी सरकारें बनाईं। बंबई में आई.एल.पी. एक विरोधी दल के रूप में कार्य करने लगी। इसने सरकार की किसान विरोधी नीति, मजदूरों द्वारा हड़ताल पर पाबंदी के लिए बिल, खेती बिल, वर्धा शिक्षा नीति, औद्योगिक विवाद निवारण जैसे बिलों की आलोचना कीं, सुझाव दिए।''[57]

इस बीच अम्बेडकर ने ब्राह्मण और उच्च जातियों के अन्य मजदूर संगठनों के प्रभाव से मजदूरों को मुक्त करने के लिए भारतीय श्रम आंदोलन के अंतर्गत अस्पृश्य मजदूर यूनियन बनाने के लिए पहल की।[58]

मधु लिमये के अनुसार, ''समाजवादियों और वामपंथी बुद्धिजीवियों पर मार्क्सवाद का जादू छाया हुआ था। इसलिए वे न तो महात्मा गांधी के विकेन्द्रीकरण और अहिंसात्मक परिवर्तन को समझ सके और न ही जातिप्रथा के विरुद्ध हजारों साल से चल रहे इस आंदोलन को, जिसके प्रतीक गांधी युग में डॉ. अम्बेडकर थे।''[59]

7 नवम्बर, 1938 को जब बम्बई कामगार संगठनों की संयुक्त संघर्ष समिति ने मजदूर हड़ताल की तो डॉ. अम्बेडकर ने इसे सफल बनाने में पूरी ताकत लगा दी जबकि अनुशासन भंग की कार्यवाही से डरकर 'ट्रेड यूनियन कांग्रेस' जन तथा एम. एन. राय के अनुयायी और कांग्रेस समाजवादी दल के नेताओं ने अपना हाथ खींच लिया।[60] इससे पता चला कि सवर्ण हिंदू किसी भी सामाजिक परिवर्तन और प्रोलेटेरियट (मजदूर) वर्ग के हित संवर्धन के प्रति मीठी बातें तो करते हैं, लेकिन जब कोई सक्रिय कदम उठाया जाता है तो पीछे हट जाते हैं। अम्बेडकर को लगा सत्ता या स्वराज्य प्राप्ति ही इनका मुख्य उद्देश्य है।

डॉ. अम्बेडकर ने अमेरिका और ब्रिटेन में शोध करते समय ही छोटे किसानों, भूमिहीन कृषकों, अस्पृश्यों, शहरी कामगरों की समस्याओं पर शौध प्रबंध लिखे थे। वे बंबई और महाराष्ट्र के अन्य नगरों, गांवों-कस्बों में अछूतों के घरों-चालों खपरैलों में रहे थे। इसलिए उन्हें अस्पृश्यों, अतिशूद्रों खेतिहर मजदूरों और काश्तकारों की भलाई के लिए रीति-नीति बनाने में किसी की सलाह या किताबों की जरूरत नहीं थी।

दस्तावेजों के अनुसार, ''डॉ. अम्बेडकर ने गांवों में अस्पृश्यों सहित सभी खेतिहर मजदूरों और कर्ज के बोझ से दबे परिवारों की हालत सुधारने के लिए तत्कालीन कानूनों में संशोधन विधेयक पेश किए। बंबई विधानमंडल में 'आई.एल.पी.' नितांत अल्पमत में थी इसलिए इन गैर सरकार विधेयकों के पास होने की तनिक भी संभावना नहीं थी।

परंतु सदन में उन पर विचार विमर्श के दौरान अम्बेडकर ने गांवों को कर्ज के बोझ से पिस रहे लोगों की हालत उजागर की। उन्होंने खेर मंत्रिमंडल पर शहरों में कारखानेदारों और गांवों में साहूकारों के हितों की रक्षा करने का आरोप लगाया।''[61]

कुबेर के अनुसार साम्यवादियों पर आरोप लगाया गया कि उन्होंने अम्बेडकर और जमनादास मेहता जैसे संप्रदायवादियों से समझौता किया है।[62] पर सच्चाई यह थी कि व्यापक लोक हित, गरीब-अस्पृश्य मजदूरों की रोजी-रोटी पहले थी दलीय विचार बाद में।

जब 1937 में 'भारत अधिनियम', 1935 के अंतर्गत चुनाव हुए बाबा साहेब की 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' ने अधिकाधिक सीटें जीती। उन्होंने कहा कि उन्हें 'अचानक चुनाव लड़ना पड़ गया तब उनके पास चुनाव के लिए अपनी पार्टी मशीन तैयार करने का अवसर नहीं था। कांग्रेस और अछूतों की वह लड़ाई ठीक उसी प्रकार की थी जैसे हथियारबंद फौज और निहत्थी भीड़ की लड़ाई होती है।

डॉ. अम्बेडकर ने 'कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया' पुस्तक में तालिकाओं और तर्क के आधार पर यह सिद्ध किया कि अछूतों की लड़ाई को संगठित कांग्रेस किस प्रकार 'सवर्ण-अछूत वोट' मिलाकर खत्म कर सकती है, कमजोर बना सकती है।

''अम्बेडकर ने स्पष्ट किया कि स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का शामिल न होना स्वयं इस बात का सबूत है कि वे कांग्रेस से असहयोग करते हैं।'' निसंदेह जो भी दलित-अछूत उत्तर भारत या अन्य जगह स्वतंत्रता आंदोलन में जेल गए वे डॉ. अम्बेडकर से प्रभावित नहीं थे। वे अपनी देशभक्ति, कांग्रेस और गांधी के नेतृत्व या स्थानीय कांग्रेस नेताओं के प्रयासों से स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल हुए।[63]

विश्वयुद्ध की भारत पर छाया

जब 3 सितंबर, 1939 को द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ा तो उस समय सन् 1935 के भारत अधिनियम के अंतर्गत कांग्रेस सरकारें प्रांतों में राज कर रही थीं। लेकिन कांग्रेस मंत्रिमंडलों में जो अछूत प्रतिनिधि थे वे सब सोए हुए थे और अपने दलित भाइयों की ओर कम ही ध्यान देते थे। मुख्य समस्या अस्पृश्यता और जातिभेद मिटाने की थी। इसके लिए शायद ही किसी ने कोई ऐतिहासिक कार्य किया हो।

ब्रिटिश सरकार और जर्मनी के मध्य महायुद्ध की स्थानीय स्तर पर भारत में घोषणा तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने की थी। उन दिनों कांगेस इस बात पर खफा थी कि गरीब भारतवासियों को रुपए-पैसे, रोजगार, ओहदे का लालच देकर फौज में भरती करके लड़ने के लिए बाहर भेजा जा रहा है। इधर गरीब मुल्क की दौलत-संपदा युद्ध में झोंक दी गई थी। कच्चा माल सस्ते दामों पर देश पार निर्यात होने लगा। निसंदेह अछूतों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ रहा था। नवंबर, 1939 में कांग्रेस ने मंत्रिमंडलों से

त्यागपत्र दे दिया। सन् 1940 में कांग्रेस 'पूर्ण स्वराज्य' के लिए आवाज उठाने लगी।[64]

डॉ. अम्बेडकर ने महाराष्ट्र और अन्य क्षेत्रों में दलितों की अनेक सभाओं में शिक्षित, संगठित और संघर्ष करने के लिए उद्यत रहने के लिए दौरे किए।

11 सितंबर, 1939 में गवर्नर जनरल घोषणा कर चुके थे कि महायुद्ध की गंभीर परिस्थितियों को देखते हुए संविधान को स्थगित रखा जाएगा। जिन्ना को इस पर प्रसन्नता हुई, जबकि बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि अगर इंगलैंड मुसीबत में हैं तो इससे भारतीयों को फायदे उठाने के लिए बेताब नहीं होना चाहिए। भारत के अछूत लोग नए मालिकों को नापसंद करते हैं। अम्बेडकर का मानना था कि अभी भारत को ब्रिटिश कामनवेल्थ में बने रहना लाभप्रद होगा। उसी के अंतर्गत वह अपनी स्वतंत्रता और हितों की लड़ाई लड़े। संकट की घड़ी में यह उनकी दूरदर्शिता का बड़ा प्रमाण है। उन्होंने यह भी स्मरण दिलाया कि गोलमेज सम्मेलन के वक्त सभी लोग इस बात पर सहमत हुए थे कि भारत की सुरक्षा की गारंटी ब्रिटिश सरकार का कर्तव्य है।[65]

9 अक्तूबर, 1939 को अम्बेडकर अछूतों का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए वायसराय से मिले। उन्होंने कहा कि 'पूना पैक्ट' के उद्देश्य ही ध्वस्त हो गए हैं। सही दलित प्रतिनिधि चुने ही नहीं गए। वायसराय ने एक बयान में घोषणा की कि महायुद्ध की समाप्ति पर 'भारत अधिनियम' में परिवर्तन किया जाएगा और इसके लिए सभी प्रमुख भारतीय राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया जाएगा। उन्होंने यह भी कहा कि अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की जाएगी। महायुद्ध के दौरान एक सर्वदलीय सलाहकार परिषद भी गठित की जाएगी।

लेकिन कांग्रेस ने वायसराय के बयान को पूर्णतः असंतोष जनक बताया। उसने कहा कि ऐसे अवसर पर ब्रिटेन की सहायता साम्राज्यवादी नीति का समर्थन करना होगा। इसके बाद कांग्रेस ने मंत्रिमंडलों से इस्तीफा दिया था।

अक्टूबर के तीसरे सप्ताह में डॉ. अम्बेडकर ने नेहरू से देश की राजनीतिक परिस्थितियों पर चर्चा की थी और अछूतों की दयनीय स्थिति से अवगत कराया।[66]

इस वार्ता के फौरन बाद अम्बेडकर से बंबई के कांग्रेसी नेताओं की बातचीत हुई। अछूतों का मामला उस समय गरमाया हुआ था। जिन्ना के बयानात और उनकी मंशा ठीक नहीं लग रही थी। वर्धा से महादेव देसाई विशेषतया अम्बेडकर से वार्त्तालाप करने आए थे।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने सभी प्रांतीय विधानसभाओं में युद्ध प्रस्ताव रखे थे। अम्बेडकर ने कहा कि यह निराशाजनक है कि बंबई मंत्रिमंडल ने देश के नाम पर युद्ध प्रस्ताव नहीं रखा बल्कि कांग्रेस के इशारे पर इसे प्रस्तावित किया है। अम्बेडकर ने कहा कि वे किसी भी राजनीतिक वर्चस्व को सहन नहीं करेंगे यदि अछूतों की स्वतंत्रता, समानता और भातृत्व की उपेक्षा होती है। उन्होंने आरोप लगाया कि प्रशासन और नौकरियों में अछूतों के गिने चुने लोग हैं। यह शर्म की बात है। सारी नौकरियां सवर्णों ने हथिया रखी हैं। उन्होंने

कहा कि वे अछूतों के हितों को देश के हितों से भी सर्वोपरि मानते हैं।[67]

16 दिसंबर, 1939 को हरेगांव (अहमदनगर जिले) में महार नेताओं ने एक सम्मेलन आयोजित किया और पारित प्रस्ताव बंबई के गवर्नर को दिया गया। इस बात पर बंबई सरकार ने अम्बेडकर से वार्ता की। इसमें महारों की भूमि के स्वामित्व, वेतन संबंधी मांगें शामिल थीं।

22 दिसंबर 1939 को अम्बेडकर की पहल पर 'मुक्ति दिवस' मनाया गया। उनकी 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' ने इसमें हिस्सा लिया। यह अछूतों की स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व भावना के लिए यह संकल्प दिवस था। अम्बेडकर ने एक प्रस्ताव के द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर शाही आयोग बिठाने की भी मांग की जो कांग्रेस शासन के दौरान अछूतों पर अत्याचारों और दमनात्मक कार्यवाहियों की जांच करे।[68]

डॉ. अम्बेडकर ने अछूतों को संबोधित करते हुए कहा था कि "यह महायुद्ध साधारण नहीं है, विश्वव्यापी है। यह तानाशाही और लोकशाही के बीच युद्ध है। नाजीवाद का आधार नस्लवाद है। उसके विजयी होने का अर्थ होगा लोकशाही का अंत। उसका प्रतिरोध करना लोकशाही में विश्वास करने वाले सभी लोगों और देशों का कर्तव्य है। यदि लोक शाही समाप्त हो गई तो दलितों का भी कोई भविष्य नहीं होगा।"[69]

अम्बेडकर ऐसी संकट की घड़ी में ब्रिटेन पर कोई शर्त लगाने के विरुद्ध थे। उनके दल ने बिना शर्त सरकार को समर्थन देना स्वीकार किया जो आगे चलकर हजारों साल से दासता भोग रहे अछूतों की ओर से एक सौहार्दपूर्ण वातावरण-निर्माण में सहायक हुआ। कई अन्य राजनीतिक दलों, व्यक्तिगत तौर पर अनेक जाने माने लोगों ने भी सरकार का संकट की घड़ी में मनोबल बनाए रखने में मदद की। इस बीच कांग्रेस सरकार की कटु आलोचक रही। वह आंदोलन-प्रदर्शन, असहयोग करती रही।

गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस सन् 1940 के शुरू में युद्ध काल में 'व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन' के जरिए सरकार पर पूर्ण आजादी के लिए दबाव बनाने का निर्णय ले चुकी थी। डॉ. अम्बेडकर इसके विरुद्ध थे कि यह अवसर अछूतों और गरीबों को देखते हुए गड़बड़ी और अस्थिरता फैलाने का नहीं। एक प्रकार से "वे शब्दों से ही नहीं, कृत्यों से भी युद्ध-प्रयासों में मदद कर रहे थे। वे अछूत-दलित युवकों को फौज में भरती होने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे।"[70] लेकिन बंबई के गर्वनर की खुफिया रपट थी कि डॉ. अम्बेडकर महारों को फौज में भरती के लिए ढील बरत रहे हैं। अम्बेडकर जानते थे ऊंची जातियां अछूतों की फौज में भरती को भी राजनीतिक रंग दे देती है। इसलिए "उनका तर्क था कि इससे अछूत युवकों में अनुशासन और अन्याय के प्रतिकार की भावना आएगी।[71]" उस समय अछूत-दलितों की फौज में भरती को लेकर सब लोगों के कान खड़े हो गए जबकि पहले से ही सवर्ण जातियों के तथाकथित 'मार्शल रेस' (लड़ाकू जातियों) के युवक धड़ाधड़ भरती हो रहे थे।"

1940 में डॉ. अम्बेडकर ने 'थॉट्स ऑन पाकिस्तान' पुस्तक लिखी। इसमें हिंदुओं

और मुसलमानों में अस्तित्त्व के लिए संघर्ष में विभिन्न संस्कृतियों और भाषा को आधार माना। उन्होंने कहा मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं। इससे उनकी दूरदर्शिता, राजनयज्ञ और भविष्यद्रष्टा होने की बात को बल मिलता है।[72]

इस प्रकार सन् 1940 तक संकट काल के दौरान भी वे अछूतों की लड़ाई लड़ते रहे। न किसी राजनीतिक वर्चस्व के आगे झुके, न किसी साम्राज्यवादी नीति के आगे घुटने टेके। वरन् दलितों की लड़ाई को राष्ट्रीय समस्या बनाने में सफलता पाई जिसे एक मामूली समस्या माना जाता था।

मार्च, 1940 में 'लाहौर प्रस्ताव' में मुस्लिम लीग पाकिस्तान की मांग कर चुकी थी। तब इसे मामूली मांग समझा गया था।

20 मार्च, 1940 को 'रामगढ़ अधिवेशन' में कांग्रेस देशवासियों का आह्वान कर चुकी थी कि वह ब्रिटिश राज के साथ युद्धकाल में किसी भी प्रकार का सहयोग न करे।

कांग्रेस जनों और सत्याग्रहियों से कहा गया कि वे 'नागरिक अवज्ञा आंदोलन' में तेजी लाएं और ब्रिटिश राज को पूर्ण स्वराज्य देने के लिए मजबूर कर दें। युद्ध के चलते जब जनता कष्ट भोग रही थी कांग्रेस ने 'रामगढ़ प्रस्ताव' को कार्यरूप में परिणत किया।

सितंबर 1940 में कांग्रेस ने बंबई बैठक में ब्रिटिश सरकार के पूर्ण बहिष्कार की मांग को दुहराया और गांधी से मार्गदर्शन प्राप्त करने की इच्छा जाहिर की।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग अपने अपने हाथ सत्ता की ओर बढ़ाने में लगे थे। अम्बेडकर चिंतित थे कि दलितों की उपेक्षा नहीं होने देंगे चाहे किसी भी प्रकार के बलिदान की जरूरत क्यों न हो।

24 सितंबर 1940 को 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में गांधी के इरादों का प्रतिकार करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने लिखा :

"कांग्रेस ने अभी हाल में जो विरोध का स्वर मुखरित किया है उसकी वजह यह है कि वह वायसराय पर दबाव बनाना चाहती है कि अल्पसंख्यकों और गैर-कांग्रेस दलों को वे अपनी कार्यकारी परिषद में जिसका वह विस्तार करना चाहते हैं शामिल न किया जाए। कांग्रेस पूरी सत्ता अपने हाथ में हथियाना चाहती है। अगर श्रीमान् गांधी यह अनुभव करते हैं कि 'भारत रक्षा अधिनियम' (डिफेंस ऑफ इंडिया एक्ट) के जरिए देश को बोलने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है तो उन्होंने जब यह एक्ट पारित हुआ तभी विरोध क्यों नहीं जताया। वे एक साल तक प्रतीक्षा क्यों करते रहे?..." ऐसे सब सवाल अम्बेडकर ने उठाए।

उन्होंने आगे लिखा : "कांग्रेस जो 'भारत रक्षा अधिनियम' का विरोध कर रही है वह इसीलिए है कि वायसराय को अपनी योजना लागू करने से रोका जाए, ताकि अल्पसंख्यक (जिसमें दलित भी शामिल हैं) सत्ता में भागीदारी से वंचित रहें।"[73] आगे चलकर ब्रिटिश सरकार ने डॉ. अम्बेडकर को 'भारत रक्षा परिषद' में सदस्य के रूप में नामित किया जिसके वायसराय अध्यक्ष थे। यह दलित मुक्ति आंदोलन का एक और स्वर्णिम पृष्ठ था।

संदर्भ

1. डीन्कर, डी. सी. : स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान, पृ. 79-82
2. लिंच, ओविन एम. : दि पॉलिटिक्स आफ अनटचेबिलिटी, पृ. 79
3. डीन्कर, पृ. 82
4. गोखले, जयश्री : फ्राम कंसेप्सन टू कन्फ्रंटेशन, पृ. 118
5. जेलियट, एलीनोर : फ्राम अनटचेबिल टू दलित, पृ. 14 (चन्द्रा एवं चंचरीक द्वारा दलित आइडेंटिटी में उद्धृत, पृ. 183-84)
6. शर्मा, कुसुम : अम्बेडकर एंड इंडियन कंस्टीट्यूशन, पृ.-19
7. नेहरू, मोतीलाल (अध्यक्ष) : नेहरू रिपोर्ट—अपौइन्टैड बाई दि ऑल पार्टीज कांफ्रेंस (अ. भा. कांग्रेस कमेटी प्रकाशन, 1928)
8. शर्मा, कुसुम, पृ. 20
9. कुबेर, डब्ल्यू. एम. : बी. आर. अम्बेडकर, पृ. 38
10. नेहरू रिपोर्ट, पृ. 58
11. उपरोक्त, पृ. 58-59
12. उपरोक्त, पृ. 60
13. डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खं. 3, पृ. 87-110
14. डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड 5, पृ. 15
15. वही, पृ. 16
16. वही, पृ. 16-17
17. वही, पृ. 18
18. वही, पृ. 18-19
19. वही, पृ. 19-20
20. वही, पृ. 20-21 (गोलमेज सम्मेलन (पूर्ण अधिवेशन) की कार्यवाही—पांचवीं बैठक 20 नवंबर, 1930। कलकत्ता, भारत सरकार केन्द्रीय प्रकाशन शाखा, 1931, पृ. 123-29) (डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय : खंड 5 से उद्धृत पृ. 15-21)
21. वही, पृ. 42-43
22. वही, पृ. 44
23. वही, पृ. 44-46
24. वही, पृ. 46-47
    (अल्पसंख्यक उपसमिति सं. 3), गोलमेज सम्मेलन कार्यवृत्त 31 दिसंबर, 1930। कलकत्ता, भारत सरकार, केन्द्रीय प्रकाशन शखा, 1931, पृ. 73-80) (डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय : खंड 5 से उद्धृत, पृ. 42-47)
25. डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय : खंड 5, पृ. 142-143
26. उपरोक्त, पृ. 143
27. 'फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी एंड माइनोरिटीज कमेटी' का कार्यवृत्त खंड 1, 8 अक्टूबर, 1931, पृ. 1356-58 (डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय : खंड 5, पृ. 194 से उद्धृत)
28. उपरोक्त, पृ. 196-197
29. उपरोक्त, पृ. 197, 194-195
30. उपरोक्त, पृ. 196
31. उपरोक्त, पृ. 197-198

32. उपरोक्त, पृ. 198
33. उप-समिति संख्या 3 (अल्पसंख्यक) की कार्यवाही, पृ. 168-76 (डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय : खंड 5 से उद्धृत पृ. 62-71)
34. वही, पृ. 63-66
35. वही, पृ. 66-67
36. वही, पृ. 67
37. वही, पृ. 67-68
38. वही, पृ. 68
39. वही, पृ. 68-70
40. वही, पृ. 70-71
41. वही, पृ. 71
42. मंत्री, गणेश, पृ. 191 पर उद्धृत
43. कुलकर्णी, सुमित्रा : अनमोल विरासत, खंड 2, पृ. 158
44. मंत्री, गणेश : गांधी और अम्बेडकर, पृ. 195
45. वही, पृ. 195-196
46. वही, पृ. 161
47. राजशेखरय्या, ए. एम : दि क्वेस्ट फॉर सोशल जस्टिस (इन्होंने आमरण अनशन की तिथि 30 सितंबर लिखी), सुमित्रा कुलकर्णी गांधी की पोती ने 'अनमोल विरासत' में यह तिथि 20 सितंबर 1932 लिखी है। बी. आर. नंदा ने महात्मा गांधी में (पृ. 345) 20 सितम्बर ही लिखा है।
48. मंत्री, गणेश, पृ. 203-204
49. वही
50. अम्बेडकर, डॉ. भीमराव : 'कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया'? पृ. 102
51. गोरे, एम. एस : दि सोशल कांटेक्सट् ऑफ एन आइडियोलॉजी, पृ. 145।
52. पंथम, थॉमस एवं कैनेथ ड्यूस (सं) : पालिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया, पृ. 166
53. ओम्बेदूत, गैल : दलित एंड दि डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन, पृ. 192
54. गोरे, पृ. 150
55. कुबेर, डब्ल्यू एन : बी. आर. अम्बेडकर, पृ. 49
56. उपरोक्त, पृ. 49-50 एवं सत्यनारायण : बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर, पृ. 77-78 तथा जनता पाक्षिक, दि. 8.7.39 एवं आई. एल. पी. का घोषणा पत्र, 1937
57. उपरोक्त, पृ. 50-51
58. उपरोक्त, पृ. 51
59. मधु लिमये : डॉ. अम्बेडकर—एक चिंतन, पृ. 24
60. फड़के, य. दि. : अम्बेडकरी चलवल, पृ. 91
61. उपरोक्त, पृ. 129
62. कुबेर, पृ. 52
63. दृष्टव्य : अम्बेडकर रचित 'कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया', पृ. 196-197
64. नंदा, बी. आर. : महात्मा गांधी—ए बायग्राफी, पृ. 430-435
65. कुबेर, पृ. 52
66. कुबेर, पृ. 53
67. कुबेर, पृ. 53

68. कुबेर, पृ. 53
69. कीर, धनंजय : अम्बेडकर—लाइफ एंड मिशन, पृ. 35।
70. गोरे, एम. एस. : दि सोशल कांटेक्स्ट ऑफ एन आइडियोलॉजी, पृ. 156
71. खैरमोडे : अम्बेडकर, भाग 1, पृ. 42
72. मंत्री, गणेश, पृ. 258-259
73. टाइम्स आफ इंडिया (24 सितंबर, 1940)

6

गांधी और अम्बेडकर

I

जब गांधी पूर्ण स्वराज्य का राष्ट्रीय आंदोलन संचालित कर रहे थे और देश के सर्वाधिक चर्चित व्यक्ति थे ओर हरिजनों (अछूतों) के हितैषी माने जाते थे, तब अम्बेडकर वायसराय की कार्यकारी परिषद के श्रम सदस्य थे। देश विश्वयुद्ध की छाया और अराजकता में जा रहा था। दलित, मजदूर, किसान और शिल्पी जैसे गरीब लोग अनंत कष्ट व अभाव झेल रहे थे।

सन् 1945 में डॉ. अम्बेडकर ने कांग्रेस और गांधी के अछूतोद्धार संबंधी विचारों और कार्यों का एक आलोचनात्मक अध्ययन **'व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स'**[1] नाम से लिखा और प्रकाशित करवाया जिसकी कांग्रेस ने डटकर खिलाफत की। दलित आंदोलन के अध्येताओं ने इस कृति को एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बताया। इसमें सन् 1885 से 1945 तक के कांग्रेस के समाज सुधारों और अछूतोद्धार के कार्यक्रमों का डॉ. अम्बेडकर ने विश्लेषण करते हुए उन्हें खोखला, सतही और दिग्भ्रमित करने वाला तथा केवल दिखावे का कार्यक्रम बताया। राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान इसमें लगभग आधी शताब्दी से ज्यादा (1885-1945) तक ऊंची जातियों की दलितों के प्रति मानसिकता और उपेक्षा का पता चलता है।

डॉ. अम्बेडकर की यह कृति निस्संदेह भारत के संक्रांतिकाल में दलित आंदोलन को समझने वाली एक तथ्यपूर्ण ऐतिहासिक शोधपूर्ण गाथा है। यह निस्संदेह दलित इतिहास की एक कड़ी है। एक प्रकार से इस पुस्तक में डॉ. अम्बेडकर के धर्मयुद्ध का उन्हीं के कलम से वर्णन किया गया है और गांधी और कांग्रेस के तमाम छल-छिद्रों को दर्शाया गया है। इस कृति की सामग्री ग्यारह अध्यायों और सोलह परिशिष्टियों तथा कई तालिकाओं से परिपूर्ण है। इसके अध्यायों में :

(1) अनोखी घटना—कांग्रेस ने अछूतों की ओर ध्यान दिया।

(2) एक तुच्छ प्रदर्शन—कांग्रेस ने अछूतोद्धार योजना त्याग दी
(3) कुत्सित व्यवहार—कांग्रेस ने राजनैतिक अधिकारों में अछूतों को भागीदार बनाने में इंकार किया।
(4) निम्नतम समर्पण—कांग्रेस का नीचतम ढंग से पीछे हटना।
(5) राजनैतिक उदारता—अछूतों को उदारता से मारने की कांग्रेस की योजना।
(6) कांग्रेस का झूठा दावा—क्या कांग्रेस सबका प्रतिनिधित्व करती है।
(7) झूठा आरोप—क्या अछूत अंग्रेजों के पिट्ठू हैं?
(8) वास्तविक समस्या—क्या अछूतों का पृथक अस्तित्त्व नहीं है?
(9) विदेशियों को तार्किक उत्तर—निर्दय को किसी को दास बनाने की स्वतंत्रता न दी जाए।
(10) अछूत क्या कहते हैं—गांधी जी से सावधान रहो।
(11) गांधीवाद—अछूतों की तबाही।

दलित आंदोलन की इस गांधीवादी कृति के अध्यायों से ही पता चल जाता है कि डॉ. अम्बेडकर कांग्रेस और गांधी के प्रति किस सीमा तक जाकर तार्कित रूप से विरोध कर सकते थे। एक प्रकार से यह डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक-राजनीतिक कार्यों की भी स्पष्ट झलक प्रस्तुत करने वाली कृति है।

इस कृति के उत्तर में कांग्रेस के अध्यक्ष और वरिष्ठ नेता डॉ. पट्टाभिसीता रमैया और दूसरे नेताओं ने जवाबी किताबें लिखी थीं। लेकिन इसका अंदाज ही कुछ और था जो कांग्रेस के दस्तावेजों पर आधारित है और डॉ. अम्बेडकर के कार्यों को दर्शाती है।

इतिहास का तकाजा है कि गांधीवाद के दर्पण में अम्बेडकरवादी दलित आंदोलन की तस्वीर देखी जानी चाहिए। 1885 से 1945 तक के काल में गांधी, कांग्रेस में 1915 में आए और पूंजीपतियों की मदद से उस संगठन पर प्रभावी होने में भी उन्हें 3-4 साल लगे। कांग्रेस ने प्रस्ताव बाजी बहुत की और 1917 से उसे कुछ अक्ल आई ऐसा इन दस्तावेजों में भी दर्शाया गया है। तीन दशक से भी कम के समय में गांधीवाद क्या सक्रिय रहा होगा इसका अंदाजा इस बात से लगता है कि कांग्रेस के नेता आधे समय तो जेलों में बंद रहे। जो चंदा कांग्रेस को मिला वह **अछूतोद्धार या हरिजनोद्धार** पर नहीं बल्कि कांग्रेस संगठन और उसके नेताओं पर व्यय हुआ।

सन् 1886 कांग्रेस के ही कलकत्ता अधिवेशन के समय समाज सुधार के लिए अलग संगठन बनाने पर विचार हुआ था और यह चर्चा हुई थी कि 'इंडियन नेशनल सोशल कांग्रेस' का गठन किया जाए। दिसंबर 1887 में इस संस्था का जन्म मद्रास की भूमि पर हुआ जिसके सर टी. माधव राव अध्यक्ष बनाए गए थे।

पुणे में 1895 में हुए कांग्रेस अधिवेशन के समय एक वर्ग ने धमकी दी थी कि यदि कांग्रेस पंडाल में 'इंडियन नेशनल सोशल कांग्रेस' की बैठक की गई तो पंडाल फूंक दिया जाएगा। विरोधियों का नेतृत्व बाल गंगाधर तिलक कर रहे थे। इस प्रकार सामाजिक बुराइयों को मिटाने, जिसमें अस्पृश्यता और जातिभेद जैसे दाग हिंदू धर्म के लिए कलंक

थे, चर्चा के विषय नहीं बन पाए।

गांधी कांग्रेस में सन् 1914-1915 में आए तथा सन् 1919 में वे कांग्रेस के सर्वेसर्वा बन गए।

सन् 1917 में कांग्रेस ने दलित वर्ग के विषय में एक प्रस्ताव पारित किया। बत्तीस साल के कांग्रेस के इतिहास में डॉ. अम्बेडकर ने इसे एक अनोखी घटना बताया। अछूतों के लिए उनमें ऐसी चेतना कैसे आई? इससे उनका क्या लाभ था? इनका उत्तर समझने के लिए 11 नवंबर 1917 को हुई सभा के प्रस्तावों को देखना जरूरी है, जिसकी अध्यक्षता नारायण चन्दावरकर ने की थी।[2]

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों और बीसवीं सदी के दौरान राष्ट्रीयता के उदय काल में सामाजिक और धार्मिक सुधारों का समस्त भारत में सिलसिला प्रारंभ हो चुका था।

अस्पृश्यता, जाति प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह जैसी कुरीतियों पर प्रहार हुआ। सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना से राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता आंदोलन का प्रथम चरण प्रारंभ हुआ। कांगेस की प्रथम बैठक बंबई में हुई थी। जिसमें केवल 72 प्रतिनिधि शामिल थे। दूसरा अधिवेशन 1886 में कलकत्ता में संपन्न हुआ। जिसमें 436 प्रतिनिधि आए। प्रारंभिक कांग्रेसी नेता अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली, अंग्रेजों की न्यायिक व्यवस्था और उनकी राजनीतिक संस्थाओं में निष्ठा तथा समाज सुधार की आवश्यकता महसूस करने लगे थे।

कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में जो सन् 1887 में संपन्न हुआ बदरुद्दीन तैयबजी ने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि समाज सुधार का काम उस संप्रदाय के उन लोगों के लिए छोड़ देना चाहिए जो उस समाज के लिए कार्य करने के इच्छुक हैं फिर वे चाहे जितना कार्य करें। यह एक ढुलमुल नीति थी।

सन् 1895 में कांग्रेस अधिवेशन पुणे में हुआ जिसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अध्यक्षीय भाषण में कहा हमारी कांग्रेस राजनीतिक संस्था है, सामाजिक सुधार की संस्था नहीं। जबकि सन् 1885 में जब कांग्रेस का जन्म हुआ था, हिंदू समाज को पुनर्जीवन प्रदान करने और सामाजिक कुरीतियों तथा दोषों को दूर करने का संकल्प लिया गया था। कांग्रेस प्रस्ताव के अतिरिक्त बंबई में दो अलग-अलग सभाओं में भी दलित अछूतों के उत्थान के विषय में नवंबर 1917 में प्रस्ताव पास किए गए। एक सभा की अध्यक्षता नारायण चन्दावरकर ने की, दूसरी सभा की अध्यक्षता बापू जी नामदेव बागड़े ने की जो एक गैर-ब्राह्मण पार्टी के नेता थे। दोनों ने ही ब्रिटिश राजभक्ति का परिचय देते हुए दलितों के निम्न जीवनस्तर और उसमें सुधार के लिए मांगें रखीं। इस प्रकार कांग्रेस के प्रस्ताव से मिलते-जुलते प्रस्तावों की तह में भारत सचिव मान्टेग्यू की 20 अगस्त 1917 की ब्रिटिश पार्लियामेंट की, प्रचारित वह घोषणा थी कि भारत में उत्तरदायी शासन के संवैधानिक ढांचे में परिवर्तन किया जाएगा।

दसअसल, भविष्य में दलित वर्गों का समर्थन पाने के लिए यह सब नाटकबाजी शुरू हुई थी। कांग्रेस के प्रस्ताव से चन्दावरकर और बागड़े के प्रस्तावों में दरअसल कांग्रेस

के प्रति विद्रोह की झलक मिलती है।

एक ही समय में तीन तरह के दलितों की सहानुभूति और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के ये प्रस्ताव कांग्रेस-मुस्लिम लीग योजना को समर्थन देने के सिवाय और कुछ नहीं थे। कांग्रेस अपने दुरगामी हित देख रही थी। अछूतों पर होने वाले अमानुषिक अत्याचारों को रोकने और छुआछूत के कलंक को मिटाने का यह संकल्प पूरी तरह राजनीतिक था।

फरवरी 1922 में बारदोली में कांग्रेस ने अछूतों के उत्थान के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। चार माह पश्चात् जून, सन् 1922 में कांग्रेस ने दिल्ली बैठक में बारदोली प्रस्ताव की पुष्टि के लिए एक समिति बनाई। जिसमें शारदानंद, सरोजिनी नायडू आदि सदस्य थे। लेकिन एक वर्ष तक कोई काम नहीं हुआ। शारदानंद ने समिति से त्यागपत्र ही दे दिया। हां, 1923 में कांग्रेस ने यह जरूर कहा कि अछूतों की दशा में कुछ प्रगति हुई है।

लेकिन सबसे दुखद बात यह थी जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने अपनी इस किताब में दर्ज किया कि "कांग्रेस का कहना था कि अभी बहुत कुछ करना शेष है और जहां तक अस्पृश्यता का प्रश्न है जो विशेषकर हिंदुओं से संबंधित है यह समिति 'अखिल भारतीय हिन्दू महासभा' से अनुरोध करती है कि हिन्दू समाज से इस प्रकार के कलंक को मिटाने का भरसक प्रयत्न करे।"

डॉ. अम्बेडकर ने दुखी मन से कहा, "कांग्रेस के 1917 के प्रस्ताव के आरंभ तथा उसके दुखद अंत की यह कहानी थी उत्साहपूर्ण आरंभ, सज्जापूर्ण अंत। हिंदू महासभा द्वारा अस्पृश्यता मिटाने का ठेका डॉ. अम्बेडकर की समझ में नहीं आया। कांग्रेसी दलित आंदोलन का यह निंदनीय चरण था।"[3]

20 अक्टूबर, 1920 के 'यंग इंडिया' में गांधी लिख चुके थे कि देश के दलितों के लिए तीन रास्ते खुले हैं :

'प्रथम बात है कि वे अपनी अधीरता से गुलाम रखने वाली सरकार की सहायता कर सकते हैं। आजकल अछूत गुलामों के गुलाम हैं। सरकारी सहायता पाकर वे अपने ही लोगों को दबाने का काम करेंगे। दूसरी बात है कि वे धर्मांतरण कर लें पर इसकी वे सलाह नहीं देंगे। तीसरी बात स्वयं सहायता या स्वावलंबन की है। सवर्ण हिंदुओं की सहायता करनी है।'

गांधी ने 2 दिसंबर, 1920 के 'यंग इंडिया' में लिखा कि यदि हिंदू अस्पृश्यता के पाप को नहीं मिटाते तो सैकड़ों वर्षों के बाद भी स्वराज्य नहीं मिलेगा।

डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक में लिखा गांधी शाब्दिक मोहजाल से अछूतों को फंसाने की कला जानते थे।

सन् 1928 में भारत में 'साइमन कमीशन' आया था। कांग्रेस और गांधी ने इसके विरोध में भारत व्यापी प्रदर्शन किए थे। डॉ. अम्बेडकर और उनके साथियों ने इसका स्वागत किया था। 'स्टेचुटरी कमीशन' की नियुक्ति पर 30 मार्च 1927 को हाउस ऑफ

कामन्स में लार्ड बर्केनहेड ने जो भारत सचिव थे कहा था :

"मुझे दलितों के मामले पर गौर करना है। भारत में दलितों की करोड़ों में जनसंख्या है। उनकी दशा दिल दहला देने वाली और हृदय पर चोट करने वाली है। उन्हें सभी प्रकार के सामाजिक व्यवहार से दूर रखा गया है। इस वर्ग का व्यक्ति यदि उच्च वर्ण के बीच में आ जाता है तो सूर्य का प्रकाश अपवित्र हो जाता है। वे सार्वजनिक जलस्रोत से पानी नहीं पी सकते। अपनी प्यास बुझाने के लिए उन्हें मीलों भटकना पड़ता है। उन्हें सैकड़ों पीढ़ियों से अछूत कहा जाता है।...तो क्या इस कमीशन में कोई दलित वर्ग का प्रतिनिधि नहीं होना चाहिए? लोकतंत्र में विश्वास रखने वाला कोई भी व्यक्ति, हमारे विरोधियों समेत, इसका विरोध नहीं करेगा। मैं ऐसा कोई कमीशन बनाने के लिए तैयार नहीं जिसमें इस वर्ग का प्रतिनिधि न हो।" (साइमन कमीशन रिपोर्ट, भाग दो से उद्धृत)

साइमन कमीशन द्वारा प्रस्तावित संवैधानिक सुधारों के संबंध में तत्कालीन भारत सरकार ने अपने पत्र में लिखा था कि प्रांतीय सरकारों ने दलित प्रतिनिधित्व के प्रति विरोध जताया है। प्रत्येक प्रांत के लिए दलित वर्ग को परिभाषित करने के लिए कठिनाइयां आई हैं।

गांधी के तमाम विरोधों के बावजूद और पूरी कांग्रेस की शक्ति को स्वतंत्रता आंदोलन में झोंक देने के बाद भी ब्रिटिश सरकार यह अनुभव करती थी कि भारत के करोड़ों अछूत जिन्हें 'अनुसूचित जाति' कहा गया अल्पसंख्यकों में बदतर समाज के बहिष्कृत लोग हैं जिसकी हालत सुधारी जानी चाहिए।

'1935 के भारत अधिनियम' के अंतर्गत 1937 में कांग्रेस ने चुनाव लड़ा। अछूतों को चुनाव में पहली बार प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिला था। पूना पैक्ट के अनुसार यह आशा की गई थी कि कांग्रेस नेतृत्व अछूतों के प्रतिनिधि चुनने पर विघ्न नहीं डालेगा। लेकिन उल्टा हुआ। अछूतों के लिए सुरक्षित सीटों पर कांग्रेस ने अपनी विचार धारा के अछूत चुनवाए और डॉ. अम्बेडकर का स्वप्न चकनाचूर हो गया।

डॉ. अम्बेडकर ने इस प्रस्ताव में गांधी की उन चालों का भी पर्दाफाश किया है जिसमें वे दलितों-अछूतों के मंदिर प्रवेश के विरुद्ध थे। गांधी ने कहा था, 'यह कैसे संभव है कि अछूत सभी वर्तमान हिंदू मंदिरों में प्रवेश करने के अधिकारी हों।' इस तरह गांधी ने एक धार्मिक-सामाजिक क्रांति के रास्ते ही बंद कर दिए।[4]

डॉ. अम्बेडकर ने इस पुस्तक में गोलमेज वार्ता के दौरान लंदन में गांधी के प्रलाप, अपनी ओर से प्रस्तुत दलित वर्गों के हित संरक्षण के लिए ज्ञापन, 'मैकडानल्ड अवार्ड' (कम्युनल अवार्ड), 'पूना पैक्ट', 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना और उसके कारनामे, सन् 1935 के 'भारत अधिनियम', सन् 1937 के चुनावों में अछूतों के प्रतिनिधित्व की समीक्षा, भारत में सत्ता-हस्तांतरण की तैयारियों तथा 'वेवल योजना' आदि का जिक्र किया है। ये संदर्भ उस दौर के हैं जब डॉ. अम्बेडकर ने दलित-अछूतों के लिए अकेले ही संघर्ष किया था और दलित आंदोलन को दिशा प्रदान की थी। इसलिए इसे दलित-संदर्भ की एक महत्त्वपूर्ण कृति समझा जाता है। डॉ. अम्बेडकर के विचारों की परख या गुण-दोषों

का विवेचन इतिहास की उन घटनाओं के संदर्भ में देखा जाना आवश्यक है जब सदियों से गुलामों से भी बदतर जिंदगी जीने वाले करोड़ों लोगों की मुक्ति के लिए वे एक महान् योद्धा की तरह जूझ रहे थे।

राजेंद्र मोहन भटनागर के शब्दों में : "डॉ. अम्बेडकर जानते थे कि जो अछूतों के सिरमौर बन रहे हैं वे सवर्ण हैं और अवर्णों को गुमराह रखकर आजादी की लूट अपने तक सीमित रखना चाहते हैं। डॉ. अम्बेडकर और गांधी आमने-सामने आ गए थे। गांधी ने धर्म के अंधे डंडे से सबको हांकना चाहा विशेषतया अछूतों को। निस्संदेह डॉ. अम्बेडकर न होते तो गांधी का अछूतों पर जादू चल जाता।" डॉ. अम्बेडकर ने अपनी कृति में गांधीवाद को अछूतों की तबाही कहा।

लगभग तीन दशक (1917-1947) तक गांधी और गांधीवाद भारतीय सामाजिक-राजनीतिक जीवन में हावी रहे। डॉ. अम्बेडकर ने गांधीवाद को अछूतों की तबाही की संज्ञा दी थी। अपनी इस आलोचनात्मक कृति के अंतिम अध्याय में उन्होंने निर्भीकतापूर्वक इसे 'अछूतों की तबाही'[5] का कारण बताया। जगन्नाथ कुरील द्वारा हिंदी में अनूदित पुस्तक में से इस अध्याय को दलित इतिहास के अध्येताओं और सामान्य पाठक वर्ग के अध्ययन हेतु यहां दे रहे हैं :

"इधर जबकि भारतीय लोग भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन के पुनर्निर्माण की बात करते हैं वे व्यक्तिवाद बनाम सामूहिक सत्ता, पूंजीवाद बनाम समाजवाद, रूढ़िवाद बनाम प्रगतिवाद जैसे वादों पर बात करते हैं। परंतु अभी जल्दी ही भारतीय क्षितिज में एक नए वाद का अभ्युदय हुआ है इसे 'गांधीवाद' कहते हैं। यह सच है कि गांधी ने अभी जल्दी ही गांधीवाद जैसे किसी प्रकार के बाद के अस्तित्त्व में आने से इंकार किया है। गांधी का यह अस्वीकरण उनकी मर्यादा से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। इससे 'गांधीवाद' का अस्तित्त्व झुठलाया नहीं जा सकता। 'गांधीवाद' पर तमाम पुस्तकें लिखी गई हैं जिनका प्रतिवाद गांधी ने कहीं नहीं किया। उस 'गांधीवाद' की ओर भारत के तथा उसके बाहर के लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। कुछ लोगों को इसमें इतनी निष्ठा है कि वे 'गांधीवाद' को मार्क्सवाद का विकल्प मानने लगे हैं।

'गांधीवाद' के अनुसरणकर्ता पूछ सकते हैं कि संभव है कि गांधी ने अछूतों के लिए उतना काम नहीं किया हो जितना कि अछूत उनसे आशा करते रहे हों परंतु क्या गांधीवाद से अछूतों को कोई आशा नहीं करनी चाहिए? 'गांधीवाद' के अनुचर मुझे केवल अछूत के विषय में गांधी द्वारा उठाए गए कदमों के संबंध में धीमी प्रगति को स्मरण करने का और गांधी द्वारा उनके उद्धार के लिए किए गए मुख्य कार्यों को भुला देने का दोष देंगे। मैं यह मानने के लिए तैयार हूं कि कभी-कभी ऐसा नहीं होता कि कोई मनुष्य जो बड़े सिद्धांत की उद्घोषणा करता है तो उसे करने के लिए छोटे कदम उठाता है जिसके लिए उसे क्षमा किया जा सकता है इस आशा से कि किसी दिन उस सिद्धांत में स्वाभाविक संचालन शक्ति आएगी जिससे उन लोगों की उपेक्षा की गई है वे भी उसके अंतर्गत आ जाएंगे। 'गांधीवाद' अध्ययन की दृष्टि से अपने आप में काफी रोचक विषय है। परंतु

गांधी के विषय में चर्चा करने के बाद 'गांधीवाद' पर चर्चा करना बड़े परिश्रम का कार्य है, इसीलिए मैंने पहले 'गांधीवाद' और अछूतों पर पहले विचार नहीं किया। उसी समय यह भी विचार उठा कि उस विषय पर विचार न करना बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण कार्य होगा क्योंकि गांधीवादी लोग गांधी पर मेरी व्याख्या को जानते हुए भी इसका लाभ उठा सकते थे और यह प्रचार करते रहते कि यदि गांधी जी अछूतों की समस्या को हल करने में असफल हो जाते तो भी 'गांधीवाद' में उनकी समस्याओं का हल उन्हें मिलता। यही कारण है कि मैं इस प्रकार की कोई गुंजायश नहीं रखना चाहता कि मैंने मूल अनिच्छा पर विजय प्राप्त कर गांधीवाद पर विवाद आरंभ कर दिया।

'गांधीवाद' क्या है? वह किसलिए है? आर्थिक समस्या के संबंध में उनकी क्या शिक्षाएं हैं।

आरम्भ में यह बतलाना आवश्यक है कि कुछ गांधीवादी लोग गांधीवादी धारणा के वशीभूत हो गए हैं जो कि पूर्णतया काल्पनिक है। इस धारणा के अनुसार 'गांधीवाद' का अर्थ है पुनः गांव की ओर वापस लौटना और गांव को आत्मविश्वासी बनाना। इस धारणा से 'गांधीवाद' केवल क्षेत्रीयवाद बनकर रह जाता है। मुझे विश्वास है कि 'गांधीवाद' न तो बहुत साधारण है और न क्षेत्रीयवाद की तरह निर्दोष ही। गांधीवाद ने क्षेत्रीयवाद की अपेक्षा कहीं अधिक संतोष की गुंजायश है। क्षेत्रीयवाद 'गांधीवाद' का बहुत तुच्छ भाग है। इसका सामाजिक दर्शन है और इसका आर्थिक दर्शन शास्त्र भी है। सर्वप्रथम गांधीवाद का सही चित्रण करना नितांत आवश्यक है।''[6]

'गांधीवाद' गांधी सामाजिक समस्या के संबंध में दी गई शिक्षाओं से आरंभ किया जाता है। वर्ण व्यवस्था पर गांधी जी के विचार, जिस व्यवस्था ने भारत में मुख्य सामाजिक समस्या का सृजन किया है 1921-22 के गुजराती पत्रिका 'नवजीवन' में उन्हीं के द्वारा प्रसारित किए गए थे। यह संपादकीय लेख गुजराती में लिखा गया था (उसका पुनर्मुद्रण भाग दो की शृंखला 'गांधी शिक्षा' संख्या-18 में हुआ था) मैंने उनके विचारों का अनुवाद उन्हीं के शब्दों में नीचे दिया है। गांधी कहते हैं–

(1) मुझे विश्वास है कि हिंदू समाज जो आज तक खड़ा रहने में समर्थ हुआ है तो इसलिए कि वह वर्ण व्यवस्था पर आधारित है।

(2) स्वराज्य के बीज वर्ण व्यवस्था में उपलब्ध हैं। विभिन्न जातियां सैनिक इकाइयों (डिवीजन) की भांति विभिन्न वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग सैनिक डिवीजन की भांति पूरे समाज के हित में काम करता है।

(3) जो समाज जाति व्यवस्था का सृजन कर सकता है उसे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनमें अनोखी संगठन क्षमता है।

(4) जाति व्यवस्था में प्राथमिक शिक्षा प्रसार के लिए सदा तैयार रहने वाले साधन मौजूद हैं। प्रत्येक जाति अपने बच्चों की अपनी जाति में शिक्षित करने की जिम्मेदारी लेती हैं। जातियों का राजनैतिक उद्देश्य है। जाति प्रतिनिधि सभा (जाति पंचायत) पंच को अपने प्रतिनिधि चुनकर भेज सकती है। जाति अपने जातीय पारस्परिक झगड़ों को

तय करने के लिए न्यायाधिकारी चुनकर न्यायिक प्रक्रिया को पूरा कर सकती है। प्रत्येक जाति को सैनिक टुकड़ी का दर्जा देकर सुरक्षा के लिए जबरदस्त सेना तैयार करना जातियों के लिए सरल है।

(5) मुझे विश्वास है कि राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ करने के लिए अंतर्जातीय विवाह आवश्यक नहीं है। यह कहना कि अंतर्जातीय सहभोज से मित्रता बढ़ेगी अनुभव के ठीक विपरीत है। यदि इसमें सच्चाई होती तो यूरोप में युद्ध न होते। ...सहभोज उसी प्रकार गंदा है जैसे कि प्रकृति के विरुद्ध कोई कार्य करना, अंतर इतना है कि प्रकृति के अनुसार कार्य करने से हमें शांति मिलती है जबकि हम प्रकृति के विरुद्ध भोजन कर परेशानी महसूस करते हैं। अतः जिस प्रकार हम शौच से एकांत में निवृत्त होते हैं उसी प्रकार भोजन भी एकांत में ही करना चाहिए।[7]

(6) भारतवर्ष में भाइयों के बच्चों में पारस्परिक विवाह नहीं होते, क्या पारस्परिक विवाह न करने से उनके प्रेम में कमी आएगी? वैष्णवों में बहुत-सी महिलाएं इतनी कट्टरपंथी हैं कि वे अपने परिवार के लोगों के साथ भोजन नहीं करतीं और न एक ही बर्तन से पानी पीना पसंद करती हैं, क्या उनमें पारस्परिक प्रेम नहीं हैं? जाति व्यवस्था को बुरा नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें विभिन्न जातियों में पारस्परिक भोज एवं पारस्परिक विचार की आज्ञा का निषेध है।

(7) जाति प्रथा नियंत्रित तथा मर्यादित जीवन भोग का ही दूसरा नाम है। प्रत्येक जाति अपने आप में खुशहाल रहने के लिए ही सीमित है वह जातीयता की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकती। सहभोज और सह-विवाह जातीय नियंत्रण होने का यही अर्थ है।

(8) जाति व्यवस्था को नष्ट करके पश्चिमी यूरोपीय सामाजिक व्यवस्था अपनाने का अर्थ होगा कि हिंदू उन पैतृक देशों के सिद्धांत को त्याग दें जो वर्ण व्यवस्था की आत्मा है। पैतृक गुणों का संतति में आना एक स्वाभाविक एवं शाश्वत नियम है। इसे तोड़ने से अव्यवस्था पैदा हो जाएगी। यदि मैं उसे अपने जीवन के लिए ब्राह्मण कह कर नहीं पुकारता तो उस ब्राह्मण से क्या लाभ? यदि ब्राह्मणों को शूद्रों में और शूद्रों को ब्राह्मणों में परिवर्तित होने का नितप्रति का यह कार्य हो जाएगा तो समाज में विप्लव उत्पन्न हो जाएगा।

(9) जाति प्रथा एक प्राकृतिक विधान है। भारतवर्ष में उसे धार्मिक परिधान दिया गया है। अन्य देशों में जहां जाति व्यवस्था की उपयोगिता नहीं समझी गई वहां की सामाजिक व्यवस्था ढीली ढाली अवस्था में है और इसी कमी के फलस्वरूप जाति व्यवस्था से होने वाले लाभ वे नहीं प्राप्त कर सके जबकि भारत लाभान्वित हुआ है।

मेरे इन्हीं विचारों के कारण वे लोग मेरा विरोध करते हैं जो जाति व्यवस्था को तोड़ना चाहते हैं।

वर्ष 1922 में गांधी जाति व्यवस्था के संरक्षक थे। इसकी जांच करने पर स्पष्ट हो जाता है कि 1925 में जाति व्यवस्था के संबंध में गांधी द्वारा व्यक्त किए गए विचार

तीन वर्ष पहले प्रकट किए गए विचारों से कैसे भिन्न हो गए। 3 फरवरी 1925 में गांधी ने कहा था[8] :

"जाति प्रथा का समर्थन मैंने इस आधार पर किया था कि वह संयम सिखाती है परंतु आजकल जाति प्रथा का अर्थ संयम नहीं वरन् सीमाबद्ध करना है। संयम अच्छा होता है और स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए सहायक सिद्ध होता है। परंतु सीमाबद्ध होना बेड़ियों के समान है। जातियां जिस रूप में आज हैं उस रूप में उनकी तारीफ नहीं की जा सकती। जातियां आजकल शास्त्रीय सिद्धांतों के विपरीत हैं। जातियों की संख्या असीम है जिनमें पारस्परिक विवाह संबंध के विरुद्ध प्रतिबंध लगे हैं। यह उत्थान की स्थिति नहीं वरन् पतन होने की स्थिति है।"

इस प्रश्न के उत्तर में कि इसका क्या समाधान है गांधी ने कहा :

"सर्वोत्तम उपाय यह है कि छोटी-छोटी जातियां अपना अस्तित्त्व समाप्त कर बड़ी जाति बन जाएं। ऐसी बड़ी जातियों की संख्या 4 हो जिससे प्राचीन वर्ण व्यवस्था की पुनर्स्थापना हो सके।"

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वर्ष 1925 में गांधी वर्ण व्यवस्था के पक्षधर हो गए। प्राचीन वर्ण व्यवस्था जो प्राचीन भारत में प्रचलित थी उसने समाज को चार भागों में विभाजित कर रखा था। (1) ब्राह्मण, जिसका व्यवसाय था विद्याध्ययन करना (2) क्षत्रिय, जिसका कार्य था युद्ध करना, (3) वैश्य, जिसका व्यवसाय था व्यापार करना (4) शूद्र, जिसका व्यवसाय था प्रथम तीन वर्णों की सेवा करना। क्या गांधी की वर्ण व्यवस्था ठीक वैसी ही है जैसी वर्ण व्यवस्था हठधर्मी हिंदू मानते हैं? गांधी ने अपनी वर्ण व्यवस्था की निम्नांकित ढंग से व्याख्या की—

(1) मैं विश्वास करता हूं कि वर्णों का विभाजन जन्म पर आधारित है।

(2) वर्ण व्यवस्था में कोई ऐसी बात नहीं है जो शूद्रों को विद्याध्ययन अथवा सैनिक युद्ध कला सीखने से वंचित करती हो। इसके विपरीत क्षत्रिय को सेवा अथवा नौकरी करने में कोई रोक नहीं है। वर्ण व्यवस्था इस बात की अनुज्ञा देता है कि शूद्र धनोपार्जन के लिए अध्ययन नहीं करेगा न क्षत्रिय ही धनोपार्जन के लिए सेवा कार्य अपनाएगा। इसी प्रकार ब्राह्मण युद्ध कला सीख सकते हैं परंतु उसे अपनी जीविका का साधन नहीं बनाएगा। वैश्य विद्या प्राप्त कर सकता है अथवा युद्ध सीख सकता है परंतु उन्हें धनोपार्जन का साधन नहीं बना सकता।[9]

(3) वर्ण व्यवस्था जीविका संचालन से संबद्ध है। इसमें कोई हानि नहीं यदि किसी एक वर्ण का आदमी दूसरे वर्ण के कला और व्यवसाय के विषय में ज्ञान प्राप्त कर उसमें पारंगत हो जाता है। परंतु जहां तक धनोपार्जन का संबंध है उसे अपने ही वर्ण का व्यवसाय अपनाना ठीक होगा जिसका अर्थ यह होगा पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चले आए अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाना।

(4) वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य है प्रतिस्पर्धा और बराबरी करने की प्रवृत्ति से रोकना तथा वर्ग संघर्ष से रोकना। मैं वर्ण व्यवस्था में विश्वास करता हूं क्योंकि इससे लोगों के

कर्तव्यों और व्यवसायों का निर्धारण होता है।

(5) वर्ण का अर्थ है मनुष्य के जन्म लेने से पहले उसके व्यवसाय का निर्धारण।

(6) वर्ण व्यवस्था में किसी मनुष्य को अपनी पसंद का व्यवसाय करने की स्वतंत्रता नहीं होती। उसका व्यवसाय पैतृक व्यवसाय जन्म से ही निर्धारित रहता है।

(गुजराती में गांधी ने 'वर्ण व्यवस्था' शीर्षक से जो पुस्तक लिखी है मूल रूप में उसी पुस्तक से उपरोक्त उद्धरण दिए गए हैं)।''

अब उनके आर्थिक समस्या संबंधी विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। आर्थिक जीवन के संबंध में उनके दो आदर्श थे :

पहला आदर्श यह कि मशीनों तथा मशीनीकरण का विरोध करना। बहुत पहले वर्ष 1921 में गांधी ने मशीनीकरण के विरोध करने का संकेत दिया था। दिनांक 19 जनवरी 1931 के 'यंग इंडिया' में लिखते हुए गांधी ने कहा[10] :

''क्या मैं उन्नति के पथ पर आरूढ़ घड़ी की सुई को पीछे घुमा देना चाहता हूं? क्या मैं मिलों के स्थान पर अब चर्खा-करघा लाना चाहता हूं? क्या मैं रेलवे के स्थान पर बैलगाड़ी लाना चाहता हूं? क्या मैं मशीनों को पूर्णतया नष्ट करा देना चाहता हूं? इस प्रकार के प्रश्न पत्रकार एवं जनता के लोग मुझसे पूछते हैं। मेरा उत्तर है कि यदि मशीनें पूर्णतया नष्ट कर दी जाती हैं तो मैं इसे कोई परेशानी नहीं समझूंगा और न कोई अफसोस करूंगा।''

मशीनों के प्रति गांधी का विरोध मशीनों के स्थान पर चर्खा स्थापित करना है और हाथ से सूत कात कर स्वयं वस्त्र बना कर पहनना है। उनका मशीनों से इस प्रकार का विरोध और चर्खा के प्रति प्रेम का कारण कोई घटना नहीं है। गांधी ने 8 जनवरी, 1925 को काठियावाड़ की राजनैतिक सभा की अध्यक्षता करते हुए इस अर्थ- दर्शन को अपनाने की प्रतिज्ञा की थी। इस विषय में उन्होंने कहा था :

''अनंत सीमा तक बढ़ती हुई निर्जीव मशीनों की पूजा करते-करते राष्ट्र थक गए हैं। हम बेजोड़ मशीन अर्थात अपने शरीर को निर्जीव मशीनों पर निर्भर करके बरबाद कर रहे हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि शरीर से पूरा काम लिया जाए और इसका सदुपयोग किया जाए। हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। चर्खा शारीरिक श्रम का शुभ लक्षण है। यदि कोई मनुष्य बिना श्रम किए भोजन करता है तो वह उसकी चोरी करता है। श्रम के इस बलिदान को छोड़ देने से हम एक प्रकार से देशद्रोही बन जाते हैं और भाग्य की देवी के दरवाजे पर खड़े पुकार लगाते हैं।''

जिस किसी ने गांधी की पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' (Indian Home Rule) का अध्ययन किया हैं, उसे मालूम होगा कि उस पुस्तक के अनुसार गांधी वर्तमान सभ्यता के विरुद्ध हैं। यह पुस्तक पहले पहल 1908 में प्रकाशित हुई। परंतु उनकी विचारधारा में कोई परिवर्तन नहीं आया। गांधी ने वर्ष 1921 में लिखते हुए कहा (देखें 'यंग इंडिया' 26 जनवरी 1921) :

''यह पुस्तक आधुनिक सभ्यता की दृढ़ता से निंदा करती है। यह पुस्तक 1908

में लिखी गई थी। उस पुस्तक में व्यक्त किए गए विचारों पर मैं पहले से भी अधिक दृढ़ हूं। मैं महसूस करता हूं कि यदि भारत आधुनिक सभ्यता का परित्याग कर दे तो उसे अधिक लाभ मिलेगा।''

देखें गांधी जी के विचारों में ('धर्म मंथन' पृष्ठ 65) :

''पाश्चात्य सभ्यता पिशाच की उत्पत्ति है।''

गांधी[11] का दूसरा आदर्श था मालिकों और नौकरों तथा भूस्वामी तथा आसामी के संबंध में वर्ग संघर्ष को समाप्त करना। मालिकों और नौकरों के संबंध में गांधी के जो विचार थे 8 जून, 1921 के 'नवजीवन' में इस प्रकार प्रकाशित हुए थे :

''भारत के सामने दो रास्ते खुले हैं। एक रास्ता पाश्चात्य सभ्यता का 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का और दूसरा रास्ता पूर्वी सभ्यता का 'सत्यमेव जयते' का है जिसमें शक्तिशाली और कमजोर दोनों को समान रूप से न्याय पाने का अधिकार है—जिस मार्ग को चाहे उसे पसंद करें। इस न्याय की प्रतिष्ठा हम श्रमिक वर्ग की समस्या से आरंभ करके कर सकते हैं। प्रश्न यह है कि क्या हिंसात्मक तरीकों से उनकी मजदूरी बढ़वाई जानी चाहिए? यदि वह संभव भी हो तब भी श्रमिक हिंसा जैसे मार्ग का सहारा नहीं ले सकते—उनके अधिकार चाहे जितना न्यायोचित हों। अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उनकी सुरक्षा के लिए हिंसा का मार्ग भले ही सरल लगता हो परंतु अंततः वह कंटकाकीर्ण मार्ग है। जो तलवार के बल पर जीवित रहते हैं उनका अंत भी तलवार से होता है। तैराक प्रायः डूबकर मरता है। यूरोप को ही देखिए वहां कोई प्रसन्न नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि वह संतुष्ट नहीं है। श्रमिक पूंजीपति पर विश्वास नहीं करता और पूंजीपति श्रमिकों पर भरोसा नहीं करता। दोनों शक्तिमान हैं परंतु तब भी दोनों सुखी व संतुष्ट नहीं हैं। उनमें जबरदस्त संघर्ष होता है। हर प्रकार की गति को उन्नति नहीं कहा जा सकता। हमारे पास यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि यूरोप के लोग उन्नति कर रहे हैं। उनके पास अधिक संपत्ति का होने का यह तर्क नहीं कि उनमें नैतिक अथवा अध्यात्मिक गुण भी हों।''[12]

''तब हम क्या करेंगे? बंबई में श्रमिकों ने स्थिति मजबूत कर ली है। मैं उनके विषय में सभी तथ्यों को जानने की स्थिति में नहीं था। परंतु मैं इतना देख सका कि वे अच्छे ढंग से लड़ सकते हैं। करोड़पति पूर्णतया गलती पर हो सकता है। पूंजीपति और श्रमिकों के संघर्ष में यह प्रायः कहा जाता है कि पूंजीपतियों का पक्ष गलत होता है। परंतु जब श्रमिक को अपनी शक्ति का पूरा आभास हो जाता है तो मैं समझता हूं कि पूंजीपति की अपेक्षा श्रमिक अधिक निर्दयी हो जाता है। यदि मजदूरों में बुद्धि का विकास होता है तो करोड़पतियों को मजदूरों द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार काम करना पड़ता है। यद्यपि स्पष्ट है कि मजदूर वर्ग पूंजीपतियों की उस बुद्धि को कभी नहीं प्राप्त कर पाता। यदि पूंजीपतियों की बुद्धि उसे प्राप्त हो जाए तो वह श्रम करना बंद कर स्वयं मालिक

बन जाए। पूंजीपति केवल धन शक्ति के बल पर नहीं लड़ते। उनके पास बुद्धि और तिकड़म भी होते हैं।''

''हमारे सामने प्रश्न यह है कि मजदूर जब मजदूर ही रह जाते हैं, जब भी उनमें चेतना का विकास होता है तब उनकी क्या क्रिया विधि होनी चाहिए? यदि मजदूर शक्ति प्रदर्शन और हिंसा का सहारा लेते हैं तो यह उनके लिए आत्मघाती सिद्ध होगा। ऐसा करके वे देश के उद्योगों को हानि पहुंचाएंगे। इसके विपरीत यदि वे न्याय पथ पर दृढ़ता से रहकर और कठिनाइयों को सहन कर अधिकारों को प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें सदैव केवल सफलता ही नहीं मिलेगी वरन् वे अपने मालिकों को भी सुधार लेंगे, अपने उद्योगों में प्रगति लाएंगे और तब मजदूर और मालिक दोनों एक ही परिवार के सदस्य के रूप में काम करेंगे।''

इसी प्रकार के विषय पर गांधी ने किसी दूसरे अवसर पर कहा (देखें 'यंग इंडिया' 23 फरवरी 1922) :

''भारत में पहले कभी भी पूंजी और श्रम के संबंधों में तनाव नहीं रहा।''

अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए मजदूरों के हाथ में हड़ताल का जो हथियार है इस पर गांधी के विचार ध्यान देने योग्य हैं। गांधी[13] का कहना है (देखें 'यंग इंडिया' 11 फरवरी 1921) :

(1) जब तक कोई वास्तविक क्लेश न हो हड़तालें नहीं की जानी चाहिए।

(2) यदि हड़तालियों में स्वयं अपने आप में अपनी बचत के बल पर अथवा अन्य अस्थाई साधनों पर जैसे कि दफ्ती बनाने का काम, सूत कातना, कपड़ा बुनना आदि साधनों पर निर्भर रहने की क्षमता न हो तो उन्हें हड़ताल नहीं करनी चाहिए। हड़तालियों को जनता के चन्दे और दान पर कभी नहीं निर्भर रहना चाहिए।

(3) हड़तालियों को अपनी न्यूनतम निश्चित मांगें निर्धारित करके उनकी घोषणा हड़ताल करने से पहले कर देनी चाहिए।

हड़तालों की सफलता के संबंध में आगे अपने विचार व्यक्त करते हुए गांधी कहते हैं :

''मजदूरों की मांगें वाजिब होते हुए तथा हड़तालियों की क्षमता के बावजूद हड़ताल इस कारण से भी असफल हो सकती है कि यदि पुराने कर्मचारियों के स्थान पर नए कर्मचारी भरती कर लिए जाते हैं। अतः बुद्धिमान लोगों को अपना वेतन अथवा सुविधाएं बढ़ाने के लिए उस समय हड़ताल नहीं करनी चाहिए जब उसे इस बात का आभास मिल जाए कि उसके स्थान पर दूसरे को भरती पर काम चलाया जा सकेगा परंतु लोक कल्याण अथवा स्वदेश प्रेम की भावना वाला व्यक्ति मांग से अधिक उत्पादन होते हुए भी अपने पड़ोस में मुसीबतों से परेशान लोगों की सहानुभूति में वह हड़ताल कर सकेगा। मैंने जिस प्रकार की नागरिक हड़ताल का उल्लेख किया है उसमें डराने-धमकाने और आग लगाने जैसी हिंसा की कोई गुंजायश नहीं है। मेरे सुझाव की परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि हड़तालियों के सच्चे मित्रों ने उन्हें कभी कांग्रेस फंड से सहायता अथवा उनके समर्थन

प्राप्त की राय नहीं दी। आर्थिक सहायता प्राप्त करने पर हड़तालियों की सहानुभूति स्थिति धूमिल हो जाती है। हड़ताल के सहानुभूति गुण इससे नष्ट हो जाते हैं।''

उत्तर प्रदेश के आसामी किसानों को जिन्होंने अपने जमींदारों के विरोध में आंदोलन किया उससे संबंधित प्रकरण पर 18 मई, 1921 के 'यंग इंडिया' के अंक में आसामी किसानों तथा जमींदारों के संबंधों का प्रतिपादन करते हुए गांधी[14] ने कहा :

''जब उत्तर प्रदेश सरकार औचित्य और सद्व्यवहार की सीमा का उल्लंघन कर रही है और लोगों को धमकियां दे रही हैं यह कहने में कोई संदेह नहीं कि किसान भी अपनी नवीन प्राप्त शक्ति का बुद्धिमानी से प्रयोग नहीं कर रहे हैं। कई जमींदारियों में वे ज्यादती करने में हद से आगे बढ़ गए बताए जाते हैं, उन्होंने कानून अपने हाथों में ले लिया है और इतना अधीर हो उठे हैं कि जैसा चाहते हैं, वही करते हैं। वे सामाजिक बहिष्कार का दुरुपयोग कर रहे हैं और हिंसा का रास्ता अपना रहे हैं। ऐसी सूचना मिली है कि उन किसानों का पानी भरना बंद कर दिया, बाल बनाना बंद कर दिया और सभी भुगतान वाले पेशे बंद कर दिए। यहां तक कि उन पर जमींदारों का जो लगान बाकी था उसका भी भुगतान करना बंद कर दिया। किसान आंदोलन ने 'असहयोग आंदोलन' से प्रेरणा ली है परंतु उनका उससे भिन्न है। जब किसान आंदोलन चल पड़ा है तो हमें उन्हें यह सलाह देने में कोई हिचक नहीं कि वे सरकार को लगान देना बंद कर दें। परंतु यह बात विचारणीय नहीं है कि असहयोग को आधार बनाकर वे जमींदारों को लगान देना बंद कर दें। किसान आंदोलन किसानों का स्तर ऊंचा उठाने तथा उनके और जमींदारों के बीच मधुर संबंध बनाए रखने तक सीमित रखना चाहिए। किसानों को नैतिकतया सावधानीपूर्वक जमींदारों से प्राचीन लिखित परंपरागत समझौतों के अनुसार चलना चाहिए। जहां पर लिखित अथवा परंपरागत समझौते गलत तथा बुरे हों उन्हें बिना जमींदारों की पूर्व सहमति के हिंसात्मक ढंग से नहीं उखाड़ फेंकना चाहिए। प्रत्येक परिवर्तन के लिए उन्हें जमींदारों के सौहार्दपूर्ण बातचीत कर मामले सुलझाने का प्रयत्न करने चाहिए।''

आर्थिक प्रश्नों के संबंध में गांधी के उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि वह संपत्ति वालों को हानि नहीं पहुंचाना चाहते। यहां तक कि वह उनके विरुद्ध आंदोलन भी नहीं होने देना चाहते। आर्थिक समानता के लिए उनकी कोई उत्कट भावना नहीं है। धनी वर्ग का उल्लेख करते हुए गांधी ने एक बार कहा था कि *वह सोने का अंडा देने वाली मुर्गी का हनन नहीं करना चाहते। मालिकों, मजदूरों, धनी और गरीब, जमींदारों और किसानों, आसामियों तथा मालिकों और नौकरों के मध्य उठते आर्थिक झगड़ों को सुलझाने के लिए गांधी जी का सरल नुस्खा है कि सम्पत्तिवान अपने को सम्पत्ति का ट्रस्टी घोषित कर दें। मालिकों को उनकी संपत्ति के अधिकार से उन्हें वंचित न किया जाए। संपत्ति वान जो कुछ करते हैं गरीबों के ट्रस्टी के रूप में करते हैं। निस्संदेह ट्रस्ट स्वेच्छा से काम करने का आध्यात्मिक नैतिक बंधन है।*[15]

क्या आर्थिक रोग के गांधीवादी विश्लेषण से कोई नई बात सामने आती है? क्या गांधीवादी अर्थशास्त्र स्वस्थ और ठोस है? गांधीवाद साधारण मनुष्यों तथा निचले स्तर

के लोगों को क्या आशा दिलाता है? क्या गांधीवाद साधारण मनुष्य को बेहतर जिंदगी, सुखी जीवन, अच्छी संस्कृति, स्वतंत्र जीवन, केवल मांग की स्वतंत्रता नहीं वरन् उत्थान करने की स्वतंत्रता, उसकी पूरी क्षमता तक पहुंचने में उसे सहायक है?

आर्थिक रोगों के गांधीवादी विश्लेषण में बहुत-सी समस्याओं की जड़ मशीनों तथा मशीनी सभ्यता को माना जाने के अतिरिक्त कोई नई बात नहीं है। ये जो तर्क दिए जाते हैं कि मशीनरी और आधुनिक सभ्यता संपत्ति को व्यवस्था और नियंत्रण थोड़े से व्यक्तियों तक केंद्रित करने में सहायक हैं और बैंक व महाजनी की सुविधाएं संपत्ति को और भी कुछ ही लोगों के हाथों में सीमित रखने में सहायक है, और बड़े-बड़े कारखाने तथा मिले जिनमें लाखों-करोड़ों आदमी अपनी झोपड़ियों से हजारों मील दूर उन बड़े कारखानों में अपना खून पसीना बहाते हैं अथवा उन मशीनों और आधुनिक सभ्यता को इतने अधिक कारण काल के गाल में चले जाते हैं। अंग भंग हो जाते हैं और शरीर से अयोग्य हो जाते हैं, जितने शायद युद्धों में घायल होने के कारण नहीं होते होंगे। बड़े-बड़े शहरों के विकास से और वहां बड़े कारखानों की चिमनियों से निकले धुएं, गंदगी, मशीनों की आवाजें, गंदी हवा, सूरज की धूप की कमी, बाह्य जीवन, मैली कुचैली गलियां, अवैध दुराचार एवं अस्वाभाविक कारणों से परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में उत्पन्न रोगों और शारीरिक अक्षमता के गांधीवाद के सभी तर्क घिसे पिटे पुराने तर्क हैं, उनमें कोई नई बात नहीं है। मशीनों के विरुद्ध गांधीवाद के इन तर्कों में पाश्चात्य विद्वानों—रूसो, रस्किन, टॉलस्टाय आदि के ही विचारों को केवल अपने शब्दों में दुहराया गया है।

'गांधीवाद'[16] में जिन विचारों को समाहित किया गया है वे विचार हमें आदिम युग की ओर ले जाते हैं। उनसे प्रकृति की ओर तथा वन्य जीवन की ओर वापस होने की प्रेरणा मिलती है। यदि उन विचारों में कोई अच्छी बात है तो वह है सादगी। जैसा कि सदैव ऐसे सीधी-सादे साधारण लोगों की बड़ी संख्या में पलटन रही है जो उनकी ओर आकर्षित होती रही है। ऐसे सीधे-सादे साधारण विचार कभी समाप्त नहीं होते और मंद बुद्धि के लोग वैसे विचारों को उपदेशों के रूप में प्रचार करते रहे हैं इसीलिए गांधीवादी जैसे विचारों को पैर जमाने का अवसर मिलता रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्यों के नित प्रति का सहज ज्ञान जो उन्हें पुरुषार्थ तथा प्रकृति के विरुद्ध खड़े होने की ओर ले जाता है और ऐसा समाज जो प्रकृति की ओर ही बढ़ रहा है ऐसे विचारों को अस्वीकार करना ही ठीक समझता है।

'गांधीवाद' का अर्थशास्त्र निराशाजनक और भ्रामक है। यह सही है कि मशीनरी और आधुनिक सभ्यता से बहुत-सी बुराइयां उत्पन्न हुई हैं। परंतु उन बुराइयों के विरुद्ध ऐसे तर्क निरर्थक हैं। क्योंकि बुराइयां उन मशीनों और आधुनिक सभ्यता के कारण नहीं हैं वरन् ऐसे गलत सामाजिक संगठन के कारण हैं जिससे मशीनों से होने वाला अद्भुत लाभ सार्वजनिक न होकर निजी लाभ हो जाता है और उस व्यक्तिगत लाभ पर पवित्रता की मुहर लग जाती है। यदि मशीनरी और आधुनिक सभ्यता से सभी लोगों को लाभ नहीं पहुंचा है तो मशीनों तथा आधुनिक सभ्यता को दोषी ठहराना कोई सही उपाय नहीं

है, वरन् सही उपाय है सामाजिक ढांचे में उचित परिवर्तन करना ताकि मशीनों से हुआ लाभ मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथों में ही सीमित न रह कर सर्वसाधारण तक पहुंच सके।

'गांधीवाद' में साधारण मनुष्य को कोई आशा नहीं हो सकती। इसमें साधारण मनुष्य के साथ पशुओं जैसा व्यवहार किया जाता है। यह सच है कि पशुओं से मनुष्य का गहरा संबंध है वे कुछ मौलिक आवश्यकताओं जैसे 'मैथुन-आहार' एक समान है और वे प्रकृति की सुविधाओं को अपरिवर्तित रूप में ही उपयोग करते हैं। परंतु पशुओं और मनुष्यों द्वारा उन प्राकृतिक सुविधाओं का उपयोग करने में अंतर है और वह अंतर है बुद्धि और विवेक का जिसका उद्देश्य होता है मनुष्य द्वारा हर एक बात पर सोच-विचार करना, चिंतन करना, गंभीर चिंतन करना, अध्ययन करना और विश्व के सौंदर्य को खोज निकालना और मानव जीवन को प्रफुल्लित करना तथा अपने जीवन में पाशविक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखना। इस प्रकार चेतन जगत में मनुष्य का सर्वोच्च स्थान है। यदि यह सही है तो उसका परिणाम क्या है? परिणाम यह है कि पाशविक जीवन का लक्ष्य होता है शारीरिक आवश्यकताओं को प्राप्त करके ही संतुष्ट होना परंतु मानव जीवन का लक्ष्य इतने से ही न संतुष्ट होकर निरंतर आगे ही उस समय तक बढ़ते रहना जब तक कि वह मानवता के लक्ष्य को न प्राप्त कर ले और उसका पूर्ण मानसिक विकास न हो जाए। संक्षेप में यही कि पशु और मानव प्राणी में ज्ञानोन्नति और सभ्यता का अंतर है। पशु जगत के लिए सभ्यता संभव नहीं परंतु मानव प्राणी के लिए नितांत आवश्यक है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को जीवन उत्कर्ष का अवसर प्राप्त कराना मानव समाज का लक्ष्य होना चाहिए जिसका अर्थ है भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि से ऊपर उठकर मानव प्राणी का मानसिक विकास करना। ऐसा कैसे हो सकता है?[17]

मानव समाज तथा अकेले प्राणी दोनों के लिए केवल जीवित रहने तथा बहुमूल्य जीवन को सुसंस्कृत ढंग से व्यतीत करने में बड़ा अंतर है। बहुमूल्य एवं सुसंस्कृत जीवन व्यतीत करने के लिए जीवित रहना आवश्यक है। जहां केवल जीवित रहने में ही मनुष्य का अमूल्य समय और शक्ति का ह्रास होता है और मानवीय प्रकृति जिसके अनुसार उसे सुसभ्य जीवन व्यतीत करना चाहिए परंतु उससे भिन्न अपमानजनक जीवन विवश होकर बिताना पड़ता हो तब मानव प्राणी के लिए सुसंस्कृत जीवन बिताना कैसे संभव किया जा सकता है? यह आवश्यक ही है कि मनुष्य को बुद्धि के प्रयोग का अधिकार अवसर मिले। सामाजिक उन्नति एवं सांस्कृतिक प्रगति के लिए बौद्धिक विकास आवश्यक है। प्रश्न यह उठता है कि सामाजिक व सांस्कृतिक प्रगति और उसके लिए बुद्धि का अधिकाधिक प्रयोग करने का अवसर सामान्य जन को कैसे उपलब्ध किया जाए? जब तक शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक श्रम व समय के अतिरिक्त बौद्धिक विकास के लिए यथोचित अवसर नहीं दिया जाता यह संभव नहीं है। केवल फुरसत में यथोचित समय मिलने पर ही मनुष्य सांस्कृतिक जीवन बिताने की बात पर विचार कर सकता है। सभी समस्याओं की समस्या जिसका सामना मानव समाज को करना है वह यह कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसा अवसर कैसे प्रदान किया जाए। फुरसत में होने का क्या अर्थ है? फुरसत

का अर्थ है श्रम को कम करना और जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के प्रयत्न करना। परंतु अवसर कैसे सुलभ कराया जाए? फुरसत पाने का समय उस समय तक असंभव है जब तक कि उसके लिए ऐसे साधन नहीं तलाश किए जाते जिनसे मानव प्राणियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामान का उत्पादन कर श्रम को कम किया जा सके। ऐसे श्रम को किससे कम किया जा सकता है? यह तभी हो सकता है जब आदमी का स्थान मशीन ले ले। इसके अतिरिक्त अवसर प्राप्त करने का और कोई साधन नहीं है। इस प्रकार मशीन और आधुनिक सभ्यता दोनों ही मनुष्य को पाशविक जीवन से छुटकारा दिलाने के लिए तथा उसे सभ्य जीवन बिताने का अवसर प्रदान करने के लिए नितांत आवश्यक हैं। जो मनुष्य मशीनों तथा आधुनिक सभ्यता का विरोध करता है; वह उनके उद्देश्य और अंतिम लक्ष्य जिसे प्राप्त करने के लिए मानव समाज को अवश्य प्रयत्न करना चाहिए, नहीं समझता ऐसा प्रतीत होता।[18]

गांधीवाद उस समाज के लिए अधिक उचित ठहराया जा सकता है जो समाज प्रजातंत्र को अपना आदर्श नहीं मान कर चलता। जो समाज प्रजातंत्र में विश्वास नहीं करता वही 'गांधीवाद' पर आधारित मशीनों तथा सभ्यता का विरोध करेगा। परंतु प्रजातांत्रिक समाज उन मशीनों तथा सभ्यता का विरोध नहीं कर सकता। जो समाज मशीनों और आधुनिक सभ्यता के विरुद्ध है, कुछ थोड़े से लोगों को जीवन के विकास का अवसर देगा और सांस्कृतिक विकास से संतुष्ट हो जाएगा तथा शेष बहुसंख्यक जनता को कठिन परिश्रम का जीवन जीने को देगा। परंतु प्रजातांत्रिक समाज अपने प्रत्येक नागरिक के जीवन उत्कर्ष करने का अवसर प्रदान करने की गारंटी देता है। यदि उपरोक्त विश्लेषण सही है तब प्रजातांत्रिक समाज का नारा मशीनीकरण का होना चाहिए और अधिक से अधिक मशीनरी तथा आधुनिक सभ्यता का विकास होना चाहिए। गांधीवाद के अंतर्गत साधारण मनुष्य को थोड़ी-सी मजदूरी के लिए लगातार परिश्रम करते रहना चाहिए और पाशविक ही बने रहना चाहिए। संक्षेप में, गांधीवाद की प्रकृति की ओर वापसी की पुकार का अर्थ है बहुसंख्यक जनता को नग्नावस्था की ओर वापस होना, मलिनता की ओर वापस होना, निर्धनता की ओर वापस होना और अज्ञानता की ओर वापस होना।

कार्य संपादन हेतु मानव जीवन के विभिन्न चरणों में विभाजन तथा समाज के विभिन्न वर्गों में विभाजन पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकते। विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों, वैधानिक रूप से दास वृत्ति तथा दास प्रथा समाप्त कर देने और लोकतांत्रिक राष्ट्र की स्थापना कर देने से भी विज्ञान के प्रसार से, पुस्तकों के माध्यम से सर्वसाधारण में शिक्षा के प्रसार से, समाचार पत्रों से, विद्यालय और कारखानों में पारस्परिक संपर्क होने से भी समाज में प्रबुद्ध वर्ग तथा अज्ञान वर्ग तथा श्रमिक वर्ग का अंतर है और रहेगा। वह अंतर कभी न मिट सकेगा।[19]

परंतु 'गांधीवाद' केवल राष्ट्रीय जीवन में वर्गभेद करके ही संतुष्ट नहीं हो जाता वरन् वर्ग निर्माण पर जोर डालता है। गांधीवाद सामाजिक वर्गीकरण के ढांचे तथा आर्थिक ढांचे को—जिसके फलस्वरूप अमीर और गरीब, ऊंच नीच, मालिक और मजदूर का जो

अंतर है, उसे सामाजिक व्यवस्था का पवित्र एवं स्थाई अंग मानता है। वर्ण, वर्ग तथा आय के आधार पर समाज में भेद मानने से बढ़ कर और क्या हानिकारक हो सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाज में वर्गभेद का अस्तित्त्व, साधन संपन्न तथा साधन विहीन दोनों वर्गों के लिए हानिकारक होता है। जिसके कारण कोई ऐसा सार्वजनिक स्तर नहीं है जहां सर्व संपन्न वर्ग तथा निर्धन वर्ग आपस में मिल सकें। उनमें जीवन की आशाओं और अनुभवों के आदान प्रदान की कोई गुंजायश नहीं। प्रजा वर्ग में इस अलगाव की सामाजिक एवं नैतिक बुराइयां निस्संदेह स्पष्ट हैं। इससे उन्हें दासता की शिक्षा मिलती है और मानसिक दासता से हीन भावना उत्पन्न होती है। दूसरी ओर साधन संपन्न वर्गों को भी अपनी सामाजिक तथा नैतिक समस्याएं होती हैं। अपने आर्थिक स्तर के कारण बहुसंख्यक समाज से अलग-थलग तथा कटे रहने के कारण उनमें विशिष्ट निहित स्वार्थों वाले एक गुट का भाव पैदा हो जाता हैं अपने निहित स्वार्थों की रक्षा करने की चिंता में उसे हर एक से यहां तक कि शासन से शंका बनी रहती है। समाज की ऐसी संवर्ग रचना से उनकी संस्कृति कुप्रभावित होती है, उनकी कला दिखावटी हो जाती है और उनका चकाचौंध कर देने वाला धन और ही स्वार्थ दिखाई देता है। संवर्ग रचना में व्यवहारिक रूप में एक ओर उत्पीड़न, दंभ, घमंड, उद्दंडता, लालच, स्वार्थपरता होती हैं तो दूसरी ओर असुरक्षा, गरीबी, अपमान, स्वतंत्रता, स्वालंबन, प्रतिष्ठा और आत्म सम्मान का हनन देखने को मिलता है। कोई भी लोकतांत्रिक समाज इन परिणामों वाली समाज रचना को सहन नहीं कर सकता। परंतु 'गांधीवाद' को इन दूषित परिणामों की कोई चिंता नहीं। यह कहना पर्याप्त न होगा कि 'गांधीवाद' केवल वर्गीय भेद भाव से संतुष्ट हो जाता है, यह भी कहना पर्याप्त नहीं है कि 'गांधीवाद' संवर्गीय रचना में विश्वास करता है। वरन् 'गांधीवाद' इससे भी बहुत अधिक है। एक वर्गीय ढांचा जो जर्जर, नीरस हो गया है, 'गांधीवाद' उसी कंकाल को लेकर चलना चाहता है। 'गांधीवाद' वर्ग में विश्वास के साथ काम करने की प्रेरणा देता है। 'गांधीवाद' में वर्गीय भेद घटनावश नहीं है वरन् आधारभूत सिद्धांत है।[20]

ट्रस्टीशिप का सिद्धांत जिसे गांधीवाद सभी विकारों को दूर करने की एकमात्र औषधि होने की बात करता है। जिसके द्वारा धनी वर्गों के लोग अपनी संपत्ति को ट्रस्ट के रूप में रखकर उसे गरीबों का ट्रस्ट बनाकर और स्वयं को उसका ट्रस्टी बनाकर गरीबों का मजाक उड़ाता है। इस विषय में जो कुछ कहा जा सकता है, वह यह है कि जिस किसी ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है उस लेखक की मूर्खता पर वे लोग हंसेंगे कि वह लेखक जीवन की वास्तविक कठिनाइयों को नहीं जानता और दास वर्गों को यह कह कर धोखा दे रहा है कि नैतिकता एवं सदाचार के उपदेश मात्र से संपत्ति के मालिक जो अपनी असीम तृष्णा की तृप्ति के लिए सदा से गरीबों की दुनिया में आंसुओं की नदियां बहाते रहे हैं, उपदेश द्वारा स्वेच्छा से अपनी तृष्णा कम करके अपने को परोपकारी और त्यागी बना लेंगे और सवर्गीय ढांचे से तो उन्हें असीम अधिकार दास वर्गों के विरुद्ध प्रयोग करने के लिए मिले हुए हैं, उनका दुरूपयोग करना बंद कर देंगे।

'गांधीवाद' का सामाजिक दर्शन आदर्श जाति और वर्ण पर आधारित हैं यद्यपि यह

कहना कठिन है कि इन दोनों में से कोई भी सिद्धांत लोकतांत्रिक नहीं है। गांधीवाद का सामाजिक आदर्श ही लोकतांत्रिक नहीं हैं क्योंकि यदि जाति अथवा वर्ण दोनों की तुलना की जाए तो वे दोनों लोकतंत्र के मौलिक रूप से विपरीत पड़ते हैं। यह कितना अच्छा होता यदि गांधीवाद जाति व्यवस्था की पुष्टि में मजबूत और ईमानदारी के तर्क प्रस्तुत करता। परंतु जाति व्यवस्था के पक्ष में उनका तर्क अलंकारिक भाषा का अज्ञानतापूर्ण तर्क है। जाति व्यवस्था के पक्ष में गांधी द्वारा दिए गए तर्कों का परीक्षण करने पर इस तथ्य पर पहुंचेंगे कि प्रत्येक तर्क यदि बचकाना नहीं तो बनावटी तो है ही जिन्हें इसी अध्याय के द्वितीय खंड में दिया गया है।

प्रथम तीन तर्क ध्यान देने योग्य हैं। पहला तर्क यह कि हिंदू समाज स्थिर रह सका है जबकि दूसरे समाज समाप्त हो गए अथवा गायब हो गए—यह कोई महत्त्व की बात नहीं है। इसके जीवित बचे रहने का कारण जाति व्यवस्था नहीं वरन् कारण यह थे कि विदेशी जिसने हिंदुओं पर आक्रमण किया उन्हें पूर्णतया मार देना आवश्यक नहीं समझा। केवल जीवित बच जाना ही शान की बात नहीं है। जीवित रहने का क्या तात्पर्य है। कुछ लोग बिना शर्त के आत्म-समर्पण करके जीवित बच जाते हैं। कुछ लोग कायरतापूर्वक पीछे हट कर पराजय मानकर जीवित रह जाते हैं और कुछ लोग शत्रु से लोहा लेकर अपनी जीवन रक्षा करते हैं। किस स्तर पर हिंदू जीवित बचे? यदि उन हिंदुओं के लिए कहा जाए कि वे शत्रुओं से लड़ते और उन्हें पराजित करते हुए जीवित बचे तो गांधी द्वारा जाति व्यवस्था पर दिया गया तर्क उचित नहीं है। हिंदुओं का इतिहास सदैव आत्मसमर्पण का इतिहास रहा है। यह सच है कि दूसरों ने आक्रमणकारियों के समक्ष आत्मसमर्पण किया है। परंतु उन्होंने आत्मसमर्पण के बाद विदेशी शासक के विरुद्ध क्रांति की हैं। हिंदुओं ने विदेशी आक्रमणकारी की मारकाट का विरोध करने के बजाय उनकी पराधीनता मान ली और विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकने के लिए एकजुट होकर कभी विद्रोह नहीं किया। दूसरे यह कि हिंदुओं ने उस दासता को आनंददायक बनाने का प्रयत्न किया जबकि विश्व की अन्य जातियों ने हार जाने पर भी पराजय को कभी हृदय से स्वीकार नहीं किया और लगातार विद्रोह करती रहीं। ऐसी स्थिति को देखते हुए यही कहा जा सकता हैं कि हिंदुओं की यह निस्सहाय स्थिति पूर्णतया जाति व्यवस्था के कारण रही है।[21]

चौथे पैरा में दिया गया गांधी का तर्क कुछ स्वीकार करने योग्य है। जिसमें कहा गया है कि जातियों के माध्यम से शिक्षा प्रसार तथा न्याय करने में सहायता मिल सकती है। परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि प्राथमिक शिक्षा प्रसार अथवा लड़ाई झगड़ों का फैसला करने का कार्य निपटाने के लिए जाति व्यवस्था ही एकमात्र साधन है कदापि नहीं। संभवतः ऐसे कार्य करने के लिए जाति व्यवस्था से घटिया साधन और कोई हो ही नहीं सकता क्योंकि इससे जातियों को बड़ी आसानी से प्रभावित तथा भ्रष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार के कार्य अन्य देशों में भारत की अपेक्षा अच्छे ढंग से किए गए हैं यद्यपि वहां पर जाति व्यवस्था नही थी। जातियों की सैनिक टुकड़ियों का आधार बताने का विचार केवल कल्पना या मन की उड़ान है। व्यवसायिक सिद्धांत की पृष्ठभूमि में जाति व्यवस्था

से लड़ाकू व्यक्तित्व निकालना संभव नहीं है। गांधी जानते हैं कि उनके ही प्रांत गुजरात में किसी भी जाति ने सैनिक टुकड़ी नहीं खड़ी की। वर्तमान विश्वयुद्ध में भी वहां के लोगों ने कोई पार्ट नहीं अदा किया। पिछले विश्व युद्ध में ब्रिटिश सरकार के एजेंट के रूप में सैनिक भरती के लिए गांधी द्वारा गुजरात में भ्रमण करने पर भी जाति प्रथा उन्हें एक सैनिक टुकड़ी नहीं दे सकी। वास्तव में जाति व्यवस्था के अंतर्गत साधारणतया लोगों को सेना के लिए तैयार करने का काम उस समय तक असंभव है जब तक कि जाति व्यवस्था का व्यवसायिक सिद्धांत समाप्त नहीं कर दिया जाता।[22]

जातियों के समर्थन में गांधी द्वारा दिए गए तर्क सार हीन हैं। सहभोज और पारस्परिक विवाह का जो खंडन किया गया है सही तर्क नहीं कहा जा सकता। वह सही है कि परिवार एक आदर्श इकाई है जिसमें सभी सदस्यों में पारस्परिक प्रेम व्यवहार होता है यद्यपि उनमें पारस्परिक विवाह एक ही परिवार में नहीं होते। यह माना जा सकता है कि वैष्णव परिवार के सदस्य सहभोज नहीं करते परंतु तब भी उनमें पारस्परिक प्रेम और स्नेह बना रहता है। इससे क्या साबित होता है? इससे यह नहीं साबित होता कि सहभोज और पारस्परिक वैवाहिक संबंध, बंधुत्व स्थापित करने के लिए आवश्यक नहीं है। इससे यह साबित होता है कि जहां बंधुत्व स्थापित करने के और साधन हैं—जैसे कि पारिवारिक बंधन की चेतना, वहां सहभोज और पारस्परिक विवाह संबंध आवश्यक नहीं हैं। परंतु इससे इंकार नहीं किया जा सकता—जैसा कि जाति व्यवस्था में है, कोई समाज के विभिन्न वर्गों को बांधने में कोई बंधन नहीं है सहभोज तथा पारस्परिक वैवाहिक का होना नितांत आवश्यक है। परिवार और जाति व्यवस्था में कोई समानता नहीं है। अंतर्जातीय भोज और अंतर्जातीय विवाह आवश्यक है क्योंकि विभिन्न जातियों को एकसूत्र में बांधने का और कोई साधन नहीं है जबकि परिवार में उन्हें एक सूत्र में बांधने के बंधन मौजूद हैं। वे जिन्होंने सहभोज और पारस्परिक विवाह के विरुद्ध प्रतिबंध लगाने के लिए जोर दिया है इसे अपेक्षाकृत मूल्यों का प्रश्न बना लिया हैं उन्होंने इसे पूरे स्तर तक उठाने के कोई प्रयत्न नहीं किए। गांधी जी इसे करने वाले पहले व्यक्ति हैं। सहभोज के संबंध में गांधी जी की तर्क भी निराला है और इसका निरालापन उनकी उपमा के कारण वीभत्सता की सीमा तक जा पहुंचता है। **सहभोग अच्छा नहीं है और चाहे उससे अच्छा परिणाम क्यों न निकले। क्योंकि किसी व्यक्ति के सामने भोजन करना तथा शौच क्रिया को एक समान सिद्ध करना कितनी वीभत्सता पैदा करना है।** जाति व्यवस्था के बचाव में अन्य लोगों ने काफी कार्य किया है। परंतु यह पहला अवसर है जो मैंने देखा कि गांधी का तर्क इतना विचित्र है। इस तुलना पर जो कट्टर से कट्टर सनातनी हिंदू कहना चाहेगा कि "ऐसी बुद्धि वाले गांधी जी से भगवान बचाए" इससे साफ स्पष्ट है कि गांधी जी कितना पक्के रंग के हिंदू हैं। वह कट्टर से कट्टर हिंदू को भी मात कर गए। इतना ही कहना पर्याप्त न होगा कि गांधी जी अपने तर्क में आदिम गुफा सभ्यता से भी आगे बढ़ गए तो नितांत विवेक शून्य व्यक्ति का तर्क जैसा है।

गांधी[23] ने में जाति व्यवस्था के पक्ष में जो तर्क दिया है नैतिक शक्ति के निर्माण में उसका कोई महत्त्व नहीं है। निस्संदेह जाति व्यवस्था मनुष्य को उस स्त्री के साथ सहवास करने से रोकती है जो उसकी जाति की नहीं है। जाति व्यवस्था मनुष्य को किसी अन्य मनुष्य के घर का बना भोजन कर अपनी भूख मिटाने से रोकती है जो उसकी जाति का नहीं है। यदि नैतिक मूल्यों का उद्देश्य इन प्रतिबंधों से पूरा नहीं होता तब जाति व्यवस्था की नैतिक व्यवस्था कोई महत्त्व नहीं है। परंतु गांधी यह नहीं देखते कि हिंदू जाति व्यवस्था में साधारण प्रतिबंधों के साथ-साथ हिंदू धर्म अपनी ही जाति में एक मनुष्य को सैकड़ों स्त्रियों से विवाह करने और सैकड़ों स्त्रियों के साथ सहवास करने की पूरी छूट देता है। हिंदू धर्म किसी मनुष्य को अपनी ही जाति के लोगों के साथ क्षुधा मिटाने पर कोई रोक नहीं लगाता।

पैतृक गुण एवं पैतृक पेशे नष्ट होने की आशंका गांधी जी का आठवां तर्क हैं पैतृक व्यवस्था चाहे अच्छी हो अथवा खराब हो इससे कुछ लोग सहमत होंगे तो दूसरे असहमत भी होंगे। प्रश्न यह है कि पैतृक व्यवस्था को वैधानिक सिद्धांत का रूप क्यों दिया जाए? इसे आवश्यक क्यों बनाया जाए? यूरोप में इसे वैधानिक सिद्धांत का रूप नहीं दिया गया और न आवश्यक ही किया गया। यूरोप में उन्हें पूरी स्वतंत्रता है कि वे चाहे पैतृक व्यवसाय को अपनाएं अथवा छोड़ें। यह कौन कह सकता है कि अनिवार्य व्यवस्था स्वैच्छिक व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कारगर सिद्ध हुई है। यदि भारत के लोगों की आर्थिक स्थिति की तुलना यूरोप के लोगों की आर्थिक स्थिति से की जाती है तो शायद ही कोई समझदार व्यक्ति यह कहे कि यूरोप में जहां पैतृक व्यवसाय आवश्यक नहीं हैं, आर्थिक स्थिति की दृष्टि से भारत की अनिवार्य पैतृक व्यवस्था उत्तम है। आए दिन व्यवसाय बदलने के कारण वर्ण व्यवस्था में व्यतिक्रम उपस्थित होने की बात निरर्थक है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि किसी विशेष व्यवसाय के करने वाले को वर्ण के ढांचे में फिट किया जाए। वर्गीय लेबल बिल्कुल अनावश्यक है और उन्हें पूर्णतया नष्ट कर दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त आज के भारत में क्या घटित हो रहा है? लोगों के व्यवसाय और उनके जाति सूचक लेबल मेल नहीं खाते। ब्राह्मण जूता बेचते हैं। कोई इस बात की आवश्यकता नहीं समझता कि उसका वर्ग नाम बदल उसे चमार कहा जाए। इसी प्रकार जब चमार कोई अधिकारी हो जाता है तो यह आवश्यक नहीं कि उसे ब्राह्मण कहा जाए। इस प्रकार गांधी जी का यह तर्क पूर्णतया मिथ्या और भ्रामक है। समाज में वर्ग लेबिल जिसके द्वारा लोग जाने जाते हैं उसकी कोई आवश्यकता नहीं वरन् आवश्यकता है उसके द्वारा की गई सेवा की।

जाति व्यवस्था के पक्ष में गांधी[24] द्वारा दिया गया नवां तर्क बहुत ही आश्चर्यजनक तर्क है और ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध है। इसमें गांधी जी जाति प्रथा को प्राकृतिक विधान बतलाते हैं। परंतु जिसे मनुस्मृति के विषय में तनिक भी जानकारी है जाति व्यवस्था को वह प्राकृतिक व्यवस्था कभी नहीं मान सकता। 'मनुस्मृति' में जाति विधान हिंदुओं का कानूनी विधान है जिसे सभी तरह से बलपूर्वक लागू किया जाता रहा है। जिसे प्रकृति

के विपरीत शासक वर्ग में जबरदस्ती अपने आधीन वर्ग पर थोप दिया था जो आज प्रचलित है। इसके जीवित रहने का कारण है (1) बहुसंख्यक समाज को शस्त्र ग्रहण करने से वंचित रखना (2) बहुसंख्यक समाज को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखना और (3) बहुसंख्यक समाज को संपत्ति के अधिकार से वंचित करना। इन अधिकारों से वंचित रखने से बहुसंख्यक समाज दास वर्ग में चेतनता और संगठित होने की शक्ति पूर्णतया क्षीण हो गई। जाति व्यवस्था वास्तव में प्राकृतिक विधान से एकदम परे है जो शासक वर्ग द्वारा दास वर्गों पर थोपी गई है।

गांधी का जाति व्यवस्था के समर्थन को छोड़ कर वर्ण व्यवस्था की वकालत करने से इस अभियोग में कोई अंतर नहीं पड़ता कि 'गांधीवाद' लोकतंत्र के विरुद्ध है। पहली बात तो यह कि वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था का जन्मदाता है। यदि जातीयता का विचार हानिकारक विचार है तो इसका मुख्य कारण जाति व्यवस्था द्वारा जनित दुष्टता है। जाति और वर्ण दोनों प्रकार के विचार घातक विचार हैं चाहे कोई वर्ण में विश्वास करे अथवा जाति में। बौद्धों ने वर्ण व्यवस्था पर निर्दयता से प्रहार किया था। पाखंडी और वैदिक सनातनी हिंदू उन्हें विवेक पूर्ण उत्तर न दे सके। उनके पास केवल एक उत्तर था कि वर्ण व्यवस्था वेदों आदेश हैं और जैसा कि वेद अभ्रांत हैं वर्ण व्यवस्था वेद भगवान की वाणी होने के कारण मान्य है। यह तर्क बौद्धों के विवेकपूर्ण तर्क के सामने वर्ण व्यवस्था की चिल्लपों को नहीं टिका सका। यदि वर्ण व्यवस्था टिक सकी तो केवल 'भगवत्‌गीता' के कारण जिसने वर्ण व्यवस्था की दार्शनिक नींव यह तर्क देकर पक्की की कि वर्ण मनुष्य के स्वाभाविक गुणों पर आधारित है। 'भगवत्‌गीता' ने सांख्यदर्शन की बैसाखी लगाकर वर्ण के आधार को पुख्ता और मजबूत कर दिया। 'भगवत्‌गीता' ने वर्ण व्यवस्था को नया जीवन प्रदान कर समाज का बड़ा अहित किया।[25]

'भगवत्‌गीता' की वर्ण व्यवस्था में दो गुण अवश्य पाए जाते हैं। गीता का यह कहना नहीं है कि वर्ण जन्म पर आधारित है। वास्तव में उसका मुख्य कथन यह है कि वर्ण मनुष्य के स्वाभाविक गुणों के अनुसार निश्चित है। गीता का यह कथन नहीं है कि बेटा वही व्यवसाय करेगा जो पेशा उसका बाप करता था। गीता का कहना है कि किसी मनुष्य का पेशा उसके स्वाभाविक गुणों के अनुसार होगा—पिता का व्यवसाय पिता के स्वाभाविक गुणों के अनुसार, बेटे का पेशा बेटे के स्वाभाविक गुणों के अनुसार। परंतु गांधी ने वर्ण व्यवस्था की नई व्याख्या की है। उन्होंने पुरानी मान्यता को बदल दिया है। गांधी के पूर्व सनातनी हिंदू जाति के आधार पर पीढ़ी दर पीढ़ी व्यवसाय का करना मानते थे वर्ण के आधार पर नहीं। परंतु गांधी ने अपने मन से वर्ण की नई व्याख्या कर डाली। गांधी के शब्दों में वर्ण का निर्धारण जन्म से होता है और वर्ण का व्यवसाय पीढ़ी दर पीढ़ी के सिद्धांत से निश्चित किया जाता है—मनुष्य वर्ण उसके जन्म के पूर्व ही निर्धारित रहता है इसलिए वर्ण ही जाति का दूसरा नाम है। इस प्रकार गांधी द्वारा व्यवस्था को जाति से वर्ण में बदल देने से यह संकेत नहीं मिलता कि उससे किसी नई क्रांतिकारी विचारधारा को बढ़ावा मिला है। गांधी का यह कल्पित ज्ञान आरंभ से अंत

तक शरारत से भरा हुआ है। गांधी के इस अकाल प्रौढ़ता के पिशाच का अजीब भेष है। इससे जातीयता का विचार तनिक भी नहीं हट सकता।

कभी-कभी गांधी सामाजिक और आर्थिक विषयों पर लच्छेदार भाषा में बोल जाते हैं। वे लोग जो 'गांधीवाद' का अध्ययन करेंगे वे लोकतांत्रिक व्यवस्था के पक्ष में और पूंजीवाद के विरोध में गांधी द्वारा समय-समय पर सम्मार्ग से हटने से धोखे में नहीं पड़ेंगे क्योंकि 'गांधीवाद' किसी भी अर्थ में क्रांतिकारी मत नहीं है। 'गांधीवाद' रूढ़िवादी पुराणपंथी व्यवस्था है। जहां तक भारत का संबंध है, 'गांधीवाद' प्रतिक्रियावादी मत है और आदिम युग के आदर्श की ओर ले जाने वाला नारा है। 'गांधीवाद' का लक्ष्य है भारत के प्राचीन त्रासमय जीवन की ओर लौटना।

'गांधीवाद'[26] स्वयं में एक विरोधाभास है। 'गांधीवाद' विदेशी शासन से देश को स्वतंत्र कराने की बात करता है जिसका अर्थ है देश के वर्तमान राजनैतिक ढांचे की भर्त्सना करना। साथ-साथ 'गांधीवाद' उस समाजिक ढांचे को मजबूत करना चाहता है जिसके अनुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक वर्ग दूसरे को कठोर दासता की बेड़ियों में जकड़ता चला आया है। क्या यह स्वयं में गांधीवाद के विरोधाभास का स्पष्टीकरण नहीं है। क्या स्वराज्य आंदोलन के लिए सनातनी गैर सनातनी सभी प्रकार के हिंदुओं का हार्दिक समर्थन प्राप्त करने के लिए गांधी द्वारा छेड़े गए युद्ध कौशल का यह एक भाग नहीं है? संभवतः ऐसा ही हो, यहां गांधीवाद के दो सिद्धांत हैं जो प्रकाशित हैं, परंतु दुर्भाग्यवश किसी का ध्यान उस ओर नहीं गया। उन सिद्धांतों से गांधीवाद मार्क्सवाद की अपेक्षा अधिक ग्राह्य होगा यह दूसरी बात है। परंतु जैसा कि वे 'गांधीवाद' को मार्क्सवाद से अलग करने की बात करते हैं। इस विषय में कुछ बातों का उल्लेख करना ठीक ही है।

'गांधीवाद' का प्रथम मुख्य सिद्धांत है सुख साधन संपन्न लोगों की और अधिक सहायता करना जो कुछ उनके पास है उसकी रक्षा करना और जिनके पास कुछ नहीं है उन्हें प्राप्त करने के अधिकार से रोकना। जो मनुष्य हड़तालों, जाति प्रथा के पक्ष में 'गांधीवाद' की वकालत और गरीबों को लाभ पहुंचाने के लिए अमीरों द्वारा चलाए जाने वाले गांधीवादी ट्रस्टीशिप के सिद्धांतों का परीक्षण करेगा वही 'गांधीवाद' के असली लक्ष्य को समझ सकेगा। इसके संबंध में कई प्रकार के तर्क दिए जा सकते हैं। परंतु तथ्य यही है कि 'गांधीवाद' संपन्न और समृद्ध लोगों का दर्शन है।

गांधीवाद का दूसरा मुख्य सिद्धांत है अपने शब्दों के जाल में समाज की बुराइयों को अच्छाइयों के रूप में प्रस्तुत कर लोगों को मोहित कर आत्मसात करना। इसे सिद्ध करने के लिए कुछ उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पहला उदाहरण यह कि हिंदुओं के तथाकथित पवित्र कानून द्वारा शूद्रों (हिंदुओं का चतुर्थ वर्ण) को संपत्ति अर्जित करने से रोक कर उन्हें दंडित किया गया। यह हिंदू कानून बलपूर्वक निर्धनता लाने वाला कानून है जो दुनिया के किसी कोने में नहीं पाया जात है। इस कानून के प्रति गांधीवाद का क्या दृष्टिकोण है? वह शूद्रों को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वे संपत्ति का परित्याग करने का नैतिक साहस पैदा करें अर्थात

शास्त्रीय मर्यादा का पालन करते हुए खुशी से संपत्ति का परित्याग करें। यहां ('वर्ण व्यवस्था' नामक पुस्तक (पृष्ठ 51) में गांधी के शब्दों में–

"शूद्र जो केवल सवर्णों की सेवा करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझते हैं और जिनकी अपनी कोई संपत्ति कभी नहीं होती, जो वास्तव में किसी वस्तु को अपनाने की इच्छा भी नहीं करते अभिवादन करने योग्य हैं...देवतागण भी ऐसे पुरुषों पर पुष्प वर्षा किए बिना नहीं रह सकते।"[27]

गांधीवादी विचार के समर्थन में जो दूसरा उदाहरण झाड़ू लगाने वालों के संबंध में है। हिंदुओं का तथाकथित पवित्र कानून इस बात की आज्ञा देता है कि भंगी की संतान को भंगी का ही काम करना अनिवार्य है। हिंदू धर्म में भंगी का काम पसंद करने का नहीं है वरन् जबरदस्ती से कराने का है। इस संबंध में 'गांधीवाद' शास्त्रीय मर्यादा को चिरस्थायी बनाने के लिए भंगी के कार्य को समाज की महानतम सेवा बता कर उसे उसी गंदे काम में लगाए रखना चाहता है। ञ्छूतों की एक सभा का सभापतित्त्व करते हुए ('यंग इंडिया' 27 अप्रैल 1921) गांधी ने कहा था–

"न मैं मोक्ष पाने की इच्छा करता हूं और न पुनर्जन्म की कामना करता हूं। परंतु यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो मैं चाहूंगा कि मैं अछूत के घर में पैदा होऊं ताकि मैं उनके कष्टों, मुसीबतों और तिरस्कार का अनुभव कर मैं उनका साझीदार बन सकूं जिससे मैं अपने आपको और उन्हें उस दयनीय दशा से उबारने का प्रयत्न कर सकूं। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूं कि यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो मेरा जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के घर में न हो कर अति शूद्र के घर में हो। मुझे भंगी के कार्य से प्रेम है। मेरे आश्रम में एक अठारह वर्ष का ब्राह्मण छोकरा झाड़ू लगाने का काम कर रहा है ताकि आश्रम का भंगी उससे सीखे कि आश्रम में झाड़ू कैसे लगाना चाहिए। वह छोकरा कोई सुधारक नहीं है। वह सनातनी हिंदू परिवार में पैदा हुआ और बढ़ा है। परंतु उसने महसूस किया कि उसकी सिद्धियां उस समय तक अधूरी रहेंगी जब तक कि वह पूर्णरूपेण भंगी नहीं बन जाता और इसलिए कि आश्रम का भंगी ठीक से सफाई करे तो स्वयं सफाई कार्य करके उसके सामने उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक हैं तुम्हें यह समझना चाहिए कि तुम लोग हिंदू समाज की सफाई कर रहे हो।"[28]

क्या एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर जबरदस्ती लादी गई इन परंपरागत बुराइयों को 'गांधीवाद' द्वारा पुनर्जीवित करने के प्रयत्न से बढ़कर धोखाधड़ी से झूठा प्रचार करने का उदाहरण नहीं मिल सकता हैं? यदि संपत्ति का मोह त्यागने का उपदेश गांधीवाद केवल शूद्रों को नहीं वरन् समाज के सभी वर्गों को देते तो यही कहा जा सकता कि यह भूल से ऐसा गलत विचार प्रकट किया गया। परंतु ऐसे उपदेश को केवल एक ही वर्ग के लिए क्यों अच्छा उपदेश कहा गया? दुष्टता पूर्ण भेद भाव को विवेक के आधार पर समाप्त करने और एक विशेष वर्ग के घमंड को जो मानवीय असफलताओं के लिए जिम्मेदार है उसके विरुद्ध क्यों नहीं आवाज उठाई जाती? केवल भंगी के लिए ही यह कहने से क्या लाभ कि ब्राह्मण भी झाड़ू लगाने का काम करने को तैयार हैं जबकि यह स्पष्ट है

कि हिंदू शास्त्रों के अनुसार यदि कोई ब्राह्मण झाडू लगाने का काम करे तो पैदायशी भंगी के समान भंगी नहीं हो जाएगा क्योंकि भारत में कोई मनुष्य झाडू लगाने के अपने काम से नहीं भंगी हो जाता। यहां वह जाति और जन्म से भंगी होता है इस बात का प्रश्न नहीं कि वह भंगी का काम करता है अथवा नही। यदि 'गांधीवाद' जो लोग झाडू लगाने का कार्य करने से इंकार करते हैं उन्हें इस कार्य की तरफ आकर्षित करने के लिए भंगी के कार्य को उत्तम कार्य होने का उपदेश देता है तो बात समझ में आती है। परंतु गांधी भंगियों को सफाई कार्य करते रहने में ही गर्व करने की अपील यह कहते हुए क्यों करते हैं कि वह कार्य सर्वोत्तम कार्य है और उसे करते रहने में किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं करना चाहिए। (भारतवर्ष के कुछ प्रांतों ने ऐसे कानून बनाए हैं जिनके अनुसार सफाई कार्य करने से इंकार करना जुर्म करार दिया गया है और वैसा जुर्म करने वाले अपराधी को न्यायालय में मुकदमा चलाकर दंडित किया जा सकता है) इस प्रकार गांधीवाद द्वारा यह उपदेश देना कि संपत्ति का मोह त्याग और गरीबी केवल शूद्रों के लिए अच्छी चीज है और अन्य के लिए नहीं तथा सफाई कार्य केवल अछूतों के लिए अच्छी बात है अन्य लोगों के लिए नहीं और उनके जीवन स्वैच्छिक कार्य बतलाकर ऐसे कष्टदायक कार्य उन पर लादना उन निस्सहाय वर्गों के साथ दुष्टता का खिलवाड़ करना है और इस प्रकार का खिलवाड़ गांधी जैसा व्यक्ति ही कर सकता है। इस संबंध में **वाल्तेयर** के शब्द याद आते हैं जिन्होंने गांधीवाद के समान प्रचलित वाद का विरोध करते हुए कहा था "Oh! mockery to say to people that the suffering of some brings joy to others and works good to the whole! what solace is it a dying man to now what from this decaying body a thousand worms will come into life ?" अर्थात् यह कहना कितना हास्यास्पद है कि कुछ लोगों के कष्ट उठाने से दूसरे लोगों अथवा सभी लोगों को सुख मिलेगा। मृत्यु को प्राप्त होने वाले मनुष्य को यह धैर्य बंधाना कि उसके मरने से हजारों कीड़ों का जन्म होगा ऐसे संतोष से उसे क्या लाभ।[29]

'गांधीवाद' की बुराई को अच्छाई सिद्ध करने की कला और करामात अपने में अभूतपूर्व है। यदि कोई 'वाद' ऐसा है जिसने धर्म से पूरा फायदा उठाया है तो वह है 'गांधीवाद' जिसने मनुष्य को सम्मोहित करने तथा गलत धारणाओं पर विश्वास कराने के लिए धर्म की अफीम का पूर्ण उपयोग किया है; शेक्सपियर के कथन को यदि इस संदर्भ में लिया जाए तो कहना पड़ेगा मक्कारी और धोखेबाजी का दूसरा नाम 'गांधीवाद' है।

अछूतों, दलितों और देश को भ्रमित करने वाला ऐसा है गांधीवाद। गांधीवाद को समझ लेने के बाद इस प्रश्न का उत्तर कि गांधीवाद को इस देश का विधान बन जाने पर उसमें अछूतों का भाग्य कैसा होगा? उत्तर तलाश करने में मस्तिष्क को अधिक श्रम नहीं करना पड़ेगा। क्या वह अछूत हिंदू वर्ग संरचना के निम्नतम वर्ग के बराबर भी सम्मान पा सकेगा, कदापि नहीं। इस विषय में बहुत कहा जा चुका है कि गांधीवादी सामाजिक व्यवस्था में अछूतों की क्या स्थिति होगी। उस गांधीवादी व्यवस्था में निम्नतम वर्ग का

हिंदू और अछूत यद्यपि दोनों ही पैतृक संपत्ति से वंचित वर्ग के होते हुए भी उनकी स्थिति एक समान नहीं हो सकती अछूतों की स्थिति बदतर ही रहेगी क्योंकि भारतवर्ष में सवर्ण हिंदुओं का निम्न स्तर का मनुष्य भी चाहे वह जंगली और असभ्य कबीले वाला सवर्ण हिंदू क्यों न हो अधिक शिक्षा प्राप्त योग्य और संपन्न अछूत के मुकाबले अधिक सम्मान का अधिकारी है। वे असभ्य कबीले वाले जंगली सवर्ण हिंदू अछूतों से श्रेष्ठ होने का दावा चाहे न करें परंतु हिंदू शास्त्र उनके सवर्ण हिंदू होने के कारण स्वयं ही उन्हें अछूतों पर प्रभुत्व जमाने की आज्ञा देता हैं इसलिए अछूतों को लगातार दुर्भाग्य का परिणाम भुगतना ही होगा—संपन्नता में वह सबसे पीछे और दमन किए जाने में सबसे पहले और आगे होंगे।[30]

इस दुर्भाग्य से अछूतों को छुटकारा दिलाने के लिए 'गांधीवाद' क्या करना चाहता है? 'गांधीवाद' छुआछूत मिटाने की वकालत करता है और गांधीवाद की यह बहुत बड़ी विशेषता बतलाई जाती है, परंतु उस विशेषता को वास्तविक जीवन में उतारने के लिए 'गांधीवाद' की क्या योजना है? ऐसी अस्पृश्यता भावना जो 'गांधीवाद' का मुख्य तत्त्व माना जाता है का मूल्यांकन करते समय अस्पृश्यता निवारण के संबंध में गांधी की योजना को भलीभांति समझ लेना नितांत आवश्यक है। क्या 'गांधीवाद' की इस भावना का अर्थ यह है कि अछूतों को स्पर्श करने में हिंदू हिचकिचाएंगे नहीं? क्या इसका अर्थ यह है कि अछूतों की शिक्षा पर लगे प्रतिबंध को हटाना है। यह अधिक अच्छा होगा कि दोनों प्रश्न अलग-अलग हल किए जाएं।

पहले अस्पृश्यता के प्रश्न पर गांधी का विचार परखा जाए। गांधी यह नहीं कहते कि अछूतों का स्पर्श हो जाने से नहाया न जाए। यदि छू जाने से अपवित्र हो जाने पर उसके इस प्रकार के शुद्धिकरण में गांधी जी को कोई एतराज नहीं है तो केवल अछूतों को छू लेने से अस्पृश्यता गायब हो जाए ऐसा नहीं हो सकता। अस्पृश्यता के चारों ओर अपवित्रता ही अपवित्रता है और छू जाने पर पवित्र होने का केवल एक ही उपाय है स्नान करने का। क्या अछूतों को हिंदू समाज में घुलने मिलने का यही ढंग है। गांधी ने बहुत ही श्रेणीबद्ध तरीके से कहा है कि अस्पृश्यता निवारण का अर्थ यह नहीं कि सहभोज में सभी लोग एक साथ भोजन करें अथवा हिंदू और अछूत आपस में शादी-विवाह का संबंध जोड़ें। गांधी द्वारा अस्पृश्यता का विरोध करने का अर्थ केवल इतना है कि अछूत 'अति शूद्र' की श्रेणी से उठ कर 'शूद्र वर्ग' में जा जाएं (देखिए यंग इंडिया 5 फरवरी 1925) इससे अधिक और कुछ नहीं। गांधी ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया क्या पुराने शूद्र उन नए शूद्रों को अपने में शामिल करेंगे अथवा नहीं। यदि वे शूद्र अछूतों को अपने में मिलाने के लिए तैयार नहीं तो ऐसी अस्पृश्यता निर्धारण निरर्थक है क्योंकि इससे अछूत फिर भी अलग श्रेणी में ही रह जाएंगे। संभवतः गांधी जानते हैं कि केवल अस्पृश्यता निवारण से शूद्र अति शूद्रों (अछूतों) को अपने में नहीं मिलाएंगे। इससे यह कारण स्पष्ट हो जाता है कि गांधी ने अछूतों का दूसरा नाम 'हरिजन' क्यों रखा। *अछूतों को हरिजन कहकर गांधी ने एक तीर से दो निशाने लगाए। उन्होंने दिखा दिया कि शूद्रों*

द्वारा अछूतों को अपने में मिलाना संभव नहीं है। गांधी ने अछूतों को नया नाम 'हरिजन' देकर सामाजिक आत्मसात करने को ओर भी असंभव बना दिया।[31]

दूसरा प्रश्न जो शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार के संबंध में है। यह सच है कि गांधीवाद अछूतों की शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार पर हिंदू शास्त्रों द्वारा लगाए गए प्रतिबंध को हटाने के लिए तैयार हैं और उन्हें शिक्षा और ज्ञान प्राप्त करने की अनुमति प्रदान करता है। गांधीवाद के अनुसार अछूत कानून के क्षेत्र में, डाक्टरी के क्षेत्र में, इंजीनियरिंग के क्षेत्र में और अन्य क्षेत्रों में शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इतने तक तो ठीक है। परंतु क्या अछूत उस प्राप्त शैक्षिक ज्ञान से कुछ लाभ उठा सकते हैं? क्या उन्हें अपना व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता होगी? क्या डिग्रियां लेकर भी वे डाक्टर, इंजीनियर और वकालत का पेशा कर सकेंगें इन प्रश्नों का उत्तर 'गांधीवाद' में नकारात्मक है। 'गांधीवाद' के अनुसार अछूतों को निश्चित तौर पर अपना ही पैतृक व्यवसाय करना चाहिए। वे व्यवसाय चाहे जितने गंदे हों। जिस समय उन गंदे व्यवसायों को ताकत के बल पर कराया गया था उस समय वे पेशे पैतृक पेशे नहीं थे और इच्छा से करने का कोई सवाल न था। 'गांधीवाद' का तर्क है कि जो एक बार निश्चित कर दिया गया सदा सदा के लिए निश्चित कर दिया गया है, चाहे वह गलत ही क्यों न निश्चित किया गया हो। गांधीवाद के अनुसार अछूत सनातन से भंगी आदि हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अछूत अस्पृश्यता की सनातनी व्यवस्था को पसंद करेंगे। हिंदुओं द्वारा अछूतों पर अज्ञानता को अनावश्यक रूप से लाद दिया गया है। हिंदू शास्त्रों ने भंगी का काम करना उन अछूतों के लिए नियमों द्वारा सहनीय बना दिया है। परंतु 'गांधीवाद' जो शिक्षित अछूत को भी भंगी का काम करने के लिए विवश करता है दुष्टता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'गांधीवाद' में शिष्टता बुरे रूप में अभिशाप है। 'गांधीवाद' में अस्पृश्यता विरोधी गुण छल-दंभ से भरपूर हैं। 'गांधीवाद' में कोई तत्त्व नहीं है।

'गांधीवाद'[32] में कौन सी ऐसी बात है जिसे अछूत अपनी समस्याओं के हल करने के अपने अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए 'गांधीवाद' को स्वीकार कर सकें? अस्पृश्यता के विरुद्ध 'गांधीवाद' का अभियान साधारण रूप में सनातन धर्म की दूसरी तस्वीर है जो सनातनी हिंदू धर्म का ही पुराना नाम है। जो बातें कट्टर सनातनी हिंदुओं की नीति में पाई जाती थीं वे सभी 'गांधीवाद' में भी पाई जाती हैं। 'गांधीवाद' में कौन-सी ऐसी बातें हैं जो सनातनी हिंदू धर्म में न पाई जाती हों? हिंदू धर्म में जातियां हैं, 'गांधीवाद' में भी जातियां हैं। हिंदू धर्म पीढ़ी दर पीढ़ी के व्यवसाय ग्रहण करने के कानून में विश्वास करता है और 'गांधीवाद' भी। हिंदू धर्म गौपूजा की आज्ञा देता है और 'गांधीवाद' भी। हिंदू धर्म कर्म फल को जन्म के पूर्व ही मनुष्य की जीवन दिशा निर्धारित हो जाना मानता है और 'गांधीवाद' भी। हिंदू धर्म शास्त्रों को प्रमाण मानता है और 'गांधीवाद' भी। हिंदू धर्म अवतारवाद में विश्वास करता है और 'गांधीवाद' भी। हिंदू धर्म मूर्ति पूजा में विश्वास करता है और 'गांधीवाद' भी (देखे 'यंग इंडिया' 6 अक्तूबर 1921)। गांधीवाद ने जो कुछ किया था वह सब हिंदू धर्म का शास्त्रीय और सैद्धांतिक औचित्य सिद्ध करने के

लिए किया। हिंदू धर्म का नवीन संस्करण प्रस्तुत करके 'गांधीवाद' ने हिंदू धर्म की बड़ी सेवा की है। हिंदू धर्म अपने पुराने रूप में अलंकारहीन नग्न मूर्ति के समान था और उसमें परिपक्वता तथा कठोर व्यवस्था की झलक मिलती थी। 'गांधीवाद' ने हिंदू धर्म को नया दर्शनशास्त्र देकर अपनी व्याख्याओं द्वारा उस नग्न मूर्ति को सुंदर परिधान पहनाकर दर्शनीय और आकर्षक बना दिया। 'गांधीवाद' हिंदू धर्म के नंगेपन को ढंकने के लिए किस प्रकार का दर्शन प्रतिपादित करता है, गांधीवाद का वह दर्शन संक्षेप में यहां रखा जा सकता हैं। यह वह दर्शन है जिसका कहना है कि "हिंदू धर्म में जो कुछ है वही श्रेष्ठ है और सार्वजनिक हित के लिए जो कुछ आवश्यक है वह सब हिंदू धर्म में है।" वे लोग जो वाल्तेयर की स्पष्टवादिता से परिचित हैं उन्हें 'गांधीवाद' वाल्तेयर की पुस्तक 'कैंडिड' से स्पष्ट हो जाएगा कि वाल्तेयर के 'मास्टर रंगिलॉस' दर्शन जैसा लगेगा जिसे वाल्तेयर ने हास्यास्पद कहा है। निस्संदेह हिंदू लोग गांधीवादी दर्शन से बहुत खुश हैं। प्रोफेसर राधाकृष्णन ने तो यहां तक कह डाला कि "गांधी इस लोक के देवता हैं।" अछूत इस कथन का क्या अर्थ लगाएं? क्या वह देवता अछूतों का भी संरक्षक बनकर उनका करने आया है? कदापि नहीं। अछूतों के लिए तो गांधी देवता का यही अर्थ होगा कि "यह देवता जिसका नाम गांधी है वह पीड़ित जनता को धीरज बंधाने के लिए आया है। उन्होंने भारत को देखा कि हिंदुओं द्वारा केवल जाति संबंधी कानून का पालन करने में ही भलाई नहीं है वरन् उसे दृढ़ता से पालन करना होगा। उसने पीड़ित जनता से कहा कि "मैं जातियों के नियमों को पूरा करने के लिए आया हूं, मैं इससे तनिक भी हटने की अनुमति नहीं दूंगा।" ऐसी दशा में अछूत लोग यदि हिंदू धर्म की भांति 'गांधीवाद' को भी यातना शिविर मानने लगें तो उनका क्या दोष? अछूतों को उत्पीड़ित करने के साधन वेद, स्मृति, शास्त्र, जाति प्रथा, कर्मफल, जन्मगत भेदभाव सबके सब ज्यों के त्यों 'गांधीवाद' में भी मौजूद हैं। अस्तु इसके प्रति अछूतों की एक ही प्रतिक्रिया हो सकती है और वह है 'गांधीवाद' से दूर रहो।"[33]

'गांधीवाद' अछूतों को क्या आशा दिलाता है? अछूतों के लिए हिंदू धर्म मुसीबतों का यथार्थ घर है। वेदों की पवित्रता और नित्यता, स्मृतियां और शास्त्र, जातियों का फौलादी कानून, कर्म का हृदयहीन कानून और जन्म पर आधारित निरर्थक सामाजिक स्थिति अछूतों को कष्ट देने के ऐसे वास्तविक हथियार हैं जिन्हें हिंदू धर्म ने अछूतों के विरुद्ध कूटनीतिक ढंग से लागू किया है। ये हथियार जिनके द्वारा अछूतों का अंग भंग किया गया, उनका विनाश किया गया और अछूतों के जीवन को जर्जर कर दिया गया है गांधीवाद के हृदय में उपलब्ध है। अछूत कैसे कह सकते हैं कि गांधीवाद हिंदू धर्म के समान कष्टों का घर नहीं वरन् स्वर्ग है? अछूतों की वास्तविक और स्वाभाविक प्रतिक्रिया है "गांधीवाद से दूर रहो।"[33]

गांधीवादी कह सकते हैं कि मैंने जो कुछ ऊपर कहा है, 'गांधीवाद' की पुरानी प्रकृति पर लागू होता है। नया गांधीवाद है बिना जाति-पांति का। आगे चलकर गांधी ने 15 अप्रैल 1945 के 'हिंदुस्तान टाइम्स' के अनुसार जातिवाद के संबंध में अपने नवीनतम

विचार प्रकट करते हुए कहा कि जाति प्रथा कालातीत हो चुकी हैं। गांधी की इस घोषणा से समाज सुधारकों का प्रसन्न होना स्वाभाविक था। गांधी की उस घोषणा से वे लोग कैसे खुश हुए होंगे जो यह जानते हैं कि गांधी जी जैसा मनुष्य जो सामाजिक प्रतिक्रिया का शरारत भरा खेल खेलने के बाद, जाति व्यवस्था का मुख्य पार्ट अदा करने के बाद, ऐसे तर्कों द्वारा जिनसे सही और गलत की पहचान न हो सके अविवेक पूर्ण ढंग से हिंदुओं को पथ भ्रष्ट कर बहकाने और मूर्ख बनाने के बाद हिंदुओं पर ऐसा भयानक प्रभाव जमाएगा? क्या वह वास्तव में खुशी की बात है? क्या यह गांधीवाद की प्रकृति में कोई परिवर्तन कहा जा सकता है? क्या यह 'गांधीवाद' पहले के 'गांधीवाद' की अपेक्षा नया और सबसे अधिक अच्छा है? वे लोग जो गांधी के इस खंडन-मंडन का समर्थन करते हैं तो ऐसा करते समय वे दो बातें भूल जाते हैं। पहली बात तो यह कि गांधी जी ने जाति प्रथा की निंदा न कर उसे कालजयी कहा और उसे त्यागने की भी बात नहीं कही। उन्होंने जाति प्रथा को सामाजिक बुराई नहीं कहा। गांधी जाति प्रथा को दैवी अभिशाप नहीं कहते। अब गांधी जाति के पक्ष में नहीं हैं। परंतु गांधी वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं बोलते। तब गांधी की वर्ण व्यवस्था का क्या होगा? गांधी जी की वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था का ही नया नाम है। जिसमें जाति व्यवस्था के सभी अशुभ लक्षण विद्यमान हैं।

इस प्रकार गांधी जी की नवीन घोषणा का अर्थ 'गांधीवाद' में कोई मूल परिवर्तन नहीं माना जा सकता। नवीन घोषणा अछूतों को स्वीकार नहीं है। अब अछूतों को यही कहना पड़ेगा, "भगवन तुझे नमस्कार! क्या यही गांधी हमारे संरक्षक हैं?"[34]

इस प्रकार से गांधीवाद की आलोचना ही 'गांधीवाद' की शक्ति है, जो उसे जीवंत रखती है। जिस समाज ने अछूतों को अपने पैरों से दबाए रखा, वह भी हज़ारों साल से उससे अपेक्षा करना व्यर्थ था। अम्बेडकर ने संघर्ष के जरिए अधिकार दिलाए। बालिग मताधिकार और संरक्षण के प्रावधान ने उनकी मुक्ति का द्वार खोल दिया।

मार्क्स और भारतीय जातिवाद

भारत का इतिहास आक्रमणकारियों का इतिहास है। इसमें हमलावार जातियों के कारनामों को कम उजागर किया गया है। उनकी वीरता को ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया गया है। जो जुल्म उन्होंने किसानों, ग्रामीण शूद्र-शिल्पियों, दलितों पर ढाए उनका कहीं जिक्र नहीं हैं क्योंकि उनकी फसलें ही नहीं उनका वर्ष के लिए संग्रह किया हुआ अनाज, मोटे कपड़े के थान, तैयार जूते तथा अन्य काम की चीजें सभी लूट ली जाती थीं। हर उम्र की गरीब दलित औरतों के साथ बलात्कार मामूली बात थी। निहत्थे, भोले-भाले लोगों का कत्ल कर दिया जाता था, जो लूट या बलात्कार में हस्तक्षेप करते थे। मंदिर गिरा दिए जाते थे और संपत्ति जब्त कर ली जाती थी। इसी संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर ने मार्क्स का कथन उद्धृत किया है।

कार्ल मार्क्स ने 8 अगस्त, 1853 के 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' में 'भारत में ब्रिटिश शासन

के होने वाले परिणाम शीर्षक से भारतीय समाज पर प्रकाश डालते हुए लिखा :

"क्या बात थी जो कि हिंदुस्तान में अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हुआ?"

मुगल सूबेदारों ने मुगल शासन केंद्र को तोड़ा। सूबेदारों की ताकत को मराठों ने तोड़ा। मराठों की ताकत को अफगानों ने तोड़ा और जबकि यह सभी सबके खिलाफ लड़ रहे थे, अंग्रेज दौड़ पड़े और वे सबको दबाने में सफल हुए। (हिंदुस्तान) वह देश है जो हिंदू-मुसलमानों में ही बंटा नहीं है बल्कि वह कबीलों-कबीलों, जातियों-जातियों में बंटा हुआ हैं, उसके समाज का ढांचा एक तरह के ऐसे संतुलन पर आधारित था, जो कि उसके सभी व्यक्तियों के बीच साधारण बिखराव और मनमुटावपन का परिणाम था। इस तरह का देश, इस तरह का समाज क्या पराजित होने के लिए नहीं बना था? चाहे हिंदुस्तान के अतीत के इतिहास को हम न भी जानते, किंतु क्या यह एक जबरदस्त अविवादास्पद बात नहीं है कि इस क्षण भी भारत अंग्रेजों की गुलामी में जकड़ा हुआ है, यह भी हिंदुस्तान के खर्च पर रखी एक हिंदुस्तानी सेना द्वारा। फिर, भारत पराजित होने से बच नहीं सकता था क्योंकि उसका सारा अतीत इतिहास, अगर वह कोई चीज है, तो वह लगातार पराजयों का इतिहास है, जिनसे कि वह गुजरा है। भारतीय इतिहास, कम से कम ज्ञात इतिहास, कोई इतिहास नहीं है। जिसे हम उसका इतिहास कहते हैं, वह उन्हीं लगातार आने वाले आक्रमणकारियों का इतिहास है, जिन्होंने निष्क्रय अपरिवर्तनशील समाज को निश्चेष्टा के आधार पर अपने साम्राज्य कायम किए।"[35]

समर्पण, अनुनय-विनय, लड़कियां बहिनें देकर राजे-रजवाड़े संधियां कर लेते थे। ऊंची जातियों के लोग शासकों की तारीफें करके रिश्ते कायम कर लेते थे। मरने-पिसने को किसान, दस्तकार, गरीब और अछूत रह जाते थे। जो सामाजिक सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से निष्क्रिय समाज था, जिसे मनु की व्यवस्था लादकर अधमरा, भूखा-प्यासा रखा गया।

सच है जो इतिहास से सबक नहीं लेते उन्हें इतिहास सबक सिखा देता है कि कोई भी जाति एक जाति को हमेशा के लिए दबा कर नहीं रख सकती। दलित क्रांति का यही ताकत, यही संदेश है।

II

अस्पृश्यता और जातिभेद निवारण के विषय में डॉ. अम्बेडकर के द्वारा गांधी और कांग्रेस का रीतिनीति का संक्षेप में विश्लेषण हम गत अध्याय में जान चुके हैं।

आधुनिक भारत के इतिहास में युग पुरुष गांधी का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके सामाजिक कार्यों और रचनात्मक सोच की जिसमें अस्पृश्यता-निवारण, जातिभेद मिटाने और समतामूलक समाज व्यवस्था स्थापित करना भी सम्मिलित था, प्रशंसा भी होती है और आलोचना भी। आधुनिक भारत के निर्माताओं में भारत रत्न डॉ. अम्बेडकर का भी गौरव पूर्ण स्थान है। उन्होंने भारत के दलित आंदोलन को गतिशील बनाया और करोड़ों

अछूतों, शूद्रों, हाशिए पर पटके शोषित वर्गों की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। इसलिए अब वे एक मसीहा व दलितों के मुक्तिदाता माने जाते हैं। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान वे सर्वाधिक चर्चित और विवादों से घिरे व्यक्ति थे। आज उन्हें आधुनिक भारत का शिखर युगपुरुष कहा जाता है। दलित आंदोलन और अछूतोद्धार के संदर्भ में हमें दोनों महापुरुषों के योगदान को बिना किसी पूर्वाग्रह के अध्ययन करना चाहिए।

दलित आंदोलन के संदर्भ में दोनों की तुलना नहीं की जानी चाहिए। बल्कि उनके विचार, दृष्टिकोण और कार्यक्रमों को उनके गुण-दोष अध्येताओं की राय में परखना समीचीन होगा। लेकिन एक बात गौर करने लायक है अम्बेडकरवादी इनके प्रखर आलोचक बने हुए हैं। कभी-कभी उनकी उग्रता का भी प्रदर्शन होता है, जो स्वाभाविक है।

जातिप्रथा का विरोध और अछूतोद्धार आंदोलन

भारत में ''जातिप्रथा भारतीय समाज का दूसरा बड़ा रोग था जिसके विरुद्ध सुधारकों ने संघर्ष छेड़ा।'' जाति प्रथा ने समाज के कई दोषों को जन्म दिया। इसकी वजह से सारा समाज अनेक इकाइयों में विभक्त हो गया था। विभिन्न जातियों, विशेषकर ऊंची और नीची जातियों में काफी भेदभाव और वैमनस्य था और सामाजिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई थी। आर्थिक एवं सामाजिक विकास के प्रायः सभी साधन और सुअवसर ऊंची जातियों के हाथ में थे, अतः कालांतर में नीची जातियों का बहुतसंख्यक भाग दरिद्र, अशिक्षित और हर दृष्टि से पिछड़ा रह गया। इसका अर्थ था पूरे राष्ट्र का पिछड़ापन और संपूर्ण राष्ट की कमजोरी।

जाति प्रथा और छुआछूत की नींव प्राचीन ऋग्वैदिक काल में ही पड़ चुकी थी। इन्हें दूर करने के असफल प्रयत्न भी होते रहे थे। जाति प्रथा और अस्पृश्यता को दूर करने की दिशा में प्राचीन काल में महात्मा बुद्ध और महावीर, तदुपरांत संतों में कबीर, नानक, तुकाराम, एकनाथ, नामदेव तथा चोखा मेला आदि ने प्रयास किया था पर उन्हें यथोचित सफलता नहीं मिली।

आधुनिक काल में अंग्रेजी शासन के दौरान कुछ ऐसी शक्तियां उत्पन्न हुईं जिन्होंने जातीय एवं अन्य सामाजिक भेद-भाव की भावना पर सशक्त प्रहार किया। ये शक्तियां बाह्य एवं आंतरिक दोनों थीं। अंग्रेजों के भारत में आगमन के साथ-साथ आधुनिक उद्योग, शहरीकरण और परिवहन के नए साधनों ने जाति प्रथा और अन्य सामाजिक भेदभावों पर घातक प्रहार किया। इन तत्त्वों ने सामूहिक एवं व्यक्तिगत ऊंची जातियों को किसी भी उद्योग (जहां मुनाफा हो) को शुरू करने के लिए बाध्य किया। अब वाणिज्य और व्यापार वैश्यों का ही धंधा नहीं रह गया था। पैसे के लिए अब ब्राह्मण भी चमड़े या जूते का व्यापार कर सकता था।

अंग्रेजी प्रशासनिक व्यवस्था के साथ भारत में कानून का शासन और कानून के सम्मुख समानता के सिद्धांत का प्रवेश हुआ। इससे सामाजिक समानता को बल मिला,

जातिवाद और असमानता की भावना को धक्का लगा। नए न्यायालयों की स्थापना ने जातीय पंचायतों के कार्य को खत्म कर दिया। दूसरी ओर अंग्रेजी सरकार की नीति से सरकारी नौकरियों और सेना के द्वार सभी जातियों के लिए खुल गए।

आधुनिक लोकतांत्रिक विचार, बुद्धिवाद तथा मानवतावाद से प्रभावित भारतीयों ने धार्मिक अंधविश्वास के साथ ही सामाजिक असमानता, जातिप्रथा और छुआछूत के विरुद्ध आवाज उठाई।

जब राष्ट्रीय आंदोलन आरंभ हुआ तो स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए जातीय भेदभाव की समाप्ति और व्यापक सामाजिक समता अनिवार्य शर्त बन गए। इस प्रकार शुरू से ही राष्ट्रीय आंदोलन और उसके अभिन्न अंग 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' ने सभी जातिगत विशेषाधिकारों और छुआछूत के भेदभाव के बिना सभी को अपने व्यक्तिगत विकास के लिए समान अधिकार एवं स्वतंत्रता की मांग की।

इस दिशा में विशेषकर छुआछूत समाप्त करने और दलित एवं अछूत वर्ग के उद्धार के लिए गांधी ने भी भरसक प्रयत्न किया। उन्होंने अछूतों (शूद्र आदि) को 'हरिजन' अर्थात् भगवान का आदमी कहा। उन्होंने उनकी भलाई के लिए 'हरिजन' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला और 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। गांधी दलित एवं अछूतों के उद्धार के कार्य में आजीवन लगे रहे। यहां इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि अपनी सारी नेकनीयती के बावजूद गांधी की सामाजिक सुधार से संबंधित नीति की कुछ मौलिक कमजोरियां थीं। मसलन, गांधी सामाजिक भेदभाव, छुआछूत आदि के विरुद्ध तो थे पर वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे। यह एक बड़ा अंतर्विरोध था। 20वीं शताब्दी में वर्ण का अर्थ जाति से भिन्न नहीं हो सकता था। जाति प्रथा के प्रश्न पर उनके विचार अस्पष्ट और अनुदार थे। इसी प्रकार गांधी सामाजिक एकता के पक्ष में तो थे, मगर संपत्ति के समान वितरण के पक्ष में नहीं थे।"[36]

एक बात स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर दलितों को राष्ट्रीय आंदोलन में घसीटे जाने के सख्त खिलाफ थे। अछूत तो पहले ही दासता भोग रहे थे। गुलाम (अछूत) अपने हिंदू मालिकों की आजादी के लिए अपनी जान की बाजी लगाएं, जो भूखे-नंगे, निठल्ले, बेकार, अनपढ़-अज्ञानी, असंगठित थे यह बात डॉ. अम्बेडकर की समझ में नहीं आई अम्बेडकर का मानना था कि दलित जातियां ऊंची जातियों की स्वेच्छाचारिता, जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता के खिलाफ क्यों न लड़े? जिनका शासन तंत्र है उनसे संवैधानिक अधिकारों की क्यों न मांग करें? इसलिए दोनों के वैचारिक दृष्टिकोण में बुनियादी अंतर था।

'कांग्रेस के असहयोग आंदोलन के दौरान गांधी के बारे में खूब जोर से किस्से, कहानियां, कविताएं लिखी जाती थीं। अक्सर किसानों, मजदूरों, बुनकरों, छोटी जातियों, दलितों में अफवाहों का बाजार गर्म हो जाता था कि वे 'चमत्कार पुरुष' हैं। किसान कल्पना करते वे जमींदारी खत्म कर देंगे और उनका शोषण मिट जाएगा। बुनकर सोचते उनका काम जोर शोर से चलेगा क्योंकि जो खादी वह बुनता था उसे हर सत्याग्रही पहनता था और यह खादी आजादी की पोशाक बन गई थी। छोटी जातियों के लोग विचार करते

थे कि अब ऊंच-नीच, जाति व्यवस्था खत्म हो जाएगी और भाईचारा बढ़ जाएगा। दलितों की सोच थी कि वे अछूत नहीं रहेंगे और दासता खत्म हो जाएगी।

सुमित सरकार के शब्दों में उन अफवाहों ने असहयोग आंदोलन में कांग्रेस की अपेक्षा जनता को लामबंद करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही। अपनी गरीबी, तंगहाली की वजह से भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों के लोग गांधी की कल्पना अपने ढंग से करते थे।''[37]

'विपिनचंद्र और मृदुला मुखर्जी' कांग्रेस को बुर्जुआ वर्ग की पार्टी अथवा बुर्जुआ नेतृत्व में काम करने वाली पार्टी के रूप में देखते हैं। निचले स्तर के लोग राष्ट्रवादी भाषणों को सुनने, जन सभाओं में हिस्सा लेने, प्रचारात्मक पेम्पलेट पढ़ने और गांधीवादी कार्यकर्ताओं के आग्रह पर अक्सर राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हो जाते थे। सुमित सरकार कहते हैं कि किसानों ने गांधी के रूप में एक मसीहा देखा। इस प्रकार झूठी सच्ची अफवाहों ने कांग्रेस आंदोलन को सुदृढ़ किया। गांधी या राष्ट्रीय नेता बाद में पहुंचते, अफवाहें किस्से, गीत पहले पहुंच जाते थे और जनमानस को प्रभावित कर डालते थे। किसान और मजदूर आंदोलनों तक में गांधी जनमानस पर छा गए। जब उन्होंने अछूतोद्धार और हरिजन सेवा का काम हाथ में लिया तो कट्टर हिंदुओं और पुरोहितों ने उनका डटकर विरोध किया। बिहार और कई जगह यह बात सामने आई। अम्बेडकर ने अफवाहों को कभी प्रश्रय नहीं दिया। उन्होंने जो बात कही उस पर अमल किया। अछूतों का उद्धार उनके जीवन का उद्देश्य था तो सत्ता में भागीदारी दिलाना उनका प्रमुख कार्यक्रम था।'[38]

यहां गांधी और डॉ. अम्बेडकर के वैचारिक दर्शन के आइने में आधुनिक भारत के दलित आंदोलन को स्पष्टतः समझने के लिए बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के घटना चक्रों को जानना आवश्यक है। गांधी और डॉ. अम्बेडकर ऐसे दो महापुरुष थे जिनका लक्ष्य एक था, कार्यशैली भिन्न थी। आज अम्बेडकरवादी गांधी के कटु आलोचक हैं। अपने जीवन काल में डॉ. अम्बेडकर और गांधी अस्पृश्यता और जातिवाद की समस्या के बारे में खूब जूझते दिखाई देते हैं। डॉ.अम्बेडकर ने अपनी विचार शैली एवं कार्य संस्कृति बदलते हुए दलितों को संवैधानिक अधिकार दिलाने का मोर्चा खोल दिया था, जिसमें वे शत-प्रतिशत सफल हुए। भले ही उन्हें व्यक्तिगत तौर पर राजनीतिक जीवन में असफलताओं का सामना करना पड़ा। गांधी और नेहरू ऐसे प्रावधानों के खिलाफ थे। नेहरू के पिता मोतीलाल ने 1928 में अपनी रिपोर्ट में जो भारतीय संवैधानिक इतिहास और आजादी की लड़ाई का एक अंग मानी गई, साफ-साफ उल्लेख किया कि दलितों को राजनीतिक-संवैधानिक अधिकार नहीं दिए जाने चाहिए। लेकिन उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज सिद्ध हुई। अम्बेडकर ने इसका विरोध किया, जबकि गांधी ने इस रिपोर्ट की तारीफ की।

डॉ. अम्बेडकर जीवन पर्यंत गांधी के कटु आलोचक बने रहे। डॉ. अम्बेडकर की उनसे व्यक्तिगत कोई लड़ाई नहीं थी बल्कि वैचारिक मतभेद था। गांधी को अम्बेडकर

को कुरेदने में मजा आता था। बाद में गांधी की हर बात की जो दलितों से संबंधित थी या नहीं डॉ. अम्बेडकर ने डटकर उनकी आलोचना की। गांधी शब्दों के मायाजाल और आश्वासनों से दलित समस्या का हल खोजते थे, हृदय परिवर्तन की बात कहते थे, वर्ण व्यवस्था को हिंदू धर्म का आधार मानते थे, दलितों को परंपरागत पेशों में लगे रहने की वकालत करते थे। डॉ. अम्बेडकर शिक्षा और सत्ता में भागीदारी के पोषक थे और राजनीतिक अधिकारों के लिए संवैधानिक गारंटी के पक्षधर थे। आजादी की लडाई में गांधी देश की पूरी जनता की भागीदारी और बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने की बात कहते थे, अम्बेडकर इसे व्यर्थ की कवायद और अपने दलित अनुयायियों को इससे दूर रहने की बात कहते थे। एक प्रकार से दोनों का संबंध 36 के आंकड़े जैसा है। एक उत्तरी ध्रुव, तो दूसरा दक्षिणी ध्रुव। अम्बेडकरवादियों ने गांधीवाद को सदैव शंका की दृष्टि से देखा और दलित मुक्ति आंदोलन में डॉ. अम्बेडकर को ही प्रमुखता प्रदान की।

गांधी और दलित समस्या

"वैष्णव जण तो तेणे कहिए, जो पीर पराई जाणे रे" भजन के अक्षर-अक्षर के पालनकर्ता गांधी दरिद्र-दास भारत के अद्वितीय नेता थे। वे अहिंसा धर्म के मानने वाले योद्धा थे जो उस अंग्रेजी हुकूमत से भारत की करोड़ों जनता की आजादी के लिए जूझे जिसका विश्व में फैले साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता था।

गांधी ने भारत की दासता भोगती आम जनता किसानों, मजदूरों, गांव के शिल्पियों अछूतों की दुर्दशा को बहुत निकट से देखा था। वे शुरू से यही मानते रहे कि भारत की महान जनता को एकजुट होकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना चाहिए और आजाद भारत में अपनी समस्याओं का हल ढूंढ़ना चाहिए। उनके नेतृत्व में लगभग तीस वर्ष तक कांग्रेस देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ी। इस प्रकार तीन दशक तक गांधी स्वतंत्रता आंदोलन के प्रेरणा स्रोत बने रहे। उनके मार्गदर्शन में ही भारत की जनता ने देश की आजादी पाई।

निसंदेह "तैंतीस वर्ष तक आजादी की जंग में गांधी जी ने जिस सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया उसका अभ्युदय सुदूर दक्षिण अफ्रीका में हुआ था। 1893 से 1914 तक उस अपरिचित देश में गांधी ने हर प्रकार की कठिनाइयों के बीच सत्याग्रह के इस अजेय अस्त्र का प्रयोग किया था।

जनवरी 1915 को गांधी अपनी राष्ट्रीय पोशाक (काठियावाड़ी अंखरखा, धोती और सफेद साफा) पहने बंबई बंदरगाह पर पत्नी कस्तूरबा के साथ उतरे।"[39]

"आरंभ से ही गांधी को स्पष्ट लग गया था कि हिंदू धर्म की सबसे बुरी बात अस्पृश्यता है। सवर्णों का अंत्यजों के प्रति जो दुर्व्यवहार था उससे हिंदू समाज का एक बहुत बड़ा अंग एकदम ही तिरस्कृत बन गया था। यह हिंदू धर्म की सबसे बड़ी कमजोरी थी। इसी कमजोरी की दुहाई देकर इस्लाम और ईसाई धर्म वालों ने लाखों अत्यजों, अस्पृश्यों,

आदिम वनवासियों का धर्म परिवर्तन करने की हिम्मत की। समाज से उपेक्षित यह वर्ग सर्वथा अनपढ़, गरीब व दीनहीन था और इस वजह से यह वर्ग एकदम पिछड़ा हुआ था।"

इसीलिए (1915) में 'सत्याग्रह आश्रम' की स्थापना के साथ गांधी जी ने घोषणा की थी कि अगर कोई अत्यंज (अछूत) परिवार आश्रम के नियमों का पालन करेगा तो आश्रम परिसर में उसका स्वागत होगा।"[40]

फलस्वरूप दूदाभाई, का अंत्यज परिवार आश्रम में रहने लगा। इसका आश्रम में विरोध हुआ। लेकिन गांधी जी ने दृढ़ता पूर्वक सबको शांत कर दिया। ब्रिटिश सरकार फिजी, मारीशस और दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में भारत के गरीब-अनपढ़ दलित-पिछड़े मजदूरों को गुलामी करने के लिए वहां भेजती थी। इस गिरमिट प्रथा का गांधी ने विरोध किया। 1840 से प्रचलित इस प्रथा का 1917 में अंत हआ। चंपारन, खेड़ा सत्याग्रह, स्वराज्य सभा, रौलट बिल और जलियांवाला बाग कांड के कारण देश में खलबली मच गई थी।

सन् 1914 में अफ्रीका से लौटकर गांधी ने भारत की आजादी की लड़ाई का अभियान छेड़ा तथा उसे गतिशील बनाया। जनता को आकर्षित करने के लिए तरह-तरह के सामाजिक, रचनात्मक और राजनीतिक महत्त्व के कार्यक्रम चलाए। देश को नया राजनीतिक दर्शन दिया तथा अहिंसा और सत्याग्रह के जरिए ब्रिटिश साम्राज्य को हिलाकर रख दिया। साथ ही, सामाजिक विषमताओं-रूढ़ियों के खिलाफ आवाज उठाई।

उधर डॉ. अम्बेडकर ने अमेरिका और लंदन में ऊंची शिक्षा समाप्त करने के पश्चात्, पहले तो मंदिर-प्रवेश, सार्वजनिक जलाशयों से अछूतों द्वारा पीने का पानी लेने, कुरीतियां मिटाने और जातीय संगठन बनाने के लिए अनेक कार्य किए, बाद में उन्होंने महसूस किया कि बिना सत्ता प्राप्त किए सामाजिक परिवर्तन असंभव है।

ब्रिटिश सरकार अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी में प्रारंभ में राष्ट्रीय चेतना की प्रभावी प्रगति और व्यापक जन असंतोष से बेखबर नहीं थी। दिनों दिन स्वतंत्रता के लिए उदारवाद से उग्रवादी प्रयास होने लगे थे। पूर्ण स्वराज्य की मांग उठने लगी थी। कांग्रेस के 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' और राजनीतिक गतिरोध को समाप्त करने की दृष्टि से तथा भारत को उत्तरदायी शासन सौंपने के लिए ही ब्रिटिश सरकार ने लंदन में गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया। दलितों के प्रतिनिधि के रूप में डॉ. अम्बेडकर ने उसमें भाग लिया और दबे-कुचले लोगों की आवाज उठाई।

"डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए लंदन में धर्मयुद्ध छेड़ा। लेकिन जब स्वतंत्रता ने भारत के द्वार पर दस्तक दी तब गांधी, सरदार पटेल और नेहरू ने ही कांग्रेस और गांधीवादी दर्शन के प्रखर आलोचक डॉ. अम्बेडकर को ही भारतीय जनता की आकांक्षाओं और सपनों को पूरा करने के लिए भारतीय संविधान की रचना हेतु प्रस्तावित मसौदे की प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनाने में पहल

कर के दूरदर्शिता का परिचय दिया। इससे डॉ. अम्बेडकर को भी दलितों की भावनाओं को संविधान की धाराओं में पिरोने का अद्वितीय स्वर्णिम अवसर प्राप्त हो गया जिसके लिए वे जीवन पर्यंत संघर्षरत रहे थे। यद्यपि सत्ता-हस्तांतरण के समय ब्रिटिश सत्ता के कर्णधारों ने उन्हें पूर्णतया अलग-थलग कर दिया था। आज यह विषय एक स्वतंत्र अध्ययन की अपेक्षा रखता है। तत्संबंधी अति गोपनीय दस्तावेज और पत्र व्यवहार **"भारतः सत्ता हस्तांतरण"** ग्रंथमाला की जिल्दों में ब्रिटिश सरकार तीन दशक पूर्व प्रकाशित कर चुकी है। गांधी की प्रेरणा से संविधान रचना का जो गुरुतर भार उन्हें सौंपा गया था उसे उन्होंने अपने असीमित ज्ञान, अपूर्व पांडित्य और अद्वितीय मेधा के बल पर पूरा कर दिखाया। जिसकी संविधान सभा में काफी प्रशंसा हुई। उन्होंने ऐसा कर के अपनी देश भक्ति और देश वासियों के प्रति असीम प्रेम का परिचय दिया। आने वाली पीढ़ियां उन्हें भारत में लोकतान्त्रिक शक्तियों के प्रेरणा स्रोत के रूप में याद करेंगी। निश्चय ही वे आज भारत में लोकतंत्र के जनक और प्रहरी के सम्माननीय पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं। यदि उनके चिंतन और अनुभव का लाभ देश की सबसे विकराल सांप्रदायिक समस्या के हल करने में उठाया जाता तो निश्चय ही भारत विभाजन नहीं होता। देश का इतिहास ही दूसरा होता। एशिया का राजनीतिक मानचित्र कुछ और ही होता।"[41]

'गांधी भारत के इतिहास के संक्रांतिकाल में परंपरागत और नए जीवन मूल्यों के प्रति निष्ठा के साथ-साथ नव जागरण का शंख फूंकते रहे। उन्होंने दो महायुद्धों के बीच भारत का स्वंतत्रता संग्राम लड़ा, असहयोग, और अहिंसात्मक सत्याग्रह के जरिए। हजारों साल से परस्पर वैमनस्य और गुलामी का जीवन जीने की अभ्यस्त भारतीय जनता को उन्होंने सोते से जगाया। उनमें राष्ट्रीयता और देश प्रेम की भावना भरी, त्याग और सर्वस्व निछावर करने की विचार शक्ति पैदा की। उनमें विश्वास जागृत किया कि वे स्वराज्य पाने के हकदार हैं और अपना शासन चलाने में सक्षम हैं। उन्होंने धूल और मिट्टी में से नेताओं को पैदा किया। वे बड़ी जिम्मेदारी से काम करते थे। पूरे भारतीय जन मानस में स्वतंत्रता के प्रति अनुराग पैदा करने की उनमें क्षमता थी। उन्होंने पाश्चात्य दर्शन और जीवन शैली का अंधानुकरण करने के स्थान पर स्वदेशी की भावना अपनाने पर जोर दिया। उन्होंने सवर्ण हिंदुओं को प्रेरित किया कि वे दलितों को अपना भाई समझें। उन अभागों को गले लगाएं तथा हृदय-परिवर्तन करें। यह सामाजिक परिवर्तन का एक प्रयोग था। अंहिसात्मक सामाजिक क्रांति की प्रथम शर्त थी।'[42]

'गांधी के बहुत से रचनात्मक कार्यों, आजादी की लड़ाई के प्रयासों, सर्वोदय के विचार, ग्रामीण उद्योग धंधों को पुनजीर्वित करने की परिकल्पना, हरिजन सेवा, अस्पृश्यता निवारण, हिंदू मुस्लिम एकता जैसे कार्यों और चिंतन की प्रशंसा और आलोचना हुई। डॉ. अम्बेडकर ने पूरी किसान हिस्ट्री लिख डाली, जिसकी चर्चा गत अध्यायों में कर चुके हैं।

उनके प्रमुख आलोचक अम्बेडकर थे जिन्होंने गांधी के 'अस्पृश्यता निवारण कार्यक्रम' और हरिजन सेवा को एक ढोंग, एक राजनीतिक प्रपंच की संज्ञा दी। यद्यपि उन्होंने अपना सामाजिक-राजनीतिक जीवन महारों के संगठन से शुरू किया था, लेकिन उनके विचारों

में पूरी अस्पृश्य जाति की दुर्दशा और उनके छीने हुए अधिकारों को प्राप्त करने की बात होती थी। वे खुले शब्दों में गांधी को सवर्णों का हित संरक्षक और हिंदू धर्म का प्रतिनिधि बताते हैं।[43]

'उन्होंने अछूतों की अनेक सभाओं में और ब्रिटिश साम्राज्य के शिखर संचालन कर्ताओं के सम्मुख लंदन में स्पष्टतः यहां तक कहा कि गांधी तो क्या किसी भी भारतीय नेता के पास उनको छोड़कर दलितों के सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों के लिए कोई योजना या सुविचारित दर्शन ही नहीं है।[44]

'उन्नीसवीं सदी में राजा राममोहन राय को भारतीय नवजागरण का अग्रदूत माना गया था। उन्होंने समाज में व्याप्त कुप्रथाओं और अंधविश्वासों पर प्रहार किया। सती प्रथा का घोर विरोध किया। वे पाश्चात्य संस्कृति और दर्शन से प्रकाशित सामाजिक-न्याय और राजनीतिक उदारवाद के प्रणेता कहे जाते हैं। उनके विचारों से बाद के समाज सुधारकों को प्रेरणा मिलती है'।[45] लेकिन राजा राममोहन राय ने जातिप्रथा, अस्पृश्यता, देवदासी प्रथा, यजमानी प्रथा, पुरोहितवाद के खिलाफ कोई स्पष्ट विचार नहीं रखे जिनसे प्रताड़ित करोड़ों अछूत सामाजिक तिरस्कार, दरिद्रता और गुलामों से भी बदतर जीवन जी रहे थे। हां सती प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाकर वे इतिहास में अमर हो गए हैं। राजा राममोहन राय के विचारों व कार्यों का प्रभाव सभी समाज सुधारकों पर पड़ा था। डॉ. अम्बेडकर भी राजा राममोहन राय के विचारों से बहुत प्रभावित थे।

"उन्होंने देश के आर्थिक विकास, समाज के ऐतिहासिक विकास क्रम, राजनीतिक समस्याओं, अल्प संख्यकों की समस्या, यहां तक कि भारत-विभाजन तक के बारे में निष्पक्ष विचार रखे। जो आज भी सर्वमान्य हैं।"[46]

राजनयज्ञ, दूरदृस्टा, दार्शनिक, सामाजिक परिवर्तन के प्रणेता अम्बेडकर के समक्ष गांधी की क्या देश का हर नेता दिशानहीनता और विचार शून्यता के कारण असफल और बौना सिद्ध हुआ है।

"गांधी : ए सबलाइम फेल्योर" में ए.एस.गिल ने लिखा है कि 'हिंदू-मुस्लिम एकता' के बाद गांधी की प्रमुख समस्या अस्पृश्यता मिटाना था। जब तक अस्पृश्यता खत्म नहीं होती जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा दलित ही रहेगा। भारत की आजादी भी बेमानी होगी क्योंकि दलित जो भारत की आबादी का पांचवां हिस्सा हैं, दलित ही रहता। हिंदुत्व के लिए अस्पृश्यता घोर कलंक है। इसका होना सामाजिक समता के लिए खतरनाक है। एक सामाजिक सुधारक के नाते उन्हें यह सब नापसंद था।"[47]

उन्होंने कहा कि 'हम स्वराज्य के काबिल नहीं हैं जब तक कि देश की आबादी के पांचवे हिस्से दलितों को अस्पृश्यता की बेड़ी से मुक्त नहीं करते।' 'वे दुबारा जन्म नहीं लेना चाहते फिर भी अगर उनका दुबारा जन्म होता है तो वे एक अछूत के घर पैदा होना चाहेंगे ताकि उनके दुखों के भागी बन सकें। तब मैं अपनी और उनकी दासता से मुक्ति के लिए प्रयत्न करूंगा।"[48]

"उन्होंने अछूतों के मंदिर प्रवेश की वकालत की। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि

अछूतों को इसे अधिकार के तौर पर नहीं लेना चाहिए। 'वायकम सत्याग्रह' के दौरान 1924 में उन्होंने कहा कि हिंदुओं की धर्मांधता पर संघर्ष करना ठीक नहीं। 1926 में मंदिर प्रवेश के बारे में उन्होंने कहा कि इस मामले में सत्याग्रह उचित नहीं। जब 1929 में बंबई प्रांत में मंदिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह शुरू किया गया तो गांधी ने इससे असहमति जताई। उन्होंने कहा कि **''हिंदू धर्म में जब तक जाति और आश्रम व्यवस्था है तब तक हर कोई हर मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकता।''**[49]

गिल के शब्दों में 'डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि जब तक जाति व्यवस्था है अछूत रहेंगे। जब तक जाति व्यवस्था खत्म नहीं होगी अछूतों को मुक्ति नहीं मिल सकती।''[50]

'गांधी और अम्बेडकर ने अस्पृश्यता की समस्या को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा। गांधी न्याय और मानवीय गरिमा के पोषक थे लेकिन उनके मन में धार्मिक मान्यताएं, प्रतिबद्धताएं निहित थीं। अम्बेडकर की सोच उनके व्यक्तिगत जातीय विषमताओं के अनुभवों के आधार पर बनी थीं। जातिवादी समाज जो एक अछूत के साथ दुर्व्यवहार करता है, अपमान करता है उसे अम्बेडकर ने स्वयं झेला था। जबकि गांधी बिना जातिव्यवस्था को खत्म किए अछूतों की शिकायतें दूर करना चाहते थे ताकि हिंदू उनके विरुद्ध न हो जाएं। अम्बेडकर की दृढ़ धारणा थी कि ऐसी व्यवस्था में सामाजिक न्याय पाना मुश्किल होगा।'[51]

आगे गिल ने उन सब बातों का जिक्र किया है कि अम्बेडकर और गांधी किन-किन मुद्दों पर अलग-अलग विचार रखते थे और किन-किन परिस्थितियों में दोनों की झड़पें हुईं।

'अम्बेडकर ने जोर देकर कहा कि रियायतों की भीख मांगने से कुछ नहीं मिलेगा। जगजीवन राम ने कहा सुधारों से सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है। इस प्रकार दोनों ने सवर्ण हिंदुओं के संरक्षण के विरुद्ध नाराजगी जाहिर की।'

गिल ने अंत में लिखा कि दलितों के वर्तमान नेता काशीराम ने कहा, ''गांधी ने क्या किया है? वह हमेशा दलितों के हितों के विरुद्ध लड़ाई लड़ते रहे...वह एक बड़ा छल-प्रपंची आदमी था जैसा कि मेरा विचार है, यह सब होते हुए भी गांधी और अम्बेडकर के योगदान पर अन्य लेखन को भी परखना आवश्यक है।'[52]

देश में संवैधानिक सुधारों और स्वराज्य प्राप्ति के कठिन दौर में डॉ. अम्बेडकर की अछूतों के सामाजिक न्याय की चेष्टा और आजादी के बाद संविधान रचना में सक्रिय भूमिका, दलितों के स्वाभिमान का कारण बन गई है।

'मैक्डॉनाल्ड अवार्ड' स्वतः रद्द हो गया तथा **1935 के 'भारत अधिनियम'** में दलितों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो गए। ''लेकिन कुछ दिन पश्चात् डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि उनके साथ राजनीतिक छल किया गया है। गांधी और अम्बेडकर एक दूसरे के आलोचक बन गए। दोनों अपने अपने सामाजिक राजनीतिक कार्यों में संलग्न हो गए।''[27]

''जब 1936 में लाहौर स्थित **जाति पांत तोड़क मंडल** में अपने वार्षिक अधिवेशन में डॉ. अम्बेडकर को आधार लेख पढ़ने को आमंत्रित किया तो उन्हें भनक लग गई कि

डॉ. अम्बेडकर का **'जाति विच्छेद'** नामक शोध पूर्ण भाषण हिंदूधर्म के विरुद्ध है। इसलिए सम्मेलन स्थगित कर दिया गया। उन्होंने भाषण पुस्तक के रूप में छपवाकर वितरित करवा दिया। गांधी ने इस पर 'हरिजन' पत्र में टीका टिप्पणी लिखी जो तीन अंकों में प्रकाशित हुई। अंबेडकर ने गांधी की विशद् की आलोचना तथा उनके लेखों का सतही और स्तरहीन बताया। 1935 के 'भारत अधिनियम' के अंतर्गत अम्बेडकर के समर्थक चुनावों में विजय ...प्त न कर सके। इससे 1937 के मध्य उन्हें भारी निराशा और मनस्ताप झेलना पड़ा। लेकिन वायसराय की कार्यकारिणी में 1942 में उन्हें सदस्यता प्राप्त हो गई। इस पद पर वे सन् 1946 तक विराजमान रहे।''

हरिजन सेवा के कार्य में केरल में गांधी को कठिनाई हुई और विरोध का सामना करना पड़ा वहां के नम्बूद्री ब्राह्मण हठी, बहुत पैसे वाले और तंग विचारों के थे। अछूतों से घृणा करते थे। मंदिर प्रवेश के साथ-साथ सड़कों पर हरिजनों का चलना मुश्किल था। गुलामों से भी ज्यादातर बदतर उनकी हालत थी। इसलिए बहुत से लोग धर्मांतरण करके ईसाई बन गए थे।

सुमित सरकार लिखते हैं : ''गांधीजी के अन्य अनेक कार्यक्रमों की भांति उनके हरिजन आंदोलन के कार्यक्रम में भी लक्ष्यों और महत्त्व को लेकर अनेक अस्पष्टताएं देखने में आती हैं। जवाहरलाल जैसे जुझारू लोगों का विचार था कि यह कार्यक्रम साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के मुख्य कार्य से एक हानिकारक भटकाव है, यह धारणा इस बात से भी पुष्ट होती थी कि ब्रिटिश सरकार जेल में भी गांधीजी को 'हरिजन-कार्यक्रम' सहर्ष चलाने देती थी। परन्तु कांग्रेस के भीतर रूढ़िवादी हिंदुओं को यह नई बात अधिकाधिक खल रही थी। उदाहरण के लिए, मालवीय, जो 1920 के दशक के मध्य में गांधीजी के अत्यंत निकट रहे थे, अब उनसे दूर जाने लगे थे। हिंदू संप्रदायवादियों में इस बात से भी क्षोभ बढ़ा कि गांधीजी ने मैकडोनल्ड-निर्णय की अन्य बातों से कोई सरोकार रखना अस्वीकार कर दिया था जिसके अनुसार पंजाब में मुसलमानों को 49 प्रतिशत ओर बंगाल में 48. 6 प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया गया था (अर्थात् यूरोपियन सदस्यों के साथ मिलकर इन दोनों प्रांतों में उनका बहुमत हो जाता था)। बंगाल के रूढ़िवादी अल्पसंख्यकों की हैसियत प्रदान कर दी थी। किंतु जून 1934 में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने एक समझौतापूर्ण 'न स्वीकार न इनकार' का उपाय अपनाया जिसके फलस्वरूप मालवीय ने एक अलग 'कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी' बनाई। अप्रैल और जुलाई 1934 में बक्सर, जसीडीह और अजमेर में सनातनियों ने गांधीजी की हरिजन सभाओं को भंग किया, और पूना में 25 जून को उनकी कार पर बम से हमला भी किया गया। ब्रिटिश सरकार भी आधुनिकीकरण का प्रभाव डालने का दावा तो करती थी, किंतु वह भी रूढ़िवादी जनमत को विरोधी बनाना नहीं चाहती थी। अतः अगस्त 1934 में सरकारी सदस्यों ने लेजिस्लेटिव असेंबली में 'टेंपल एंट्री बिल' को पराजित करने में सहायता की।

दूरगामी परिणामों की दृष्टि से देखें तो गांधीवादियों द्वारा किए जानेवाले हरिजन-कल्याण कार्यों ने ग्रामीण समाज के निम्नतम और सबसे शोषित वर्गों तक राष्ट्रवाद का संदेश

पहुंचाने का कार्य किया, और इसमें संदेह नहीं कि देश के अधिकांश भागों में हरिजन कांग्रेस के प्रति पारंपरिक निष्ठा की भावना से बंध गए तो स्वतंत्रता के पश्चात् भी कांग्रेस दल के लिए अत्यंत सहायक सिद्ध होने वाले थे। गांधीजी के अन्य जन-आंदोलनों की भांति इस आंदोलन में भी विस्तार के समय नियंत्रण भी था, क्योंकि **गांधीजी ने जान-बूझकर हरिजन आंदोलन को समाजिक सुधार (हरिजनों के लिए सार्वजनिक कुओं, सड़कों, और विशेष रूप से मंदिरों को खुलवाना, साथ में मानवतावादी कार्य) तक सीमित रखा था, और किसी भी प्रकार की आर्थिक मांगों से अलग रखा था (यद्यपि अनेक हरिजन खेतिहर मजदूर थे), साथ ही उन्होंने समग्र रूप में जाति-व्यवस्था की भर्त्सना करने से इनकार कर दिया। उन्होंने रोटी-बेटी के व्यवहार में सावधानी बरतने की सलाह दी और मूल वर्णाश्रम धर्म की हिमायत की**, जिसका परिणाम यह हुआ कि अम्बेडकर ने साप्ताहिक 'हरिजन' के लिए यह कहते हुए संदेश देने से इनकार कर दिया कि "जाति-व्यवस्था को नष्ट किए बिना अछूतों का उद्धार संभव नहीं है" (तेंदुलकर, खंड 3, पृ. 236-8)। जैसाकि किसानों आंदोलनों के मामले में हुआ था, गांधीवादी हरिजन कार्य भी आंशिक रूप से, नीचे के अधिक संभावनापूर्ण दबावों पर वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास था।"[53]

सुमित सरकार ने लिखा : "केरल में भी गांधी जी को धर्म-विरोधी मनःस्थिति का सामना करना पड़ा, क्योंकि यहां का इझवा जाति-संगठन 'एस.एन.डी.पी. योगम्' 1930 में गांधीवादी टी.के.माधवन की मृत्यु के पश्चात् सी.केशवन और के. अयप्पन के हाथों में चला गया था। ये जुझारू तत्त्व मंदिर-प्रवेश को अधिक महत्त्व नहीं देते थे और संघर्षशील नास्तिक हो गए थे। ये स्वयं तो कभी मार्क्सवादी नहीं हुए किंतु इन्होंने अनेक व्यक्तियों को कम्युनिस्टों का रास्ता अपनाने के लिए प्रेरित किया। फिर भी, आम तौर पर भारतीय वामपंथ, जाति और वर्ग के जटिल संबंधों की ओर पर्याप्त ध्यान देने में असफल रहा।"[54]

तमिलनाडु में ई.वी. रामास्वामी नायकर तीसरे-चौथे दशक में 'आत्म-सम्मान आंदोलन' के जरिए अछूतों को संगठित कर चुके थे। उन्होंने 'ब्राह्मण-विरोधी लोकवादी शैली' विकसित कर ली थी जो राजभक्त और आर्थिकवादी 'जस्टिस पार्टी' से बिल्कुल भिन्न थी। 1932 में सोवियत संघ की यात्रा से लौटकर नायकर ने कोयंबटूर में 'स्तालिन हाल' का निर्माण करवाया और बुजुर्ग कम्युनिस्ट नेता सिंगारवेलु चैट्टियार के नास्तिकतावादी एवं समाजवादी लेखन के लिए अपनी पत्रिका **'कुडी आरासू'** के द्वार खोल दिए। 'समाजवाद' से नायकर का प्रेम तो अस्थायी सिद्ध हुआ किंतु **'आत्मसम्मान आंदोलन'** के **पी. जीवनंदन** जैसे कुछ कार्यकर्त्ता आगे चलकर कम्युनिस्ट नेता बने।[55]

नायकर ने किसी भी सवर्ण उत्तर भारतीय और गुजराती गांधी को तमिलनाडु के अछूतों में अपना प्रभाव जमाने से रोका। एक प्रकार से उन्होंने सोए हुए द्रविड़ शूद्रों को नींद से जगा दिया। केरल और तमिलनाडु गांधी से प्रभावित नहीं हुए। वहां के स्थानीय कांग्रेस जन गांधी की हरिजन सेवा का रचनात्मक कार्य अवश्य करते रहे।

देश के प्रसिद्ध हिंदू नेताओं की उपस्थिति में 'पूना पैक्ट' के बाद 25 सितंबर 1932 को बंबई में विशाल सभा हुई जिसमें प्रस्ताव पारित किया गया कि अस्पृश्यता दूर करने

की दिशा में मंदिरों के द्वार अछूतों के लिए खोल दिए जाएंगे (अथवा उन्हें मंदिर-प्रवेश की अनुमति दी जाएगी)। गांधी ने अपने 'हरिजन' पत्र में इसका उल्लेख भी प्रारंभ कर दिया।

लेकिन ऐसे मामले भी प्रकाश में आए जिनमें गांधी और कांग्रेस ने दलित मुक्ति की भावना से नहीं, राजनीतिक स्वार्थ की भावना से मंदिर प्रवेश और अस्पृश्यता आंदोलन को मात्र प्रचारात्मक रखा। वर्णव्यवस्था के हामी गांधी या तो कट्टर हिंदूवाद से डरते थे या ब्राह्मणों को नाराज नहीं करना चाहते थे। कांग्रेस की यह भी मजबूरी थी कि एक राष्ट्रीय आंदोलन में पहली पंक्ति के नेतृत्व में ब्राह्मण वर्ण और उच्च जातियों की महती भूमिका थी और भीड़ जुटाने के लिए दलित-अस्पृश्य, मिल मजदूर, खेतिहर मजदूर, खादी बुनकर, शिल्पी आदि काफी थे।

अछूतों का मंदिर प्रवेश लगभग डेढ़ दशक तक का मामला गांधी और अम्बेडकर के रचनात्मक कार्यक्रम का हिस्सा बने। लेकिन इसमें कई अंतर्विरोध थे। इसको यही विस्तार से समझाने की कोशिश की गई है।

"इस संबंध में दो घटनाएं विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य हैं। एक 'गुरुवयूर का मंदिर सत्याग्रह' और दूसरा 'मंदिर प्रवेश बिल'। 'गुरुवयूर मंदिर सत्याग्रह' हिंदुओं की ओर से पहला सत्याग्रह था, जो डॉ. अम्बेडकर के धर्म सत्याग्रह के बाद और दलितों को कांग्रेस के साथ जोड़ने के उद्देश्य से अस्तित्व में आया था। इस मंदिर का ट्रस्टी कालीकट का जमोरिन था। उसने **'हिंदू रिलीजस एन्डाऊमेंट्स'** की धारा 40 के आधार पर मंदिर को अछूतों के लिए खोलने से इनकार कर दिया था। किंतु **केलप्पन** नामक एक हिंदू ने, जो **मालाबार** में अछूतों के लिए काम कर रहा था, मंदिर में अछूतों के प्रवेश के लिए अनशन आरंभ कर दिया। जमोरिन ने अपमान से बचने के लिए गांधी से केलप्पन का अनशन कुछ समय के लिए स्थगित कराने की अपील की। गांधी के अनुरोध पर **केलप्पन** ने दस दिन अनशन करने के बाद 1 अक्टूबर 1932 को तीन महीने के लिए अपना अनुशन स्थगित करने कर दिया। इस बीच जमोरिन ने कुछ नहीं किया। गांधी ने 5 नवंबर 1932 को प्रेस को बयान दिया कि यदि 1 जनवरी 1933 तक अछूतों के लिए मंदिर नहीं खोल दिया जाता है, तो उन्हें विवश हो कर केलप्पन के अनशन का समर्थन करना पड़ेगा। जमोरिन मे इसे मानने से इनकार कर दिया और साफ शब्दों में बयान दिया कि यह उसके अधिकार में नहीं है कि वह गुरुवयूर मंदिर को अवर्ण लोगों के लिए खोल दे। इस परिस्थितियों में गांधी के लिए अनशन करना आवश्यक हो गया था, **परंतु उन्होंने अपनी स्थिति में परिवर्तन करते हुए कहा कि यदि जनमत संग्रह कराने पर बहुमत से यह स्पष्ट हो जाए कि जहां मंदिर स्थित है, वहां के सवर्ण हिंदू अछूतों के लिए मंदिर खोलने के खिलाफ हैं, तो वह अनशन नहीं करेंगे। जनमत संग्रह हुआ और परिणाम मंदिर प्रवेश के पक्ष में आया। गांधी ने फिर भी अनशन नहीं किया।** इसके लिए उन्होंने मद्रास विधान परिषद में डॉ. सुब्बारॉयन द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले बिल को आधार बनाया। इसकी स्वीकृति वायसराय द्वारा दी जानी थी। अतः गांधी ने 29 दिसंबर 1932 को प्रेस को बयान दिया

कि डॉ. सुब्बारॉयन के बिल की स्वीकृति के विषय में वायसराय का निर्णय 15 जनवरी से पूर्व आना संभव नहीं है, इसलिए अनशन सरकारी फैसले तक स्थगित किया जाता है। केलप्पन भी इस स्थगन से सहमत थे। वायसराय ने बिल पेश करने की अनुमति नहीं दी। किंतु गांधी ने सिर्फ अनशन करना ही नहीं छोड़ दिया, बल्कि मंदिर प्रवेश आंदोलन को बिलकुल भुला ही दिया। परिणाम यह हुआ कि 'गुरुवयूर मंदिर प्रवेश सत्याग्रह' टॉय-टॉय फिस्स हो गया और उसके दरवाजे अछूतों के लिए बंद ही रहे।''[56]

तदुपरांत 'मद्रास विधान परिषद' में डॉ. सुब्बारॉयन द्वारा मंदिर प्रवेश बिल पेश किया गया था। इसी प्रकार एक बिल सी.एस. रंगा, दूसरा बिल हर विलास शारदा, तीसरा बिल लालचंद नवल राय और चौथा बिल एम.आर. जयकर ने प्रस्तुत किया था। वायसराय से विधायिका में बिल प्रस्तुत करने की अनुमति मिलने से पूर्व ही **गांधी ने 21 जनवरी 1933 को प्रेस में बयान दिया कि वह राज्य द्वारा धार्मिक मामले में हस्तक्षेप करने के खिलाफ हैं। इसका मतलब यह था कि गांधी मंदिर में दलितों के प्रवेश को हिंदुओं का धार्मिक मामला समझते थे और उनके अनुसार इसे कानून बना कर नहीं, बल्कि स्वयं हिंदुओं द्वारा निपटाया जाना चाहिए था। 23 जनवरी 1933 को लॉर्ड विलिंगडन ने मद्रास विधान परिषद में रंगा अय्यर को अस्पृश्यता निवारण बिल पेश करने की अनुमति दी। 24 मार्च 1933 को रंगा अय्यर ने असेंबली में पेश किया। कालेगोड़ के राजा और श्री थप्पन ने यह कह कर बिल का विरोध किया कि यह व्यवस्थापिका के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता। रंगा अय्यर ने 30 जुलाई तक बिल पर जनता का मत-संग्रह कराने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का विरोध गांधी जी ने किया। उन्होंने ऐसा क्यों किया, जबकि वह मंदिर प्रवेश के समर्थक माने जाते थे? इस सत्र में बिल पारित नहीं हो सका। अतः सदन के समर्थक माने जाते थे? इस सत्र में बिल पारित नहीं हो सका।** अतः सदन के शरद कालीन सत्र में दिनांक 24 अगस्त 1933 को बिल पर पुनः बहस आरंभ हुई। सरकार की हमदर्दी दलितों के साथ थी, इसलिए वह चाहती थी कि हिंदुओं के सभी वर्ग बिल पर पूरी तरह विचार कर लें। इसके लिए एक प्रवर समिति का गठन किया गया, जिसमें सर नृपेन्द्र सरकार, सर हेनरी क्रेक, भाई परमानंद, राव बहादुर एम.सी.राजा, राव बहादुर वी.एल.पाटिल तथा रंगा अय्यर स्वयं थे। किंतु इसी समय भारत सरकार ने असेंबली भंग कर नए चुनाव कराने की घोषणा कर दी।''

''कांग्रेस को चुनावों में हिंदू वोटों की चिन्ता हो गयी। हिंदुओं ने धमकी दी कि यदि 'अस्पृश्यता निवारण कानून' बना, तो वे कांगेस को हरा देंगे। इसलिए यदि कांग्रेस 'मंदिर प्रवेश बिल' और 'अस्पृश्यता निवारण' को चुनावी मुद्दा बनाती, तो निश्चित रूप से उसे हिंदू मतों से हाथ धोना पड़ता। फलतः कांग्रेस ने मंदिर प्रवेश का समर्थन करना बंद कर दिया। रंगा अय्यर ने असेंबली में ही इसके लिए कांग्रेस की आलोचना की। इस संबंध में गांधी ने एक कुशल राजनीतिज्ञ की भूमिका निभायी। जब-जब दलित वर्गों ने राजनीतिक अधिकारों की मांग की, तब-तब वह मंदिर प्रवेश के समर्थक बने रहे। किंतु जब भी चुनावों में कांग्रेस के लिए हिंदू शक्ति को सुरक्षित रखने का मामला आता, वह

मंदिर प्रवेश का समर्थन करना छोड़ देते।''[57]

''31 अगस्त 1934 के 'हरिजन' में गांधी ने लिखा था कि बिल को तो दफन होना ही था क्योंकि किसी ने भी उसका समर्थन नहीं किया था और न वह समाज सुधारकों की ओर से प्रस्तुत किया गया था। इससे यह आसानी से समझा जा सकता है कि गांधी स्वयं भी मंदिर प्रवेश बिल के पक्षधर नहीं थे। गांधी के दलितोद्धार का निहितार्थ यह था कि दलित वर्गों के लोग हिंदू समाज से विद्रोह न करें। वह वर्ण व्यवस्था को हिंदू धर्म की रीढ़ मानते थे और कहते थे कि जो वर्ण व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता, वह हिंदू नहीं हो सकता। इसलिए वह वर्ण व्यवस्था को कायम रख कर जाति भेद को दूर करना चाहते थे। उन्होंने अपनी गुजराती पुस्तक 'वर्ण व्यवस्था' में लिखा हैं—'मैं विश्वास करता हूं कि वर्णों का विभाजन जन्म पर आधारित है। वर्ण व्यवस्था में किसी मनुष्य को अपनी पसंद का व्यवसाय करने की स्वतंत्रता नहीं है। उसका व्यवसाय जन्म से निर्धारित होता है।' यही कारण था कि गांधी दलितों को अपना पैतृक व्यवसाय अपनाने की सलाह देते थे। किंतु डॉ. अम्बेडकर इस विचारधारा से सहमत नहीं थें, उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था ही जाति भेद और अस्पृश्यता का मूल है। वर्ण व्यवस्था को नष्ट किए बिना न जाति भेद समाप्त हो सकता है और न अस्पृश्यता को दूर किया जा सकता है। हिंदू नेताओं ने दलित वर्गों से मंदिर प्रवेश आंदोलन को समर्थन देने की अपील की थी। किंतु डॉ. अम्बेडकर इसके पीछे की राजनीति को जानते थे। इसलए उन्होंने अपना एक लंबा वक्तव्य 14 फरवरी 1933 को प्रेस को दिया। उनके इस वक्तव्य ने जहां दलितों में सम्मान की भावना पैदा की, वहीं हिंदुओं को भी यह स्पष्ट शब्दों में अवगत कराया कि दलितों की मंजिल मन्दिर नहीं है।''[58]

इस वक्तव्य में उन्होंने कहा था, ''अभी ज्यादा दिन नहीं हुए, भारत में यूरोपियन क्लबों के दरवाजों पर लिखा होता था—कुत्तों और भारतीयों को प्रवेश करने की अनुमति नहीं है। आज हिंदुओं के मंदिरों पर भी ऐसे ही बोर्ड टंगे हैं। अंतर सिर्फ यह है कि उनमें जानवर प्रवेश कर सकते हैं, परंतु दलितों को प्रवेश करने की अनुमति नहीं है। दोनों मामलों में स्थिति एक-सी है। किंतु भारतीयों ने अपना स्वाभिमान त्याग कर कभी भी यूरोपियनों से उनके क्लबों में जाने की भीख नहीं मांगी। फिर दलित ही अपना स्वाभिमान त्याग कर उन मंदिरों में क्यों प्रवेश करना चाहते हैं, जहां से हिंदुओं ने उन्हें बहिष्कृत कर दिया है? दलितों के मंदिरों के दरवाजे खुलें या न खुलें, इस प्रश्न पर हिंदुओं को सोचना हैं न कि दलितों को, इसके लिए आंदोलन करना बुरा है, तो वे मंदिरों को खोलें और सुसभ्य व्यक्ति बनें। यदि वे हिंदू ही बने रहना चाहते हैं, तो मंदिर के दरवाजे बंद रखें। वे भाड़ में जाए, दलितों को, मंदिरों में जाने की कोई चिंता नहीं है। हिंदू इस बात पर भी विचार करें कि क्या मंदिर प्रवेश हिंदू समाज में दलितों के सामाजिक स्तर को ऊंचा उठाने के अंतिम उद्देश्य है? या, उनके उत्थान की दिशा में यह पहला कदम है? यदि यह पहला कदम है, तो अंतिम लक्ष्य क्या है? यदि मंदिर प्रवेश अंतिम लक्ष्य है, तो दलित वर्गों के लोग उसका समर्थन कभी नहीं करेंगे। दलितों का अंतिम लक्ष्य है सत्ता में भागीदारी।''

"काफी शोर-शराबे के बाद 1935 में भारत सरकार ने कानून बनाया और दलितों को मंदिर में प्रवेश करने का अधिकार मिला। निस्संदेह यह एक बड़ी उपलब्धि थी। दलितों ने एक क्षेत्र में समता की लड़ाई को जीत लिया था। पर इससे सामाजिक और आर्थिक स्तर पर दलितों के दुखों में कोई कमी नहीं आयी। न ही इससे उनके राजनीतिक अधिकारों का मार्ग प्रशस्त हुआ।"[59]

समाजवादी नरेंद्र देव और गांधी

"सन् 1934 में 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' गठित हुई। यह एक प्रकार से राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस की महत्तर भूमिका और गांधी को राष्ट्र नेता के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले समाजवादी युवकों का संगठन था। वे स्वाधीन भारत में शोषण रहित समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे, ये साम्राज्यवादी विरोधी थे। नेहरू की प्रेरणा उन्हें प्राप्त थी। आचार्य नरेंद्र देव इसके प्रमुख नेता थे। नरेंद्रदेव ने इस पार्टी का एक मसौदा गांधी को भेंट किया। ताकि उनकी सहमति और प्रशंसा प्राप्त हो। उल्टे गांधी ने लिखा कि "इसमें अस्पृश्यता मिटाने और सांप्रदायिकता खत्म करने, खादी को बढ़ावा देने साथ ही मद्य और मादक पदार्थों के निषेध की कोई बात ही नहीं।"[60] गांधी की दृष्टि में क्या जन्मजात विषमताओं पर प्रहार नहीं किया जाना चाहिए था? ऐसी संकीर्ण थी—समाजवादी नेताओं की सोच। तब तक डॉ. अम्बेडकर अनुसूचित जातियों के लिए बहुत कुछ ब्रिटिश उपनिवेशवादी ताकत से संवैधानिक अधिकारों के आश्वासन पा चुके थे। समाजवादी केवल सपना देखते थे, डॉ. अम्बेडकर अपने दिमाग और अपनी कलम से एक नया भारत, दलित मुक्ति द्वारा एक नई सामाजिक क्रांति को व्यवहारिक रूप देना चाहते थे। भटके हुए नरेंद्र देव जैसे समाजवादियों को गांधी ने ही अछूतों की याद दिलाई।

इसी संदर्भ में सुमित सरकार ने टिप्पणी की "अगस्त 1934 को गांधी ने नरेंद्र देव को इस बात के लिए लताड़ा कि उन्होंने 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' के कार्यक्रम के मसौदे में छूआछूत का उल्लेख नहीं किया था, तो सचमुच उनकी बात में दम था।"[61]

अछूतों पर समाजवादियों की इस कद्र चुप्पी ठीक बात नहीं थी। वे भारत के निर्माण की ऊंची-ऊंची बातें करते थे लेकिन करोड़ों अछूत लोगों के साथ क्या बीत रही थी इसको जानते हुए भी अनजान बने हुए थे। उन्होंने कभी कोई योजना-मसौदा नहीं बनाया जो सीधे अछूतों के व्यापक हित में हो।

सुमित सरकार ने यह बात कही कि बिड़ला (घनश्याम दास) हरिजन आंदोलन को वित्तीय सहायता देते थे, वे 'अस्पृश्यता विरोधी लीग' की अध्यक्षता करने के लिए भी सहमत हुए। बिड़ला की गांधी पर आजन्म आर्थिक कृपा रही।

गणेश मंत्री ने टिप्पणी की है "यह आश्चर्य की बात कि समतामूलक समाज व्यवस्था बनाने के उद्देश्य से प्रेरित और स्वयं को क्रांति का माध्यम मानने वाली कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को अपने समाज में व्याप्त जन्मजात विषमताओं का अपने मसौदे में उल्लेख करना

और उनके सामाजिक आधार पर निर्णायक प्रहार करने पर जोर देना भी जरूरी नहीं लगा था।''[62] वैसे भी इस पार्टी में ब्राह्मण, बनिए, कायस्थ, ठाकुर भरे पड़े थे जिनका वर्ग चरित्र सब को मालूम है।

उनके प्रारंभिक रवैये पर एक अन्य सच्चे समाजवादी **मधु लिमये** का मानना था कि : ''समाजवादियों और वामपंथी बुद्धिजीवियों पर मार्क्सवादी जादू छाया हुआ था। इसलिए वे न तो महात्मा गांधी के विकेंद्रीकरण और अहिंसात्मक परिवर्तन के दर्शन को समझ सके और न ही जातिप्रथा के विरुद्ध साथ चल रहे इस आंदोलन को, जिसके प्रतीक गांधी युग में डॉ. अम्बेडकर थे।''[63]

तथाकथित समाजवादियों की तरह मार्क्सवादी निहायत अंधे ही समझिए जिन्हें करोड़ों अछूतों और शूद्र शिल्पियों, भूमिहीन खेत मजदूरों के साथ छूआछूत, जातिवाद के घिनौने भेदभाव का पता तक न था। प्रस्ताव-डाक्यूमेंट बनाने से क्या होता है?

''अस्पृश्यता के संबंध में भारतीय साम्यवादी तो मार्क्सवाद के अंधे कुएं में थे। उनकी दृष्टि में अस्पृश्यता, वर्ण व्यवस्था, जातिप्रथा और सांप्रदायिकता वर्गों के ही स्थानीय प्रतिरूप हैं इनके विरुद्ध अलग से संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं है।...वे भारत की सामाजिक व्यवस्था के तल में जी रहे अस्पृश्यों की मुक्ति के प्रयासों में उन्हें साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष से रहने की साजिश नजर आई।''[64] वे अम्बेडकर-जगजीवन राम और दलित मुक्ति संग्राम को महज सांप्रदायिक मानते रहे।

1947 में 'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिसंघ' का ज्ञापन

डॉ. अम्बेडकर ने अंत तक अपना धर्मयुद्ध जारी रखा। दलित आंदोलन की दिशा में में 15 मार्च, 1947 का दिन स्मरणीय रहेगा जब **'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिसंघ'** (आल इंडिया शिडयूल्ड कास्ट फेडेरेशन) की ओर से डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में अनुसूचित जातियों के हित संरक्षण के संबंध में ज्ञापन दिया। इसकी प्रस्तावना में डॉ. अम्बेडकर ने लिखा : ''जब यह निश्चित हो गया कि भावी भारत का संविधान तैयार करने का कार्य संविधान सभा को सौंपा जाने वाला है, तो उसके बाद 'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिसंघ' की कार्य समिति ने मुझसे कहा कि मैं अनुसूसचित जातियों के सुरक्षोपायों के विषय में एक ज्ञापन तैयार करू जिसे परिसंघ की ओर से संविधान सभा में प्रस्तुत किया जाए।''

''इस ज्ञापन में मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों के अधिकारों और अनुसूचित जातियों के सुरक्षोपायों की परिभाषा दी गई है। जिन लोगों का यह विचार है कि अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यक नहीं है, वे यह कह सकते हैं कि मैंने निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण किया है।''

''दलित आंदोलन की दिशा में 15 मार्च, 1947 का दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण है जब भारत की स्वतंत्रता की घोषणा से पांच माह पूर्व डॉ. अम्बेडकर ने 'अखिल भारतीय अनुसूचित

जाति परिसंघ' ओर 'एस.सी.एफ.' की से भारत के भावी संविधान में अनुसूचित जातियों के हित संरक्षण के संबंध में ज्ञापन दिया। अनुसूचित जातियों में यह बात दुहराई गई है कि अनुसूचित वर्गों की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति अन्य नागरिकों और अल्पसंख्यकों की तुलना में इतनी खराब है कि उन्हें इस संरक्षण के अलावा जिसे वे नागरिकों तथा अल्पसंख्यकों के नाते प्राप्त करेंगे, बहुसंख्यकों के अत्याचार और भेदभाव के विरुद्ध विशेष सुरक्षोपायों की जरूरत होगी। दूसरा ज्ञापन यह है कि अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यकों से भिन्न है।''[65]

यह ज्ञापन संविधान सभा में प्रस्तुत किया जाना था। डॉ. अम्बेडकर ने इसे व्यापक लोकहित में पहले ही सार्वजनिक कर दिया। उन्होंने स्पष्टतः कहा कि भारत के भावी संविधान के प्रस्तावित उद्देश्यों में अन्य देशवासियों के साथ, 'सुविधावंचित वर्गों को बेहतर अवसर सुलभ कराते हुए सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विषमता दूर करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

इस ज्ञापन में नए संविधान के अंतर्गत अनुसूचित जातियों के अधिकारों की गारंटी दिए जाने की मांग को दुहराया गया। उनके लिए संघीय और राज्य विधान मंडल में जनसंख्या से न्यूनतम प्रतिनिधित्व, आर्थिक-सामाजिक और शैक्षिक प्रगति के लिए समुचित ध्यान देने की बात की गई। 'पूना-समझौते' (1932) से आरंभ की गई निर्वाचन प्रणाली को समाप्त करते हुए उसके स्थान पर पृथक निर्वाचक-मंडल की प्रणाली प्रारंभ करने, प्रौढ़ मताधिकार और संचयी मतदान प्रणाली के साथ ही नगर पालिकाओं और स्थानीय निकायों में समुचित प्रतिनिधित्व देने की बात दुहराई गई। संघ और राज्य की कार्यपालिका में न्यूनतम प्रतिनिधित्व, न्यूनतम अर्हताओं, शिक्षा, आयु संबंधी शर्तों आदि के अनुसार मांग की गई कि सेवाओं में प्रवेश के लिए भारत सरकार द्वारा सन् 1942 और 1945 के संकल्पों में प्रदत्त रियायतों को बरकरार रखा। 'लोक सेवा आयोग' या अन्य समिति द्वारा अनुसूचित जातियों की रिक्तियों को भरने के लिए उनमें अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधित्व की भी मांग की गई।

इस ज्ञापन में अनुसूचित जातियों की माध्यमिक और महाविद्यालयी शिक्षा के लिए सरकार द्वारा पर्याप्त वित्तीय सहायता जुटाने की बात कही गई ''अनुसूचित जातियों के परिसंघ के ज्ञापन में स्वतंत्र भारत के भावी नए संविधान में अनुसूचित जातियों के उत्पीड़न को रोकने के लिए पक्की व्यवस्था को डॉ. अम्बेडकर ने प्रमुखता से दर्शाते हुए मद्रास सरकार के राजस्व बोर्ड के कार्यवृत्त संख्या 723 दिनांक 5 नवंबर 1892 के उस अंश को उदाहरण के लिए पेश किया।

इस ज्ञापन में कहा गया कि ''अस्पृश्य इस विशाल हिंदू आबादी से घिरे हैं जो उनके प्रति शत्रुतापूर्ण भाव रखते हैं, और जो उनके खिलाफ अन्याय या अत्याचार करने में लज्जित नहीं होते। इसलिए स्वराज्य के अंतर्गत उनके संरक्षण पर नए संविधान में पूर्ण ध्यान देना होगा।[66]

जो लोग गांधी को मानते थे, वह पीढ़ी कब की खत्म हो चुकी है। बचे खुचे भी

बेनकाब हो गए हैं। अम्बेडकर की अनुयायी लाखों-करोड़ों में हं। जिस में दिन प्रतिदिन बढ़ोत्तरी हो रही हैं। इसलिए पूरी तरह लगता है : "अम्बडेकर और गांधी आज भी दूर-दूर खड़े हैं। अपने नेता से भी बढ़ कर उनके अनुयायी होने का दावा करने वाले लोगों का मानना है कि इन दोनों का मेल-मिलाप असंभव है। एक तरह से यह कथन गलत भी नहीं लगता। इन दोनों महापुरुषों के स्वभाव, आस्थाओं, विचारों, संवाद-शैली और कार्यप्रणाली में इतनी भिन्नताएं रही हैं कि समानता के कोई सूत्र नजर नहीं आते। कहां गांधी और कहां अम्बेडकर? इनके व्यक्तित्व भिन्न, इनकी प्राथमिकताएं भिन्न, इनकी संघर्ष-शैलियां भिन्न। इनमें समन्वय का क्या काम? फिर, अनेक सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों तथा प्रसंगों पर दोनों ने न सिर्फ मतभेद रहे, बल्कि संघर्ष भी हुआ। इन सब ऐतिहासिक तथ्यों को नजरअंदाज कर कोई गांधी और अम्बेडकर में समन्वय करना चाहे तो कर लें, किंतु वह वास्तविक नहीं, महज एक खुशफहमी रहेगी।"[67]

"गांधी भारत की राजनीति में लोक नेता के रूप में आंधी-तूफान की तरह आए। अपने जीवन काल में ही वे एक ढलते हुए सूरज बन गए थे। कुछ भी हो वह बहुत व्यवहारिक बातें करते थे। उनका मुख्य लक्ष्य देश की आजादी था। 'हरिजन', 'दलित' पीछे की बात थी। इसलिए गांधी अपने को व्यावहारिक आदर्शवादी मानते थे। यह उनके व्यक्तित्व की मुख्य विशेषता है। व्यावहारिक आदर्शवादी एक-एक कदम सोच-समझ कर उठाता है। उसे अपने देश, समाज और अनुयायियों का ध्यान रखना पड़ता है। भारत जैसे देश में तो और भी ज्यादा, जहां रूढ़ियां, अंधविश्वास और कई प्रकार की विषमताएं हावी थीं, आज भी हावी हैं। इन परिस्थितियों में सबको साथ ले कर चले बिना स्वराज्य की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती थी। इस विवशता से गांधी बहुत हद तक परंपरावादी प्रतीत होते थे। यहां तक कि जीवन के आखिरी दौर को छोड़ कर वे आजीवन वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते रहे। कहते रहे कि 'वर्णाश्रम धर्म और 'अस्पृश्ता' में कोई संबंध नहीं है। समाज परिवर्तन की बात भी उन्होंने पारंपरिक मुहावरे में कही। उन्होंने अस्पृश्यों के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों का संघर्ष छेड़ने के बजाए सवर्णों में पाप बोध जगाने और उसके प्रायश्चित पर जोर दिया। 1931 में नासिक के **कालाराम मंदिर** में अस्पृश्यों के प्रवेश के लिए सत्याग्रह के बारे में भी गांधी का मत था कि यह सत्यागह अछूतों को नहीं, स्पृश्यों को करना चाहिए।"[68]

नेहरू, लोहिया, जयप्रकाश, तथा कम्युनिस्ट नेताओं ने खुले शब्दों में यह नहीं कहा कि मंदिर जाने या न जाने में कोई फर्क नहीं पड़ता। असल मुद्दा जातिवाद और छूआछूत मिटाना है। गरीबी दूर करना है। दूसरी ओर "पारंपरिक प्रतीकों को नया अर्थ देने में कुशल गांधी ने भारतीय समाज के पददलितों को 'दलित' कहने के बजाए 'हरिजन' कहा। गांधी छुआछूत जरूर मिटाना चाहते थे, किंतु इस हेतु वे स्वराज्य आंदोलन के लिए बनाए गए भारतीय जनता के मोर्चे में न तो दरार आने देना चाहते थे और न इसके बहाने अंग्रेज सरकार को भारत में बने रहने के लिए समय देना चाहते थे। गांधी अछूतों के हिंदू समाज से अलग होने की बात से भी सहमत नहीं थे। इससे उन पर अंतर्विरोधी

रुख लेने की तोहमत भी लगी। यही कि उन्होंने मुसलमानों और सिखों को तो अल्पसंख्यक होने के नाते विशेष अधिकार देना स्वीकार कर लिया, किंतु अस्पृश्यों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल बनाने के विरोध में आमरण अनशन पर बैठ गए।''[69]

लेकिन यह फिजूल सी बात थी कि पूरी तरह हृदय परिवर्तन से, मंदिर प्रवेश से, सहभोज से ही छूआछूत मिट जाती। इसके लिए वातावरण तैयार करना था, दलितों में शिक्षा, जागृति लानी थी, अंधविश्वासों को दूर करना था, आत्म सम्मान की भावना भरनी थी। साथ ही सरकार द्वारा संरक्षण, कानून भी बनाना जरूरी था। ऊंची जाति के गांधी इतनी गहराई से नहीं सोचते थे, जितना कि दलित जाति के अम्बेडकर सोचते थे।

''गांधी ने 1920 में 'असहयोग आंदोलन' के साथ राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व संभाला। तब से देश स्वाधीन होने तक वे उसके सर्वोच्च नेता रहे। इस बीच उन्होंने देश और दुनिया की कमोबेश सभी महत्त्वपूर्ण समस्याओं, घटनाओं, यहां तक कि ब्रह्मचर्य और प्राकृतिक चिकित्सा जैसे विषयों पर भी अपने विचार व्यक्त किए ओर लिखे। कई विषयों पर उनके विचारों में बदलाव भी आया। नए अनुभवों और बदली हुई परिस्थितियों में उन्होंने पुरानी मान्यताओं का मोह छोड़ कर सर्वथा नयी मान्यताएं अपना लीं। उन्होंने कहा कि कोई भी व्यक्ति अंतर्विरोधी बातें कहने के डर से अपनी नयी अनुभूतियों और अनुभवों के अनुसार अपने विचारों के विकास को कैसे दबा सकता है। इसलिए जब उनसे पूछा गया कि आप अपने 'सत्याग्रह दर्शन' की व्याख्या करते हुए एक ग्रंथ क्यों नहीं लिखते, तो उन्होंने हंस कर कह दिया, 'मेरे मन की बनावट विद्वानों की तरह लिखने की नहीं है। मैं कार्य करने वाला आदमी हूं। आंदोलन के लिए जरूरी विचारों और कार्यक्रमों की स्पष्टता के लिए जरूरी होने पर लिख भी लेता हूं। इसलिए जब मेरे विचारों में कोई अंतर्विरोध दिखे तो पुरानी बात को भूल कर नए कथन को मान्य करना।' आज हम जानकारियों, विचारों, अवधारणाओं को निरंतर 'अपडेट' करते रहते हैं। लेकिन इससे बहुत पहले गांधी ने यह प्रयोग आरंभ कर दिया था।

इससे बिलकुल विपरीत थे, अम्बेडकर, जिन्हें उनके अनुयायी पूरी श्रद्धा से 'बाबा साहब' कहते हैं। डॉ. अम्बेडकर जाति-पांति तोड़ने को सर्वोच्च प्राथमिकता देते थे। इस लक्ष्य को पूरा करने में उनको अंग्रेज सरकार से सहयोग लेने में कोई हिचक नहीं थी। वे स्वराज्य प्राप्त करने के लिए कांग्रेस के उतावलेपन और भारत को स्वतंत्र करने की अंग्रेजों की अनिच्छा का लाभ उठा कर 'अपने लोगों' का भविष्य संवारने के लिए, स्वतंत्र भारत में उनके सामाजिक-राजनीतिक अधिकार सुरक्षित कर लेना चाहते थे। गांधी से पूरी तरह उलटी थी अम्बेडकर के मानस की बनावट। वे विद्वान भी थे और कर्मठ राजनीतिज्ञ भी। उनकी वैचारिकता पर विज्ञाननिष्ठा, आधुनिक सामाजिक चिंतन और पश्चिमी राजनीतिक-आर्थिक अवधारणाओं की गहरी छाप थी। उनका मानना था कि किसी भी प्रकार की सामाजिक क्रांति के लिए सुस्पष्ट विचारधारा जरूरी है। उन्होंने लिखा भी कि 'मैं राजनीति, समाज-कार्य में होते हुए भी आजीवन विद्यार्थी हूं।' अध्ययनशील अम्बेडकर ने हिंदू समाज व्यवस्था के दोष बताने और उसमें अंतर्निहित अमानुषिकता को उजागर

करने के लिए आधुनिक सामाजिक शास्त्रों का ही अध्ययन नहीं किया बल्कि इसके साथ ही उन्होंने प्राचीन हिंदू धर्मशास्त्रों को भी बारीकी से पढ़ा था। गांधी और अम्बेडकर के लेखन की तुलना करते हुए यह ठीक ही लिखा गया है कि 'गांधी के लेखन में जो स्थान सत्य और अहिंसा का है, अम्बेडकर के प्रतिपादन में वही स्थान स्वातंत्र्य, समता और बंधुभाव की त्रिपुटी का है।''[70]

''गांधी जैन-वैष्णव संस्कारों में पले-बढ़ थे। 'वैष्णवजन तो तेरे कहिए, जो पीर परायी जाणै रे' की भावना से ओत-प्रोत गांधी के लिए अस्पृश्यता परायी पीर हो कर भी परायी नहीं थी। सिर्फ इसलिए नहीं कि वे अत्यंत संवेदनशील थे और उन्होंने भारतीय समाज के 'अंतिम आदमी' से तादात्म्य स्थापित कर लिया था। किंतु इसलिए भी कि दक्षिण अफ्रीका स्टेशन पर हुई घटना से उनको भी प्रकारांतर से अस्पृश्यता का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया था। इस घटना के बाद मिस्टर एम.के.गांधी में जो क्रांतिकारी परिवर्तन आया, उसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। पहले दक्षिण अफ्रीका में और बाद में भारत के स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व करते हुए रणनीतिक दृष्टि से गांधी ने जो भी किया हो, किंतु वे सतत अस्पृश्यता-विरोधी रहें ऐतिहासिक सच तो यह है कि वे धीरे-धीरे किंतु दृढ़ता के साथ छुआछूत ही नहीं, जाति प्रथा के भी विरोधी होते गए। जीवन के अंतिम दौर में तो उन्होंने यह तक कह दिया कि वे सवर्ण और अस्पृश्य में विवाह को भी आशीर्वाद देंगे। प्रायः डॉ. अम्बेडकर के अनुयायी इसका श्रेय अपने नेता को देते हैं। कतिपय गांधीभक्तों को यह बुरा लगता है। किंतु गांधी जैसे सर्वसंग्राहक विचारक को शायद ही इस पर कोई आपत्ति होती।''[71]

गणेश मंत्री ने आगे लिखा : ''गांधी और अम्बेडकर के विचारों और व्यक्तित्वों का आकलन करते समय 'गोल मेज सम्मेलन', अछूतों के लिए 'पृथक निर्वाचन मंडल' की अम्बेडकर की मांग, येरवडा जेल में गांधी के उपवास और समझौते, दोनों में कुछ समय तक सहयोग और उसके बाद अलगाव का निश्चित ही बहुत महत्त्व है। गांधी और अम्बेडकर की पहली मुलाकात 14 अगस्त 1931 को बंबई में मणि भवन में हुई। प्रारंभिक औपचारिकताओं के बाद तुरंत ही दलित समस्या पर दोनों में मतभेद स्पष्ट रूप से उभर आए। इन दोनों की बातचीत का विवरण पढ़ें तो यह बात उभर कर आती है कि गांधी और अम्बेडकर में संवाद नहीं, सिर्फ विवाद हुआ। यह भी अचरज की बात है कि इस मुलाकात तक गांधी को यह जानकारी नहीं थी कि अम्बेडकर स्वयं अस्पृश्यों में से एक हैं। वे उनकी अपनी ही तरह का एक समाज सुधारक सवर्ण नेता समझते थे।

इस मुलाकात में गांधी ने अस्पृश्यता निवारण के लिए अपने और कांग्रेस के प्रयासों का जिक्र किया। जवाब में अम्बेडकर ने कहा कि 'कांग्रेस ने समस्या को औपचारिक मान्यता देने के अलावा कुछ नहीं किया...कांग्रेस अपनी कथनी के बारे में ईमानदार नहीं है, अन्यथा वह कांग्रेस की मेंबरी के लिए खादी पहनने की अनिवार्यता की तरह अस्पृश्यता निवारण की भी शर्त रख सकती थी। कोई भी ऐसा आदमी, जो किसी-न-किसी अस्पृश्य स्त्री अथवा पुरुष को अपने घर में काम पर नहीं रखेगा, या किसी अस्पृश्य विद्यार्थी का घर में पालन

नहीं करेगा, या किसी अस्पृश्य विद्यार्थी के साथ सप्ताह में कम-से-कम एक बार अपने घर में भोजन नहीं करेगा, वह कांग्रेस का मेंबर नहीं बन सकेगा...आप कहते हैं कि ब्रिटिश सरकार का हृदय परिवर्तन होता नहीं दिख रहा है। जब तक वे अपनी बात पर अड़े हुए हैं तब तक हम न कांग्रेस पर विश्वास करेंगे और न हिंदुओं पर। हम अपनी मदद आप करने और आत्मसम्मान से विश्वास करते हैं। हम महान नेताओं और महात्माओं में विश्वास करने के लिए तैयार नहीं है। मैं इस संबंध में आपसे स्पष्ट कह दूं कि इतिहास हमें बताता है कि महात्मा लोग तुरंत गायब हो जानेवाले प्रेतों की तरह होते हैं, वे धूल के गुबार तो उठाते हैं, पर लोगों का स्तर नहीं उठाते।''[72] (नवयुग, अम्बेडकर अंक, 13 अप्रैल 1947) गांधी और अम्बेडकर के मध्य हुए इस वार्तालाप से अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष और सक्रिय आंदोलन छेड़ने वाले इन दो महापुरुषों के दृष्टिकोणों का अंतर स्पष्ट हो जाता है। गांधी स्पृश्य हिंदू नेता थे लेकिन गरीबी और अंधविश्वास अस्पृश्ता और जातिविभेद से कराहती मानवता के धारों पर फौजी मलहम भर लगाना चाहते थे। अम्बेडकर अस्पृश्य थे, खुद गरीबी, समाजिक बहिष्कार, जाति और अस्पृश्यता की मार झेल चुके थे, जबकि अपने युग के वे महाज्ञानी, महापंडित ओर संवेदन शील महापुरुष थे। इसलिए ''मतभेदों की इस अपाट खाई के रहते 'दूसरे गोल मेज सम्मेलन' में गांधी और अम्बेडकर में सहमति की कोई गुंजाइश थी ही नहीं। वहां अम्बेडकर ने अछूतों के लिए 'पृथक निर्वाचन मंडल' की मांग की और गांधी ने इसका प्रखर विरोध किया। समाजविज्ञानी डॉ. एम.एस.गोरे के अनुसार तो सारे घटनाक्रम को ध्यान में रखने पर ऐसा लगता है कि 'दूसरा गोल मेज सम्मेलन' हिंदू-मुस्लिम अथवा कांग्रेस-ब्रिटिश नजरियों में संघर्ष के कारण नहीं, बल्कि गांधी-अम्बेडकर में सेतुरहित अंतर के फलस्वरूप विफल हुआ।''[73]

बाद में तो जगजीवन राम गांधी के आलोचक बन गए। उन्होंने लिखा : ''गांधी ने जिस आंदोलन का सूत्रपात किया था उससे सार्थक समाज सुधार हुआ। उत्तर भारत में, जहां स्त्रियां बहुत अधिक पर्दा करती हैं, वे बड़ी संख्या में उनकी सभाओं में आने लगीं। उनमें से बहुत-सी महिलाएं आंदोलन में आ गईं और जेल गईं। आज भारत में दुनिया भर के देशों की अपेक्षा अधिक महिला विधायक हैं और मैं समझता हूं कि इसका श्रेय गांधीजी को जाता है। परंतु गांधीजी ने जातिप्रथा का प्रत्यक्ष कुठाराघात नहीं किया। प्रारंभ में उनका यह विचार था कि यदि जाति प्रथा में सुधार लाया जाए तो हिंदू धर्म को एक राष्ट्र में परिवर्तित किया जा सकता है। परंतु गांधी को अंततोगत्वा निराशा का ही सामना करना पड़ा और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जाति को समाप्त करना ही पड़ेगा। बाद में उन्होंने लिखा : ''जाति प्रथा को समाप्त करने का सबसे अधिक प्रभावोत्पादक और शीघ्र फलदायी तरीका यह है कि सुधारक स्वयं इस प्रकार का आचरण करे मानो जाति है ही नहीं और यदि उन्हें इस आचरण में दुख भी उठाना पड़े तो सहर्ष उसे स्वीकार करे। वांछनीय यह है कि सवर्ण लड़कियां हरिजनों से विवाह करें। यह उससे कहीं अधिक अच्छा है कि हरिजन लड़कियां सवर्ण से विवाह करें। यदि बस चले तो मैं अपने प्रभाव में आने वाली सभी सवर्ण हिंदू लड़कियों को इस बात के लिए तैयार कर लूं कि वे हरिजनों

से विवाह करें। एक और अवसर पर उन्होंने कहा कि छुआछूत तभी समाप्त हो सकती है जब जाति का सर्वथा उन्मूलन हो जाए। जब गांधीजी इस निष्कर्ष पर पहुंचे तो उनसे किसी ने प्रश्न पूछा : आपने छुआछूत विरोधी कार्य को जाति व्यवस्था के विरुद्ध व्यापक आंदोलन का अंग क्यों नहीं बनाया। क्योंकि यदि किसी वृक्ष की जड़ उखाड़ दी जाए तो उसकी शाखाएं अपने आप सूख जाती हैं?'' गांधी जीने उत्तर दिया : ''मेरा किसी विषय पर कुछ विचार रखना एक बात है परंतु सारे समाज को उसके लिए तैयार करना बिल्कुल दूसरी बात है। यदि मैं 125 वर्ष जी सकूं तो आशा करता हूं कि मैं सारे समाज को अपने विचारों का बना लूंगा।

गांधी का यह सपना अभी पूरा नहीं हुआ। यदि एक ही बात पर अड़े रहना दुर्गुण है तो मैं यह मानता हूं कि यह मुझमें है क्योंकि मैं प्रारंभ से ही इस प्रश्न पर एक ही रवैया रखता आया हूं। 1937 में बिहार के गोपालगंज नगर में एक सभा में, जिसमें डाक्टर राजेंद्र प्रसाद और कई अन्य बिहारी नेता उपस्थित थे, मैंने यह बताया कि राष्ट्रवादी आंदोलन में क्या त्रुटि है। मैंने कहा कि इस आंदोलन की प्रेरणा मुख्य रूप से राजनीतिक है और इसका दृष्टिकोण भी राजनीतिक ही है। यदि यह आंदोलन समाज की व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का आंदोलन नहीं बन पाएगा तो हरिजनों की स्थिति को सुधारने की प्रेरणा अधिक समय तक जीवित नहीं रहेगी। मैंने इस बात पर बल दिया कि मूल रूप से यह प्रेरणा इस बात की है कि हम अपने जीवन को सुधारें और उसे उदारता के शिखर तक ले जाएं। परंतु 'स्वराज' की संकल्पना को अस्पष्ट रखा गया था (मैं समझता हूं कि जानबूझ कर ऐसा किया गया) जिससे कि राष्ट्रीय आंदोलन एक संगठित मोर्चे के समान चलाया जा सके।...आज जातिवाद राजनीतिक जीवन में विष के समान इतना अधिक फैल गया है कि हमारे लोकतंत्र का ढांचा खतरे में पड़ गया है।''[73]

आगे जगजीवन राम ने कहा : ''गांधी जी के बहुत से विचार आज न्याय संगत नहीं रहे हैं और गांधी जी जीवित होते तो स्वयं उनको तिलांजलि दे देते। परंतु उनका यह दृष्टिकोण आज भी संगत है कि समूहों के व्यवहार को बदलने के लिए नैतिक शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है।''[74]

''सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक एवं प्रगतिशील विद्वान लेखक **डॉ. राम विलास शर्मा** ने बिना किसी पूर्वग्रह के **'गांधी, अम्बेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं'** नामक एक विशद् अध्ययन हिन्दी भाषी जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है? क्योंकि तीनों नेताओं व देशी-विदेशी लेखकों और स्वयं की अधिकतर स्तरीय और प्रारंभिक किताबें अंग्रेजी में हैं इसलिए इस शोधपूर्ण अध्ययन का बहुत महत्त्व है। पिछले सालों में हुआ यह है कि गांधी और लोहिया पर इक्का-दुक्का लेखन हो रहा है, लेकिन डॉ. अम्बेडकर के जीवन-दर्शन अम्बेडकर आंदोलन, अम्बेडकर प्रभावित दलित लेखन और दलित साहित्य पर सभी प्रमुख भाषाओं में ऊंचे से ऊंचे लेखकों की रचनाओं की बाढ़ आ गई है।

डॉ. शर्मा ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि 'गांधी ने कहा था, अछूतों की मूल समस्या जमीन की है। उन्हें जमीन मिलनी चाहिए। यह काम पूंजीवादी सरकारों

ने नहीं किया। वामपक्ष की सरकारों ने जिस हद तक यह काम किया उस हद तक वे संप्रदायवाद और जातिप्रथा का असर खत्म कर सकें (पृ. IX)। अम्बेडकर की सोच थी कि अछूत बौद्ध हो जाएं तो उनकी समस्या हल हो जाएगी। लेकिन बौद्धों में भी पुरोहित होते हैं, यह बात अम्बेडकर जानते थे (पृष्ठ XII)। डॉ. राममनोहर लोहिया ने जातिप्रथा पर बहुत लिखा है। परंतु वह अम्बेडकर के निकट नहीं हैं तथा गांधी से भी दूर हैं। जातिप्रथा के संबंध में अम्बेडकर और गांधी एक दूसरे के ज्यादा नजदीक हैं।...गांधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम से अम्बेडकर प्रसन्न नहीं थे। वह समझते थे कि अंग्रेज जो रियायतें दे रहे हैं तथा जो विधानसभा बनेंगी, उनमें अछूतों का अलग प्रतिनिधितव होगा जो उनकी दशा को सुधरेगा। गांधी का मार्ग दूसरा था। वह देश की स्वाधीनता को सबसे बड़ी आवश्यकता मानते थे। अपने व्यवहार में उन्होंने ऊंच-नीच का भेद मिटाने का भरसक प्रयत्न किया।. ..अम्बेडकर अक्सर अछूतों पर अत्याचार की कहानियां सुनाने के लिए गांधीजी के 'हरिजन मंच' अथवा गांधी जी के अनुयायियों के पत्रों से उद्धरण दिया करते थे।

राममनोहर लोहिया ने अछूतों को तो गांधी के हवाले कर दिया और अपना ध्यान छोटी जातियों पर केंद्रित किया। (पृ. XII)। कहा जाता है मंडल आयोग की सिफारिशों में निहित मूल सोच की प्रेरणा डॉ. लोहिया के विचारों से आई है।

लगभग 800 पृष्ठ के अपने ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रंथ में डॉ. शर्मा की यह कृति आधुनिक भारत की ताजा घटनाओं का चित्रण तो है ही, दूसरे मायने में दलित आंदोलन के प्रमुख दस्तावेज का भी काम करती है। क्योंकि इसमें गांधी और अम्बेडकर के संदर्भ में सभी प्रमुख सामाजिक घटना चक्रों का सजीव सोदाहरण चित्रण है। इस प्रकार इसमें कहीं गांधी की तारीफ है, कहीं उनकी आलोचना कहीं उनकी कमियां हैं। इसी प्रकार इसमें डॉ. अम्बेडकर के समूचे व्यक्तित्व, पूरे जीवनदर्शन की सजीव सी तस्वीर उभरती है। लोहिया धाकड़ लेखक व विचारक थे। उनका ध्यान पिछड़ी जातियों पर अधिक था। एक दृष्टि से अम्बेडकर के पूरे चिंतन और आंदोलन पर इसमें जिक्र आता है जिसका आधार उन्हीं का अपना लेखन है।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की ऐतिहासिक समस्याओं का तीन बड़े नेताओं की वैचारिकता और दृष्टिकोण का डॉ. राम विलास शर्मा जैसे समर्थ लेखक ही आकलन कर सकते हैं।"[75]

गांधी के विचारों का विश्लेषण करते हुए सुमित सरकार ने लिखा :

"इसमें संदेह नहीं कि हिंद स्वराज में प्रस्तुत गांधीवादी सामाजिक कल्पनालोक अयथार्थवादी और पोंगापंथी है और भारत का संसार के कष्टों को दूर करने के उपाय के रूप में यह कभी परिष्कृत, शहरी लोगों को आकर्षित नहीं कर सका। 1930 और 1940 के दशकों में ये लोग औद्योगीकरण पर आधारित पूंजीवादी अथवा समाजवादी समाधानों की ओर अधिकाधिक आकर्षित होने लगे थे। किंतु गांधी की परिकल्पना उस प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है जो 'आधुनिकीकरण' के गहरी बेगानगी उत्पन्न करने वाले प्रभावों ने, विशेषकर औपनिवेशिक परिस्थितियों में, उत्पन्न की थी। कारखानों से

बर्बाद हुए कारीगर, किसान जिनके लिए न्यायालय खतरनाक फंदे थे और शहरी अस्पतालों में जाना प्रायः महंगा मृत्युदंड होता था, साथ ही ग्रामीण एवं कस्बाई बुद्धिजीवी जिन्हें शिक्षा से कोई लाभ नहीं मिला था—इन सबके लिए, कुछ समय के लिए ही सही, उद्योग-विरोधी विचार वस्तुतः आकर्षक थे। स्वदेश लौटने पर गांधी ने खादी, ग्रामों में रचनात्मक कार्यों एवं (कुछ समय पश्चात्) हरिजन-कल्याण के माध्यम से अपने संदेश को मूर्तरूप दिया। पुनः, इनमें से कोई भी कार्यक्रम ऐसा नहीं था जो सामाजिक अथवा आर्थिक संबंधों में परिवर्तन लाकर समस्याओं का कोई वास्तविक समाधान कर सकता, किंतु निष्ठावान एवं समर्पित गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं द्वारा लगन और धैर्य के साथ प्रयुक्त किए जाने पर ये कार्यक्रम ग्रामीण लोगों की स्थिति को कुछ सीमा तक अवश्य सुधार सकते थे।''[75]

गांधी के विचार अछूतों को भ्रमित करते रहे। उनकी जीविका के बारे में स्रोत गांधी के स्वप्निल-कल्पित विचारों से समाप्त हो गए। दलित आंदोलन को भी विभाजित करने की कोशिश हुई, लेकिन जब दलित शिक्षित व समर्थ हुए तो उन्होंने गांधी दर्शन को मिथ्या माना और नकार दिया। यही कारण है कि गांधी की स्मृति में भीड़ जुटाई जाती है, अम्बेडकर के स्मृति कार्यक्रमों में बेशुमार लोग आते हैं। अम्बेडकर गांव-गांव प्रतिष्ठित हो गए हैं, गांधी को जल तरर्पण करने के लिए कोई तैयार नहीं। इतिहासकार उन्हें जीवित रखे हुए हैं।

''गांधी तथा अम्बेडकर के विचारों की तुलना करना काफी कठिन कार्य है, फिर भी जाति के विषय में गांधी व अम्बेडकर में वही अंतर है जो कि तुलसीदास व कबीरदास में था। कबीर और अम्बेडकर समाज को नए सिरे से संगठित करना चाहते थे वही तुलसीदास व गांधी समाज में ही परिवर्तन करना चाहते थे परंतु दोनों ही वर्ण-व्यवस्था के पोषक थे। गांधी का एक महात्मा और एक राजनीतिक रूप में मुख्य उद्देश्य यही था कि अस्पृश्यता जैसी कुरीतियों को दूर कर और समाज सुधार के द्वारा अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीयों की एकता को मजबूत किया जाएं। यद्यपि गांधी ने अपनी समकालीन जाति व्यवस्था को धिक्कारा परंतु उनका अंत तक यह विश्वास था कि प्राचीन काल से चली आ रही वर्ण-आश्रम व्यवस्था, सामाजिक समरूपता, आत्मा के विकास और परम्परागत कर्तव्यों के निर्वाह के लिए आवश्यक है। गांधी के विषय में एक सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि **गांधी के अनुसार सभी वर्णों को समान प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, भले ही उन्हें अवसरों की समानता प्राप्त न हो। गांधी ने कहा था कि यदि कोई व्यक्ति भंगी परिवार में उत्पन्न होता है, तो उसे अपनी आजीविका भंगी बनकर ही कमानी चाहिए। उसके बाद वह चाहे जो भी करे (संदर्भ–'हरिजन' 6 मार्च 1937)**। गांधी जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता को अलग-अलग मानते थे जबकि अम्बेडकर का मानना था कि जब तक जाति-प्रथा चलती रहेगी, तब तक अस्पृश्यता भी मौजूद रहेगी।''[76]

गांधी तथा अम्बेडकर के विचारों का तुलनात्मक विश्लेषण किया जाएं तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अम्बेडकर वर्ण-व्यवस्था का मूल कारण श्रम-विभाजन नहीं मानते थे जैसा

कि गांधी का मानना था। अम्बेडकर ने यह प्रश्न किया कि अगर इसका मूल उद्देश्य श्रम-विभाजन था तो यह व्यवस्था अन्य देशों में स्वीकार क्यों नहीं की गई, उनका स्पष्ट मत था कि जाति प्रथा कुछ चालाक लोगों—ब्राह्मणों का षड्यंत्र था।

1930 के दशक के मध्य तक अम्बेडकर ने जो कार्य किये अगर उसका विश्लेषण किया जाएं तो इस समय अम्बेडकर की सोच संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से मिलती-जुलती थी तथा प्रारम्भ में उनका मानना था कि संस्कृतिकरण के द्वारा अस्पृश्यों की जातीय स्थिति में सुधार हो सकता हैं इसलिए उन्होंने 1927 और 1935 के मध्य विभिन्न अभियान चलाएं ताकि अच्छूतों को हिन्दू मंदिरों में प्रवेश मिले और ठीक इसी प्रकार अन्य रीति-रिवाज और अनुष्ठान अपनाने के लिए प्रेरित किया लेकिन 1935 तक अम्बेडकर ने स्पष्ट रूप से यह समय लिया कि यह तरीके प्रभावशाली नहीं हैं, इसलिए उन्होंने हिन्दू धर्म छोड़कर अन्य धर्म अपनाने का फैसला किया। अम्बेडकर ने अस्पृश्य जाति के लोगों को सलाह दी कि वे उन सब कार्यों को छोड़ दे जिनकी वजह से उनको छोटा व अस्पृश्य माना जाता है और उच्च शिक्षा प्राप्त कर नए कार्य अपनाएं। यहाँ गौर किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अम्बेडकर का यह उद्देश्य गांधी के **'आदर्श भंगी'** के विचार से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि गांधी के अनुसार **'आदर्श भंगी'** अपना सफाई का कार्य करता रहेगा यद्यपि उसकी प्रास्थिति अब ब्राह्मण की प्रास्थिति की भाँति हो जाएगी।''

निष्कर्ष—गांधी तथा अम्बेडकर की जाति के विषय में तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति के विषय में गांधी और अम्बेडकर के भिन्न मतों के पीछे उनकी अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि, अलग-अलग मानसिक गठन, उद्देश्य तथा व्यक्तित्व का होना ही प्रमुख कारण था। जहाँ गांधी का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भारत को आजाद करवाना था तथा आजादी के इस आंदोलन में सभी जातियों की भागीदारी सुनिश्चित करना था वहीं दूसरी ओर अम्बेडकर की मूल समस्या भारत की राजनीतिक आजादी के बजाएं जाति प्रथा व सामाजिक अत्याचारों से मुक्ति लिवाकर दलित लोगों को हिन्दू समाज में उनके मानवाधिकारों को दिलवाना था।

संदर्भ

1. अम्बेडकर, डॉ. बी. आर. : व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दि अनटचेबिल्स, 1945 (कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया? (हिंदी अनुवाद : जगन्नाथ कुरील)
2. वही, पृ. 8, 10, 11
3. वही, पृ. 21
4. वही, पृ. 124
5. 314 राजेंद्रमोहन भटनागर : डॉ. अम्बेडकर : चिंतन और विचार, पृ. 77
6. वही, पृ. 315
7. वही, पृ. 316
8. वही, पृ. 317

9. वही, पृ. 318
10. वही, पृ. 319
11. वही, पृ. 320
12. वही, पृ. 321
13. वही, पृ. 322
14. वही, पृ. 323
15. वही, पृ. 324
16. वही, पृ. 325
17. वही, पृ. 326-327
18. वही, पृ. 327-328
19. वही, पृ. 328
20. वही, पृ. 329
21. वही, पृ. 330-331
22. वही, पृ. 332
23. वही, पृ. 333
24. वही, पृ. 334
25. वही, पृ. 335
26. वही, पृ. 336
27. वही, पृ. 337
28. वही, पृ. 338
29. वही, पृ. 339
30. वही, पृ. 340
31. वही, पृ. 341
32. वही, पृ. 342
33. वही, पृ. 343
34. वही, पृ. 344
35. राहुल सांकृत्यायन द्वारा 'मानव समाज' में पृ. 214 पर उद्धृत।
37. शुक्ला, रामलखन : आधुनिक भारत का इतिहास पृ. 369
38. सरकार, सुमित : आधुनिक भारत
39. विपिनचंद्र : इंडियन लैफ्ट-क्रिटिकल एप्रैजल : एवं मृदुला मुखर्जी : पेजेन्ट्री एंड दी नेशनल इन्टैगोशम (जे. एन.यू.)
30. कुलकर्णी, सुमित्रा : अनपमोल विरासत, पृ. 13
40. उपरोक्त, पृ. 21
41. डॉ. अम्बेडकर जन्म शताब्दी वर्ष में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और भागलपुर विश्वविद्यालय की एक विचार गोष्ठी में कन्हैयालाल चंचरीक के 'अम्बेडकर और गांधी' व्याख्यान (20.24 मार्च, 1992) से उद्धृत। पृ. 2
42. वही, पृ. 3
43. वही, पृ. 4
44. वही, पृ. 4
45. वही, पृ. 4
46. वही, पृ. 7-8

47. गिल, एस.एस. : गांधी-ए सबलाइम फैल्योर , पृ. 94
48. गिल वही, पृ. 99
49. गिल वही, पृ. 99
50. गिल वही, पृ. 100
51. गिल वही, पृ. 101-102
52. वही, पृ. 109
53. सरकार सुमित : माडर्न इंडिया (हिं. सं.) पृ. 372-73
54. वही, पृ. 373
55. वही, पृ. 373
56. कैवल भारती : 'मंदिर में क्या रखा है' (राज किशोर संपादित हरिजन से दलित) लेख से उद्धृत , पृ. 72
57. वही, पृ. 73
58. वही, पृ. 74
59. वही, पृ. 75
60. मंत्री, गणेश : गांधी और अम्बेडकर, पृ. 227
61. सरकार, सुमित, पृ. 373
62. मंत्री गणेश, गांधी और अम्बेडकर, 228
63. लिमये, मधु : डॉ. अम्बेडकर एक चिंतन, पृ. 24 (गणेश मंत्री द्वारा उद्धृत)
64. उपरोक्त, पृ. 228
65. डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय खंड 2, पृ. 169-171
66. वही
67. मंत्री गणेश : अम्बेडकर और गांधी हरिजन से दलित संपा. राज किशोर) पृ, 112
68. फड़के, य. दि. : अम्बेडकरी चलवल, पृ. 34
69. मंत्री, गणेश, पृ. 113
70. सरदार, गंगाधर बालकृष्ण, गांधी मणि अम्बेडकर, पृ. 10 (गणेश मंत्री द्वारा उद्धृत)
71. मंत्री, गणेश, पृ. 113-114
72. मंत्री, गणेश, पृ. 115
73. गोरे, एम.एस. : दि सोशल कावन्टैक्ट ऑफ एन आइडियोलॉजी, पृ. 133
74. जगजीवन राम : भारत में जातिवाद, पृ. 42-43
75. वही, पृ. 44
76. दृष्टव्य डॉ. राम विलास शर्मा कृत, 'गांधी, अम्बेडकर और लोहिया' पुस्तक।
77. सरकार, सुमित, पृष्ठ 214
78. 'बीसवीं सदी का दलित आंदोलन' चन्द्रा, नरेन्द्र शैध पत्र (कार्य जारी से उद्धृत)

7

राष्ट्रवादी दलित आंदोलन और जगजीवन राम

राष्ट्रवादी दलित आंदोलन बिहार की भूमि पर शुरू हुआ। इसका सृजन और नेतृत्व जगजीवन राम ने किया। इस दलित आंदोलन के संचालक और अनुयायी कांग्रेस से प्रभावित थे। उन्होंने देश की आजादी की लड़ाई में सक्रिय भाग लिया और तन्मयता से अस्पृश्यता निवारण, जातिवाद मिटाने के साथ-साथ अछूतों के सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों के लिए आवाज उठाई।

राष्ट्रवादी दलित आंदोलन और अम्बेडकरवादी आंदोलन या कहें जगजीवन राम और अम्बेडकर में कोई भी तुलना अनावश्यक है क्योंकि डॉ. अम्बेडकर पूर्णतः अलग ही अपना सामाजिक-राजनीतिक अस्तित्व रखते थे। जब तक जगजीवन राम राष्ट्रवादी दलित आंदोलन से जुड़े डॉ. अम्बेडकर दलित अस्पृश्यों के लिए सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों की जंग लड़ चुके थे। जगजीवन राम ने कांग्रेस ध्वज के तले, कांग्रेस की नीतियों को मानते हुए सत्ता में भागीदारी की लंबी पारी खेली, डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन और छवि एक मसीहा व युगपुरुष की थी। अगर जगजीवन राम दो दशक पूर्व पैदा होते तो हो सकता है 'साउथबरो आयोग', 'साइमन आयोग', 'नेहरु रिपोर्ट', 'लोथियन समिति', 'गोलमेज सम्मेलन' और 'पूना पैक्ट' जैसे दलित आंदोलन के इतिहास के महत्त्वपूर्ण घटना चक्रों में अपनी प्रभावी भूमिका निभाते। जब वे सामाजिक क्षेत्र और दलितों के अधिकारों की लड़ाई के लिए कटिबद्ध हुए डॉ. अम्बेडकर अपने संघर्ष का महत्त्वपूर्ण चरण समाप्त कर चुके थे।

डॉ. अम्बेडकर की ब्रिटिश सरकार ने खोज की और दलितों के प्रतिनिधित्व के नाम पर उन्हें वायसराय की कार्यकारिणी का सदस्य बनाया। बाद में देश ने उनकी प्रतिभा का लाभ उठाया और उन्हें संविधान रचने का कार्य सौंपा और वे लगभग चार वर्ष केन्द्र में कानून मंत्री रहे।

इस अध्ययन में डॉ. अम्बेडकर के दलित नेतृत्व का कई अध्यायों में जिक्र आया है। यहां जगजीवन राम और राष्ट्रवादी दलित नेतृत्व, के कार्यक्रम और उनकी उपलब्धियों तथा सामाजिक-राजनीतिक दर्शन की चर्चा की गई है। साथ ही जगजीवन राम और डॉ.

अम्बेडकर आंदोलन के अंतर्संबंधों कार्य संस्कृति, का भी विश्लेषण किया गया है।

सच्चाई यह है कि कांग्रेस की छत्रछाया में राष्ट्रवादी आंदोलन विकसित हुआ और जगजीवन राम के राजनीति में रहते हुए बुलंदियों पर पहुंचा। कहीं कहीं कांग्रेस नेतृत्व के प्रति जगजीवन राम के तीखे तेवर भी दिखाई देते हैं।

सन् 1946 में जगजीवन राम 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' के अध्यक्ष की हैसियत से क्रिप्स मिशन के सम्मुख अपनी विस्तृत राय प्रस्तुत करके राष्ट्रवादी दलित आंदोलन के मुख्य नेता बने। कांग्रेस में रहते हुए जगजीवन राम कांग्रेस नेताओं से ज्यादा संतुष्ट नहीं थे। तब अनुसूचित जातियों की समस्याओं को ज्यादा सहानुभूति से नहीं देखा जाता था, इसकी पूर्ण जीवन उन्हें शिकायत रही। वे पूरी उम्र दलित अधिकारों के लिए योद्धा की तरह लड़ते रहे।

जगजीवन राम : जन्म, शिक्षा और समाज सेवा का व्रत

यशस्वी परंपराओं वाले ऐतिहासिक बिहार के शाहाबाद जिला स्थित चंदवा नामक छोटे से गांव में 5 अप्रैल, 1908 को 'शिवनारायण संप्रदाय' के लोकप्रिय संत शोभीराम के साधारण दलित परिवार में जगजीवन राम का जन्म हुआ। उन्होंने गांव में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की और आरा से हाई स्कूल प्रथम श्रेणी में पास किया। संयोगवश हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश लेकर मदन मोहन मालवीय जब आरा आए तो इनकी प्रतिभा से प्रभावित हुए और काशी हिंदू विश्वविद्यालय में आगे अध्ययन के लिए आमंत्रित किया। वहां से 1927-28 में इंटर साइंस में पास की और फिर वे कलकत्ते चले आए।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान "राष्ट्रीय जीवन का व्यापक स्वरूप सामने आया और वहां के मिल मजदूरों विशेषतः हड्डी और चमड़े की मिलों के मजदूरों की बदतर जीवन परिस्थितियों ने आपको नेतृत्व के लिए आकर्षित किया।"[1]

वे सन् 1928 में कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में जिज्ञासु बन कर गए और राष्ट्रीय नेताओं की नजर बीस वर्षीय युवा जगजीवन राम पर पड़ी। यहीं गांधी ने औपनिवेशिक स्वराज्य न मिलने पर पूर्ण स्वराज्य की मांग दुहराई। मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी थी। लेकिन सुभाषचंद्र बोस और जवाहर लाल नेहरू 'डोमीनियन स्टेट्स' की जगह पूर्ण स्वराज्य के समर्थक बन गए थे। सन् 1929 में पुनः जगजीवन राम लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में एक कांग्रेस समर्थक-दर्शक के रूप में सम्मिलित हुए और अपने को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने के लिए प्रयत्नशील हो गए। इधर बी.एस.सी. की पढ़ाई भी पूरी करनी थी। तब से लेकर जीवन के अंतिम क्षणों तक वे कांग्रेस के दलित मुक्ति प्रयास और देश की राजनीति से जुड़े रहे। दलित आंदोलन को राष्ट्रीय धारा से जोड़ने में वे पूर्णतः सफल रहे। उन दिनों राष्ट्रीय चेतना का बोलबाला था और स्वतंत्रता आंदोलन गांव-गांव और नगर-नगर फैल चुका था। इससे ब्रिटिश राज चिंतित था। राष्ट्रीय मुक्ति के प्रयास और दलित एकता को तोड़ने के लिए अंग्रेज राष्ट्रीय जीवन में फूट के बीज बो रहे थे। ब्रिटिश राज ने ही हिंदू-मुस्लिम एकता में दरार डाल दी। इस तरह वह मुस्लिम और दलित

जातियों को आजादी की लड़ाई से अलग थलग करने के मंसूबे लेकर विघटनकारी शक्तियों को बढ़ावा देने लगे। उत्तर भारत में तो वे सफल नहीं हो पाए। लेकिन महाराष्ट्र और दक्षिण में दलित और गैर-ब्राह्मण आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग करने में अंग्रेज कामयाब हो गए। बीसवीं शती के चौथे दशक में राजनीतिक गतिविधियां इतनी तीव्रता से बदल रही थीं कि दलितों के सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक हितों को पीछे धकेल कर धर्मांतरण की विघटनकारी प्रवृत्तियां सिर उठाने लगी थीं।

ऐसे सक्रांति काल में राष्ट्रीय राजनीति, भारत के मुक्ति संग्राम और दलित आंदोलन में जगजीवन राम ने पदार्पण किया और फिर लगभग आधी शताब्दी तक वे दलितोत्थान और राष्ट्र की सेवा के संकल्प से पीछे नहीं हटे।[2]

अविभाजित बंगाल का दलित नेतृत्व

भारत विभाजन से पूर्व बंगाल में राष्ट्रीय स्तर के कई दलित नेता हुए जिनमें **जोगेन्द्रनाथ मंडल, रसिकलाल विश्वास और हेमचंद्र नस्कर आदि प्रमुख हैं। मंडल 'शिडयूल्ड कास्ट फेडरेशन' के नेता थे। रसिकलाल 'भारतीय दलित वर्ग संघ' के अध्यक्ष थे, जबकि नस्कर 'भारतीय हरिजन लीग' के नेता थे।** 'भारतीय दलित वर्ग संघ' में जगजीवन राम जैसे राष्ट्रवादी दलित नेता और हरिजन लीग में अविभाजित पंजाब के भगत अमींचंद जैसे कम जाने पहचाने नेता सम्मिलित थे। बंगाल के दलित सदियों से अशिक्षा, गरीबी, शोषण और बेरोजगारी के शिकार रहे हैं। देहात के दलित अधिकाशतः छोटे किसान और शहरों में बसे मजदूरी करके अपना जीवन यापन करते रहे हैं। बंगाल की विभिन्न मिलों और बंदरगाह पर उनकी भारी तादाद कार्यरत रही। जगजीवन राम ने जब 1930 में कलकत्ता में **'दलित सुधार सभा'** और **'रविदास सभा'** गठित की तो बिहार-उड़ीसा ओर अन्य जगहों से आए सहस्रों की तादाद में चमार-पासी और दूसरी दलित जातियों के लोग उनके आंदोलन में शामिल हुए। ये वे दिन थे जब कांगेस के नेतृत्व में भारत की आजादी का अभियान चल रहा था। महाराष्ट्र में डॉ. अम्बेडकर महारों को संगठित करके अपनी छवि बना चुके थे।

युवा जगजीवन राम के दलित आंदोलन में जूट मिलों, चमड़ा-हड्डी के कारखानों, कपड़ा और अन्य प्रकार की फैक्टरियों तथा छोटे मोटे धंधों में लगे दलित मजदूरों की ज्यादा संख्या थी। उन्होंने अस्पृश्यता निवारण, शिक्षा ग्रहण करने और समाज सुधार के लिए लोगों का आह्वान किया। उनकी सभाओं में हजारों बंगाल-बिहार और उड़ीसा के दलित लोग शामिल हुआ करते थे। तब वे कालेज के विद्यार्थी थे और समाज सुधारों में भारी दिलचस्पी रखते थे।[3]

युवा जगजीवन राम ने सन् 1931 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी.एस.सी की परीक्षा पास कर ली। गरीबी के कारण वे आगे नहीं पढ़ पाए। उनकी शुरू से ही सामाजिक सुधारों में रुचि थी, इसलिए सर्वप्रथम कलकत्ता प्रवासी बिहार के रविदासी भाइयों को 'दलित सुधार सभा' और 'रविदास सभा' के नाम से संगठित किया। इसमें हजारों लोग

सम्मिलित होने के इच्छुक थे। उन दिनों देश की स्वतंत्रता के लिए कांग्रेस की गतिविधियां तेजी पर थीं। आए दिन हड़तालें, सत्याग्रह और पिकेटिंग होती रहती थी। वे भी इन सब से जुड़ना चाहते थे। अभी तक उनको मार्गदृष्टा नहीं मिला था। धीरे-धीरे उन्होंने कांग्रेस के बड़े नेताओं से संपर्क स्थापित किया। जे.एम.सेनगुप्ता और सुभाषचंद्र बोस जैसे देश के शीर्ष नेताओं ने उन्हे आकर्षित किया। पूना पैक्ट के बाद नवंबर सन् 1932 में गांधी की प्रेरणा से जब **'अस्पृश्यता विरोधी संघ'** स्थापित हुआ जो बाद में **'हरिजन सेवक संघ'** नाम से पुनर्गठित हुआ उसका उन्हें बिहार प्रदेश शाखा का मंत्री बनाया गया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद 'बिहार प्रांतीय अस्पृश्यता विरोधी सम्मेलन' में उनसे बहुत प्रभावित हुए।

बाद में सन् 1934 में उन्होंने भारत के अस्पृश्य चमार (रविदासी) समाज को संगठित किया और कई प्रदेशों में व्यापक भ्रमण किया। उंन्हें शीघ्र ही यह आभास हो गया कि बदलते राजनीतिक परिदृश्य में जातिसूचक अस्पृश्य संगठन प्रभावी नहीं होगा।[4]

अतः जाने माने कार्यकर्त्ताओं और दलित नेताओं को एकजुट करके उन्होंने राष्ट्रवादी अछूत वर्ग के नेताओं का **'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ'** गठित किया जिसके बंगाल के **रसिकलाल विश्वास** अध्यक्ष बने। वे स्वयं इसके महामंत्री बनाए गए। गांधी के **आशीर्वचन** और घनश्याम दास बिरला के आर्थिक सहयोग से बनी 'सर्वेंट्स ऑफ दी अनटचेबिल्टी सोसाइटी' (हरिजन सेवक संघ) के मंत्री पद से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया क्योंकि यह पूर्णतः सामाजिक-शैक्षिक संगठन था, जबकि जगजीवन राम अस्पृश्यों के लिए राजनीतिक पारी खेलना चाहते थे।[5]

यह सही है कि अम्बेडकर अस्पृश्यता निवारण और दलितों के राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई को हिमालय की बुलंदियों तक ले जा चुके थे। वे 1919 में 'साउथबरो समिति' से लेकर 1927 के 'साइमन आयोग', 'लोथियन समिति' से लेकर 'गोलमेज सम्मेलन (1930-1932) 'मैकडॉनल्ड (कम्युनल) अवार्ड' से लेकर सुप्रसिद्ध 'यरवदा (पूना) पैक्ट' (1932) तथा 'भारत अधिनियम, 1935' में अस्पृश्यों के राजनीतिक अधिकारों को संवैधानिक दर्जा दिला चुके थे। बाद में बंबई प्रेसीडेंसी की विधान-परिषद और विधानसभा में अपनी धाक भी जमाई (1937)। इधर अपनी आयु से कम और दो दशक बाद सामाजिक राजनीतिक जीवन और केंद्र में दलितों के प्रवक्ता जगजीवन राम को यह सब करने का मौका ही कहां मिला? जब अम्बडेकर दलितों की लड़ाई पूरी तरह लड़ चुके थे तब जगजीवन राम सार्वजनिक जीवन में आए।

जगजीवन राम "एक साधनहीन दलित परिवार में जन्म लेकर अपनी प्रतिभा के बल पर ही आगे आए। देश की आजादी की लड़ाई में उन्होंने बढ़-चढ़कर भाग लिया। कई बार जेल यात्राएं कीं। भारत में वह जमाना भी रहा है जब शिक्षा और प्रगति के सभी द्वार जन्मना शूद्र-अस्पृश्यों के लिए बंद थे। बाबू जी अजन्म जाति-प्रथा, वर्ण व्यवस्था, आर्थिक-सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध लोहा लेते रहे।

निसंदेह डॉ. अम्बेडकर के बाद दलित राजनीति और दलित आंदोलन को सफलता की ऊंचाईयों पर ले जाने वाला इतना बड़ा राष्ट्रीय नेता आज तक पैदा नहीं हुआ। उसने

केंद्र सरकार में वर्षों सफल मंत्री रहने के बावजूद आम दलित को कभी नहीं भुलाया। वे राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष भी बने। वे देश के उपप्रधानमंत्री भी बने। लेकिन दलित जाति का होने के कारण देश का प्रधानमंत्री बनते बनते रह गए। जातिवाद, सामंतवाद, पूंजीवाद, कुलक लॉबी और लोकतंत्र में राजवंश (डायनेस्टी) जीवित रखने वाले कुलीनों ने उनके मार्ग में रोड़े अटकाए।

वे एक ऐसे राष्ट्रीय स्तर के दलित नेता थे जिसने शिक्षित-दलित युवा वर्ग को सलाह दी कि वे फिजूल की अकादमिक बहसों में न उलझें, क्योंकि उनके सभी हित संविधान में सुरक्षित हैं। उन्होंने धर्मांतरण की सोचने के बजाए सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक प्रगति करने के लिए प्रेरणा दी। उन्होंने कहा कि वे विद्या प्राप्त कर अच्छे रोजगार के अवसर तलाशें और नेताओं के बहकावे में शाब्दिक माथापच्ची और लुभावने नारों से बचें। उन्होंने स्वयं हजारों-लाखों दलित युवकों के रोजगार के द्वार खोले। उन्होंने राजनीति में अनेक दलित कार्यकर्त्ता और नेताओं को आगे बढ़ाया। उन्होंने शोषित मजदूरों के हितों के संवर्धक और खेतिहरों के लाभ के लिए अनेक कानून पास कराए। उन्होंने समाज की सबसे गिरी हुई इकाई स्वच्छकार समाज की भलाई के लिए अनेक व्यवहारिक योजनाएं लागू कराईं। स्वतंत्रता के बाद देश में जो भी निर्माण हुआ, दलितों के हित संरक्षण का जो भी कार्य हुआ उसके कण-कण में जगजीवन राम का प्रत्यक्ष-परोक्ष योगदान है। सामाजिक परिवर्तन का चिंतन-दर्शन अम्बेडकर का, क्रियान्वयन जगजीवन राम का ऐसा मानना चाहिए। लेकिन महाराष्ट्र के एक-दो दलित जाति के लोगों की अलग ढपली, अलग राग है।

'रविदास महासभा' का गठन

विद्याध्यपन समाप्त करने के बाद जगजीवन राम सामाजिक सुधारों के कार्य में प्रवृत्त हुए। दलितों में जागृति लाना और उन्हें संगठित करना, उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।

1934 में 'अखिल भारतीय रविदास सम्मेलन' का पहला अधिवेशन कलकत्ता में होने वाला था और, इसके मुख्य संगठनकर्त्ता होने के कारण, जगजीवन राम को शीघ्र वहां पहुंचना पड़ा। जब वे विद्यार्थी थे, उसी समय भिन्न-भिन्न मुहल्लों में उन्होंने रविदास सभाओं का संगठन किया था। रविदास जयन्ती मनाना भी उन्होंने ही प्रारम्भ किया था। दलित वर्गों में चमार लोग प्रभाव और गिनती दोनों में बढ़े-चढ़े हैं। सन् 1931 की जनगणना के अनुसार उनकी संख्या 1,18,00,000 थी। अगर संतुलित नेतृत्व मिले तो 'रविदास सभाएं' दलित जातियों के आंदोलन को अधिक बल प्रदान करेंगी। सो इस काम के लिए जगजीवन राम जी से अधिक उपयुक्त और कौन होता?

'रविदास सभा' के कलकत्ता वाले प्रथम अधिवेशन में उनकी भेंट डॉ. धर्म प्रकाश, राम प्रसाद जैसवार, और अन्य लोगों से हुई। जगजीवन राम ने यह सुझाव पेश किया कि सभी राजनीतिक विचारों के दलित नेता एक ही मंच पर एकत्रित हों तो अच्छा होगा। तभी वे देश के राजनीतिक विकास में अपने अस्तित्व का अनुभव करा सकेंगे। निश्चय

हुआ कि दलित वर्गों के नेताओं का एक सर्वदलीय सम्मेलन किया जाए। इस एकता सम्मेलन के संयोजकों ने कलकत्ता अधिवेशन में ही अपील तैयार की और उसे सर्वत्र भेजा। अगले वर्ष कानपुर में सम्मेलन करने का निश्चय किया गया। यह भी तय हुआ कि उसी समय 'अखिल भारतीय रविदास महासभा' का दूसरा अधिवेशन भी कानपुर में किया जाएगा। इस प्रकार जगजीवन राम के सुझाव पर किए गए इस एकता सम्मेलन ने अखिल भारतवर्षीय दलित वर्ग की नींव डाली।[6]

'दलित वर्ग संघ' का गठन

उन्होंने 40 के दशक में **'दलित वर्ग संघ'** का गठन किया था। इसके तत्वावधान में उन्होंने दलितों को संगठित करने का अभियान प्रारंभ किया था। यह एक सुखद कल्पना थी कि उन्होंने समयानुकूल निर्णय लिया कि देश के गरीब-शोषित और अस्पृश्यता की मार झेल रहे समाज को दलित नाम से सुसंगठित किया जाना चाहिए ताकि ब्रिटिश राज द्वारा भारत में सत्ता हस्तांतरण और संविधान रचना के दौर में उनके अधिकारों की लड़ाई लड़ी जा सके।

उन्हें भली-भांति ज्ञात था कि डॉ. अम्बेडकर ने महारों को संगठित किया है और देश के दलितों की लंदन में आवाज उठाई है। 'दलित वर्ग एकता सम्मेलन', कानपुर में 1935 ई. में मई महीने में हुआ। हरिजनों के प्रतिनिधि नेता अच्छी संख्या में उपस्थित थे। डॉ. अम्बेडकर, राजा और श्रीनिवासन ने इसमें भाग नहीं लिया। जगजीवन राम ने इस बात पर जोर दिया कि दलित वर्गों की भिन्न-भिन्न जातियों की अपनी अलग-अलग संस्थाएं हैं और इसलिए उनका भारतीय राष्ट्रीयता पर विशेष प्रभाव नहीं है। केवल सामाजिक सुधार से काम नहीं चलेगा। राजनीतिक स्थान भी आवश्यक है। जब तक दलित वर्गों के लोग, टुकड़ियों में बंटकर, अपनी छोटी-छोटी संस्थाएँ चलाते रहेंगे और अपना कुल समय केवल सामाजिक सुधारों की ओर ही देते रहेंगे, उनका राजनीतिक स्तर कभी ऊपर नहीं उठेगा। उन्हें इस दिशा में सोलहों आने सवर्ण हिन्दुओं की कृपा पर निर्भर रहना पड़ेगा। अतः इस बात की ऐतिहासिक आवश्यकता है कि अखिल भारतीय पैमाने पर एक सुनियोजित और सुसंगठित दलित वर्ग आंदोलन हो और उसे एक ही मंच से संचालित किया जाए। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वर्तमान राष्ट्रीय प्रवाह से अपने को अलग नहीं रखा जाए।[7]

इस प्रकार 'दलित वर्ग संघ' अम्बेडकर से सर्वथा अलग राष्ट्रवादी दलित जातियों का नया संगठन बना, जिसके रसिकलाल विश्वास (बंगाल) अध्यक्ष, पी.एन.राजभोज (पूना-महाराष्ट्र) एवं जगजीवन राम (बिहार) मंत्री नियुक्त किए गए। इस नवगठित दलित संगठन को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में कांग्रेस में शीर्ष नेता-महात्मा गांधी, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद सरदार पटेल, सुभाषचंद्र बोस आदि का पूर्ण समर्थन प्राप्त था।

पूना पैक्ट

उन दिनों 'पूना समझौता' और सन् '1935 का भारत अधिनियम' दलितों में नई उम्मीदें जागृत करने में सहायक सिद्ध हुआ। विधान सभा इसके अन्तर्गत 1936 में चुनाव होने वाले थे। एटली की राय में दलित वर्ग यदि पृथक् किए गए होते तो महान् भूल होती। यह गांधी के आग्रह का परिणाम था कि ब्रिटिश सरकार यह भूल करने से बच गयी। 'पूना-समझौता' ने हिंदू समाज को छिन्न-भिन्न होने से बचा लिया। इस बीच यह समझकर कि सामाजिक सुधार के साथ-साथ आर्थिक पुनर्गठन का काम चलना भी आवश्यक है, अक्टूबर 1934 ई. में गांधीजी ने अपनी अध्यक्षता में 'अखिल भारतवर्षीय ग्रामोद्योग संघ' की स्थापना भी कर दी थी।

जैसा कह चुके हैं जगजीवन राम पूरी ताकत से **'अखिल भारतवर्षीय दलित वर्ग संघ'** के काम में जुट गए। उन्होंने अगस्त, 1935 की उसकी बिहार-शाखा का संगठन कर लिया था। इसके अध्यक्ष वे स्वयं चुने गए थे।

बहुत शीघ्र यह संघ दलित वर्गों का एकमात्र प्रतिनिधि संगठन बन गया। चमारों, कोरियो, पासियों, महारों, और दुसाधों की जातिगत संस्थाओं के अतिरिक्त, कुछ स्थानीय संस्थाएं डॉ. अम्बेडकर, श्रीनिवासन और एस.सी.राजा के नेतृत्व में चल रही थीं।[8]

निसंदेह 1935-36 में युवा जगजीवन राम उत्तर भारत में एक समर्थ दलित नेता के रूप में उभरे। शीघ्र ही वे पूरे भारत में प्रसिद्ध हो गए।

'हरिजन सेवक संघ' से त्यागपत्र

यह सच है कि 'दलित वर्गों की समस्याओं को जिस दृष्टिकोण से कट्टर राष्ट्रीयतावादी देखते थे, जगजीवन राम का दृष्टिकोण साधारणतः उनसे भिन्न था। उनका विश्वास था कि बिना आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक क्रान्ति के दलित वर्ग के लोग सम्मान, सत्ता और मर्यादा नहीं पा सकेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता की परमावश्यकता का वे अनुभव नहीं करते हों। वे जानते थे कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बिना दलित वर्ग के लोग अपने ध्येय तक नहीं पहुंच सकते। किन्तु 'हरिजन सेवक संघ' की कार्रवाइयों में उनका उत्साह नहीं रह गया था; और इधर एक नया मतभेद खड़ा हो गया था। **'अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ'** के मंत्री **ठक्कर बापा** नहीं चाहते थे कि जगजीवन राम, जो स्वयं संघ के मंत्री थे, राजनीतिक आंदोलन में सक्रिय भाग लें चाहे वह हरिजनों के कल्याणार्थ ही क्यों न हो। दोनों में पत्र-व्यवहार हुआ। अंत में जगजीवन राम ने सवर्ण हिंदुओं द्वारा संचालित 'हरिजन सेवक संघ' से संबंध-विच्छेद कर लिया और अपना संगठन **'दलित वर्ग संघ'** को सुदृढ़ करने में जुट पड़े।[9] यह संस्था सेठों के दान पर चलती थी और हरिजनों द्वार का सिर्फ ढोल पीटती थी। इसका आगे चल कर वही नतीजा हुआ जो गौशाला, अनाथालय, विधवा आश्रम आदि चेरिटेबिल संस्थाओं का होता है।

मताधिकार की समस्या

उधर अम्बेडकर महाराष्ट्र में महारों को लेकर पूरी तरह से दलित संगठन को सुदृढ़ करने में लगे थे। उनका उत्तर भारत में विशेष प्रभाव नहीं था। वैसे वे पूरे भारत के अस्पृश्यों की बात करते थे। लेकिन उत्तर भारत में युवा दलित नेता जगजीवन राम सक्रिय हुए। "उन्होंने दलितों के मताधिकार की समस्याओं में दिलचस्पी लेना प्रारंभ किया। मताधिकार समिति की सिफारिशों के अनुसार हरिजनों और सवर्ण-हिन्दुओं के मतदान में इस प्रकार का अंतर रखा गया था कि जनसंख्या 10 प्रतिशत होते हुए भी वे 13 प्रतिशत सवर्ण हिंदुओं के बराबर मत दे सकें। इसके अतिरिक्त चुनाव-क्षेत्रों के निर्धारण संबंधी तथा अन्य ब्यौरे थे जिनका दलित वर्ग से बड़ा संबंध था। वे कानुपर से सीधे रांची आए और **मैन्सफील्ड** से, जो उन दिनों बिहार सरकार के सुधार-मंत्री थे, मिले। बाद में वे **'हैमण्ड कमीशन'** के समक्ष अपनी गवाही देने गए। रांची में वे रामनारायण, एम.एल.सी. के यहां ठहरे। रामनारायण जी को मताधिकार के ब्यौरे और नुक्ते मालूम थे। जगजीवन राम समझते थे कि भारतीय जनतंत्र के विकास में मत-दान का कितना बड़ा महत्त्व होगा। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि शासन सुधारों के प्रोत्साहन के लिए प्रयत्न आवश्यक है। साथ ही लोगों को चुनाव में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए भी प्रस्तुत करना होगा। जो मताधिकार की सुविधा हरिजनों को मिली थी, वह ठीक थी, किन्तु अवश्यकता यह देखने की थी कि मत देने योग्य (दलितों) के नाम लिस्ट में लिखे जाते हैं या नहीं। जिन क्षेत्रों से एक से अधिक सदस्य चुने जाने को थे उसके सीमा-निर्धारण में भी विशेष सावधानी की आवश्यकता थी।"[10]

इस प्रकार बिहार राज्य स्तर की राजनीति में दलितों की साझेदारी के लिए जगजीवन राम ने पहले से ही व्यवहारिक कदम उठाना शुरू कर दिया था। सर्वप्रथम बिहार उनकी रानीतिक कर्मस्थली बनी। लेकिन उनकी नजर पूरे देश के दलितों पर थी।

धर्म परिवर्तन का प्रश्न

डॉ. अम्बेडकर ने 13 अक्टूबर, 1935 को बंबई प्रांतीय दलित को सम्मेलन में हिंदू धर्म के परित्याग पर जोर दिया। जगजीवन राम किसी भी प्रकार के धर्मांतरण के खिलाफ थे। उनके विचार में धर्म परिवर्तन करोड़ों दलित बंधुओं की सामाजिक-आर्थिक, शैक्षिक-सांस्कृतिक प्रगति में सहायक नहीं हो सकता। ईसाईयों का अन्य धर्मावलंबियों से कुछ भौतिक-शैक्षिक लाभ भले प्राप्त हो जाए वे उनके समग्र विकास में सहायक नहीं हो सकते।

इधर गांधी ने भी अम्बेडकर के धर्मांतरण के प्रयासों की कटु आलोचना की। उनको विश्वास था कि महारों में उनकी असली पैठ है, इसलिए धर्मांतरण करने के लिए वे उनके नेतृत्व में आगे आएंगे। एक सदी से महार फौज में रहते आए थे। इसमें शिक्षा और पैसा भी था। उनका मध्य प्रांत और बरार में संगठन भी खड़ा हो गया था। उनके पास जमीनें थीं। उत्तर भारत में जमींदार और सामंतों ने दलितों को नहीं उठने दिया था।

जगजीवन राम आश्वस्त थे कि उत्तर भारत में अस्पृश्यों विशेषक़र चमार, खटीक, पासी, बाल्मीकि और कोरी जाति में धर्म परिवर्तन के लिए कोई उत्साह नहीं है। यद्यपि बहुत पहले से मिशनरी लोभ लालच दे देकर नीची-दलित जातियों में छुटपुट धर्म परिवर्तन कराते आ रहे थे।

वास्तव में उन दिनों धर्मांतरण का प्रश्न डॉ. अम्बेडकर ने उछाला था। वह भी ऐसे वक्त जब राष्ट्रीय आंदोलन जोर पकड़ रहा था। उत्तर भारत में जगजीवन राम के नेतृत्व में राष्ट्रवादी दलित आंदोलन जन्म ले चुका था। गांधी ने अम्बेडकर का विरोध किया। 15 अक्टूबर के एक लेख में उन्होंने लिखा, "धर्म एक प्रकार का एक बंध है जो व्यक्ति को उसके सृष्टा से आबद्ध करता है। शरीर तो नश्वर है, किंतु धर्म मृत्यु के बाद भी नष्ट नहीं होता। किसी का धर्म कोई घर या वस्त्र नहीं है कि जब चाहा छोड़ दिया या उतार कर फेंक दिया।" उसी दिन डॉ. अम्बेडकर ने उसका प्रत्युत्तर दिया। उन्होंने कहा कि "यह ठीक है कि धर्म आवश्यक है, परन्तु उस व्यक्ति के लिए अपने पूर्वजों का धर्म अनिवार्य नहीं है जो पाए कि उक्त धर्म उसकी आवश्यकताओं के प्रतिकूल है और उसके जीवन-कल्याण और प्रगति के मार्ग में बाधक है।" डॉ0 अम्बेडकर का निष्कर्ष था कि हिंदू धर्म का मुख्याधार असमानता है और ऐसा सोचना कि उसके अंतर्गत रहकर भी हरिजनों का पूरा मानवोचित विकास हो सकेगा, केवल अपने आपको धोखा देना है। उन्होंने कहा कि कोविठा का दृष्टान्त अकेला नहीं है, बल्कि ऐसी घटनाएं हिन्दू धर्म के लिए आधारगत हैं। जगजीवन राम को अम्बेडकर की घोषणा से हर्ष और विषाद दोनों ही हुआ। उन्होंने समाचारपत्रों में वक्तव्य देते हुए कहा कि उन्हें दुःख इस बात का है कि डॉ. अम्बेडकर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति दलित वर्ग आंदोलन से पृथक हो जाएंगे और हर्ष इस बात का है कि हिंदू समाज का विभाजन रुक जाएगा।

लेकिन डॉ. अम्बेडकर की इस धमकी का असर यह हुआ कि लगभग साल भर तक वे प्रचार के पूर्ण प्रकाश में चमकते रहे। धर्म-परिवर्तन की घोषणा उन्होंने 13 अक्टूबर 1935 को की थी। मई, 1936 तक, अर्थात् लखनऊ में 'अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन' और सर्व-सम्मेलन होने तक, हरिजन रंग-मंच के केन्द्र में डॉ. अम्बेडकर रहे। उक्त सम्मेलन में जगजीवन राम, रसिकलाल विश्वास तथा कुछ और लोगों ने धर्मपरिवर्तन के भूत को शांत किया और उसके बाद डॉ. अम्बेडकर का महत्त्व और प्रभाव क्षीण पड़ गया।[11]

इस बीच सनातनी, आर्य-समाजी, सिक्ख, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध और दूसरे लोग डॉ. अम्बेडकर को प्रसन्न करने की चेष्टा करते रहे थे। 21 अक्टूबर, 1935 को करवीर-मठ के श्री शंकराचार्य, डॉ. कुर्तकोटि ने नासिक में हिंदुओं की एक महती सभा में ऐलान किया कि वे हरिजनों का सामूहिक धर्म-परिवर्तन करने के लिए और एक नए संप्रदाय की स्थापना के लिए भी तैयार हैं जिसके मानने वालों के अधिकार हिंदू धर्म वालों के समान ही होंगे। उसी दिन 'केंद्रीय खिलाफत संस्था' के एक प्रतिनिधि, जिनका नाम मौलाना मुहम्मद इरफान था, डॉ0 अम्बेडकर से मिले ओर उन्होंने समझाया कि बराबरी का स्थान हरिजनों को इस्लाम में ही मिल सकता है। 'उल्लेमाओं की भारतीय संस्था', 'बंबई का

मुस्लिम युवक संघ', उदार इस्लामिया कौंसिल तथा अन्य ने भी डॉ. अम्बेडकर से इसी प्रकार की सिफारिशें कीं।[12] इन सब बातों ने अम्बेडकर को दुविधा में डाल दिया। वे अगले बीस वर्ष तक अनिर्णीत रहे।

इधर '' 'बंबई प्रांतीय हिंदू महासभा' के एक प्रतिनिधि मंडल डॉ. अम्बेडकर से प्रार्थना की कि इस विषय में वे शीघ्रता न करें। कुछ महार दलित नवयुवक ऐसे भी थे कि जिनके मन में हिंदू-विरोधी भावनाएं बढ़ रही थीं। उन लोगों ने नवंबर के प्रारंभ में नासिक में एक सभा की, जिसमें मनुस्मृति और अन्य धर्म-शास्त्र, जिनमें अस्पृश्यता स्वीकृत की गई थी, जलाए गए। बंबई में 'हिंदू धर्म-त्याग समितियां' बनीं। सचाई यह है कि केवल एक ही जाति, जो महार कहलाती है और जिसमें डॉ. अम्बेडकर का जन्म हुआ था, उनका साथ दे रही थी। अहमदाबाद के हरिजनों ने पहले ही घोषित कर दिया था कि वे हिंदू और उनके अनेक असुविधाओं के रहते हुए भी आजीवन हिंदू ही रहेंगे। रावबहादुर एम.सी. राजा ने अपने वक्तव्य में डॉ. अम्बेडकर की सलाह को विनाशकारी बतलाया और उनकी सच्चाई में संदेह प्रकट किया। क्या यह सच नहीं कि जिस समय महात्माजी ने आर्थिक सुधार के पूर्व धार्मिक सुधार की बात की, उस समय डॉ. अम्बेडकर ने उसका विरोध किया, क्या डॉ. अम्बेडकर ने कभी भी सामाजिक उत्थान के लिए धर्म को कोई महत्त्व नहीं दिया है? रावबहादुर राजा ने बताया कि आवश्यकता इसकी है कि अपवित्रता के अंधविश्वास को किसी भी प्रकार की कानूनी या प्रशासनिक मान्यता नहीं दी जाए, और इस दिशा में बाकी काम हरिजन स्वयं कर लें। उन्होंने सामाजिक-असमर्थता-निवारण बिल का जिक्र किया, जिसे उन्होंने मद्रास विधान सभा में पेश किया था। बिल में इस बात की मांग थी कि सभी सामाजिक और नागरिकता-संबंधी असमर्थताएं हटा दी जाएं और वे रिवाज या व्यवहार, जो अन्यायपूर्ण, सामाजिकता-विरोधी और अधार्मिक हैं, उन्हें कानून मंजूर नहीं करे। बम्बई के सुप्रसिद्ध हरिजन (चमार) क्रिकेट खिलाड़ी पी बालू, 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' के सभापति रसिकलाल विश्वास, राव बहादुर आर. श्रीनिवासन, एम. एल.सी., राय साहब व्ही. एल. मुन्नूस्वामी पिल्लैए एम.एल.सी. डॉ. सोलंकी एम. एल.सी., एन.एस. काजरोलकर, डॉ. राम प्रसाद तथा और भी बहुत-से व्यक्तियों ने डॉ. अम्बेडकर का विरोध किया। इनमें कुछ अम्बेडकर के अंतरंग सहयोगी थे। 15 नवंबर को 'पंजाब प्रांतीय दलित वर्ग सम्मेलन' में, दीवान चमनलाल की अध्यक्षता में, डॉ. अम्बेडकर की इस 'अदूरदर्शितापूर्ण और घातक' निर्णय को मानने से इनकार किया। 22 दिसंबर, 1935 को 'आसाम प्रांतीय दलित वर्ग सम्मेलन' में बी.एन.मंडल ने अध्यक्ष-पद से कहा कि डॉ. अम्बेडकर के सुझावों से मालूम होता है कि वस्तुतः वे स्वयं अपना धर्म बदलने के लिए उत्सुक हैं।''[13] वे सिर्फ सुर्खियों में रहने के आदी हैं और घबरा गए हैं।

दूसरी ओर ''मुसलमान और ईसाई मिशनरियों ने इस अवसर से लाभ उठाने का बड़ा प्रयत्न किया। मालाबार के पच्चीस लाख इझवा और थिया बहुत असंतुष्ट और क्षुब्ध थे। डॉ. अम्बेडकर के सुझाव का परिणाम यह हुआ कि उनमें ईसाई बनने वालों की संख्या तेजी से बढ़ी, पर सामूहिक रूप से अपना मत-परिवर्तन लोगों ने कहीं नहीं किया।

7 दिसंबर को डॉ. अम्बेडकर ने बताया कि उन्होंने हिंदू-धर्म त्याग देने का निर्णय तो कर लिया है, किंतु वे कोई नया मत चलाना नहीं चाहते। हरिजनों के बौद्धमत स्वीकार करने में कतिपय कठिनाइयां हैं, आर्यसमाज में वे सम्मिलित नहीं होना चाहते, सिख धर्म ग्रहण के बारे में उन्हें अभी विचार करना है।"[14] इस समय बहुत से महार ईसाई बन रहे थे।

जगजीवन राम देश के करोड़ों निरक्षर और गरीबी से जूझते दलितों को धर्म परिवर्तन के पचड़े में नहीं डालना चाहते थे। उन्होंने कलकत्ता में पद्मराज जैन से भेंट की। उनके साथ रसिकलाल विश्वास, योगेश्वर मंडल, रामचरण कुरील, डॉ. धर्मप्रकाश, रामप्रसाद जैसवार, ललिताप्रसाद सोनकर आदि जैसे दलित नेता पूरी तरह साथ थे।

मध्यप्रदेश और पुणे के नेता गण भी इस धर्ग परिवर्तन के विरुद्ध थे। पुणे में जगजीवन राम के समर्थन में उत्तरप्रदेश में 'घुसिया सभा', 'दोहरे नवयुवक मंडल', 'कोरी सुधार महा पंचायत', लखनऊ ने धर्म परिवर्तन को निरर्थक बताया तथा शिक्षा, समाज सुधार और नौकरियां हासिल करने की बात कही। 29 दिसंबर 1935 को 'दलित वर्ग संघ' के नेताओं ने विचार विमर्श के बाद में एक प्रस्ताव में मांग की कि दलितों को सार्वजनिक स्थलों, पूजा-घरों, जलाशयों, सार्वजनिक कुओं और नलों, सड़कों, स्कूलों-कॉलेजों, भोजनालयों में जाने और उनके उपयोग पर छूआछूत का भेदभाव खत्म होना चाहिए। सरकार और हिंदुओं दोनों को यह सोचना है। हिंदू अपने वायदों से पीछे न हटें नहीं तो उन्हें अन्यथा सोचना पड़ेगा।

मनमोहन मालवीय और जगजीवन राम धर्मांतरण के विरोध में

दिसंबर 1935 में पुणे अधिवेशन कई मायने में अद्वितीय था। मदनमोहन मालवीय ने इसकी अध्यक्षता की और जगजीवन राम ने बिहार से पहुंचकर अपने सहयोगियों के साथ इसमें बढ़ चढ़कर भाग लिया।

अध्यक्ष पद से मालवीय ने दलितों से अपील की "वे हिंदू धर्म का परित्याग न करें। हम उनकी चरण धूलि अपने मस्तक पर लगाएंगे। सामाजिक विषमता और अस्पृश्यता मिटाने के अभियान से तेजी से लागू किया जाएगा। सहभोज और अंतर्विवाह के बंधनों के नियम सभी जातियों पर लागू हैं, उन्हें दूर करने में अभी व्यवहारिक कठिनाइयां हैं जिन्हें मिटाने के लिए अभियान जारी रखा जाएगा।"[15]

पुणे में पी.एन.राजभोज के यहां जगजीवन राम रुके थे। दोनों ने विस्तार से दलित आंदोलन को राष्ट्र की मुख्य धारा और स्वतंत्रता आंदोलन से जोड़ने के लिए बातचीत की। धर्मांतरण समाज में विघटन और मनोमालिन्य पैदा करेगा। इससे भारत अधिनियम में प्रदत्त राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने में भी कठिनाई आएगी।

'पुणे अधिवेशन' में जगजीवन राम ने घोषित किया कि अगर हरिजनों के साथ उचित व्यवहार का निर्णय नहीं किया जाएगा तो वे और उनके तीस साथी अधिवेशन से बाहर चले जाएंगे। मालवीय ने उनका समर्थन करते हुए जोरदार भाषण दिया। मुंजे और जयकर ने भी उनका समर्थन किया। अंत में शंकराचार्य का संशोधन अस्वीकृत हुआ

और जगजीवन राम के संशोधन को प्रस्ताव में शामिल कर लिया गया।

मदन मोहन मालवीय से जो आशा की जाती थी, वहीं उन्होंने किया। कुछ और समझदार नेता भी थे जिन्होंने सहानुभूतिपूर्वक इस प्रश्न पर विचार किया। परंतु बहुत-से डेलीगेट ऐसे थे जिन्हें सामाजिक या मनोवैज्ञानिक कारणों से प्रस्ताव नापसंद था। अस्तु, यह दो बजे रात को बहुत बहस के बाद पास हुआ। जब जगजीवन राम और उनके साथी सम्मेलन से बाहर निकले तो डॉ. अम्बेडकर के दल के कुछ लोग उनसे मिले। उन लोगों ने धन्यवाद-ज्ञापन किया कि दलितों के हित के लिए ये लोग इतनी दृढ़ता से लड़े। वे बोले, **''अगर आप लोग अन्यथा करते तो हम लोगों ने तय कर लिया था कि आप सबों को अच्छा सबक सिखाते।''** यह घटना जगजीवन राम के मन में बार-बार चक्कर काटती रही और उन्होंने बंबई जाकर डॉ. अम्बेडकर से मिलने का निश्चय किया। ये और उनके साथी बंबई सुख-सागर हिंदू होटल में ठहरे। डॉ. अम्बेडकर के निवासस्थान पर जब ये लोग पहुंचे तो देखा कि उनके यहां मिशनरियों और धार्मिक-नेताओं का जमाव है। ईसाई, मुसलमान और सिक्ख सभी थे। ये लोग डॉ. अम्बेडकर से मिलकर अपने-अपने धर्म की खूबियों का बखान करने आए थे, ताकि उनकी ओर वे अभिमुख हों।

इसके पूर्व जगजीवन राम और डॉ. अम्बेडकर का साक्षात्कार नहीं हुआ था। इनमें आपस में मात्र पत्र-व्यवहार हुआ था और एक-दूसरे के बारे में वे जानते थे। जब जगजीवन राम ने अपना कार्ड भेजा तो डॉ. अम्बेडकर ने उन्हें तुरंत बुलाया और बड़ी मृदुता के साथ उन्होंने बातें कीं। जगजीवन राम ने कहा कि इस समस्या का समाधान धर्म परिवर्तन से नहीं होगा क्योंकि जब तक दलित वर्गों के लोग हिंदू समाज के लिए अस्पृश्य बने रहेंगे, वे जहां कहीं भी जाएंगे यह कलंक उनके साथ लगा रहेगा। साथ ही, यह कोई बुद्धिमत्ता नहीं होगी कि राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय राष्ट्र से दलित वर्गों का संबंध ही टूट जाए। डॉ. अम्बेडकर ने जगजीवन राम और उनके साथियों से कहा कि उन लोगों की अपनी बिरादरी सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अच्छी दशा में है तभी वे इस प्रकार की बातें कर रहे हैं। वे चाहें तो धैर्य धारण करें और उन्नति की आशा भी रखें। परंतु उनकी महार बिरादरी के लोगों की दशा तो सबसे गयी-बीती है और अब उनके पास धैर्य शेष नहीं रह गया है।[16]

लगता है अम्बेडकर महारों के दबाव में थे। उनमें शिक्षा और जागृति तो थी लेकिन नगरों में रोजगार नहीं थे। एक तबका भूतपूर्व उग्र फौजियों का था जो समाज में सम्मान चाहते थे।

इस प्रकार दलित आंदोलन स्पष्ट दो खेमों में बंट गया। एक का नेतृत्व महाराष्ट्र में डॉ. अम्बेडकर के हाथ में था। जिसमें महार समाज के लोग थे। दूसरी ओर युवा दलित नेता जगजीवन राम और उनके साथी थे जो उत्तर भारत की दलित जातियों से संबंध रखते थे। इनमें चमार, कोरी, बाल्मीकि, खटिक, पासी आदि जातियां प्रमुख थीं।

''बंबई से लौटकर रसिकलाल विश्वास और जगजीवन बाबू ने सभी हिंदू-नेताओं के पास एक गुप्त अपील भेजी जिसमें डॉ. अम्बेडकर के दृष्टिकोण को समझाने की चेष्टा

की गयी, ताकि उस पर ठंडे दिल से विचार किया जाए। उन्होंने यह भी बताया कि अगर डॉ. अम्बेडकर के अनुयायी हिंदू धर्म छोड़कर बाहर चले जाते हैं, तो इसमें अपराध उनका नहीं बल्कि सवर्ण हिंदुओं का होगा। जगजीवन राम बंबई में काजरोलकर, नारायणराव सावरकर, भूलाभाई देसाई और दूसरे नेताओं से भी मिले। बिहार से आए हुए चमारों की बस्ती में भी वे गए, जहां उनका दिल खोलकर स्वागत हुआ।

इधर भिन्न-भिन्न धर्म के नेता डॉ. अम्बेडकर की अभ्यर्थना करते रहे। कलकत्ते की 'महाबोधि सोसायटी' ने उनके पास एक संदेश भेजा जिसमें उनके पथ-भ्रष्ट होने की निंदा की गयी और कहा गया कि अगर उन्होंने हिंदू धर्म छोड़ देने का विचार कर ही लिया है तो उन्हें बौद्धमत स्वीकार कर लेना चाहिए। यह सब को समानता, सामाजिक न्याय और धार्मिक स्वतंत्रता देता है, अपने देश की भूमि से पैदा हुआ है, सहिष्णुता, विश्वबंधुत्व और न्याय की चरम सीमा तक पहुंचा हुआ है और भारत के पुनरुस्थान में रचनात्मक सहयोग दे सकता है।

डॉ. अम्बेडकर ने जब सिक्ख धर्म के पक्ष में अपना मत प्रकट किया तो पंजाब में बहुत-से हरिजन सिक्ख बन गए। इसके पहले भी हरिजन सिक्ख धर्म स्वीकार करते थे, किंतु अब इसकी प्रगति और बढ़ गयी। सन् 1921 और 1931 के मध्य भी वहां हरिजनों की संख्या अठाइस लाख से घटकर तेरह लाख हो गई थी, और ऐसा अनुमान किया जाता है कि ठीक इसी अनुपात में सिक्खों की संख्या में वृद्धि भी हुई थी।''[17] स्थानीय दबाव में पंजाब में रामदसिया (चमार) और मजहबी (बाल्मीकि) जाति के सिखों की एक भारी तादाद रही है। इन्हें अनुसूचित जाति और सिख दोनों तरह के फायदे हैं।

बिहार में दलित सम्मेलन

''इस बीच जगजीवन राम 'दलित वर्ग संघ' के संगठन में व्यस्त थे। दानापुर सब-डिवीजन की शाखा का सम्मेलन 16 फरवरी, 1936 को हुआ। उसमें उन्होंने कहा कि सवर्णों के अत्याचारों को सहन करना पाप है। संघ के मुंगेर और छपरा जिला अधिवेशन पहले ही हो चुके थे। 18 फरवरी को भागलपुर में 'रविदास सम्मेलन' हुआ और 24 फरवरी को 'दलित वर्ग सम्मेलन'। दोनों का सभापत्वि जगजीवन राम ने किया। उनका संदेश था, 'एकता संगठन और आंदोलन।' 28 से 30 फरवरी तक मुंगेर में 'अखिल भारतीय रविदास सम्मेलन' हुआ। उनमें एक प्रस्ताव पास हुआ जिसमें डॉ. अम्बेडकर की इस सिफारिश की, कि हरिजनों को हिंदू धर्म से अलग हो जाना चाहिए, घोर निंदा की गयी और कहा गया कि इसमें न तो कोई बुद्धिमत्ता है और न इससे हरिजनों की समस्याएं ही हल होंगी। इस प्रकार हरिजनों के घर-घर में अपना संदेश पहुंचाते, जगजीवन राम बड़ी तीव्र गति से दलित वर्ग के नेता के रूप में अपनी प्रतिष्ठा-वृद्धि करते जा रहे थे।''

लेकिन इससे महारों पर अम्बेडकर की पकड़ ढीली नहीं हुई और वे दुगुने जोश से उनका कार्य करने लगा।

लखनऊ कांग्रेस

इसके बाद ही, 1936 में 12 से 14 अप्रैल तक, लखनऊ में कांग्रेस का 49वां अधिवेशन हुआ। पं. जवाहरलाल नेहरू ने सभापति की हैसियत से अपने भाषण में इस बात पर जोर दिया कि भारत तथा संसार की समस्याओं का समाधान केवल समाजवाद से ही हो सकता है। हरिजन समस्या के सामाजिक पहलू के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत हद तक किताबी था। उन्होंने कहा, "अस्पृश्यता और हरिजनों की समस्या पर विचार करने के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। परंतु एक समाजवादी के लिए यह प्रश्न किसी प्रकार की कठिनाई नहीं उपस्थित करता, क्योंकि समाजवाद के अंतर्गत इस प्रकार के भेदभाव या शोषण की गुंजाइश नहीं है। आर्थिक दृष्टिकोण से हरिजन भूमिहीन सर्वहारा हैं और अगर उनकी आर्थिक दशा में सुधार हो सका तो ये जो रिवाज और परंपरागत सामाजिक बंधन हैं, वे भी दूर हो ही जाएंगे।"

"पेचीदी भूमि-समस्या को, जिसकी जड़ें प्राचीन और गहरी हैं, बहुत आसान करके देखने का यह तरीका था। इसमें सामाजिक मनोविज्ञान की सोलहों आने आर्थिक माध्यम से देखने का प्रयत्न था। इस तथ्य पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया था कि समस्या की सम्यक् विधि से समझने के लिए मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय पहलुओं का विशद विवेचन परमावश्यक है। इसमें एक भिन्न विचार-प्रणाली तथा भिन्न सामाजिक-धार्मिक ढांचे की परमावश्यकता को, अर्थात् मानसिक क्रांति की बात को, एकदम उपेक्षित छोड दिया गया था।"[18]

कांग्रेस और दलित समस्या

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही कांग्रेस अस्पृश्यता निवारण, जातिभेद मिटाने, दलित मंदिर प्रवेश, सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग, स्कूल-कालेज में दाखिले, पीने के पानी की व्यवस्था और उनकी सामाजिक आर्थिक समस्याओं पर ध्यान दे रही थी। सामाजिक विषमताओं पर प्रहार करती आ रही थी। लेकिन जगजीवन राम ने देखा कि "कांग्रेस जिस विशाल राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व कर रही थी, उसके अंतर्गत कहीं भी हरिजनों की समस्या को ठीक तरह से समझने का प्रयत्न नहीं था, तो उन्हें बड़ी विषण्णता होती। गांधी जैसे सुधारक इस बात को आधार मान कर चलते थे कि चतुर्वर्ण एक पवित्र व्यवस्था नहीं तो कम-से-कम हिंदू समाज के लिए एक परम आवश्यक व्यवस्था है। उनके जो भी हल होते, इसी धारणा की परिसीमाओं से आबद्ध थे। कट्टर विचार वाले, इन बेतरतीब और रुक-रुक कर किए जाने वाले सुधारों की प्रगति को भी और धीमी करना चाहते थे। समाजवादी नेता मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय बातों की पूर्ण अवहेलना करते। राष्ट्रवादी सवर्ण हिंदू अपने को बड़ा मानते और घमंड से कहते, "ऐ दुखी हरिजनों, तुमने सदियों से कष्ट सहन किया है। अब हम तुम्हें सुअवसर देने जा रहे हैं। आशा है, हमारी उदारता को हमेशा ध्यान में रखोगे, और कभी इस बात को भूलोगे नहीं।" यह शाब्दिक वैष्णवी करुणा थी जहां देने के लिए प्रसादी नहीं थी।

जगजीवन राम को इस प्रकार के बर्त्ताव से चिढ़ थी। हरिजनोद्धार के विषय में कांग्रेस कट्टरहिंदुत्व और दिग्भ्रमित समाजवादियों की उक्त बेजान नीति भी उन्हें नहीं भाती थी। उनका पक्का विश्वास था कि जनतंत्र और जाति-प्रथा दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते, और अगर हम जनतंत्र का विकास चाहते हैं, तो हिंदुत्व की तमाम सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना होगा। आर्थिक प्रोग्राम में तो वे सबके आगे थें उनका रोम-रोम जमींदारी-विरोधी, साम्राज्य-विरोधी और पूंजीवाद विरोधी था। दलित वर्गों के तमाम लोग धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्रांति के प्रबल समर्थक हो सकते थे। अतः तात्कालिक बँधी-बँधाई राष्ट्रीय विचारधारा का आंख मूंद कर पृष्ठपोषण करें, यह जगजीवन राम से नहीं हो सकता था। उनके अपने स्वतंत्र विचार थे, स्वतंत्र धारणाएं थीं और समस्या-निवारण के उपाय थे और वे उन्हें व्यक्त करते ही थे, चाहे महान-से-महान और प्रभुत्वशाली व्यक्ति ही उनके सामने क्यों न हो।[19] शिखर नेताओं की गुण-दोष के आधार पर ही वे प्रशंसा और आलोचना किया करते थे।

लखनऊ दलित वर्ग सम्मेलन : गांधी की उपस्थिति

उत्तर भारत में थोड़े ही अर्से में जगजीवन राम युवा दलित नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। सब लोग उनके नेतृत्व और संगठन कौशल में विश्वास करने लग गए थे। वे दलितों की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को गांधी और बड़े से बड़े नेता के सम्मुख रखने में नहीं हिचकिचाए। यह बात लखनऊ सम्मेलन में स्पष्टतः देखने को मिली।

"1936 के लखनऊ के 'अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन' में जहां गांधी जी भी उपस्थित थे, उनके भाषण से लोग बहुत उद्वेलित हुए। सामाजिक प्रश्नों के संबंध में जगजीवन राम का कहना था कि हरिजन हिंदू समाज में पूर्णतया मिल जाना चाहते हैं, परंतु इसके लिए हिंदू समाज को बदलना होगा, उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन लाने होंगे और सामाजिक आत्म-निर्भरता लानी होगी। तभी पृथकत्व की उन भावनाओं का समूल विनाश हो सकेगा, जिन्हें 'पूना-पैक्ट' में स्वीकृति दी गई थी। आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रश्न पर उनका विचार था कि पूर्ण पुनर्गठन आवश्यक है। इसमें जमींदारी तो समाप्त हो जाएगी, बनिहारी की प्रथा का भी खात्मा होगा। हरिजनों के निमित्त जीवन-यापन के लिए दूसरे धंधों या नौकरियों की व्यवस्था करनी होगी और ये सब बातें तभी संभव हैं, जब पहले भारत स्वतंत्रता प्राप्त कर ले। उक्त दलित वर्गों के लिए, जिनकी समस्या प्रधानतः गरीबी की समस्या है, स्वतंत्रता की तो और भी आवश्यकता है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की : 'देश की उन्नति में ही हमारी उन्नति है, इसकी मुक्ति में हमारी मुक्ति है, इसके उद्धार में हमारा उद्धार है'।"

"फिर भी समस्या का जो विश्लेषण जगजीवन राम का था, वह औरों से मूलतः भिन्न था। दलित वर्गों के लिए राष्ट्रीयता क्या कुछ कर सकेगी, इसका अनुमान भी उनका अलग था। गांधीजी ने जो हरिजनों के बारे में अपनी नीति निर्धारित की थी, उसका मूल्याकंन वे और ही ढंग से करते थे। सवर्ण हिंदुओं के तथाकथित मानवतावाद के वे कटु आलोचक

थे। वे कहते, 'निस्संदेह वे हमारी दशा सुधारने के लिए प्रयत्न करेंगे, लेकिन मात्र इसलिए जिसमें उनके स्वार्थों को किसी प्रकार का धक्का न लगे?' अस्पृश्यों का जो हरिजन नाम पड़ा, उसका भी उन्होंने प्रतिवाद किया। इससे सवर्णों से उनकी दूरी घटेगी नहीं, बल्कि और चौड़ी होती जाएगी और पृथकत्व की भावना तीव्र और स्थायी होगी। इसमें भी वही पुरानी दुर्गंध थी। उन्होंने डॉ. अम्बेडकर की सराहना की और कहा कि 'पूना-समझौता' के निर्माता, गांधी और डॉ. अम्बेडकर दोनों ही थे। सवर्ण हिंदू हरिजनों के संरक्षक होने का दम भरते और उनके कर्त्तव्यों की याद दिलाते थे। जगजीवन राम ने इस संरक्षकता की भावना की शिकायत की और उन्होंने हरिजनों के अधिकारों पर जो दिया।''[20] गांधी का दिया 'हरिजन' शब्द उन्हें नहीं भाता था। **उन्होंने ही अछूत की जगह सर्वप्रथम 'दलित' शब्द अपनाया। और अपनी संस्था का नाम 'दलित' वर्ग संघ' रखा।**

गांधी खिन्न

लखनऊ में जगजीवन राम की स्पष्ट बातों से गांधी खिन्न हुए। गांधी ने उनमें प्रगति शीलता देखी। ''इसपर बाद में गांधी जी ने राजेन्द्र बाबू के पास पत्र लिखा कि जगजीवन राम से अपने कुछ कथनों का स्पष्टीकरण करने को कहा जाए। राजेन्द्र बाबू ने जवाब भेजा कि 'हरिजन' शब्द पर उनका आक्षेप, सवर्ण हिंदुओं का लांछन, डॉ. अम्बेडकर की प्रशंसा, सभी बातें आपत्तिजनक थीं और संकेत किया कि शायद भाषण जल्दी में लिखा गया था। ऐसा राजेन्द्र बाबू ने इसलिए लिखा कि जगजीवन राम को अपनी बातें वापस लेने में आसानी हो। इन्होंने जवाब दिया कि यह सही है कि भाषण जल्दी में तैयार किया था और अवसर होता तो सवर्ण हिंदू सुधारकों के संबंध में वे इतना और कहते कि उनमें कुछ ऐसे सम्मानित व्यक्ति भी हैं जो उनके आरोप के अपवाद हैं। उन्होंने लिखा कि अपने भाषण के उस अंश को भी वे हटा देते जिसमें कहा गया था कि सवर्ण हिंदू यदि 'पूना-समझौता' को शब्द और भावना दोनों में कार्यान्वित नहीं करेंगे तो दलित वर्ग के लोग पृथक चुनाव की मांग करेंगे। किंतु अपने भाषण के शेष अंश पर वे दृढ़ बने रहे और कहा कि उसका स्पष्टीकरण अनावश्यक है।

दृष्टिकोण में यह विभेद बुनियादी था और आज भी कायम है। अगर जगजीवन राम के विचार को अपना लिया जाए तो राष्ट्रीयता का क्षेत्र विस्तृत हो जाएगा और उसमें सामाजिक आर्थिक क्रांति और समाजवाद का समावेश हो सकेगा। इससे कांग्रेस के राष्ट्रीय आंदोलन को एक नयी स्फूर्ति, एक नयी प्रेरणा मिलेगी, जिसकी उसे आज नितान्त आवश्यकता है और इस प्रकार मानव इतिहास की एक बड़ी क्रांति का मार्ग खुल जाएगा। कौन कह सकता है कि वह दिन आए, न आए?''[21]

जगजीवन राम भली भांति जानते थे कि अभी दलित पूरी तरह संगठित नहीं हैं। उनके पास साधनों का अभाव है। मीडिया के लिए पत्र-पत्रिका और कार्यकर्त्ता नहीं हैं। ऐसी स्थिति में वे अगर गांधी से और कांग्रेस के शीर्ष नेतृत्व से टकराए तो राष्ट्रवादी

दलित आंदोलन को लाभ नहीं पहुंचेगा। उस समय जगजीवन राम के पास साधनों का नितांत अभाव था।

सर्वधर्म सम्मेलन

"22 मई, 1936 को लखनऊ में 'सर्व-धर्म सम्मेलन' और 'अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन' हुए। 'सर्व-धर्म सम्मेलन' इस बात का निर्णय करने के लिए बुलाया गया कि अगर हरिजन हिंदू धर्म छोड़ें तो कौन-सा धर्म स्वीकार करें?

'सर्व-धर्म-सम्मेलन', में जो 22 मई, 1936 को हुआ, रंग-बिरंग के लोग एकत्रित थे। बौद्ध भिक्षु, मुल्ला, सिक्ख, जैन, आर्य समाजी, सनातनी और ईसाई मिशनरी, सभी इस फिराक में आए थे कि कैसे हरिजनों को अपने रंग में लाया जाए। बाबा पतितपावन दास की अध्यक्षता में सभा हुई, जो नागपुर के निवासी थे और जिन्होंने हरिजनों के मंदिर-प्रवेश के लिए उपवास किया था। डॉ. अम्बेडकर जिनके कारण सम्मेलन हुआ था, शरीक नहीं हो सके।

सात घंटों में चौदह धर्म गुरु और धर्म-प्रवक्ता आए। बारी-बारी से सब ने वायदा किया कि अगर हरिजन उनके धर्म को स्वीकार कर लें तो उन्हें समान सुविधाएं दी जाएंगी। सब ने अपने-अपने धर्म की खूबियां प्रकट कीं। किसी धर्म पर छींटा-कशी नहीं हुई। अधिवेशन समाप्त हुआ। कहा गया कि हरिजन लोग परिस्थिति पर विचार कर अपना निर्णय लेंगे।

यद्यपि इस सम्मेलन में जगजीवन राम को निमंत्रित नहीं किया गया था, फिर भी कुछ साथियों के साथ वे वहां मौजूद थे। रसिकलाल विश्वास आमंत्रित थे। जगजीवन राम के विचारों से सम्मत वहां कुछ और लोग भी उपस्थित थे। यह निर्णय किया गया कि धर्म परिवर्तन के पक्षपातियों को रोकने का एक ही उपाय है और वह है धर्म-परिवर्तन के सवाल को तत्काल स्थगित रखना। अतः खूब जम कर प्रचार होने लगा, तथा दूसरे दिन इसका परिणाम भी मालूम हो गया जब 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' के अध्यक्ष, रसिक लाल विश्वास, 'अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन' के सभापति चुन लिए गए। यह सम्मेलन बुलाया गया तो डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा से ही, किंतु नेतृत्व उनके हाथ से निकल चुका था।" धर्मांतरण कराने वाली ताकतों का इनमें पैसा फुँक रहा था।

"जगजीवन राम की सलाह से राष्ट्रवादी हरिजनों ने यह निर्णय लिया कि अगर उन्हें डॉ. अम्बेडकर के दल के लोगों को अपने साथ ले चलना है, तो अपने को धर्म-परिवर्तन के पक्ष में घोषित करना, एक अच्छी चाल होगी। इसमें उन्हें सफलता मिली। उन्नीस आदमियों की एक कमेटी बनी, जिसका काम था दलित वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर विभिन्न धर्मों की उपयुक्तता पर विचार करना और अपनी रिपोर्ट 'अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन' के अगले वर्ष के अधिवेशन में पेश करना। इसमें राष्ट्रवादी हरिजनों का बहुमत था। सम्मेलन में इन लोगों ने अपने को धर्म परिवर्तन के पक्ष में बतलाया था और डॉ. अम्बेडकर में अपना पूर्ण विश्वास भी प्रकट किया था। सारी मोर्चेबंदी के प्रच्छन्न

कर्ताधर्ता थे जगजीवन राम। न तो वे डेलीगेट सम्मेलन में कुछ बोले, न खुलकर उन्होंने प्रचार ही किया। किंतु इस विषय पर जो प्रस्ताव तैयार किया गया, वह उन्हीं का लिखा था। श्रेष्ठ संयोजक की तरह उन्होंने सब कुछ संगठित किया, चालें निश्चित कीं और पीछे खड़े देखते रहे कि खेल किस प्रकार चल रहा है। जब कमेटी ने धर्म-परिवर्तन वाले प्रश्न को स्थगित किया, उस समय उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। समाचार पत्र डॉ. अम्बेडकर की सफलता पर बधाई दे रहे थे। परंतु जगजीवन राम भली भांति जान रहे थे कि अब डॉ. अम्बेडकर के पैर उखड़ गए हैं।'' विदेशी लेखक इस दृष्टिकोण को न समझ पाए हैं और न ही विश्लेषण करते हैं।

राजेन्द्र कृष्ण के शब्दों में ''दलित वर्ग संघ के माध्यम से हरिजन संगठन को राष्ट्रीय स्वरूप देने और उसे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के साथ ला खड़ा करने का ध्येय उन्हें (जगजीवन राम को ही) प्राप्त है। विघटन के भयंकर संकट से हिंदू धर्म और समाज की रक्षा के लिए आपके द्वारा किए गए निष्ठावान संघर्ष और प्रयास राष्ट्रीय आंदोलन के दो दशकों के इतिहास पर छाए हुए हैं।...अगर अम्बेडकर की विध्वंसकारी घोषणा सफल हो जाती तो शायद मुल्क का नक्शा कुछ और होता।''[22]

इस सम्मेलन के विषय में दलित समाज में ''तरह-तरह के अनुमान थे। सभी मानते थे कि सम्मेलन अधूरा रहा। कितने दिन और लगेंगे हरिजनों को यह निर्णय करने में कि हिंदू धर्म त्याग कर वे कोई दूसरा धर्म स्वीकार करेंगे। कितने साल? कौन-सा धर्म वे स्वीकार करना चाहेंगे? इस प्रकार के अनेकों प्रश्न उठते। जगजीवन राम तो बखूबी जानते थे कि अन्ततः क्या होगा? वे जानते थे कि कमेटी की रिपोर्ट आएगी ही नहीं। वे जानते थे कि हरिजन जन-समूह हिंदू धर्म छोड़ना नहीं पसंद करेगा जिसमें बाधाओं के बावजूद, सुधार अवश्यम्भावी थे। परंतु हरिजनों को सतर्क जरूर रहना होगा और अथक परिश्रम करना होगा।''

लोग अक्सर रसिकलाल विश्वास से पूछते कि हरिजनों के धर्म परिवर्तन के विषय में क्या हो रहा है? उन्होंने इसका एक सुंदर जवाब सोच लिया था। वे कहते, धार्मिक ग्रंथों से तो पता चलता है कि सभी धर्म बड़े अच्छे हैं। लेकिन देखना यह है कि उनका व्यवहार निम्न वर्ग के लोगों के साथ, जो दूसरे धर्मों से आए हैं, किस प्रकार का है। साधारणतः लक्षित यही होता है कि धर्म-शास्त्र कुछ और कहते हैं और व्यवहार कुछ और ही ढंग से होता है। अतः वे न केवल प्रत्येक धर्म के मूल सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे, बल्कि इस बात का भी कि धर्म विशेष के लोग दूसरे धर्मों से आए निम्नवर्गीय लोगों के साथ किस प्रकार का बर्ताव कहते हैं। अच्छा तमाशा था, सिक्ख, बौद्ध, मुसलमान और अन्य धर्म वाले मानो हरिजनों की सेवा में अपनी योग्यता प्रमाणित कर रहे थे और प्रत्येक इस बात का प्रयत्न कर रहा था कि उसके ही सर्वप्रथम घोषित किया जाए।

परिस्थिति के व्यंग्य को धर्म-परिवर्तन कराने वाली उत्साही किंतु भ्रमित नेताओं की जमात ठीक तरह ग्रहण नहीं कर पा रही थी। कुछ मिशनरियों ने हिसाब जोड़ा कि 1921 में प्रति मास 10,000 अछूत ईसाई होते थे और 1936 में 15,000। अगर यह संख्या

बढ़ कर 25,000 प्रति मास हो जाए, तो डॉ. अम्बेडकर की कृपा से उनके सब आदमी शीघ्र ही प्रभु यीशू की शरण में आ जाएंगे। उन लोगों ने ईसाई मिशनरियों आदि के लिए चतुर्सत्री प्रोग्राम बनाया।

धर्मोपदेश के लिए एक नयी प्रणाली तैयार की गई तथा मेला और जलसा के ढंग की जमातों पर बड़ा जोर दिया गया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि नवागन्तुक लोग एकाकीपन का अनुभव नहीं करने पाएं। इसके लिए उपाय यही था कि समय-समय पर ईसाई मत की एकता और विस्तार का प्रदर्शन किया जाए, और साथ ही साथ ही, प्रचारवाले पहलू को यथासंभव अदृश्य रखा जाए। किंतु जो लोग कुछ जानकार थे, वे इस अनिश्चितता की हालत से ऊबने लगे थे। **'इंडियन क्रिश्चियन मैनेजर'** नामक पत्र ने लिखा : "अच्छा था कि सम्मेलन होता ही नहीं। इससे विद्वेष बड़ा ही है। जो लोग चाहते हैं कि समूह-के-समूह हरिजन उनका धर्म स्वीकार कर लें, उन्हें धर्म का अपमान करने में खास मजा आता है। यह पूरा तमाशा ही अनुचित था। इस प्रकार का धर्म-परिवर्तन पार्थिव, सस्ता और अनुचित है।" इसके पश्चात् उक्त पत्र ने हरिजनों को चेतावनी दी कि अगर वे आर्थिक , राजनीतिक और सामाजिक कारणों से ही अपना धर्म बदल रहे हैं, तो कृपया ऐसा न करें, क्योंकि जिस वर्ग में वे आ मिलेंगे, वह और भी दुर्बल ही होगा।"[23] इस प्रकार भारत को ईसाई, सिख, मुस्लिम-बहुल बनाने का स्वप्न चूर्ण हो गया।

वास्तव में विदेश में उच्च शिक्षा प्राप्त, संघर्षों से जूझते आगे बढ़ने वाले डॉ. अम्बेडकर द्वारा सन् 1928 में 'साइमन कमीशन' के समक्ष साक्ष्य, 'लोथियन समिति' से सहयोग, 'गोलमेज सम्मेलन' में दलित समाज को अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उजगार करने, 'पूना पैक्ट' और अंततः 'भारत अधिनियम' में दलितों के लिए राजनीतिक अधिकारों आदि की प्राप्ति जैसे कुछ ऐसे प्रयास थे जिनसे जगजीवन राम पूर्णतः परिचित थे। डॉ. अम्बेडकर ने कई संघर्ष, प्रदर्शन किए और खुद अपमान भी झेला। इसलिए उनके मन में निसंदेह डॉ. अम्बेडकर के प्रति आदर भाव था। शायद उनके मन में यह विचार निरंतर आता हो कि यदि डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ जाएं तो दलित आंदोलन को और गतिशील बनाया जा सकता है। लेकिन डॉ. अम्बेडकर अपनी धुन के पक्के थे। वे अपनी विचार धारा से कतई समझौता करने के हक में नहीं थे। गांधी और कांग्रेस से तो बिलकुल नहीं। बाद में वे अवश्य झुके और दलितों को संविधान के रूप में बहुत कुछ दे गए।[24]

जगजीवन राम का स्पष्ट विचार था कि "सीटों के संरक्षण पर जोर देकर डॉ. अम्बेडकर, श्री निवासन, एम.सी.राजा और दूसरों ने अछूतों की महान् सेवा की है। उन्हें यह भी पता था कि सीटों के संरक्षण के बिना, सम्मिलित चुनाव के लिए गांधी जी ने जो जोर दिया, वह मात्र सैद्धांतिक आदर्शवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। अतः उन्होंने इस बात के लिए भरपूर प्रयत्न किया कि डॉ. अम्बेडकर को अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण की ओर मोड़े। लेकिन डॉ. अम्बेडकर का विश्वास था कि उनसे भूल नहीं हो सकती, और इसलिए उन्होंने अपने इस अल्पवयस्क किंतु व्यवहारकुशल साथी की बातों पर ध्यान नहीं दिया।"[25]

इस संदर्भ में यहां स्मरणीय है कि गोल मेज सम्मेलन वार्ता में 'दलितों के लिए राजनीतिक सत्ता' के लिए 20 नवंबर 1930 को डॉ. अम्बेडकर अपने गहन-गंभीर भाषण में बड़े तार्किक ढंग से खुलासा कर चुके थे और दलितों के सामाजिक राजनीतिक अधिकारों की मांग रख चुके थे। अम्बेडकर की इन सब बातों का जगजीवन राम को पता था।[26]

महाराष्ट्र में डॉ. अम्बेडकर का महारों पर बड़ा प्रभाव था। इसके विपरीत जगजीवन राम का उत्तर भारत, विशेषतय उत्तर प्रदेश और अपने पैतृक राज्य बिहार में अच्छा असर था। दोनों नेताओं की विचारधारा में काफी मतभेद था। लक्ष्य एक था परन्तु उनको पाने के रास्ते अलग थे। डॉ. अम्बेडकर धर्मांतरण की बातें कह चुके थे, जगजीवन राम इसके विरोधी थे।

साम्राज्यवाद की भेद नीति

धर्मांतरण और दलित आरक्षण दो भिन्न चीजें थी, ब्रिटिश सरकार देश में विभ्रम फैला कर विघटन करना चाहते थे। इस पर राजेन्द्र कृष्ण के शब्दों में, 'देश में बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना और स्वतंत्रता आंदोलन से अंग्रेजी हुकूमत से बेचैन थी।'...

"राष्ट्रीयता की सबसे बड़ी शक्ति हिंदू अब तक अविभाजित थे। अतः हरिजनों की बढ़ती अधिकार चेतना और सामाजिक-उत्पीड़न के विरुद्ध गहरे असंतोष का लाभ उठाते हुए अंग्रेजों ने डॉ. अम्बेडकर को बढ़ावा दिया और सवर्ण हिंदुओं के विरुद्ध भड़काया। जो हिंदू धर्म और राष्ट्रीय एकता के लिए बेहद खतरनाक बात थी। 13 अक्टूबर, 1935 को धर्म-परिवर्तन की घोषणा के साथ उनका भयंकर विघटनकारी एवं अराजकीय रूप एक दिन स्पष्ट हो गया। बाबूजी अब तक एक राष्ट्रीय हरिजन नेता के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुके थे।"[27]

पटना में अम्बेडकरवादियों का असफल प्रयास

अपने उद्देश्यों में असफल डॉ. अम्बेडकर और उनके कट्टर अनुयायी अब जगजीवन राम के प्रभाव को कम करने के लिए उतावले हो गए। उन्हें लखनऊ-पटना के कुछ अनुयायियों ने दरअसल दिग्भ्रमित कर दिया था। आम जनता में राष्ट्रीय आंदोलन के युग में उत्तर भारत में उस समय धर्मांतरण, देश द्रोह, जातिद्रोह जैसा माना गया था। दलितों में वैसे भी राजनैतिक चेतना, एकता और शिक्षा का अभाव था। आर्थिक अवस्था भी जर्जर थी यह एक प्रकार से निर्णय की जल्दबाजी थी।

महार नेतृत्व ने अब लखनऊ में पटना की ओर पैर पसारे। धर्मांतरण की समर्थक शक्तियों से संकर्प किए गए। हुआ भी यही लखनऊ के 'अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन' और सर्व सम्मेलन के समाप्त होते ही, मिशनरियों ने अब पटना के इर्द-गिर्द अपना काम प्रारम्भ किया। डॉ. अम्बेडकर ने योजना तैयार की थी कि भारतीय दलित वर्ग का एक अलग सम्मेलन वे पटना में करेंगे, जो जगजीवन राम का और राष्ट्रीयता का सुदृढ़ दुर्ग माना जाता था। वे सिंह को उसकी मांद में ही पछाड़ना चाहते थे। डॉ.

अम्बेडकर के विश्वासपात्र बलदेवप्रसाद जैसवार को, जिन्होंने लखनऊ वाले सम्मेलन का आयोजन किया था, इस काम के लिए भेजा गया। जगजीवन राम के 'दलित वर्ग संघ' की बिहार शाखा को पटना के इर्द-गिर्द मिशनरियों की कार्रवाई की भनक मिली। 'दलित वर्ग संघ' के कार्यकर्त्ता समझ गए कि यह डॉ. अम्बेडकर-प्रसूत आंदोलन का असर है और उन्होंने ईसाइयों के प्रचार को, जो विशेषतः चमारों के क्षेत्रों में हो रहा था, रोकने के लिए व्यूह रचना कर डाली।

"आखिर 1937 के मार्च और अप्रैल महीने में खुल कर मुठभेड़ें हुई। 27 मार्च, 1937 को, जगजीवन राम ने पत्रों में एक वक्तव्य दिया कि यह तथा-कथित 'अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन', जो पटना में अप्रैल के दूसरे सप्ताह में, हरिजनों द्वारा हिंदू-धर्म-परित्याग के निश्चय को अंतिम बार दुहराने के इरादे से किया जाने वाला है, वस्तुतः एक प्रवंचना है। न तो इसका 'बिहार प्रांतीय दलित वर्ग संघ' से लगाव है, न उसके किसी सदस्य से। बलदेव प्रसाद जैसवार और ईसाई मिशनरियों के गठबंधन का पर्दाफाश करते हुए उन्होंने इस दुरभि संधि की निंदा की, और बताया कि सम्मेलन धर्म-परिवर्तन के पक्षपातियों द्वारा बुलाया गया है जिनमें अनेक ऐसे भी हैं जो हरिजन नहीं। बाहर से जो आदमी केवल ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देने के लिए बुलाए गए हैं कि अन्य धर्मानुयायी दलित वर्ग के लोगों को अपने में मिला लेने का सुअवसर पा सकें। यह ध्रुव सत्य है कि प्रस्तावित सम्मेलन हिंदुओं की एकता को खंडित करेगा और हरिजनों के बीच बढ़ती राष्ट्र भावना को रोकेगा। उन्होंने सब से अनुरोध किया कि इस सम्मेलन से कोई संबंध नहीं रखें और बिहार के दलित वर्गों से कहा कि वे इसका सक्रिय विरोध करें।"[28]

बलदेव प्रसाद जैसवार अम्बेडकर के अनुयायी थे और उनकी बैसाखी लगाकर जैसवार चमारों की राजनीति चमकाना चाहते थे। दलित आंदोलन में उनका योगदान नगण्य था, लेकिन धर्मांतरण के प्रश्न को उछालकर मिशनरियों से लाभान्वित होना चाहते थे।

इसी क्रम में "बलदेव प्रसाद जैसवार को अब कहीं टिकने की जगह नहीं मिली, तो पटना के कैथोलिक मिशनरियों के साथ उन्होंने समझौता किया, जिनसे लखनऊ के सर्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर वे परिचित हो चुके थे। मिशनरियों ने सोचा कि ऐसा अवसर बड़े भाग्य से आता है, सो उन्होंने सम्मेलन की सफलता के लिए काफी मेहनत की। बेतिया तथा अन्य स्थानों से, ईसाई बने हुए हरिजन लाए गए। पैसा, पानी की तरह बहाया गया। गांधी और जगजीवन राम दोनों की नजर में पटना राष्ट्रवादी हरिजनों का दुर्ग था। अगर सम्मेलन सफलतापूर्वक हो गया और इस आशय का प्रस्ताव पास कर लिया गया कि हरिजन लोग हिंदू धर्म को तिलांजलि दे दें तो डॉ. अम्बेडकर के दल की आधी विजय हो जाएगी। यही कारण था कि इतनी तैयारियों की गई थीं। मिशनरी दल सभी जगह तैनात था। वे अनजान लोगों को, जिनमें अधिकतर ईसाई होते, बुला लाते, खिलाते-पिलाते और सम्मेलन के लिए सिखा-पढ़ा कर उन्हें तैयार करते।" मिशनरी विदेश से पैसा पाते थे और अपनी संख्या वृद्धि के लिए अछूतों को आकृष्ट करने में लगे थे।

इन्हें सरकारी संरक्षण प्राप्त था। प्रभावशाली अधिकारी भी आते-जाते रहते थे।

"ऐसे अवसर पर जगजीवन राम ने नीति से काम लिया जो लखनऊ में काफी कारगर सिद्ध हुई थी। अपने कट्टर समर्थक महावीरदास (तेली-साहू) को उन्होंने कहा कि वे धर्म-परिवर्तन का हिमायती होने का स्वांग भरें। शनिवार, 10 अप्रैल, 1937 को अंजुमन इस्लामिया हाल में सम्मेलन के प्रथम दिन की बैठक हुई। स्वागत कारिणी समिति के अध्यक्ष महावीरदास थे। पहले दिन अधिवेशन में संगठन, एकता और दलित वर्गों के पुनर्गठन के विषय में बातें हुईं। लगभग दो सौ आदमी उपस्थित थे।"

"दूसरे दिन का अधिवेशन महत्त्वपूर्ण रहा। सभापति थे ठाकुर प्रसाद। जब कमलदास हिंदू धर्म पर अपने विषाक्त वाण चला कर बैठ चुके, तब श्री बलदेव प्रसाद, किशन प्रसाद और दूसरे लोगों ने, जो जगजीवन राम के आदमी थे, धर्म-परिवर्तन वाली बात का विरोध किया। उन्होंने कहा कि हरिजनों को गांधी की सेवाएं नहीं भूलनी चाहिए। महाबीरदास ने, जो पहले दिन धर्म-परिवर्तन के पक्ष में बोल चुके थे, अपना आवरण उतार फेंका और दलित वर्गों से कहा कि उन्हें इन धर्म-परिवर्तन के पक्ष के समर्थकों से होशियार रहना चाहिए। उन्होंने जैसवार की ईमानदारी पर अंगुली उठाई, जो सम्मेलन के आयोजक मंत्री थे, चुनौती दी और उन पर ईसाईयों के पिट्ठू होने का इल्जाम लगाया। अब स्थिति जगजीवन राम के आदमियों के काबू में थी। वे बड़ी बुद्धिमानी से सम्मेलन में लाए गए थे और आखिर तक जैसवार को पता नहीं था कि उनके पैरों तले की मिट्टी खिसकने जा रही है। अंत में जैसवार के किए-कराए पर पानी फिर गया। यही नहीं, जिस सम्मेलन के आयोजन में उन्होंने एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया था, उसने उनकी सच्चाई में संदेह प्रकट किया। वे बौखला गए और गांधी के विरुद्ध कुछ अप्रिय बातें कहीं। इसके बाद जो शोर-गुल हुआ, उसे भला आयोजक क्या शांत करते? सभापति जी पिछले दरवाजे से खिसके जैसवार अगर भागते नहीं तो अवश्य पिट जाते। सम्मेलन इस प्रकार से हो-हल्ला में समाप्त हो गया।"[29] जगजीवन राम समर्थकों ने मंच पर कब्जा कर दिया भीड़ में उनके ही आदमी अधिक थे। अम्बेडकर को यह खबर विचलित करने वाली थी।

भ्रमित मीडिया

देश के अखबारों में इस सम्मेलन की विफलता की खबरें छप रही थीं। बिहार के, विशेषतया पटना, रांची के अखबार इसके बारे में समाचार प्रकाशित कर चुके थे। लेकिन इसकी विफलता के कारणों का प्रेस को पता नहीं था।

पटना से प्रकाशित प्रमुख दैनिक, 'सर्चलाइट' ने 14 अप्रैल, 1937 के सम्पादकीय लेख में लिखा : "सम्मेलन पूर्ण-रूपेण असफल रहा। सभापति को पिछले दरवाजे से भाग कर शरण लेनी पड़ी। उन भ्रांत-चित्त वक्ता महोदय को, जिनकी अभद्रता और अश्लीलता के कारण उत्तेजना फैली, अच्छी सीख मिली। शायद वे अब ईसाइयों के हाथ की कठपुतली बनने के पहले बार-बार सोचेंगे। ईसाई दोस्तों को, जो सड़कों पर टहल रहे थे कि कब सम्मेलन का अंतिम निर्णय घोषित किया जाए मुंह की खानी पड़ी। जिस मांद से निकल

कर वे लोग दलितों को प्रकाश दिखाने आए थे, उन्हें हताश फिर वहीं लौटना पड़ा।"
'सर्चलाइट' ने बताया कि पूरे तमाशे में मिशनरियों की भीतरी चाल और कपट के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

लेकिन 'सर्चलाइट' को भी असलियत का पता नहीं था। मिशनरियों के अखबार भी धोखे में थे। उन्होंने सम्मेलन के पहले हिंदुओं पर दोषारोपण किया था कि सम्मेलन का विरोध करने के लिए वे सब प्रकार की सहायता प्रचुर मात्रा में दे रहे हैं। 'सर्चलाइट' ने सम्मेलन के आयोजन में डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा को नहीं पहचाना और यह माना कि पूरा सम्मेलन ईसाई मिशनरियों के सहयोग से हुआ है। उसे जगजीवन राम की भीतरी कूटनीति का भी पता नहीं था। अतः उसने महावीरदास जी के रुख बदलने पर अपना आश्चर्य प्रकट किया जो वस्तुतः एक पूर्व-निर्दिष्ट बात थी। यह कह देना यहां काफी होगा कि सवर्ण हिंदुओं से प्रायः कोई सहायता नहीं मिली थी। केवल पटना के एक मशहूर वकील और कांग्रेसी नेता नवल किशोर प्रसाद ने चंदा स्वरूप पचास रुपए दिए थे। जिस सम्मेलन की सफलता के लिए डॉ. अम्बेडकर के अनुगामियों और ईसाइयों ने हजारों खर्च कर दिए, उसका विरोध करने के लिए मात्र यही सहायता मिली थी। इस सम्मेलन के बाद अखिल भारतीय मंच से धर्म-परिवर्तन के प्रयत्न समाप्त हो गए। डॉ. अम्बेडकर अपनी नकारात्मक नीति पर अड़े जरूर रहे, पर उन्हें भी मालूम हो गया कि वे हारी बाजी खेल रहे हैं।"[30]

लोगों पर धर्मांतरण का जो नशा मिशनरियों और अम्बेडकरवादियों ने चढ़ाया था, वह उतर गया। दलित गुमराह होने से बच गए, आगे चल कर अंग्रेज चले गए तो ईसाई बनने का ख्याल नहीं आया, पाकिस्तान बनने पर मुसलमान चले गए तो इस्लाम अपनाने का भी स्वप्न ध्वस्त हो गया था। अब नजर 'बौद्ध धर्म' पर टिक गई थी।

समस्या का हल क्या धर्म परिवर्तन है?

धर्म परिवर्तन की असली जड़ दलितों पर अत्याचार और दमनात्मक कार्यवाही है। जगजीवन राम ने इस समस्या पर सोचा और लिखा :

"गांवों में रहने वाले अनुसूचित जाति के लोग स्वभाव से ही शांतिप्रिय, बल्कि दब्बू होते हैं। लेकिन प्रभावशाली व्यक्ति किराए के गुण्डों की सहायता से उन पर बराबर आक्रमण करते रहते हैं, उनकी सम्पत्ति लूट ली जाती है और झोंपड़ियां जला दी जाती हैं। ऐसे आक्रमणों का कारण बिल्कुल स्पष्ट है। उन पर उस समय आक्रमण किए जाते हैं जब वे उचित मजदूरी की मांग करते हैं या अपने छोटे-छोटे खेतों पर हल चलाना शुरू कर देते हैं। आततायी लोग उन्हें पकड़कर उनके हाथ-पांव बांध देते हैं और कई बार उनको जीवित ही जला देते हैं। कई बार तो अनुसूचित जातियों की बस्तियां की बस्तियां जला दी जाती हैं। इन सब बातों के बावजूद कुछ लोग यह कहते हैं कि ऐसे लोग बड़ी निर्लज्जता से यह तर्क देते हैं कि पिछली सरकार के काल में इससे भी अधिक अत्याचार होते थे।

लेकिन ऐसी एक भी घटना हो जाए तो वह इस बात का प्रतीक है कि स्थिति कितनी गंभीर है। ये अत्याचार इतने क्रूर होते हैं कि यदि तथाकथित सभ्य लोग इनके विरुद्ध आवाज नहीं उठाते तो उन्हें शिक्षित या सुसंस्कृत कहलाने का कोई अधिकार नहीं है। दुर्भाग्य की बात है कि हमारे बुद्धिजीवी, हमारे उग्रवादी, और प्रगतिशील मित्र एक भी शब्द इन घटनाओं की निंदा में न तो कहते हैं और न लिखते हैं। स्थिति इतनी बिगड़ गई है कि समाचार पत्र भी ठीक ढंग से ऐसे समाचार नहीं छापते। समाचार एजेंसियां चुप्पी साध लेती हैं। कभी-कभार कोई मानवतावादी पत्रकार ऐसा समाचार दे देता है। जो लोग ऐसे मामलों की रपट पुलिस में लिखवाते हैं, उन्हें आतंकित किया जाता है और जब तक विधानसभाओं का संसद में इन घटनाओं की चर्चा नहीं की जाती तब तक अधिकारियों के कान पर भी जूं नहीं रेंगती। विधानसभाओं आदि में ऐसे मामलों का उठाया जाना कभी-कभार ही होता है और उसके पीछे भी राजनीतिक मुद्दा रहता है। ये निरीह अनुसूचित जाति और जनजाति के लोग स्वयं अपनी शक्ति से परिचित नहीं हैं और वह शक्ति है इनकी अपार जनसंख्या। इन जातियों के करोड़ों लोग देशभर में फैले हुए हैं और यदि ये संगठित हो जाएं और उठ खड़े हों तो ये एक नए राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। लेकिन इन दब्बू, शांतिप्रिय बल्कि दलित और दमित लोगों की अपार शक्ति शताब्दियों से दमन की चक्की में पिसती रही है। आवश्यकता इस बात की है कि इन्हें संगठित किया जाए और इनके लिए एक नए और महान् भविष्य का निर्माण किया जाए।"[31]

वे आगे लिखते हैं : "अनुसूचित जातियों के लोग खेतों, खानों, जंगलों और कारखानों में काम करते हैं। वे न केवल अनाज, दालें और अन्य कृषि-उत्पाद उगाते हैं बल्कि सड़कें, पुल, बांध और भवन भी बनाते हैं। ये लोग सच्चे अर्थों में सम्पत्ति के निर्माता हैं। लेकिन इन्हें उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता। इनमें से अधिकतर श्रद्धालु हिंदू हैं। लेकिन इसी धर्म के मानने वाले लोग इनकी छाया से भी दूर भागते हैं। ये लोग फिर भी अपनी श्रद्धा और विश्वास नहीं छोड़ते और दूर से ही हिंदू देवी-देवताओं की पूजा किए जाते हैं। इन्हें युगों तक घोर दमन का शिकार होना पड़ा है और अब यह हालत हो गई हैं कि इनमें से अधिकतर अपनी इस निम्न स्थिति को स्वीकार कर चुके हैं और कभी सपने में भी नहीं सोचते कि वे अपना धर्म बदल लें। इतिहास के प्रारंभ से ही ये हिंदू रहे हैं। समय-समय पर जब दमन और अत्याचार की अति हो गई और इनके लिए उसे सहन करना असंभव हो गया तो इनमें से कुछ दूसरे धर्मों में चले गए। इनके नाम नए हो गए, नए संबंध हो गए और समाज में इनकी स्थिति भी बदल गई।

यद्यपि हरिजनों ने सवर्ण हिंदुओं के हाथों बड़े अत्याचार सहे हैं मैं समझता हूं कि हिंदू धर्म का परित्याग करके ये अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सकते।

1935 की बात है जब मैं दलित वर्ग संघ के प्रधान के रूप में रांची में हैमण्ड समिति के सामने गया और वहां पर मैंने हरिजनों की आवाज उठाई उस समय मैंने कहा था कि इन लोगों को समुचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और शासन में इनका हिस्सा पहले से अधिक होना चाहिए। उस समय हम लोग अंग्रेजों के दास थे और स्वतंत्रता

संग्राम बड़े जोरों से चल रहा था। ईसाई मिशनरी और ब्रिटिश शासक हरिजनों को प्रलोभन देकर अपने साथ मिलाने की चेष्टा कर रहे थे। अंग्रेजों की मंशा तो केवल यह थी कि विरोधी दलों में फूट पड़ जाए। वे यह सोचते थे कि दलित वर्गों और मुसलमानों को प्रलोभन देकर राष्ट्रवादी आंदोलन से अलग किया जा सकता है। इन दोनों समुदायों को उदार मन से अनुदान दिए जा रहे थे और विभिन्न प्रकार की सहायता भी। मैं इन प्रलोभनों के सर्वथा विरुद्ध था और मैंने हरिजनों द्वारा धर्म परिवर्तन के विरुद्ध आवाज उठाई। ऐसा न होता तो सम्भवतः करोड़ों हरिजन ईसाई बन जाते। राष्ट्रीय नेताओं ने उस समय मेरे इन प्रयत्नों को सराहा था।''[32]

उन दिनों मिशनरी बहुत सक्रिय थे और उन्हें ब्रिटिश सरकार का पूरा समर्थन प्राप्त था। परंतु हम उन लोगों के बहकावे में नहीं आए और हमने हिंदू रहते हुए अपना संघर्ष जारी रखने की ठानी। मेरे हिंदू मित्रों और सभी राष्ट्रीय नेताओं ने यह प्रण किया था कि हमारे साथ न्याय किया जाएगा। परंतु स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद भी हरिजनों की दशा सुधारने की दिशा में जो प्रयत्न हुए हैं उनकी गति अत्यन्त धीमी रही है।

अनुसूचित जातियों की समस्याओं का हल यह नहीं है कि वे अपना धर्म परिवर्तन कर लें। जिन क्षेत्रों में जनजातियां और कमजोर वर्ग के लोग रहते हैं वहां लम्बे समय से मिशनरी सक्रिय रहे हैं। उन्होंने किसी न किसी रूप में करोड़ों रुपए खर्च किए हैं। मिशनरी बहुधा उन खेतों में जाकर काम करते हैं जहां चारों ओर कंगाली बसती है। इन क्षेत्रों में लोगों की सामाजिक और आर्थिक दशा सुधारी जा सके तो धर्म-परिवर्तन करने वालों की संख्या में कमी की जा सकती है। परंतु हमारे हिंदू मित्र और परमार्थ की भावना से काम करने वाले लोग जनजातियों और अन्य कमजोर वर्गों की दशा सुधारने की ओर अधिक ध्यान नहीं दे रहे। विदेशी ईसाई मिशनरियों की तुलना में हिंदू सुधारकों या अन्य संस्थाओं अथवा संघों ने इन दूरगामी क्षेत्रों में अस्पताल खोलने, विश्राम गृह बनाने, पंचायती केन्द्र खोलने, स्कूल या कालेज चलाने या सड़कें बनाने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। केवल सरकार अपनी कार्यवाही के माध्यम से लोगों का मन नहीं बदल सकती। कल्याण कार्य प्रारंभ करने से पहले इन लोगों की सहानुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने मन के अंदर झांके और अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनें।

सच तो यह है कि मिशनरियों ने जनजातियों के बच्चों के लिए न केवल स्कूल और कालेज खोले हैं बल्कि इस बात की भी व्यवस्था की है कि उन्हें इंजीनियरी, डाक्टरी और अन्य विषयों की शिक्षा के लिए विदेशों में भेजा जा सके। हिंदुओं की कल्याणकारी संस्थाओं या समाज सुधारकों ने ऐसा कोई प्रोत्साहन नहीं दिया।''[33]

जगजीवन राम ने यह स्वीकार किया कि आजादी के पश्चात् भी उनकी सामाजिक-आर्थिक हालत में सुधार नहीं हुआ। दलितों और शूद्रों की हालत सुधरी नहीं। वे दास बने रहे। उन्होंने आगे लिखा :

''भारत दासों और अर्द्ध दासों का राष्ट्र है। श्रमिक वर्ग के अधिकतर भाग को

अछूत, पिछड़े हुए या शूद्र बनाकर रख दिया गया है। हमारे समाज का आधार ही अन्यायपूर्ण हो गया है। समाज के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर अभी तक जमींदारों और समृद्ध तथा प्रभावशाली जातियों का वर्चस्व है। वे अपने लाभ के लिए शासन करते हैं। आजादी के 33 वर्ष भी बाद भी नगरों और गांवों में करोड़ों लोग गरीबी की रेखा के नीचे रहते है। यद्यपि वे सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं पर उनका जीवन पशुओं जैसा जीवन है। कल्याणकारी योजनाओं पर करोड़ों रुपए का व्यय होता है परंतु कोई भी उल्लेखनीय या क्रांतिकारी परिवर्तन होता दिखाई नहीं देता। निर्धनता और छुआछूत विकास में बाधक हो रही हैं। सामाजिक क्रांति के नारे बड़े आकर्षक लगते हैं परंतु क्रांतिकारी परिवर्तन है कहां? कौन लोग हैं जिनका सरकार पर नियंत्रण है या जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शासन के लिए जिम्मेदार हैं? कौन हैं जो इंजीनियरी और डाक्टरी के व्यवसाय पर छाए हुए हैं? कौन हैं जो व्यापार और शासन का नियंत्रण कर रहे हैं? ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन कौन लाएगा?

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मैंने सोचा था कि देश में एक सामाजिक क्रांति होगी। लेकिन क्रांति केवल कुर्सी में हुई। कुर्सी पर बैठने वाले बदल गए और उनके नाम बदल गए। कई उदारवादी और उग्रवादी भारतीय इन विचारों से सहमत हैं। परंतु उनमें से अधिकतर अपना चित्र उभारने की कोशिशों में लगे हैं या केवल अपने को लाभ पहुंचाने के फेर में हैं। मैं समझता हूं कि निर्धनों, श्रमिकों और अछूतों की उपेक्षा अधिक दिन तक नहीं की जा सकती। हम यह दावा नहीं करते कि हिंदू धर्म और संस्कृति के एकमात्र-संरक्षक हम ही हैं। हम तो केवल इतनी आशा करते हैं कि नगरों और गांवों में हमारे साथ न्याय किया जाएगा। शिक्षा के प्रसार के बाद हमारी जनता अधिक जागरूक हो गई है और उसे अपने अधिकारों का ज्ञान है। अपनी मान-मर्यादा के लिए वे बलिदान करने को भी तैयार हैं।''[34]

सरकार और समाज में जागरूकता के कारण यद्यपि दलितों का ईसाई धर्म में धर्मांतर बंद हो गया, लेकिन आदिवासियों में धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया जारी रही। अक्टूबर, 1956 में अंततः डॉ. अम्बेडकर ने अपने अनुयायियों के साथ नागपुर में बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ही ली। इसीलिए जगजीवन राम ने स्वीकार किया : ''सवर्ण हिंदुओं की उपेक्षा और अत्याचारों के कारण बहुत से हरिजन ईसाई या बौद्ध होते रहे हैं और अब समय आ गया है कि उन्हें मानव समझा जाए और उनके अधिकार उन्हें दे दिए जाएं जिससे कि वे लोग सम्मानपूर्वक जी सकें।''[35]

गांधी की राय

'भारत अधिनियम, 1935' के अंदर चुनाव हुए तो दलितों की राजसत्ता में भागीदारी का द्वार खुल गया। अब विधायिकाओं की सदस्यता हासिल करके वे दलित-अस्पृश्यों की समस्याओं के प्रति सरकार का ध्यान आकर्षित कर सकते थे। इससे दलित मुक्ति के

आंदोलन को बल मिला।

गांधी ने धर्मांतरण का मुक्त कंठ से विरोध किया। दलितों की सदस्यता के सवाल पर गांधी नहीं चाहते थे कि वे चुनाव के निमित्त कांग्रेस या किसी दूसरे पार्टी का साथ करें। एम.सी.राजा ने उनसे पूछा था कि चुनाव लड़ने के लिए हरिजन किसी राजनीतिक पार्टी में शरीक हों या नहीं। गांधी ने कहा, "वे किसी भी पार्टी के साथ न मिलें। जिस प्रकार की सरकार है, उसके प्रति मेरे विचार वही हैं, जो पहले थे। परंतु हरिजनों को युगों से जो असमर्थताएं झेलनी पड़ी हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए मैं प्रगतिशील-से-प्रगतिशील पार्टी में भी सम्मिलित होने को उन्हें नहीं कहूंगा।" गांधी ने यह भी कहा कि अगर विधान सभाओं का बायकाट करने के कारण कांग्रेस और सरकार के बीच लड़ाई भी हो जाए, तो भी हरिजनों को उस बायकाट में सम्मिलित नहीं होना चाहिए। बिना अपने आत्म-सम्मान को और भारत की निर्धन जनता के हितों को क्षति पहुँचाए, उन्हें जो कुछ भी सरकार से प्राप्त हो, स्वीकार करना चाहिए। उनकी सलाह मात्र हरिजनों के हितों को ध्यान में रख कर दी गई और कांग्रेस के राजनीतिक पार्टी के रूप में, हानि-लाभ का बिल्कुल ही ख्याल नहीं किया गया था। वे 'पूना-समझौता' को मन और वचन से पाल रहे थे। जगजीवन राम इससे बड़े प्रभावित हुए।

सन् 1936-37 के चुनाव प्रारंभ होने के पूर्व जगजीवन राम ने सारे भारत का दौरा किया। जहां भी वे गए, हरिजनों से उन्होंने कहा कि उन्हें अपना राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं खोना चाहिए और 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' को सुदृढ़ करना चाहिए। उस समय जिस कोलाहल-रहित कुशल संगठन-शक्ति का उदाहरण उन्होंने पेश किया, वही आगे चलकर उन्हें न केवल हरिजनों का, बल्कि भारत की सामाजिक-आर्थिक क्रांति के आंदोलन का नेता बना सकी।"[36]

बिहार दलित वर्ग संघ का घोषणापत्र

'बिहार प्रांतीय दलित वर्ग संघ' का चुनाव घोषणा पत्र 9 अगस्त, 1936 को प्रकाशित हुआ। इस प्रांतीय शाखा को श्री जगजीवन राम नें 1935 के कानपुर सम्मेलन के पश्चात कायम किया था और वे ही उसके सभापति भी थे।

घोषणा पत्र में कहा गया, "दलित वर्गों कें पिछड़ेपन और बुरी दशा की प्रधान बात उनकी भयंकर गरीबी और निरीहता है, जिन्हें वर्तमान आर्थिक संबंधों, धार्मिक पक्षपातों तथा विभेदपूर्ण सामाजिक नियमों ने पैदा किया है। ये सामाजिक नियम परंपरा, रूढि तथा विधान द्वारा प्रतिष्ठित हैं और इसके कारण हरिजन नैतिक दृष्टि से तथा शिक्षा में और माली हालत में बरबाद हो चुके हैं। केवल हिंदू समाज के अंतर्गत ही नहीं, उसके बाहर भी इन निंद्य विभेदों ने वातावरण को विषाक्त कर रखा है।" दलित वर्गों की आर्थिक दशा पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए घोषणा पत्र में भावी शासन विधान में उनके लिए संरक्षणों की मांग की गई थी। जगजीवन राम ने बतलाया कि संरक्षण और सुरक्षा की

मांग अग्रणी-शासन विधानीय-विचारधारा के अनुकूल हैं क्योंकि कोई भी राजनीतिक शासन-विधान सामाजिक गठन की वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सकता। सच तो यह है कि सामाजिक गठन और राजनीतिक गठन में सामंजस्य आवश्यक है, क्योंकि सामाजिक शक्तियों की प्रक्रियाएं केवल सामाजिक ही नहीं, बल्कि राजनीतिक क्षेत्र को भी प्रभावित करती हैं। यद्यपि घोषणा पत्र में संरक्षणों और रक्षा उपबंधों की जो मांग की गई, वह डॉ. अम्बेडकर के दल वालों की मांग से मेल खाती थी, परंतु उसमें इस पर जोर दिया गया था कि हरिजनों की प्रगति अपने आप में अकेले न होकर उस गरीब भारत के एक आवश्यक अंग के रूप में होनी चाहिए, जिसे कांग्रेस में निश्चित स्थान मिला है।

"1936 में जगजीवन राम 'बिहार विधान परिषद्' के सदस्य मनोनीत हुए। दलित वर्ग संघ के नेता के रूप में उनकी ख्याति बढ़ रही थी। लगभग इसी समय उड़ीसा को बिहार से पृथक कर एक प्रांत बनाया गया। इस पृथक्करण के बाद बिहार परिषद के लिए कोई हरिजन सदस्य ही नहीं रह गया क्योंकि बिहार-उड़ीसा की संयुक्त परिषद के लिए जो सज्जन मनोनीत किए गए थे, वे उड़ीसा के निवासी थे। इस रिक्त स्थान को भरने के लिए किसी सवर्ण हिंदू को मनोनीत करने का निश्चय किया गया। जगजीवन राम ने कहा कि यदि इस स्थान की पूर्ति किसी बिहारी हरिजन के द्वारा नहीं होगी, तो वे प्रांत भर में आंदोलन खड़ा करेंगे। अंततः सरकार ने उन्हें ही मनोनीत किया। चारों ओर से बधाई के संदेश मिले। बिहार में तो कई स्थानों पर हजारों की संख्या में एकत्रित होकर हरिजनों ने खुशी प्रकट की। ठक्कर बापा ने भी बधाई भेजी जिसमें बहुत सी नेक और उपयोगी नसीहतें थीं।"[37]

वे इस समय मात्र अट्ठाईस वर्ष के थे। इससे दलित आंदोलन को बड़ा बल मिला। बिहार में दलितों के लिए 15 स्थान सुरक्षित थे। जगजीवन राम के राजनीतिक प्रभाव और नीति के फलस्वरूप 14 जगहों पर दलित प्रतिनिधि निर्विरोध निर्वाचित हो गए।

"इससे जगजीवन राम की प्रतिष्ठा में चार चांद लग गए। 'दलित वर्ग संघ' की ओर से टिकट देने में उन्होंने बड़ी बुद्धिमत्ता और न्याय से काम लिया था। जब चौदह उम्मीदवारों को पहले संघ में चुन लिया तो कांग्रेस ने भी उन्हें अपना उम्मीदवार घोषित किया। उनमें जो कांग्रेसी नहीं थे, उन्होंने कांग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र पर अपने हस्ताक्षर कर दिए।"[38]

तब तक पूरे बिहार में 'दलित वर्ग संघ' की शाखाएं स्थापित हो गई थीं, दलित एकजुट हो गए थे। उनमें चेतना आ गई थी।

12 जुलाई, 1937 को 'बिहार प्रांतीय दलित वर्ग अधिवेशन' गोपालगंज में आयोजित किया गया। उन्हीं दिनों राजनीतिक प्रश्नों पर कांग्रेस ने मशरक में सम्मेलन आयोजित किया। इसमें कांग्रेस मंत्रिमंडल बनाने के लिए विचार विमर्श करने वाली थी दलितों के प्रतिनिधित्व पर वे अब सक्रिय थे। इसलिए गोपालगंज अधिवेशन कई मायने में अर्थपूर्ण था। उनकी जीवनी में यह उल्लेख आता है:

"जगजीवन राम गोपालगंज अधिवेशन में राजेन्द्र बाबू, डॉ. श्रीकृष्ण सिंह और डॉ. अनुग्रह नारायण सिंह के साथ गए थे। राजेन्द्र बाबू ने अपने भाषण में अस्पृश्यता-निवारण

की दिशा में हुए प्रयत्नों की समीक्षा की और उनके परिणाम पर संतोष प्रकट किया। उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता की नींव हिल गई है, यद्यपि उसका पूर्ण निवारण करने में और समय लगेगा। उन्होंने त्रावणकोर और अन्य स्थानों में हुई घटनाओं का जिक्र किया और हरिजनों को चेतावनी दी कि वे अधीर न हों। सरदार पटेल, पं. जवाहरलाल नेहरू और डॉ. अम्बेडकर के संदेशों को उन्होंने ही पढ़ कर सुनाया। पं. नेहरू ने लिखा था कि वे नहीं चाहते कि कोई भी अपने को दलित वर्ग का व्यक्ति कहे। उन्होंने यह भी कहा था कि कांग्रेस अस्पृश्यता की कालिमा को मिटाना चाहती है और ऐसे समाज का निर्माण चाहती है जहां सबको विकास का पूर्ण अवसर मिले और कोई सामाजिक बंधन न हो। हरिजनों की मजबूरियों का अंत तभी संभव है, जब देश राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो। अतः उन्होंने सिफारिश की कि शोषित और दलित हरिजनों को चाहिए कि स्वतंत्रता-संग्राम में वे पूर्ण सहयोग दें।

सभापति के आसन से दिए गए अपने भाषण में जगजीवन राम ने राजेन्द्र बाबू की आशावादिता से असहमति प्रकट की। उन्होंने पंडित नेहरू के आधारभूत विश्लेषण से अपनी सहमति तो बनायी, किंतु साथ-ही-साथ यह भी कहा कि अछूतों के लिए जिस सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा है, वह वस्तुतः ठीक वही नहीं है, जो अन्य वर्गों के लिए है। साम्राज्य विरोधी संयुक्त मोर्चा होने के नाते कांग्रेस को एक सम्मिलित कार्यक्रम अवश्य अपनाना पड़ा है, परंतु मात्र वही उन करोड़ों दलित व्यक्तियों का ध्येय नहीं हो सकता। उन्होंने समय-समय पर 'हिंदुओं में हुए सुधार आंदोलनों' का विशद विवेचन किया, और बतलाया कि किस प्रकार वे असफल हुए। उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेस में जो 'हरिजन सेवक संघ' के जरिए सामाजिक एकता प्राप्त करने का ध्येय रखा है, वह भ्रांतिमूलक, दोषपूर्ण और गतिरोधक है। पांच वर्षों से सुधार कार्य हो रहे हैं, फिर भी हरिजन वही हैं, जहां पहले थे। उन्होंने हरिजनों की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और शिक्षण संबंधी मजबूरियां बतलायीं। उन्होंने कहा कि हरिजनों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए और इस दिशा में उपयुक्त उत्साहवर्द्धक वातावरण भी तैयार करना चाहिए ताकि व्यवस्था से वे लाभ उठा सकें। उन्होंने कहा कि हरिजनों के लिए 50 हजार कूपों का निर्माण होना चाहिए और इसके आधे खर्च के रूप में 50 लाख रुपयों की सरकारी कोष में व्यवस्था होनी चाहिए। खेतों में काम करने वाले मजदूरों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए उन्होंने बतलाया कि बिना भूमि के पुनर्विभाजन के, जमींदारी का उन्मूलन व्यर्थ सिद्ध होगा। भूमिहीन सर्वहारा वर्ग को उन्होंने सलाह दी कि उनकी एक स्वतंत्र संस्था होनी चाहिए। उन्होंने कहा :"हमारे नब्बे प्रतिशत भाई तो खेतों में मजदूरी करते हैं। वे मजदूर क्या हैं, बल्कि उन्हें दास कहना अधिक उपयुक्त होगा। अगर आप दासता के बचे-खुचे रूप का दर्शन किया चाहते हो तो किसी गांव में जाइए और किसी हलवाहे को देखिए। वह बाध्य है कि जिंदगी काटने लायक मजदूरी पर वह अपने को किसी किसान के यहां गिरवी रखे। ऊंची मजदूरी पर दूसरे गांव में काम करने वह नहीं जा सकता। अगर वह इस प्रकार का दुस्साहस करे तो उसके लिए अनेक ढंग की

यातनाओं की व्यवस्था होगी। केवल जमींदारी के उन्मूलन से इस प्रकार के शोषण का अंत नहीं हो सकता। जो असल में खेत जोतने वाले हैं, उनके बीच भूमि का पुनर्वितरण करना ही होगा।''[39]

मंदिर-प्रवेश और ब्राह्मण-पुरोहितों पर निर्भर रहने के प्रश्न पर उन्होंने आगे कहा : ''कि हरिजन उन मंदिरों की ओर आकर्षित नहीं हैं, जिनके दरवाजे उनके लिए बंद कर दिए गए हैं। उन्होंने यह भी सलाह दी कि उन्हें अपने संस्कारों, और यज्ञों के लिए ब्राह्मणों पर नहीं निर्भर रहना चाहिए बल्कि ऐसे ही कार्यों के लिए अपने ही आदमियों को तैयार करना चाहिए। उन्होंने पुनः इस बात को दुहराया कि सवर्ण हिंदुओं का कांग्रेस के प्रति अनुराग केवल राजनीतिक कारणों से है, हिंदू जन समूह के सामाजिक विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। दलित वर्गों के लोग उसी दशा में हिंदू धर्म का परित्याग करते हैं, जब अमानुषिक यातनाओं के कारण वे अपना धैर्य खो बैठते हैं और दूसरा धर्म स्वीकार किए बगैर उन्हें उद्धार का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता। उन्होंने कहा कि धर्म-परिवर्तन के आंदोलन की यही नैतिक चुनौती है, जिसकी अवहेलना राष्ट्रीय संस्था होने के कारण वैसे लोगों से प्रभावित हो सकती है जो सामाजिक प्रतिष्ठा, पूंजी, तथा शक्ति रखते हैं और इसलिए हरिजनों के लिए आवश्यक है कि वे अपनी अलग एक स्वतंत्र संस्था भी रखें।''[40]

जगजीवन राम ने खरी खरी बातें सुनाई थीं इसलिए कटरपंथी कांग्रेसियों को इस भाषण में उसकी प्रिय मान्यताओं के प्रति विद्रोह की गंध मिली। बहुतों ने जगजीवन राम को सलाह दी थी कि अगर वे कांग्रेसियों और उनके नेताओं को प्रसन्न रखना चाहते हैं तो उन्हें सोच-समझ कर मुंह खोलना चाहिए। अगर दलितों के लिए कुछ हासिल करना है तो संयम और सीधी-सादी बात करनी चाहिए। परंतु जगजीवन राम के चरित्र संत परंपरा में बना था और उनकी एकमात्र अभिलाषा थी किसी कीमत पर भी हरिजनों के लिए न्याय प्राप्त करना। अस्तु, उन्हें लगा कि वे असत्य नहीं कह सकेंगे और न किसी भी दशा में अपनी सच्ची भावनाओं को दबाएंगे क्योंकि ऐसा करना पाखंड होगा।''[41]

दलित को मंत्रिमंडल में लेने पर विवाद

गोपालगंज अधिवेशन के इस भाषण ने एक बावेला खड़ा कर दिया। वादविवाद हुए और एक-दूसरे पर आरोप लगाए गए। सुप्रसिद्ध साहित्यिक नंदकिशोर तिवारी ने 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका में जगजीवन राम की तीव्र कटु आलोचना की। उसका प्रत्युत्तर 'विश्वमित्र' में जगजीवन राम ने दिया। उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि उनके तर्कों का जवाब न देकर व्यक्तिगत आलोचना की गयी है, जो आलोचना का अनूठा अंग है। आर्य-समाजी 'सर्चलाइट' और 'इंडियन नेशन' के जरिए अपना गुस्सा उतारते रहे। कटुता खूब बढ़ी। आर्य-समाजियों का प्रत्युत्तर डॉ. रघुनंदन ने दिया।

इसी वितण्डावाद की साया में 1937 का कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना। राजेन्द्र बाबू,

जो उनको जब तक भली भांति जान गए थे, बहुत चाहते थे कि उन्हें मंत्रिमंडल में स्थान दिया जाए। किंतु केवल एक ही हरिजन मंत्रिमंडल में लिया जा सकता था और इसके लिए जगलाल चौधरी अपने दावे पर खूब जोर दे रहे थे। वे 1921 के कांग्रेसियों में थे। जगजीवन राम ने सारी बातें राजेन्द्र बाबू पर छोड़ दीं और अधिकारों का कोई दावा नहीं रखा। इससे राजेन्द्र बाबू का काम आसान हो गया। मंत्रिमंडल में जगलाल चौधरी ले लिए गए। जगजीवन राम को पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी का पद स्वीकार करने को कहा गया। उन्होंने राजेन्द्र बाबू के निर्णय को बिना किसी शिकायत के अंगीकार किया। सभी उनके इस व्यवहार से प्रभावित हुए। राजेन्द्र बाबू को इसका अफसोस बना रहा कि वे उन्हें मंत्रिमंडल में नहीं ले सके।"[42]

दरअसल उम्र देखकर चौधरी मंत्री बनाए गए। यह युग बिहार के दलितों की आकांक्षाओं और प्रेरणा के प्रतीक जगजीवन राम के दलित नेतृत्व की दिशा में उदय और संघर्ष का युग था। जगजीवन राम इतिहास पुरुष बने। आज जगलाल चौधरी को कोई नहीं जानता।

त्रावणकोर : सामाजिक क्रांति का रास्ता

उन दिनों मंदिर प्रवेश का मामला जोर पर था। गांधी और कांग्रेसी नेता इस क्षेत्र में सक्रिय थे। खुद शुरू-शुरू में डॉ. अम्बेडकर ने भी संघर्ष छेड़ा था।

कुछ समय पूर्व त्रावणकोर रियासत सामाजिक विषमता को मिटाने और दलितों में नई आशा जगाने के लिए क्रांतिकारी कदम उठा चुका था। "दीपावली के दिन, 12 नवंबर, 1936 को, त्रावणकोर के महाराजा ने अपनी 25वीं वर्षगांठ के अवसर पर उन सभी मंदिरों के दरवाजे, जो राज्य या राज्य-परिवार के लिए थे, सब प्रकार के हिंदुओं के लिए खोल दिए। इसे हिंदू धर्म के बड़े सुधारों में से एक की संज्ञा दी गई और इसकी बड़ी सराहना की गई। गांधी ने 'हरिजन' में लिखा : "यद्यपि अस्पृश्यता एक ऊपरी उपज है, फिर भी इसने हिंदू संसार पर इस प्रकार अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है, कि जब कोई हिंदू उसके बंधनों को तोड़ता है तो सुधारकों की प्रशंसा और कट्टरपंथियों की कटु आलोचना का पात्र वह बन जाता है। त्रावणकोर के महाराजा का घराना एक प्राचीन कट्टर हिंदू घराना है। अब से त्रावणकोर में ईश्वर के निवास स्थान में आदमी और आदमी के बीच भेदभाव नहीं बरता जाएगा। त्रावणकोर में बहुतेरे ईसाई हैं। ईसाई मिशन वाले हरिजनों पर बहुत धन व्यय कर रहे हैं, और उन्हें वास्तविक स्वतन्त्रता और सामाजिक समता का प्रलोभन देकर भरमा रहे हैं। इस घोषणा को संकुचित दृष्टि से देखने और इसकी आलोचना करने की चेष्टा की जाएगी। अतः घोषणा को उसके शाब्दिक और भावात्मक अर्थ में व्यवहृत करने के लिए पूरा प्रयत्न करना होगा।"

सरदार पटेल ने "अपने समय की बड़ी क्रान्तियों में से एक" कहकर इसका स्वागत किया। पंडित नेहरू ने कहा कि "इस मनोवैज्ञानिक समस्या के समाधान से भूमिहीनों

की आर्थिक समस्या को सुलझाने का मार्ग भी प्रशस्त होगा। आर्थिक समस्या हरिजन समस्या की जड़ है।" सभी समाचारपत्रों ने इस घोषणा का स्वागत किया। किंतु कट्टरपंथी कुपित थे। उनका कहना था कि मंदिर तो वर्ण-संस्था हैं। त्रावणकोर ने उन्हें वर्णहीन कर दिया है। पंडितों ने कहा कि मंदिर की मूत्तियों में जो दैवी आकर्षण थे, वे तो अब नष्ट हो ही जाएंगे। कुछ समय बाद, कोचीन के महाराजा ने यह घोषणा कर बड़ी सनसनी पैदा की कि कोचीन का सुप्रसिद्ध कुडाल-मणिक्कम मंदिर इसलिए अपवित्र हो गया कि उसमें एक ऐसे पुजारी ने धार्मिक विधियां सम्पन्न कीं जो पहले त्रावणकोर में पूजा कराते थे। महाराजा ने मंदिर की पवित्रता पुनः स्थापित करने के लिए उचित प्रायश्चित्त की आवश्यकता बतायी। यह रूढ़िप्रिय और विघ्नकारी कट्टरपंथियों को शह देना था। कुछ हद तक अभी इस झगड़े का निबटारा नहीं हो सका कि त्रावणकोर का कदम क्रांतिकारी कदम था।"[43] जगजीवन राम ने कहा दलितों को 'मंदिर प्रवेश' से कुछ नहीं मिलेगा। उन्हें सामाजिक न्याय मिले, बराबरी का दर्जा मिले। शिक्षा मिले। रोजगार मिले यही बहुत कुछ होगा।

अम्बेडकर-मुंजे समझौता

एक दूसरी सनसनी तब हुई जब 10 अगस्त, 1936 को एम.सी. राजा ने डॉ. अम्बेडकर और 'हिंदू महासभा' के सभापति डॉ. मुंजे के बीच जो गुप्त समझौता हुआ था, उसे प्रकाशित कर दिया। इस गुप्त समझौते में लिखा था कि अगर डॉ. अम्बेडकर हरिजनों को सिक्ख धर्म के अंतर्गत ला सकें, तो हिंदू महासभा को इस पर आपत्ति न होगी कि उन्हें नव-सिक्ख दलित-वर्ग के रूप में गिना जाए और इस प्रकार पूना-समझौता के अनुसार जो राजनीतिक अधिकार उन्हें प्राप्त हैं, वे उनका उपयोग कर सकें। एम.सी. राजा ने इस पर असहमति प्रकट की थी। उन्होंने बतलाया कि यह वास्तविक धर्म-परिवर्तन या आध्यात्मिक परिवर्तन नहीं होगा। यह तो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों के लिए एक साम्प्रदायिक प्रबंध-व्यवस्था होगी और इसीलिए अधिक निंदनीय भी। गांधी ने एम.सी. राजा का अनुमोदन किया और कहा कि यह तो 'पूना-समझौता' के साथ विश्वासघात है। राजभोज का, जो उन दिनों 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' के मंत्री थे, कहना था कि " 'पूना-समझौते' में हिंदू धर्म से निकले हुए लोगों के निमित्त कोई व्यवस्था नहीं है; और अगर हरिजन सामूहिक रूप से सिक्ख धर्म या कोई दूसरा धर्म स्वीकार भी कर लें, तो 'पूना-समझौता' पर जिनके हस्ताक्षर हैं, उनके बस की यह बात नहीं है कि दलित वर्गों के लिए की गयी सुविधाएं वे उन्हें दे सकें।" सर तेज बहादुर सप्रू और अन्य कई विधान के पंडितों का भी यही मत था।

दलित समस्या को देखने का जगजीवन राम का जो ढ़ंग था, वह मूलतः भिन्न था। अतः वे ऐसी चालाकियों पर या उदारता पर कम ध्यान देते। उनका कहना था कि ऐसी बातों से हरिजनों का ध्यान मुख्य प्रश्नों से भटककर दूसरी ओर जा पड़ता है। मंदिर-प्रदेश

भी हरिजनों के लिए कोई बड़ी समस्या नहीं। उनकी धारणा थी कि जो बुराइयां हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था का अंग बन गयी हैं, वे किसी नेता विशेष की तिकड़मबाजी से नहीं हटेंगी। अस्तु, उनका विश्वास सामाजिक और मनोवैज्ञानिक क्रांति में था। वे दलित वर्गों की एकता के हिमायती थे ताकि वह सामाजिक क्रांति लायी जा सके जिससे दलितों की मजबूरियां दूर हों।''[44] युवा होते हुए वे बहुत दूर की सोचते थे। स्पष्टता और व्यापक लोकहित की सदैव बात करते थे।

संदर्भ

1. चंचरीक, कन्हैयालाल (प्र. संपा) : बाबू जगजीवन राम अभिनंदन ग्रंथ (राजेन्द्र कृष्ण का लेख, पृ. 56) तथा जगजीवन राम : जीवन और व्यक्तित्व, (दलित वर्ग संघ का प्रकाशन), पृ. 1., 14
2. वही, पृ. 79 तथा स्ट्रगल्स एंड अचीवमेंट (संपा. कन्हैयालाल चंचरीक) : राची रानी गुर्ट का लेख.
3. दृष्टव्य : द्रोपदी हरितः हमें जिन पर गर्व है, पृ. 191-192 तथा चंद्रा एंड चंचरीक : दलित आइडेंटिटी-हिस्ट्री एंड ट्रेडीशन, पृ. 194.
4. जगजीवन राम : जीवन और व्यक्तित्व, पृ. 80, 87, 94
5. वही, पृ. 95
6. जगजीवन राम : जीवन और व्यक्तित्व, पृ. 94
7. वही, पृ. 94
8. वही, पृ. 95
9. वही, पृ. 95
10. वही, पृ. 96
11. वही, पृ. 97
12. वही, पृ. 97
13. वही, पृ. 98
14. वही, पृ. 98-99
15. वही, पृ. 99-100
16. वही, पृ. 100
17. वही, पृ. 101
18. वही, पृ. 104
19. वही, पृ. 105
20. वही, पृ. 106
21. वही, पृ. 106-107
22. वही, पृ. 107-108 तथा चंचरीक द्वारा संपादित जगजीवन राम अभिनंदन ग्रंथ में राजेन्द्र कृष्ण का लेख, पृ. 57
23. वही, पृ. 108-109
24. देखिए कन्हैयालाल चंचरीक : डॉ. बी. आर. अम्बेडकर सोशल जस्टिस एंड पोलिटिकल सेफगार्ड्स, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर-पेट्रियट, फिलासफर एंड स्टेटमैन, गणेश मंत्री : गांधी और अम्बेडकर, तथा वाइसंतरी : अम्बेडकर-टोटल रिवोल्यूशनरी, विभिन्न पृष्ठों पर अम्बेडकर विषयक विचार
25. जगजीवन राम : जीवन और व्यक्तित्व, पृ. 110
26. डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर : राइटिंग्स एंड स्पीचेज, खं. 2 पृ. 503.509

27. चंचरीक, कन्हैयालाल (प्रधान संपादक) : बाबू जगजीवन राम अभिनंदन ग्रंथ (राजेन्द्र कृष्ण का लेख, पृ. 54)
28. जगजीवन रामः जीवन और व्यक्तित्व, पृ. 110
29. वही, पृ. 111
30. वही, पृ. 112
31. जगजीवन राम : भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या, पृ. 86
32. वही, पृ. 87
33. वही, पृ. 88-89
34. वही, पृ. 89
35. वही, पृ. 89
36. जगजीवन राम : जीवन और व्यक्तित्व : पृ. 112-113
37. वही, पृ. 113
38. वही, पृ. 114
39. वही, पृ. 117-118
40. वही, पृ. 118-119
41. वही, पृ. 119
42. वही, पृ. 119
43. वही, पृ. 120
44. वही, पृ. 121

8

सत्ता में भागीदारी/सत्ता हस्तांतरण और दलित आंदोलन

आर-पार की लड़ाई

दलित राजनीति में जगजीवन राम एक सशक्त युग नेता के रूप में उभर चुके थे। इधर सन् 1941 के आते-आते अब अम्बेडकर और उनके दलित आंदोलन के सामने आर-पार की लड़ाई का वक्त आ गया था। कांग्रेस जानती थी कि डॉ. अम्बेडकर के अनुयायी कांग्रेस आंदोलन को तनिक भी समर्थन नहीं करते जबकि वे अम्बेडकर के बताए रास्ते पर चलने को तत्पर हैं। बंबई और विदर्भ में डॉ. अम्बेडकर का बड़ा असर था। उत्तर भारत में कुछ दलित जातियों में चेतना थी। कांग्रेस उन पर हावी थी। इसलिए अछूत जातियों के लोग पिछले एक दशक से भी ऊपर कांग्रेस सत्याग्रहों से जुड़े हुए थे। आगरा, मेरठ, कानपुर, लखनऊ में अम्बेडकरवादी सक्रिय थे। लेकिन अम्बेडकर ज्यादा समय बंबई प्रांत में ही देते थे। पंजाब में भी उनका प्रभाव था परन्तु बिहार जगजीवन राम का अपना कार्यक्षेत्र था।

ब्रिटिश सरकार घोषित कर चुकी थी कि दलितों की उपेक्षा नहीं होगी और उचित समय पर उनके हितों को ध्यान में रखते हुए निर्णय लिया जाएगा। कांग्रेस का दावा था कि वह अछूतों के हितों की संरक्षक है। 'पूना पैक्ट' के बाद डॉ. अम्बेडकर को निराशा ही हाथ लगी थी। कांग्रेस ने अधिकाधिक सुरक्षित सीटें जीतकर दलित आंदोलन को अपने रहमो करम पर ला खड़ा किया था। क्या राष्ट्रवादी दलित नेतृत्व को आगे बढ़ाकर अम्बेडकरवादी दलित आंदोलन को पीछे धकेलने की कोशिश की गई थी।

वायसराय ने अपनी कार्यपरिषद का विस्तार जुलाई, 1941 में घोषित किया। इसमें सिख और दलित जातियों को प्रतिनिधित्व नहीं मिला। डॉ. अम्बेडकर ने कहा यह दलितों के प्रति अन्याय और अविश्वास है। उन्होंने महारों और दलित जातियों से अपील की कि वे सेना में अधिकाधिक भर्ती हों, भले ही उन्हें वायसराय की कार्यकारी परिषद में शामिल नहीं किया। उन्होंने समरण कराया कि यदि नाजीवाद जीत गया तो सब कुछ

खत्म हो जाएगा। उन्होंने स्पष्ट किया कि इन हालातों में वे कांग्रेस को देश का मालिक नहीं बनने देंगे जिसकी रीति-नीति अछूत विरोधी है।

सत्ता हस्तांतरण और दलितों की भागीदारी

भारत में जितनी भी विदेशी शक्तियां राज करने आईं उनमें अंग्रेज आखिरी विदेशी शासक थे। सन् 1942-1947 का समय 'सत्ता हस्तांतरण' के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण काल माना गया है। इसलिए भारतीय इतिहास में इस काल खंड का बड़ा भारी महत्त्व है। सन् 1947 में देश पूर्णतः आजाद हुआ। किंतु इसकी कवायद सन् 1942 में ही शुरू हो गई थी।

यहीं से दलितों के सुनहरे भविष्य का एक नया अध्याय शुरू होता है जिसकी पूर्णाहुति भारत के संविधान को अंगीकृत और उसको भारत की जनता को सुपुर्द करने के साथ पूरी हुई।

30 मार्च 1942 को दलित वर्गों के प्रतिनिधियों के रूप में डॉ. अम्बेडकर और एम. सी.राजा से सर एस. क्रिप्स ने भेंट की।[1] तब डॉ. अम्बेडकर वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य नहीं बने थे। लेकिन दलित-वर्गों को आंदोलन के नया मोड़ दे रहे थे। वे ब्रिटिश राज द्वारा अब उनकी और उपेक्षा सहन करने को तैयार नहीं थे। उनकी क्रिप्स से भेंट इसी संदर्भ में थी।

सर क्रिप्स ने अपने नोट में दर्ज किया कि "उन्होंने दलित वर्गों की दयनीय स्थिति, विशेषतया मद्रास और बंबई के दलितों के बारे में चर्चा की। फिर उन्होंने बताया कि चुनाव प्रक्रिया के अंतर्गत विधान सभाओं में उन्हें बहुत कम प्रतिनिधित्व मिल सकेगा। क्योंकि उनके अधिकांश दलित प्रतिनिधि तथाकथित कांग्रेसजन होंगे। इसलिए उनकी हालत कमजोर रहेगी। उन्होंने संविधान सभा के निर्माण की मांग दुहराई और पूछा कि क्या वे जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यक श्रेणी में गिने जाएंगे?" क्रिप्स ने लिखा कि उनका उत्तर हाँ में था। क्रिप्स ने यह भी कहा कि 'लीग ऑफ नेशन्स' की अल्संख्यक संधि के मुताबिक उनकी मांग पर विचार किया जा सकता है। इस मुलाकात के दौरान क्रिप्स के मुंह से एक बात और निकली कि अंतरिम काल में दलित वर्गों में से कोई व्यक्ति केंद्र की कार्यकारी परिषद में सम्मिलित किया जा सकता है।

अम्बेडकर ने क्रिप्स के समक्ष प्रस्ताव रखा कि जब वायसराय की कार्यकारिणी में दलित सदस्य के नामित होने की बात उठे तो उन्हें एक दावेदार के रूप में लिया जाए।

क्रिप्स के विचार में उनकी सुरक्षा के लिए इससे और कोई बड़ी बात नहीं हो सकती थी।

डॉ. अम्बेडकर और एन. सी. राजा ने सर एस. क्रिप्स को अपनी भेंट की याद दिलाते हुए अगले दिन 1 अप्रैल, 1942 को ही लिखा कि "भारत के भावी संवैधानिक विकास से संबंधित ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव दलितों को स्वीकार नहीं होंगे जब तक कि उन्हें प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता। सरकार के प्रस्ताव उन्हें 'हिंदू राज' के उन प्राचीन

काले-युग में धकेलने वाले हैं जिन्हें वे बर्दाश्त नहीं करेंगे। अगर उनके साथ नाइंसाफी हुई तो उसका डटकर विरोध किया जाएगा। इसलिए वे ब्रिटिश साम्राज्य को उनके गहन क्षोभ से अवगत कराएं।"[2]

सर लुमले की पहल

"बंबई के गवर्नर सर आर.लुमले ने वायसराय लार्ड लिनलिथगो को 24 अप्रैल, 1942 के अपने अत्यंत गोपनीय पत्र में रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए लिखा कि 'सर स्टैफर्ड क्रिप्स मिशन' के भागी संविधान और सत्ता सौंपने के परिणामों की प्रतिक्रिया को जानना इतना सरल नहीं। यद्यपि कांग्रेस हलकों में क्रिप्स प्रस्तावों के प्रति स्वीकृति की झलक दिखती है, मुस्लिम सहमति की भी जरूरत पड़ेगी। इस दौरान डॉ. अम्बेडकर ने राष्ट्रीय युद्ध मोर्चा स्थापित करने की बात की तथा साथ ही क्रिप्स प्रस्तावों पर क्षोभ प्रकट किया। उन्होंने कहा कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग को वार्ता के दौरान प्रमुखता दी जा रही है और दलित वर्गों और उन्हें दरकिनार किया जा रहा है। उन्होंने अपने को दुखी और अपनानित महसूस किया और राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद से त्यागपत्र और सरकार को समर्थन देने से हाथ खींच लेने की बात की। यह निराशा की भावना अम्बेडकर में बहुत दिनों से देखी जा रही है क्योंकि उन्हें वायसराय की कार्यकारिणी का सदस्य नामित नहीं किया गया। वे अपने प्रांत के अनुयायियों का कुछ समर्थन जुटा सकते हैं। यद्यपि उन्हें पूरी तरह ज्ञात है कि डॉ. अम्बेडकर में निराशा भाव उनका निजी मामला है। जैसा कि विदित है, उनकी खराब आर्थिक स्थिति उनके दुख का कारण है। उन्हें कुछ लोगों का पैसा लौटाना है जिन्होंने पहले उनकी मदद की है। वे कर्ज उतारने में पूरी तरह असमर्थ हैं। अगर किसी ने मांगा तो यह बुरी बात होगी। वे कुछ अर्से से हाईकोर्ट या कहीं अन्यत्र कोई पद पा लेने की कोशिश में थे ताकि अपना भविष्य सुधार सकें। उन्होंने कुछ समय पूर्व उन्हें यह आभास दिया था कि वे अपने अनुयायियों के लिए जो कुछ कर रहे हैं उससे निजात पाना चाहते हैं और कुछ अलग ही कार्य करना चाहते हैं। दुर्भाग्य की बात है कि वह दलित वर्ग के खुद सदस्य हैं और अपने दुखों को अपने कामों में प्रकट करते हैं। हम उनके बारे में कोई भी ध्यान नहीं दे पा रहे क्योंकि हम दलित वर्गों का समर्थन लेना नहीं चाहते। मैं इस हक में हूं कि अम्बेडकर के लिए कुछ किया जाए। जब भी कार्यकारिणी परिषद का विस्तार हो निसंदेह उन्हें उसमें नामित किया जाए।

यह उनके व्यक्तिगत कारणों से नहीं वरन् इसलिए भी कि हमें दलित वर्गों के हित-संरक्षण को भी देखना है। महारों की भर्ती के बारे में उन्होंने कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई और इस बारे में काफी वजनदार बात नहीं की—जब कि वे महारों के शुभेन्छु होने की बात करते रहे हैं जोकि एक लड़ाकू कौम है। फिर भी महारों की भर्ती होती रहती है, लेकिन उतनी नहीं जितनी होनी चाहिए। हमने भी उनकी पूरी मदद कहां की है?"[3]

गवर्नर लुमले की इस अति महत्व की गोपनीय एवं सनसनीखेज रिपोर्ट ने लिनलिथगो

को निसंदेह द्रवित कर दिया, जो डॉ. अम्बेडकर के वायसराय की कार्यकारिणी की सदस्यता का कारण बनी। अगर आर्थिक कष्ट झेल रहे, कर्ज के बोझ से दबे, अनुयायियों की किसी भी सदस्यता से विमुख निराशा और मनस्ताप में डूबे अछूतों के काम से निजात पाने के इच्छुक डॉ. अम्बेडकर श्रम सदस्य न बने होते तो दलित आंदोलन आकाश की ऊंचाइयां स्पर्श नहीं कर पाता।

श्रम सदस्य की मंजूरी

1 जुलाई, 1942 को वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने लार्ड एमरी को एक निजी और अत्यावश्यक टेलीग्राम में इस बात की पुष्टि की कि वे एक अलग विज्ञप्ति में ब्रिटिश सम्राट द्वारा स्वीकृत वायसराय की कार्यकारिणी में सदस्यों की नियुक्ति घोषित करेंगे। इस टेलीग्राम में अन्य सदस्यों के साथ डॉ. अम्बेडकर का नाम था। 1 जुलाई को वायसराय ने उन्हें श्रम विभाग का सदस्य बनाए जाने की घोषणा की।[4] लेकिन उन्होंने अपना कार्यभार 20 जुलाई, 1942 से संभाला। इस बीच भी वे संघर्ष करते रहे।

दलित इतिहास में यह निसंदेह एक सुनहरा अवसर था। पूरे देश के दलितों और विशेषतया महाराष्ट्र एवं अन्य प्रांतों में उनके अनुयायियों में खुशी की लहर दौड़ गई जब हजारों साल की गुलामी के बाद दलितों के मसीहा को पहचान मिली।

"इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने 1 जुलाई, 1942 को ही उन्हें वायसराय की कार्यसमिति में श्रम सदस्य के रूप में नियुक्त करने की घोषणा कर दी थी। अब समिति में 14 भारतीय और 5 यूरोपीय सदस्य हो गए थे। उन्होंने इस अवसर पर कहा कि यह ब्राह्मणवाद को करारा झटका है।

उन्होंने टेलीग्राफिक संदेश भेजकर 20 जुलाई 1942 से अपना कार्यभार ग्रहण किया और सहमति पहले ही भेज दी थी। उनके विचार में दलित आंदोलन का यह स्वर्णिम दिन था जब दलित सत्ता में आए हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो दलित-अछूत एक शासनकर्ता जाति नहीं बनती।

उन्होंने घोषणा कर दी कि वे श्रमजीवियों के साथी रहेंगे। किसी भी जाति को गुलाम नहीं रखा जा सकेगा। उनकी स्वतंत्रता पर आंच नहीं आएगी। यह आवश्यक नहीं कि भारत स्वतंत्रता प्राप्त कर लेगा, यह बहुत जरूरी था कि स्वराज्य की बागडोर किसके हाथ में रहती है।"[5] जब वे बंबई से नई दिल्ली पद भार ग्रहण करने चले उन्होंने एक जोरदार भाषण दिया। तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने यह तथ्य 23 जुलाई को टेलीग्राम द्वारा लार्ड एमरी के पास प्रेषित किया। टेलीग्राम में लिखा था :

"बाईस जुलाई को बंबई के गवर्नर लुमले से यह सूचना मिली है कि गत रात अम्बडेकर ने एक जोरदार भाषण में कहा कि इस अवसर पर 'नागरिक अवज्ञा आंदोलन' भारत के लोगों के साथ धोखा है और यह दुश्मन की मदद के बराबर है। उन्होंने भारत वासियों

से अपील की कि उनका देश भक्ति पूर्ण कर्त्तव्य यह है कि वे अपनी तमाम शक्ति और सामर्थ्य के साथ कांग्रेस के नागरिक अवज्ञा आंदोलन का प्रतिरोध करें।"

"उन्होंने यह भी कहा कि वे दिल्ली जाने से पूर्व एक बयान जारी करेंगे जिसमें उनके स्वतंत्र लेबर दल (इन्डिपेंडेट लेबर पार्टी) और अन्य मित्र संगठनों की क्या रणनीति होगी उसका खुलासा होगा। अपने श्रोताओं (अनुयायियों) से उन्होंने कहा कि वे उनके बयान को पढ़ें और उसमें कहीं गई बातों पर अमल करें।"[6]

उनके भाषण के इन अंशों का अम्बेडकरवादी दलित आंदोलन के अध्येता तथा अन्य इतिहासविद सीधे-सादे शब्दों में यह अर्थ निकालते हैं कि उनका यह संदेश दलितों को एक प्रकार से कांग्रेस के आजादी के आंदोलन से बिलकुल अलग रहने के लिए एक आह्वान था। वे निर्माण चाहते थे, विध्वंस नहीं। वे सहयोग के हामी थे, असहयोग और बगावत के नहीं। वे दलित मुक्ति के लिए अंग्रेज सरकार का संवैधानिक योगदान चाहते थे, हिंदू नेताओं के शाब्दिक कारुणिक आश्वासनों पर उनका भरोसा नहीं था।

दरअसल अम्बेडकर-गांधी विवाद दलित आंदोलन का एक हिस्सा, एक दस्तावेज बन चुका था। बहुत से कांग्रेस के खेमे के दलित नेता मानसिक तौर पर कांग्रेस की नीतियों के गुलाम बन चुके थे। 1937 के आम चुनावों और बाद के प्राइमरी चुनावों में उनके द्वारा समर्थित उम्मीदवारों को बंबई प्रांत को छोड़कर अन्य प्रांतों में भारी पराजय का सामना करना पड़ा था। दलित आंदोलन की लड़ाई लड़ते-लड़ते उनकी आर्थिक स्थिति भी जर्जर हो चुकी थी।

प्रारंभ से ही डॉ. अम्बेडकर, गांधी और कांग्रेस के 'हरिजन सेवा' के प्रयासों को शंका की दृष्टि से देखते थे। गांधी की बयानबाजी, लेख और सोच को वे चुनौती देते रहे। युद्ध और आपातकाल में भी दलितों की शिकायतों, और समस्याओं को वे ब्रिटिश राज के बड़े-से-बड़े अधिकारी और सर्वोच्च सत्ता के सम्मुख रखते थे।

उन्होंने 1942 के आंदोलन पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि 'यदि अगस्त 1942 में सरकार ने कोई कदम नहीं उठाया होता तो भारत जापानियों और जर्मनी के अधिकार में चला जाता।' उन्होंने नाजीवाद की कड़ी आलोचना की। दलितों और श्रमिकों को आगाह किया कि वे गुमराह न हों, अधिक उत्पादन करें, शांति बनाए रखें। अम्बेडकर जो वायसराय की कार्यकारिणी के पहले दलित सदस्य थे, जिस पर इतना तूफान खड़ा किया जाता है उनसे पहले और उनके समय में सवर्ण हिंदुओं, मुस्लिम, सिख आदि समुदाय के गण्यमान लोग कार्यसमिति की सदस्यता ग्रहण करते रहे थे। जिनके जीवन में शायद ही इतने संघर्षपूर्ण दिन रहे हों, जो कष्ट, अपमान, तिरस्कार विषमताएं, उन्होंने झेली थीं। वे तो तपे हुए जमीनी मसीहा थे जिन्होंने लाखों-करोड़ों लोगों को वाणी दी, रोशनी दी।

"कई भारतीय डॉ. अम्बेडकर को ठीक प्रकार से नहीं समझ पाए। कईयों ने उन्हें अंग्रेजों का समर्थक और देशद्रोही तक कहा। जबकि अम्बेडकर ने ब्रिटिश शासन को औपचारिक सहयोग दिया। रचनात्मक-सजृनात्मक सहयोग प्रदान किया द्वितीय विश्वयुद्ध के समय वे जानते थे यह युद्ध तानाशाही और लोकतंत्र के मध्य है। उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध

पर टिप्पणी की कि यह लड़ाई किसी नैतिक नियम पर आधारित नहीं है, बल्कि जातीय (या नस्ल) के घमंड पर आधारित है।''[7]

इस युद्ध से दलितों की तबाही का उन्हें पता था। उनके आर्थिक संकटों, बेकारी, भुखमरी, खाद्य पदार्थों कपड़े की कमी को उनसे ज्यादा कौन जान सकता था। पूंजीपति कमाई में लग गए थे। व्यापारी-उद्योगपति अनाज, दालें, तेल-घी, शक्कर, कपड़ा यानी जनता की रोजमर्रा की चीजों को गायब करने में लग गए थे। चोरबाजारी का यहीं से जन्म हुआ जो पूंजीवाद और सवर्ण जातियों यानी ऊंची सभ्यता के लोगों की देन है।

निसंदेह द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामों के बारे में उन्होंने सोचा था कि इसके बाद ब्रिटिश शासन कमजोर हो जाएगा और भारत को स्वतंत्रता विजय के रूप में निश्चित मिलेगी।''[8]

श्रम सदस्य डॉ. अम्बेडकर ने भारत में युद्धोत्तर विद्युत शक्ति के विकास' पर 'पुनर्निर्माण नीति समिति' में बोलते हुए स्पष्टतः कहा था :

''भारत में बहुत से लोग यह कहने में नहीं थकते कि भारत एक कृषि प्रधान देश है, इसलिए सारी शक्ति कृषि सुधार में लगानी चाहिए और औद्योगीकरण से दूर रहना चाहिए। इसमें यह कहने की क्या आवश्यकता है कि भारत कृषि प्रधान देश है। इसे तो हर आदमी जानता है। लेकिन बहुत कम लोग जानते हैं कि यही देश का दुर्भाग्य है।''

उन्होंने कहा कि बंगाल में अकाल है और लोग मृत्यु का शिकार हो रहे हैं। उन्होंने कहा कृषि लोगों की भूख मिटाने में असफल रही है।''[9]

इसी संदर्भ में युग मनीषी डॉ. अम्बेडकर ने आगे कहा कि ''दशक-दर-दशक भारत में गुणोत्तर वृद्धि में जनसंख्या बढ़ती है। इस असीमित जनसंख्या विकास के कारण जो कृषि योग्य भूमि है, वह सीमित ही नहीं उसकी उत्पादकता में भी कमी परिलक्षित होती है। भारत दुतरफा समस्या का शिकार है, एक ओर जनसंख्या वृद्धि तो दूसरी ओर जमीन की उत्पादन क्षमता कम हो रही है।''[10]

उन्होंने बढ़ती जनसंख्या और विरासत में मिली जमीन को गरीबी का मुख्य कारण बताया। उन्होंने कहा कि सिर्फ औद्योगीकरण ही उन्हें बचा सकता है। अम्बेडकर जैसे युगपुरुष ही यह सच्चाई बता सकते थे। जो आज हमारे सामने एक सच्चाई के रूप में उपस्थित हैं। वैसे भी जमीनों पर कुलक और ऊंची जातियों के लोग काबिज हैं। दलित सिर्फ भूमिहीन मजदूर या बेगार करने वाले बंधुआ मजदूर हैं। उन्हें गांव से पलायन करना पड़ा है।

जहां सत्ता पाने के लिए ऊंची जातियों के लोग गांधी और कांग्रेस के नेतृत्व में संघर्ष और तोड़फोड़ का रास्ता अख्तियार किए हुए थे, डॉ. अम्बेडकर और उनके अनुयायी देश के औद्योगीकरण, पुनर्निर्माण युद्ध स्तर पर अधिक उत्पादन, वितरण, सांप्रदायिक सद्भाव, जातीय एकता और दबे कुचले लोगों के सामाजिक-आर्थिक उत्थान के लिए संघर्षरत थे। उनका सहयोग एकदम सुधारात्मक और निर्माणात्मक था।

डॉ. अम्बेडकर ने कहा :"कृषि एक लाभप्रद सौदा नहीं हो सकता। औद्योगीकरण ही इसका जबाव है। औद्योगीकरण भारत की बढ़ती जनसंख्या के लिए जो कृषि पर एक बोझ है, कृषि के मुकाबले एक लाभप्रद उद्योग के रूप में फायदे की चीज है।"[11]

लार्ड प्रिवी सील से भेंट

युद्ध मंत्रिमंडल दस्तावेज, डब्लू.पी. (42) 283 के अनुसार 6 जुलाई, 1942 को लार्ड प्रिवी सील ने अपनी रिपोर्ट में दर्ज किया कि "...डॉ अम्बेडकर और एम. सी. राजा 30 मार्च, 1942 को उनसे मिले थे। उनसे 'पूना पैक्ट' के संदर्भ में प्रांतीय विधान सभाओं में दलित प्रतिनिधियों के चुने जाने पर चर्चा हुई जिसमें यह शंका प्रकट की गयी कि संविधान परिषद में दलितों के बहुत कम लोग चुनकर आ पाएंगे क्योंकि वर्तमान चुनाव प्रक्रिया के अंतर्गत जो लोग निर्वाचित होंगे वे अधिकांशतः कांग्रेसी होंगे। उन्होंने पूछा कि जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों में क्या दलित वर्गों की गिनती होती है तो मैंने हां में उत्तर दिया।

...उन्होंने क्रिप्स प्रस्तावों के विषय में असहमति जताई कि वे दलित जातियों को मान्य नहीं होंगे।"[12] अम्बेडकर की दृढ़ धारणा थी कि यही वक्त है जब वह करोड़ों दलितों के अधिकारों के लिए लड़ सकते हैं। तब तक ब्रिटिश सरकार, भारत स्थित उनके प्रतिनिधि, कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग आदि अम्बेडकर की शक्ति जान चुके थे। यह दलित आंदोलन का संक्रातिकाल था। सील ने यह टिप्पणी उनके श्रम सदस्य बनने पर ब्रिटिश सरकार को प्रस्तुत की थी।

नागपुर सम्मेलन : अम्बेडकर का बयान

18 से 20 जुलाई, 1942 को नागपुर में त्रिदिवसीय दलित वर्ग सम्मेलन संपन्न हुआ। इसमें क्रिप्स प्रस्तावों पर चर्चा हुई और दलितों के भविष्य पर चिंता प्रकट की गई। दलित वर्गों के नेता के रूप में डॉ. अम्बेडकर ने अपना एक लंबा-चौड़ा बयान प्रेस को दिया जिसमें कहा गया कि यह सरासर अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर कुठाराघात है। उनके विचार में ब्रिटिश साम्राज्य की यह इच्छा कि (1) एक संविधान निर्मात्री परिषद् की स्थापना की जाएगी जो भारत का संविधान तैयार करेगी, (2) उसमें सभी प्रांत शामिल नहीं किए जाएंगे और इस संविधान के दायरे में आने के लिए वे स्वतंत्र होंगे, (3) संविधान सभा ब्रिटिश सरकार से संधि करेगी, इस संधि में जातीय एवं धार्मिक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा और देखभाल का प्रावधान होगा। तब ब्रिटिश सरकार अपनी संप्रभुता हटा लेगी और संविधान के अंतर्गत राजकाज चलेगा।

डॉ. अम्बेडकर ने इस पर चिंता प्रकट करते हुए अपने बयान में कहा : "जैसा कि लार्ड एमरी, 14 अगस्त 1940 को हाउस ऑफ कामन्स में स्पष्टतः बता चुके हैं कि कांग्रेस ने, जो हिंदू राज का स्वप्न देखती है, भारत में एक सुसंगठित राजनीतिक तंत्र

स्थापित कर लिया है और राष्ट्रीय जीवन में अन्य वर्गों की भारी उपेक्षा हो सकती है। ...मुस्लिम वर्ग किसी प्रकार की संविधान सभा को मंजूर नहीं करेंगे जो उनके हितों की अवहेलना करती है। यह बात अनुसूचित जातियों पर भी लागू होती है जो एक बड़ा वर्ग है और जिनके कि बारे में गांधी भी बहुत कुछ कह चुके हैं, बावजूद इसके यह समाज हिंदू समाज से सर्वथा अलग है, जिसका कि कांग्रेस नेतृत्व करती है।

...मुस्लिम लीग तो पाकिस्तान की मांग भी रख चुकी है। जिसे ब्रिटिश सरकार ने ठुकरा दिया है। यह एक वर्ष पहले की बात है।

अब कांग्रेस को जीतने के लिए संविधान सभा के निर्माण का प्रस्ताव है और मुस्लिम लीग को संतुष्ट करने के लिए पाकिस्तान बनाने की योजना है। लेकिन दलित वर्गों के लिए क्या किया जा रहा है? संक्षेप में कहें उन्हें हिंदुओं के भरोसे छोड़ा जा रहा है। अपने बयान में डॉ. अम्बेडकर ने भारत की भांति संविधान परिषद में दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व के बारे में चिंता प्रकट की। कोई भी आदमी यह समझ सकता है कि संविधान परिषद का निर्माण करके ब्रिटिश सरकार दलित वर्गों को भेड़ियों के सम्मुख फेंक रही है। यह कहा जा रहा है इस संविधान परिषद में दलित वर्गों के हित संरक्षण के विषय में एक संधि का प्रावधान होगा, यह विचार मूलतः ब्रिटिश सरकार ने आयरिस विवाद की शब्दावली से ग्रहण किया है।"

अम्बेडकर ने अपने बयान के अंत में कहा कि "ब्रिटिश सरकार ही इस संधि के प्रावधान तय करेगी। यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य है क्योंकि ब्रिटिश सरकार और दलित जातियों के मध्य इस संधि प्रावधानों के अंतर्गत राजनीतिक संरक्षणों की प्रकृति, संख्या, और विधि के विषय में मत-वैमिन्नय की संभावना बनी हुई है, जो कि नए संविधान में दलित वर्गों के हितों की रक्षा हेतु जरूरी है।"[13]

त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन

डॉ. अम्बेडकर ने 7 अगस्त, 1942 को भारत सरकार द्वारा आयोजित संयुक्त श्रम सम्मेलन में कहा कि श्रम-इतिहास में प्रथम बार मालिक और मजदूर अपनी समस्याओं के समाधान के लिए आमने-सामने बैठे हैं। यही इस त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन की सफलता है जो देश में विश्वयुद्ध की छाया और गहन आकस्मिक काल में आयोजित की गई है। उन्होंने आशा प्रकट की कि मालिक और मजदूर श्रम विवादों को सहमति से सुलझाएंगे। उन्होंने कानूनों की एकात्मकता पर भी बल दिया। उन्होंने औद्योगिक जगत में शांति की महत्ता बताई ताकि समाज कल्याण के कार्यक्रम लागू किए जा सकें।"[14]

कांग्रेस ने 7 अगस्त, 1942 के दिन अपने प्रस्ताव के जरिए 'अंग्रेजों भारत छोड़ो', की मुहिम चला रखी थी। 9 अगस्त से पूरा देश प्रदर्शन, तोड़-फोड़, हड़ताल, तालाबंदी, बाजारों स्कूल-कालेजों में उपद्रव, गिरफ्तारियों के दौर से गुजर रहा था। इसका व्यापक असर ग्रामीण किसान-दास्तकारों और शहरी कामगरों पर पड़ा। साथ ही अछूतों और दलितों

पर इसकी ज्यादा मार पड़ी। वे बेकार, निठल्ले हो गए। बच्चे भूखे मरने लगे। उन दिनों तथाकथित हिंदू मार्शल रेसेज (हिंदू वीर जातियां) अंग्रेजी फौज में भरती हो रही थीं।

विश्वयुद्ध और आपातकाल में राष्ट्रीय सरकार की मांग

18 सितंबर, 1942 को केंद्रीय विधानसभा में श्रम सदस्य, अम्बेडकर ने सरकार का बचाव करते हुए कहा कि सरकार की यह आलोचना ठीक नहीं कि उसने कांग्रेस के सदस्यों की गिरफ्तारियां की हैं। कांग्रेस कहती है कि वह अहिंसा में विश्वास रखती है लेकिन विगत 2-3 वर्ष में कांग्रेस द्वारा अहिंसा के सिद्धांत की भयंकर अवहेलना हुई है। कांग्रेस ने 22 दिसंबर 1939 को 'नागरिक अवज्ञा आंदोलन' चलाया। 19 मार्च, 1940 को कांग्रेस ने रामगढ़ में अपना वार्षिक सम्मेलन आयोजित किया। यहां गांधी को आंदोलन चलाने की सर्वोच्च कमान सौंपी गई। लेकिन तीन महीने पश्चात् 22 जून, 1940 को उन्हें इससे अलग कर दिया गया। कांग्रेस कार्यसमिति ने अहिंसा के सिद्धांत को नकार दिया। गांधी इस्तीफा देकर अलग हो गए। 15 दिसंबर, 1940 को बंबई कांग्रेस में एक प्रस्ताव के जरिए गांधी को संघर्ष छेड़ने के लिए पुनः कमान सौंपी गई। दिसम्बर 1941 में बारदोली मे कांग्रेस कार्य समिति ने एक प्रस्ताव के जरिए उन्हें फिर से हटा दिया। असल में बारदोली में कांग्रेस में जबर्दस्त विभाजन हुआ। इस बात को लेकर कि अहिंसा का रास्ता अपनाया जाए या नहीं। वर्धा बैठक में यह मामला फिर उठा और गांधी जो अहिंसा के अवतार माने जाते थे कांग्रेस की नाक के नीचे हिंसा फैलाने के लिए फिर से मना लिए गए। (सदस्यों की टोका टोकी के मध्य) डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि देवली जेल में जय प्रकाश नारायण से जेल अधीक्षक ने दिसंबर 1941 में कुछ कागजात हासिल कर लिए जो यह दर्शाते हैं कि गांधी के सत्याग्रह को अधिकांश कांग्रेस जन एक मूर्खतापूर्ण घोषणा मानते हैं इसलिए कांग्रेस को नैतिक विजय के बजाए राजनीतिक विजय पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। जयप्रकाश से हासिल किए गए कागजातों से यह भी पता चला कि भारत में ऐसे दल मौजूद थे जो अहिंसा में नहीं वरन् हिंसा में विश्वास करते थे। अम्बेडकर ने कहा कि उन्हें पता चला है कि कांग्रेस के ही साथ-साथ भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, बंगाल की क्रांतिकारी समाजवादी पार्टी, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन ऐसोसिएशन ऐसे ही दल थे। जयप्रकाश कम्युनिस्ट पार्टी को छोड़ कर बाकी सभी दलों को एक गुप्त दल के रूप में एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे जो भूमिगत रहकर अपनी गुप्त क्रांतिकारी कार्यवाहियां संचालित कर सके।

ठोस दलीलों पर आधारित अपने लंबे भाषण के अंत में डॉ. अम्बेडकर ने यह दुहराया कि यह विधान सभा युद्ध काल में क्या पुनर्गठित की जा सकती है जिसमें हिंदुओं, मुसलमानों और दलित वर्गों के पर्याप्त सदस्य हों, तथा वे सब लोग शामिल हों जो देश के राष्ट्रीय जीवन का निर्माण करते हैं? उन्होंने कहा कि निसंदेह ऐसे समय में एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का कोई औचित्य नहीं दिखता। जब तक सांप्रदायिक समस्या का निवारण

नहीं हो जाता, कार्यकारिणी के ऊपर निषेधाधिकार वाले किसी भी सदस्य का पुनर्गठन संभव नहीं, यह एक नए संविधान के अंतर्गत ही हो सकेगा।'' यहां यह स्मरणीय है कि डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्गों के समुचित प्रतिनिधित्व की बात ध्यान में रखी। भारत के जो सच्चे हालात थे उसका जिक्र डॉ. अम्बेडकर ही कर सकते थे।

अनुसूचित जातियों की शिकायतें

डॉ. अम्बेडकर ने 29 अक्टूबर, 1942 को गवर्नर जनरल के समक्ष अनुसूचित जातियों की शिकायतों के बारे में एक विस्तृत ज्ञापन दिया। यह उनका श्रम सदस्य के नाते एक गोपनीय शिकायती-दस्तावेज था जिसमें केन्द्र सरकार से उनके निराकरण की मांग की गई थी। निसंदेह विश्वयुद्ध, आपात्काल और कांग्रेस एवं उग्र दलों की संघर्ष पूर्ण कार्यवाहियों को देखते हुए उस संक्रातिकाल में उपेक्षित, दबे-कुचले दलित वर्गों के संपूर्ण कल्याण की बात डॉ. अम्बेडकर जैसे युगमनीषी ही सोच सकते थे।

इस ज्ञापन को उन्होंने चार भागों में विभक्त किया था।

खंड 1 राजनीतिक शिकायतें

(*i*) केंद्रीय विधान सभा में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व।

(*ii*) केंद्रीय कार्यकारिणी में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व।

(*iii*) लोक सेवाओं में प्रतिनिधित्व का अभाव।

(*iv*) संघीय लोक सेवा आयोग में प्रतिनिधित्व का अभाव।

खंड 2 शैक्षिक शिकायतें

(*v*) विश्वविद्यालय एवं उच्च शिक्षा के लिए सहायता की आवश्यकता

(*vi*) प्राविधिक प्रशिक्षण हेतु सुविधाओं की आवश्यकता।

खंड 3 अन्य शिकायतें

(*vii*) सरकारी प्रचार एवं अस्पृश्य जातियां

(*viii*) सरकारी ठेके और अस्पृश्य जातियां

खंड 4 सरकार का संकट ग्रस्त लोगों के प्रति कर्त्तव्य

इस ज्ञापन में डॉ. अम्बेडकर ने उन सब बातों, तकलीफों, शिकायतों का उल्लेख किया जिनका अनुसूचित जातियों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व, नौकरियों में समुचित स्थान, शिक्षा संबंधी सुविधाओं, संघीय लोक सेवा आयोग में प्रतिनिधित्व आदि का विस्तृत उल्लेख था। निसंदेह 1942-1946 के मध्य अनुसूचित जातियों के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो भी कार्य किए उसके पीछे डॉ. अम्बेडकर की ही पैनी दृष्टि और दूरदर्शिता थी। वायसराय ने इसे बड़ी गंभीरता से लिया।

स्वतंत्रता और बंधुत्व तथा भारतीय श्रमिक

सन् 1943 को नववर्ष (1 जनवरी) को आकाशवाणी, बंबई से राष्ट्र के नाम अपने संदेश में डॉ. अम्बेडकर ने कहा 'भारत के श्रमिक यह युद्ध क्यों जीतना चाहते हैं क्योंकि यह नाजीवाद के विरुद्ध है। उन्होंने चैताया कि स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व मात्र नारे नहीं जीवन की एक वास्तविकता हैं जिन्हें भारत का श्रमिक वर्ग जानता है। श्रमिक वर्ग की पर्याप्त सुरक्षा, देखभाल और ध्यान के लिए केंद्र सरकार ने श्रम कानून बनाए हैं और उन्हें क्रियान्वित किया गया है। श्रमिक काम करने की बेहतरी ही नहीं वरन् जीवन की बेहतरी का इच्छुक है। श्रमिक स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व का समर्थक है। वह नाजीवाद के खिलाफ है जो जर्मन जाति को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। हिटलर ने ब्रिटिश सरकार की आलोचना की कि उसने भारत वासियों को शिक्षा और इतनी राजनीतिक आजादी क्यों दी? नाजी भारत की आजादी और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के विरुद्ध हैं।

उन्होंने फ्रांस की राज्य क्रांति का जिक्र करते हुए कहा कि उसने स्व-शासन और स्व-निर्णय के दो सिद्धांत दिए हैं। स्व-शासन का सिद्धांत शासन लोगों की उस भावना को बताता है कि वह अपना स्वयं चलाए, न कि दूसरे लोग उस पर राज करें। चाहे वे पूर्ण सम्राट हों, तानाशाह हों अथवा कुलीन तंत्र के लोग। इसको ही प्रजातंत्र कहते हैं।

स्व-निर्णय के सिद्धांत के अंतर्गत लोगों की वह भावना निहित है जिसमें वे समान उद्देश्य और समान कारणों को संयुक्त रूप से निर्णीत करते हैं जिसमें बाहरी दबाव नहीं होता। इन सिद्धांतों ने मानवता को नई आशा प्रदान की। लेकिन 140 वर्ष बाद भी इन सिद्धांतों की बेल नहीं चढ़ी।

उन्होंने स्पष्टतः कहा कि भारत के श्रमिकों की स्वतंत्रता छीनी नहीं जा सकती अगर वे संयुक्त रूप से इसके लिए लड़ते हैं। भारतीयों में अलगाव की भावना के कारण स्वतंत्रता नहीं मिल पाई। भारत की स्वतंत्रता के खुद भारतवासी ही दुश्मन हैं। उन्होंने कहा कि यह युद्ध एक क्रांति है, जिसके अंतर्गत समाज की पुनर्रचना संभावित है। इसलिए यह एक लोक युद्ध है।[17] इस युद्ध के दौरान ही बिड़ला, टाटा, डालमिया जैसे पूंजीपति समृद्ध हुए तथा अछूत-दलित भूखों मरे। बेकार रहे श्रमिकों ने कष्ट भोगे। उच्च जातियां वैसे भी समृद्ध थीं। उन पर युद्ध का कोई असर नहीं हुआ।

श्रमिक एवं संसदीय प्रजातंत्र

8-17 सितंबर 1943 को 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन' कार्यकर्ता अध्ययन शिविर को संबोधित करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने साफ-साफ कहा कि संसदीय लोकतंत्र प्रणाली के अंतर्गत कामगार वर्ग को अपने कल्याण के लिए अवसर खोजने होंगे। मात्र ट्रेड यूनियनों की स्थापना से उनका हित संभव नहीं। भारत में उन्हें अपने एक राजनीतिक दल 'श्रमिक दल' (लेबर पार्टी) की स्थापना कर लेनी चाहिए।

सांप्रदायिक और पूंजीपतियों की राजनीतिक पार्टियों-हिंदू महासभा एवं कांग्रेस से इसे अलग रहना होगा। हिंदू महासभा, कांग्रेस और ऐसे ही अन्य दलों में श्रमिक वर्ग को शामिल नहीं हो जाना चाहिए, सिर्फ इसलिए कि वे स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। कांग्रेस और हिंदू महासभा के पंजों से मुक्ति पाकर ही वे देश की आजादी की लड़ाई लड़ सकते हैं। भारतीय राजनीति में अतार्किकवाद के खिलाफ वे शक्तिशाली नियंत्रणकर्ता बन सकेंगे। कांग्रेस की राजनीति को क्रांतिकारी कहा जाता है, दरअसल इसने निराशावाद को जन्म दिया है। यह इसलिए अतार्किक दल बन गया है क्योंकि इसका कोई विरोध नहीं। भारत की 'लेबर पार्टी' (भारतीय श्रमिक दल) इसके अबौद्धिक कृत्यों का जबाब हो सकती है। जिसने गत दो दशक से राजनीति में धाक जमाई है। उन्होंने कहा कि बिना ज्ञान के शक्ति नहीं मिलती। जब श्रमिक दल की स्थापना हो जाएगी और श्रमिक गद्दी पाने के लिए मतदाता के सम्मुख अपना पक्ष रखेंगे, तो शायद यह भी सवाल उठेगा कि क्या वे शासन चला सकते हैं? यह कोई उत्तर नहीं होगा कि श्रमिक गृह और विदेश के मामलों में दूसरे वर्गों के मुकाबले अच्छी तरह शासन कर सकेंगे या दिवालियापन जाहिर करेंगे। श्रमिकों को यह सिद्ध करना है कि वे अच्छी तरह शासन चला सकते हैं। दूसरे वर्गों के मुकाबले श्रमिक दल की सरकार का गठन ज्यादा कठिन है। श्रमिक दल की सरकार नियंत्रण की सरकार होगी अहस्तक्षेप की सरकार नहीं।"[18]

जल ही धन : जल संग्रह आवश्यक

सन् 1945 में ही डॉ. अम्बेडकर ने श्रम सदस्य की हैसियत से बताया था कि 'यह कथन तथ्य से परे है कि अधिकाधिक जल एक बुराई है। जल कभी भी बुराई नहीं हो सकता। आदमी के कष्ट जल की कमी से हैं, न कि उसकी अधिकता से प्रकृति जो हमें जल प्रदान करती है उसके बारे में न सिर्फ कंजूसी करती है, वरन उसके वितरण में भी भूल करती है जो अकाल और बाढ़ के रूप में देखा जाता है। लेकिन इससे यह तथ्य नहीं बदलता कि जल ही धन है। मनुष्य का जल ही धन होने से तथा उसके वितरण में अनिश्चिय के कारण से प्रकृति के खिलाफ शिकायत करने के बजाए जल संग्रह आवश्यक है।"[19]

विश्व युद्ध और संकटकाल में भी ऐसी बातें डॉ. अम्बडेकर जैसे देशभक्त ही कर सकते थे। यह कथन उनके उस अध्यक्षीय भाषण का अंश है जो उन्होंने केंद्र सरकार, उड़ीसा सरकार, मध्य प्रांत और पूर्वी राज्यों के प्रतिनिधियों के समक्ष कटक में उड़ीसा की नदियों की बहुउद्देश्यीय योजना के विषय में दिसंबर 1945 में प्रकट किए थे क्योंकि वह जानते थे अकाल या बाढ़, सूखा या अतिवृष्टि का अधिकारिक असर गरीब-दलितों पर, भूमिहीन किसानों और मजदूरों पर पड़ता है।

वित्त बिल पर बहस : दलितों के कष्ट उजागर किए

सन् 1945 में जब वित्त बिल पर बहस हुई तो डॉ. अम्बेडकर ने शिकायत की कि 'बनारस हिंदू विश्वविद्यालय' एक विशेष जाति के हित संवर्धन का कार्य करता है। एक कायस्थ लड़की को इसके धर्मशास्त्र विभाग ने प्रवेश नहीं दिया। 1916 में इसके कोर्ट ने गैर-ब्राह्मण को हिंदू धर्म के प्रोफेसर के रूप में काम नहीं करने दिया। जब देश में हर कोई राष्ट्रीयता ी बात करता है तो कुछ लोग धार्मिक मदांधता की बात करते हैं। उन्होंने बंबई प्रांत में अनुसूचित जातियों द्वारा संचालित एक कालेज का जिक्र किया जिसमें सब धर्म और जातियों के लोग स्टाफ में थे। यह कालेज दलित चेतना का केन्द्र बना क्योंकि इसमें अनुसूचित जातियों के पात्र विद्यार्थियों को प्राथमिकता के आधार पर प्रवेश मिलने लगे। पहले उन्हें मैट्रिक के उपरांत प्रवेश लेने में कठिनाईयां होती थीं। उन्होंने चुनावों के दौरान आगरा कानपुर, मद्रास, नागपुर, लुधियाना (पंजाब), बंबई, मध्यप्रांत आदि जगहों पर अनुसूचित जातियों के उम्मीदवारों के साथ हिंदुओं द्वारा किए गए दुर्व्यवहार, मारपीट, घरों को लूटने, जलाने की कई घटनाओं का जिक्र किया।...अत्याचार और दुर्व्यवहार के शिकार वे दलित लोग थे जो डॉ. अम्बेडकर के दलित आंदोलन से जुड़े और उनके अनुयायी थे।

उन्होंने कहा कि जब अनुसूचित जातियों के लिए मंदिर प्रवेश का बिल केंद्रीय विधानसभा में लाया गया वायसराय ने अनुमति नहीं दी। इस पर लोग उपवास पर बैठ गए, आत्महत्या की धमकी दी गई यदि बिल को विचारार्थ पेश नहीं किया। लेकिन जब वायसराय ने अनुमति दे दी तो क्या हुआ? इन्हीं महापुरुषों ने बिल की धज्जियां उड़ा दीं। इसे फाड़ा गया, तिरस्कृत किया। बेचारे रंगा अय्यर जो इस बिल के जनक थे देखते रह गए। उन्होंने उन लोगों को अपशब्द कहे जिन्होंने उन्हें धोखा दिया था। टोकने पर डॉ. अम्बेडकर ने कहा उन्होंने सदन की समस्त कार्यवाही पढ़ी है। उन्होंने आगे बताया कि सन् 1916 में मानेक जी दादा भाई ने सदन में प्रस्ताव रखा था कि दलित अछूतों की शिकायतों की जांच के लिए समिति गठित की जानी चाहिए लेकिन हमारे एक हिंदू नेता ने इसका जबर्दस्त विरोध किया था जिनके बेटे अब सदन के सदस्य हैं। दूसरी बार जब 1927 में स्वर्गीय लार्ड बिरकनहेड ने जब संविधान के अंतर्गत अनुसूचित दलित जातियों को अल्पसंख्यक वर्ग का दर्जा देने का सवाल उठाया तब भी उसका इस हिंदू नेता ने विरोध किया।

डॉ. अम्बेडकर ने वित्त बिल पर बोलते हुए सदन में आगे कहा, "मेरे मित्र मेरा अस्तित्व तभी समझते हैं जब मैं राजनीतिक विषयों पर बोलता हूं। जब मैं अनुसूचित जातियों के लिए बात करता हूं, जब मैं नौकरियों में संरक्षण की बात करता हूं, जब मैं उनके लिए शिक्षा अनुदान की बात उठाता हूं तब वे मेरा अस्तित्व जानते हैं, अन्यथा मैं उनके लिए एकमृत व्यक्ति की तरह हूं...।"

"वे हमें हिंदू बताते हैं जबकि समस्त सामाजिक और राजनीतिक अधिकार छीन लिए गए हैं," "मैं अपने हिंदू मित्रों को बता देना चाहता हूं कि हम उनकी दया पर जिंदा नहीं हैं। हमें उनसे दया की भीख नहीं चाहिए। मैं इस देश का नागरिक हूं। अपने

दलित भाईयों के लिए सरकार के कोष से मैं उन सब अधिकारों और फायदों के लिए सहायता की मांग कर सकता हूं जिन्हें प्राप्त करने के लिए अन्य सभी जातियां प्रयत्नशील रहती हैं। हमें किसी की खैरात नहीं चाहिए, खैरात तो आदमी के गुलाम बनाती है, मुझे और मेरे समाज को नैतिक पतन का कारण बन सकती है अनुसूचित जातियां अपने अधिकारों के लिए अपने पैरों पर खड़ा होना चाहती हैं। मैं सदन को बताना चाहता हूं कि अगर हमारी मांगों का विरोध किया गया तो हम अपने अधिकार पाने के लिए खून भी बहाने को तैयार हैं।''[20]

सरकार को सहयोग क्यों?

यह एक सच्चाई है कि सन् 1942 से 1946 के मध्य तथा उससे पूर्व वायसराय की कार्य कारिणी समिति में समृद्ध घरानों, ऊँची जातियों, संपन्न संगठित अल्पसंख्यक वर्गों के ब्रिटिश-भक्त प्रतिनिधि सदस्य बनते थे। लेकिन करोड़ों अछूतों, दलितों, शोषित-सर्वहारा लोगों की आवाज उठाने के लिए प्रथमबार सबसे अधिक लोक सेवा में सक्रिय शिक्षित, सुसंस्कृत, देशभक्ति की भावना से परिपूर्ण डॉ. अम्बेडकर का श्रम सदस्य के रूप में चयन दलित क्रांति के इतिहास में मील के पत्थर की तरह माना जाएगा।

दलितों के व्यापक और दीर्घकालीन हितों की लड़ाई के लिए एक प्रहरी की तरह सदैव जागरूक ''डॉ. अम्बेडकर ने राष्ट्रीय आंदोलन को सहयोग नहीं दिया था बल्कि उन्होंने सरकार को सहयोग किया था। लेकिन ऐसा उन्होंने हर समय नहीं किया था। वे जानते थे कि ब्रिटिश सरकार विदेशी सरकार है और वे हमारे दुर्भाग्य की परिस्थितियों का कभी भी अपने लिए लाभ उठा सकते हैं, इसलिए हमारी दयनीय परिस्थितियों में ज्यादा विकास संभव नहीं है। उन्होंने बताया कि ब्रिटिश सरकार भी निम्न जातियों की ओर ध्यान नहीं देती है जिसे स्पष्ट करते हुए अम्बेडकर ने पूछा कि ब्रिटिश सरकार उनके लिए क्या कर रही है? उन्होंने कहा कि इस सरकार ने भी अछूतों को वहीं पर रहने दिया जहां पर वह पहले थे।''[21]

अम्बेडकर ने लोगों से कहा, ''अछूतों की शिकायतों को कोई हल नहीं कर सकता। इसे तभी हल किया जा सकता है कि जब राजनीतिक सत्ता हमारे हाथ में होगी।...ऐसी सत्ता हमें स्वराज्य में ही मिल सकती है। जब तक हमारी मुक्ति नहीं हो जाती हम इसे अर्थात् राजनीतिक सत्ता को हाथ में रख सकते हैं, यह तभी संभव हैं जबकि देश स्वतंत्र हो।''[22]

देश की संकट कालीन परिस्थितियों में डॉ. अम्बेडकर के अतुलनीय योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। वे निर्माणात्मक कदम उठाते थे, जबकि समकालीन राजनीतिज्ञ विध्वंसात्मक-असहयोग की राजनीति करते थे। उदाहरण स्वरूप कांग्रेस और गांधी ने 1942-1946 के बीच सरकार के साथ देश व्यापी संघर्ष किया, कई मायनों में अहिंसा को त्याग कर तोड़-फोड़, प्रदर्शन, हड़तालें, असहयोग जताया, रेलें रोकी गई, तार-टेलीफोन

काटे गए, करोड़ों की सरकारी संपत्ति को नुकसान पहुंचाया गया। लोग जेलों में गए। गोलियों की बौछारें हुईं। जनता ने यातनाएं सहीं। स्वतंत्रता मिलने पर ऊंची जातियों के लोग कुर्सी पर बैठ गए।

कुल मिलाकर अकेले अम्बेडकर ने इस बीच दलितों के हित में देश का नया इतिहास रचा। हाथ से कमाने वाले श्रमिकों के लिए जो अधिकांशतः दलित-अछूत समाज के सदस्य थे, उनके लिए श्रम कानून बनाए। देश में विश्वयुद्ध और आपातकाल के चलते, भयावह अकाल, सूखा, विश्व व्यापी आर्थिक मंदी, अनिश्चिता के दौर में अछूतों, दलितों, भूमिहीन मजदूरों, श्रमजीवियों को रोजगार के अनेक अवसर उपलब्ध कराए। उड़ीसा और बिहार में नदी-घाटी योजनाओं को क्रियान्वित कराया। वे गरीब-दलित छोटे किसान-कामगारों के बेटे जो विश्व युद्ध में विकलांग हुए बाद में बेरोजगार हुए उनके पुनर्वास के लिए कई योजनाएं लागू कराई। इसका सबूत है उनके वे लेख भाषण, कार्यवाहियां जो आज ऐतिहासिक दस्तावेज बन चुकी हैं।[23] उन्होंने गरीब दलितों को फौज में भर्ती के लिए प्रोत्साहित किया क्योंकि ऊंची जातियों के लोग फौज में भर्ती होकर असंतुलन फैला देते थे। यह आज तक कायम है।

केबिनेट मिशन के समक्ष

भारत में सत्ता हस्तांतरण और दलितों के भविष्य के बारे में 'केबिनेट मिशन' ने उन्हें आमंत्रित किया। 5 अप्रैल, 1946 को डॉ. अम्बेडकर करोड़ों अछूतों का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए मिशन के समक्ष उपस्थित हुए। उस बैठक में फील्ड मार्शल विसकाउन्ट वेवेल भी उपस्थित थे। ठीक 12 बजे दोपहर को हुई उस बैठक में डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि वे अपना स्मृति पत्र पहले ही मिशन को दे चुके हैं। उसमें **'अखिल भारतीय शिड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन'** की 2 अप्रैल को हुई बैठक का प्रस्ताव भी सम्मिलित था। उसमें अनुसूचित जातियों के हित संरक्षण, सरकारी नौकरियों में समुचित स्थान आदि के विषय में मांग की गई थी।

"...संविधान परिषद में अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधित्व के तरीके के विषय में मिशन के सम्मुख चर्चा में डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि वे संविधान परिषद की स्थापना बिल्कुल नहीं चाहते। इसमें सवर्ण हिंदुओं का बहुमत होगा और अनुसूचित जातियों को मामूली सा प्रतिनिधित्व मिल पाएगा जो किसी भी दो तिहाई बहुमत से निर्णय के समय अधिकार विहीन रहेंगे। ब्रिटिश सरकार ने अल्पसंख्यकों को जो भी संरक्षण प्रदान किया है वह बेकार जाएगा। इस परिषद में सदस्य की खरीद-फरोख्त भी हो सकेगी जो अपने जातीय हित सुरक्षित रखना चाहते हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि संविधान परिषद के सम्मुख विचाराधीन मामलों को दो भागों में विभाजित कर देना चाहिए।

1. प्रथम संवैधानिक मामले जिसमें विधायिका और कार्य पालिका के संबंधों की व्याख्या और उसके गठन और कार्यप्रणाली सम्मिलित हों।

2. दूसरे सांप्रदायिक प्रश्न।

पहले मामले में एक आयोग गठित करके जिसमें ग्रेट ब्रिटेन अथवा अमेरिका के किसी प्रमुख संवैधानिक विधिवेत्ता समेत दो भारतीय प्रतिनिधि एक हिंदू दूसरा मुस्लिम विशेषज्ञ हों सभी वैधानिक मामले उसे सुपुर्द किए जाने चाहिए।

दूसरे मामले में सभी जातियों के नेताओं की बैठक बुलाकर इस समस्या का समाधान खोजना चाहिए।

इसके बाद डॉ. अम्बेडकर ने अनुसूचित जातियों की वर्तमान दयनीय दशा की ओर मिशन का ध्यान आकर्षित किया और उस समय उनकी संख्या 6 करोड़ बताई। उनकी गंभीर निर्योग्यताओं और विशेषतया गांवों में रहने वाले अनुसूचित जाति के लोग जहां वे भूमिहीन हैं और सवर्ण हिंदुओं के गुलाम हैं उनका जिक्र किया। उन्होंने शिकायत की कि वस्तुतः 1932 में जो अलग निर्वाचन का अधिकार किया था उसे पूना पैक्ट द्वारा वापिस ले लिया गया। उन्होंने कहा कि यद्यपि सन् 1919 से केन्द्रीय विधान सभा कार्यरत है पर उनके हित में न कभी प्रश्न पूछे गए, न प्रस्ताव रखे गए, न कुछ किया गया। उन्होंने बताया कि राजा-रजवाड़ों के अंतर्गत जो राज्य हैं वहां अनुसूचित जातियों की दशा अत्यंत दयनीय है। वे अच्छी किस्म का खाना भी नहीं खा सकते।

उन्होंने कहा कि अगर भारत को आजादी दी गई तो यह एक भयंकर दुर्घटना होगी। भारत छोड़ने से पहले उन्हें अनुसूचित जातियों को नए संविधान में सहज जीवन जीने के मानवीय अधिकार, स्वतंत्रता, खुशी के साधन, अलग निर्वाचन और वे सभी संरक्षण जिनकी वे मांग करते आए हैं सुरक्षित कर देने चाहिए और गारंटी देनी चाहिए। उन्होंने साफ कहा कि वर्तमान समय में उनके अनुयायियों में निराशा व्याप्त है और वे आतंकवाद और साम्यवाद की ओर झुक रहे हैं। तथा संवैधानिक तौर तरीकों को उनके प्रयासों को वे अभी परख रहे हैं।

लार्ड पैथिक लारेंस ने इस बैठक में कहा कि अब तक भारत की राजनीति केवल दो प्रश्नों तक सीमित रही है। एक है ब्रिटिश शासन से सत्ता छीनकर भारत की आजादी हासिल करना, दूसरे हिंदू-मुस्लिम समस्या। जब ये दोनों समस्याएं सुलझ जाएंगी तब आर्थिक मसलों पर ध्यान केंद्रित होगा यह एक हकीकत है कि अनुसूचित जातियों को अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए वामपंथी दलों की ओर देखना चाहिए, न कि ब्रिटिश सरकार की ओर, जो शीघ्र सत्ता हस्तांतरण करने वाली है।

इसके प्रत्युत्तर में डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि संयुक्त निर्वाचन मंडल में अनुसूचित जातियों के मतदाता इतने कम होंगे कि हिंदू उम्मीदवार उनकी भावनाओं का पूरी तरह अनादर कर देंगे। सवर्ण हिंदू अनुसूचित वर्गों के उम्मीदवारों को कभी भी सहयोग नहीं देंगे।[24]

अनुसूचित जाति महासंघ के प्रस्ताव

डॉ. अम्बेडकर द्वारा स्थापित अखिल भारतीय अनुसूचित जाति महासंघ ने 4 जून 1946 को बंबई में अपनी कार्यकारिणी की बैठक एन.शिवराज की अध्यक्षता में आयोजित की। इसमें कैबिनेट मिशन द्वारा भारत के भावी संविधान के विषय में परिचर्चा हुई ओर दलितों के अधिकारों की उपेक्षा पर चिंता व्यक्त की गई।

प्रस्ताव में कहा गया कि मिशन के 500 शब्दों के प्रस्ताव और बयान में अनुसूचित जातियों के हितों की गांरटी के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया। इससे मिशन की मानसिकता का पता नहीं चलता। मिशन इस तथ्य से अपरिचित नहीं कि भारत में अछूत बसते हैं, उनकी निर्योग्यताएं क्या हैं? पूरे भारत में सवर्ण हिंदुओं द्वारा दिन प्रतिदिन उन पर किस और तरह के अत्याचार अनाचार किए जाते हैं? क्या मिशन को ब्रिटिश सम्राट की सरकार द्वारा की गई उस घोषणा का पता नहीं कि अछूत सवर्ण हिंदुओं से बिलकुल अलग-थलग हैं और भारत के जन जीवन में अपनी अलग पहचान रखते हैं? क्या मिशन को ब्रिटिश सरकार की उस घोषणा का पता नहीं जिसमें कहा गया है कि अनुसूचित जातियों की सहमति लिए बगैर कोई भी भारत का नया संविधान उन पर थोपा नहीं जाएगा? क्या मिशन को नहीं मालूम की एक वर्ष पहले ही लार्ड वेवेल द्वारा आयोजित 'शिमला सम्मेलन' में सवर्ण हिंदुओं से अलग अनुसूचित जातियों को वार्ता के लिए प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था? इन सब परिस्थितियों और तथ्यों के प्रकाश में महासंघ की कार्यसमिति यह कहने में नहीं चूकती कि 'कैबीनेट मिशन' ने जिस तरीके से अनूसूचित जातियों की उपेक्षा की है उससे ब्रिटिश राष्ट्र की छवि, गरिमा को धक्का लगा है।

कैबिनेट मिशन ने अपने प्रेस वक्तव्य में कहा है कि अनुसूचित जातियों के लिए संविधान परिषद और सलाहकार समिति में दोहरे प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई है। यह समिति इस प्रकार के प्रावधान को मृगमरीचिका और व्यर्थ की प्रक्रिया मानती है। मिशन ने प्रांतीय विधान सभाओं द्वारा संविधान परिषद की सदस्यता हेतु एक भी सदस्य के लिए संरक्षण की व्यवस्था नहीं की जैसा कि सिख और मुस्लिमों के लिए प्रावधान है। प्रस्तावों में अनुसूचित जातियों पर पुलिस और राजस्व कर्मचारियों के अत्याचारों और बर्बरता कभी जिक्र किया गया। समिति के लंबे चौड़े 10 बिंदुओं वाले प्रस्तावों में मिशन द्वारा की गई उपेक्षा और डॉ. अम्बेडकर द्वारा उन पर सटीक परिचर्चा, पत्र व्यवहार, और वार्ता का भी उल्लेख किया गया।[25]

लार्ड एटली का प्रत्युत्तर

डॉ. अम्बेडकर के 1 जुलाई 1946 के पत्र व्यवहार के संदर्भ में लार्ड एटली ने 13 अगस्त, 1946 के अपने जवाब में इस डर का खंडन किया कि 'केबिनेट मिशन' अनुसूचित जातियों की उपेक्षा कर रहा है। एटली ने लिखा कि 1945 के 'शिमला सम्मेलन' के बाद नीति

में परिवर्तन अवश्य हुआ है। मिशन ने अनुसूचित जातियों के चुनाव परिणामों की समीक्षा की है और पाया कि वे अनुसूचित जाति के उम्मीदवार चुनाव में अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाए जो कांग्रेस समर्थित नहीं थे। प्राइमरी चुनावों में डॉ. अम्बेडकर के फेडरेशन के उम्मीदवार विजय हासिल नहीं कर सके।

एटली ने लिखा कि ब्रिटिश सरकार अनुसूचित जातियों को एक प्रमुख अल्पसंख्यक वर्ग मानती है, जिसे अल्पसंख्यक सलाहकार समिति में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। फिर भी उनकी सरकार का मत है कि वह भावी संविधान परिषद् की स्वतंत्रता में किसी प्रकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध है।

हम समझते हैं कि अल्पसंख्यक वर्ग बिना किसी भय के जीवन जीए। साथ ही हम यह भी गारंटी नहीं कर सकते कि अंतरिम सरकार में 'अनुसूचित जाति महासंघ' के दो प्रतिनिधि सम्मिलित किए जाने चाहिए।'' एटली का यह टका सा जवाब डॉ. अम्बेडकर की ब्रिटिश सरकार पर निर्भर रहने, सरकार द्वारा कोई ठोस आश्वासन देने तथा संवैधानिक गारंटी प्रदान करने के मामले में निर्मूल और सिर्फ एक सपना ही रहा।

इस पत्र में लिखे एटली ने अंत में डॉ. अम्बेडकर के संविधान परिषद में सदस्य चुने जाने पर बधाई अवश्य दी। इस परिषद में उनका चुनाव महत्त्वपूर्ण था। ''उस दिन बंगाल के अछूत कलकत्ता में उनके पक्ष में उमड़ पड़े थे। पुलिस की घेराबंदी तोड़कर वे विधानभवन तक पहुंच गए थे।[26]

अम्बेडकर हार मानने वाले नहीं थे। यह दलित आंदोलन का बीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध का संक्रांतिकाल था। फिर भी उनके मन में दुविधा थी। वे वायसराय की कार्यकारिणी से अन्य सदस्यों के साथ-साथ त्यागपत्र दे चुके थे। उन्होंने अपनी लड़ाई जारी रखी। दिल्ली से लौटकर वे अब दादर बंबई में राजगृह नामक अपने निवास पर आ गए थे। वहीं से 12 अगस्त 1946 को उन्होंने एटली को फिर लिखा कि 1945 के 'शिमला सम्मेलन' में ब्रिटिश सरकार की घोषणा से मुकर जाना और मिशन द्वारा अनुसूचित जातियों के अधिकारों की अवहेलना का उन्हें यह कोई औचित्य दिखाई नहीं देता कि अब नीति बदल दी गई है। 'हाउस ऑफ कामन्स' में भी एलेक्जेंडर महोदय का यह बयान कि अधिकांश अनुसूचित जातियां कांग्रेस के पक्ष में हैं सत्य से परे है। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के इस दावे का भी खंडन किया कि उनका प्रभाव केवल बंबई और मध्य भारत में है। यदि ऐसा होता तो वे बंगाल के शिखर कांग्रेस नेता शरतचंद्र बोस को पराजित करके कैसे चुने गए हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि उन्हें खुशी है कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल अनुसूचित जातियों को एक महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्ग मानता है। लेकिन जब तक 'कैबिनेट मिशन' यह घोषणा नहीं करता अनुसूचित जातियों का भला नहीं होगा। मौलाना आजाद ने वायसराय को यह लिखकर चुनौती दी है कि अनुसूचित जाति के लोग अल्पसंख्यक वर्ग में नहीं आते। इसलिए जरूरी है कि ब्रिटिश सरकार यह घोषित कर दे कि अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यक वर्ग हैं। अगर ब्रिटिश सरकार ने कुछ नहीं किया तो गांधी इस विषय में

मनमानी कर सकते हैं।[27]

9 अप्रैल, 1947 को अपनी शिखर गोपनीय रिपोर्ट में वायसराय लार्ड माउण्टबेटन ने यह दर्ज किया कि "उन्होंने मंत्रिमंडल के सदस्यों के साथ व्यक्तिगत बैठकें की हैं, वे ब्रिटिश जाति और अल्पसंख्यकों के नेताओं से भी मिले हैं और गांधी एवं जिन्ना से विस्तृत वार्तालाप हुआ है।

..वे दलित जातियों के नेता डॉ. अम्बेडकर से भी मिले। वार्तालाप के दौरान उन्होंने बताया कि ब्रिटिश सरकार और 'केबिनेट मिशन' ने अनुसूचित जातियों के साथ विश्वासघात किया है। उन्होंने बताया कि पहले उनका शोषण और उन पर अत्याचार हुए हैं और उनके साथ भविष्य में भी यह होगा। उन्होंने बताया कि अभी हाल में उत्तर प्रदेश में चार दलित जिंदा जला दिए गए हैं। वायसराय ने दर्ज किया कि वे जांच करवा रहे हैं।"[28]

अपनी कार्यशैली से अम्बेडकर स्वतंत्र रूप से अकेले ही दलितों का धर्मयुद्ध लड़ रहे थे। कांग्रेस समर्थित दलित नेता, गांधी और उनके राजनीतिक दल के अन्य नेताओं के आदेशों-उपदेशों की प्रतीक्षा में 'आगे की कार्यवाही' के स्वप्नलोक में विचर रहे थे। एक का रास्ता संघर्ष का था, दिमागी और कलम की ताकत से लड़ा जा रहा था, दूसरे दलित जुगाड़ में थे कब भारत को आजादी मिले और दलितों के नाम पर उन्हें कुर्सियां और पद मिलें और मालामाल हो जाएं।

संदर्भ

1. मनशेरघ्, निकोलस : दि ट्रांसफर ऑफ पावर, खंड।, सं. 442, पृ. 552-53
2. दि ट्रांसफर आफ पावर, खंड 1, सं. 447, पृ. 603 (कमांड पेपर नं. 6350)
3. ट्रांसफर ऑफ पावर, खं. 1, सं. 684, पृ. 846-47 (राम.एस.एस. ई.यू.आर.)
4. ट्रांसफर ऑफ पावर, खं. 2, सं. 211, पृ. 300-01
5. कुबेर, डब्ल्यू, एन : बी.आर. अम्बेडकर, पृ. 55
6. ट्रांसफर ऑफ पावर, खं. 2, सं. 310, पृ. 436
7. कीर, धनंजय : डॉ. अम्बेडकर, पृ. 349
8. सत्यनारायण (डॉ.), बाबा सा हिब डॉ. अम्बेडकर पृ.116
9. डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर स्पीन्चैज एंड राइटिंगस, वाल्यूम 10, पृ. 126
10. वही, पृ. 126-127
11. वही, पृ. 127
12. ट्रांसफर ऑफ पावर, खं. 2, सं. 227, पृ. 336-37
13. रिपोर्ट आफ दी डिप्रैस्टड क्लास कान्फ्रेंस, नागपुर, 18-20 जुलाई 1942, पृ. 100-06
14. डॉ. बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज, खंड 10, पृ. 11
15. वही, पृष्ठ 21-29
16. अम्बेडकर, डॉ. बी. आर. :ग्रीवेंसेज ऑफ दी शिडयूल्ड कास्ट्स–मेमोरेंडम सबमिटेड टू दि गवर्नर जनरल ऑफ इंडियां, (डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज, खंड 10, पृ. 400-442 में संदर्भ हेतु उपलब्ध)
17. वही (खंड 10) पृ. 36-43

18. वही, (खंड 10) पृ. 106-112
(यहां यह स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर भारत में श्रमिक वर्ग अर्थात् दलितों की प्रतिनिधि सरकार का स्वप्न देखते थे। श्रमिक वर्ग ही वह बहुसंख्यक दलित प्रोलेटेरियट (मजदूर) वर्ग है जो अल्पसंख्यक सांप्रदायिक-पूंजीवादी तत्वों के हाथ में पिसता रहा है।)
19. डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर स्पीचेज एंउ राइटिंग्स, खंड 10, पृ. 302-311
20. वही (खंड 10), पृ. 354-363
21. दत्त, आर. पी. : इंडिया टुडे, पृ. 243
22. उपरोक्त, पृ. 244
23. संदर्भ हेतु देखे डॉ. अम्बेडकर एज मेम्बर ऑफ दी गवर्नर जनरल्स एक्जीक्यूटिव काउन्यिल, खंड 10, पृ. 1-1078
24. ट्रांसफ़र ऑफ पावर, खं. 7, डाक्यूमेंट सं. 58, पृ. 144-47 (से.एल.चंचरीक संपादित डॉ. बी.आर अम्बेडकर-पेट्रियट, फिलासफर एंड स्टेट्समैन, वाल्यूम 1 पृ. 294-298 से उद्धृत)
25. दृष्टव्य ट्रांसफर ऑफ पावर, खंड 7, दस्तावेज सं. 454, पृ. 808-12 (संदर्भ के.एल. चंचरीक द्वारा खंड पृ. 302-308)
26. एटली पेपर्स, यूनीवर्सिटी कालेज, आक्सफोर्ड (ट्रांसफर ऑफ पावर, खंड. 8, दस्तावेज सं. 105, पृ. 170-72) (संदर्भ क.ला. चंचरीक, पृ. 308-310) तथा भटनागर, राजेन्द्र मोहन, अम्बेडकर-चिंतन और विचार, पृ. 118
27. ट्रांसफर ऑफ पावर, खं. 8, दस्तावेज सं. 142 पृ. 221-23
28. वही, खंड 9, दस्तावेज सं. 108, पृ. 167-72 (संदर्भ हेतु देखें के.एल.चंचरीक : बी. आर. अम्बेडकर खंड 1, पृ. 318) तथा भटनागर, राजेन्द्र मोहन : डॉ. अम्बेडकर : चिंतन और विचार, पृ. 119

9

स्वातंत्र्योत्तर भारत : दलित इतिहास के नए अध्याय

संविधान-संरचना-दलित इतिहास का नया अध्याय

स्वतंत्र भारत का संविधान जिसके निर्माता डॉ. अम्बेडकर स्वयं हैं, दलित इतिहास के स्वर्णिम दस्तावेज के रूप में गवाही देता है। विश्व के शीर्ष मेधावी पुरुषों में से एक डॉ. अम्बेडकर ने इस लोक स्वातंत्र्य, लोक न्याय, लोक समता के दस्तावेज में उन कड़ियों को गूंथ दिया है, करोड़ों दलितों की उन आकांक्षाओं, भावनाओं को पिरो दिया है जिसके लिए वे साम्राज्यवाद के गढ़ बकिंघम पैलेस, लंदन में अकेले ही योद्धा की तरह जूझे थे।

अपनी गरिमा और यशस्वी इतिहास के लिए प्रसिद्ध ब्रिटिश संसद में 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947' के पारित होने के साथ-साथ भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का अंत हो गया और एक स्वतंत्र प्रजातांत्रिक भारत का स्वप्न पूरा हुआ। इससे स्वतंत्र भारत के नए संविधान की संरचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। यहां यह उल्लेखनीय है कि भारत सरकार ने दलित नेता और केंद्रीय मंत्री जगजीवन राम को लंदन भेजा था जब ब्रिटिश संसद में स्वतंत्रता अधिनियम पारित किया जा रहा था। ताकि ब्रिटिश संसद में संवैधानिक कार्यवाहियों के दौरान आवश्यक परामर्श या भारत सरकार के मध्य संपर्क सूत्र को कायम रखा जा सके।

ब्रिटिश साम्राज्य से भारत के लोगों के हाथ में सत्ता हस्तांतरण कोई मामूली बात नहीं थी। इसके एशिया और अफ्रीका के देशों पर भी भारी राजनीतिक-सामाजिक प्रभाव पड़ने थे।

जब अगस्त 1947 में डॉ. अम्बेडकर को स्वतंत्र भारत का प्रथम कानून मंत्री बनाया गया तो वे बदली परिस्थितियों में कांग्रेस और गांधी-विरोधी कटुता भूल गए। पहले 1946 में वे बंगाल से संविधान सभा के लिए निर्वाचित हुए थे, भारत विभाजन के पश्चात् उन्हें कांग्रेस समर्थन से बंबई से निर्वाचित कराया गया। यह सीट एम.आर जयकर के त्यागपत्र से रिक्त हुई थी।

लगभग अर्द्धशताब्दी तक जनता के दीर्घ संघर्ष के बाद आजादी हासिल हुई थी। जहां अम्बेडकर भावी संविधान में दलितों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए व्याकुल थे वहीं उन्हें पूरे भारत के विधि विधान को भी देखना था। यहां संक्षिप्त में संविधान सभा के गठन से पूर्व की संवैधानिक स्थिति और राजनीतिक परिदृश्य को जान लेना भी जरूरी है। साथ ही डॉ. अम्बेडकर के अनवरत प्रयासों, अंतरिम सरकार और बाद में संविधान संरचना में उनके योगदान को भी परखना है।

संविधान सभा के गठन से पूर्व की स्थिति

'भारत सरकार अधिनियम 1935' के अंतर्गत 1937 में जो चुनाव हुए उनमें भारत के 11 प्रांतों में से 8 में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बने। सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। ब्रिटिश शासन से क्षुब्ध कांग्रेस मंत्रिमंडल ने त्यागपत्र दे दिए। बंबई प्रेसीडेंसी में डॉ. अम्बेडकर और उनके दल ने सीटें जीतीं। बिहार में जगजीवन राम ने अपने **'दलित वर्ग संघ'** को कांग्रेस सहयोग से जिताया। अम्बेडकर दलित आंदोलन कई प्रांतों में फैल गया।

इधर कांग्रेस के मंत्रिमंडलों से हटने पर संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हुआ। दूसरी ओर कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य के लिए संघर्ष का रास्ता अपनाया। ब्रिटिश सरकार की नीति के अंतर्गत 1940 में गवर्नर जनरल अपनी कार्यकारिणी समिति में अधिक भारतीयों को स्थान देने और उसके विस्तार की घोषणा कर चुके थे। उन्होंने यह भी कहा कि युद्ध समाप्ति पर भारत के नए संविधान की संरचना पर विचार किया जाएगा। लेकिन किसी भी वर्ग ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। अम्बेडकर दलित संरक्षण की बात पर अड़े रहे। 1940 से 1946 तक कांग्रेस पूरी ताकत से आजादी की अंतिम लड़ाई लड़ती रही, और डॉ. अम्बेडकर दलित मुक्ति का अभियान छेड़ते रहे। उस समय मजदूर-किसान संगठित हो चुके थे। दलितों में चेतना आ गई थी। सन् 1920 से ही मजदूरों ने बड़ी-बड़ी हड़तालें कीं। किसानों ने अपने हकों और सुविधाओं के लिए संगठित होकर जमींदार और सामंतों के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया। क्रांतिकारी भी पीछे नहीं थे। कांग्रेस के भीतर समाजवादी शक्तियां पुष्ट हो गई थीं। लोहा, खान, सूती वस्त्र उद्योग के राष्ट्रीयकरण या आधुनिकीकरण की मांग तेज हो गई थी। बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। अर्थव्यवस्था के नियोजन, मजदूर कल्याण के कानून, नदी-घाटी योजनाओं, विद्युत शक्ति के उत्पादन, सिंचाई के साधनों में वृद्धि की आवाज उठने लगी थी।[1]

इस बीच हिंदू-मुस्लिम समस्या ने सांप्रदायिक रूप ग्रहण कर लिया था। उनके बीच विभेद बढ़ता गया। अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता को गहरा कर दिया था। डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि सन् 1892 से ही ब्रिटिश सरकार मुस्लिम वर्ग को बढ़ावा दे रही है, लेकिन अछूतों की लगातार उपेक्षा हो रही है। डॉ. अम्बेडकर जाति प्रथा, अस्पृश्यता, दलितों के शोषण के खिलाफ बराबर आवाज उठाते रहे। गांधी वर्ण व्यवस्था के समर्थन, अस्पृश्यता निवारण,

हरिजनों के साथ सद्व्यवहार और राष्ट्रीय आंदोलन को प्राथमिकता प्रदान करते रहे।

कांग्रेस ने अपने राष्ट्रीय चेतना, देशभक्ति और स्वराज्य के आंदोलन को जितना व्यापक किया, उससे अधिक सांप्रदायिक तत्वों ने विघटन का विष फैलाया। जिसकी परिणति भारत विभाजन में हुई।

'भारत छोड़ो आंदोलन' से केवल एक महीने पहले वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने दलितों के शिखर नेता डॉ. अम्बेडकर को अपनी कार्यसमिति में श्रम सदस्य नियुक्त कर दिया। सन् 1942 से 1946 तक डॉ0 अम्बेडकर श्रम सदस्य रहे और दलितों की आवाज को मुखरित किया।

जब सन् 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, भारत को सत्ता सौंपने का मसला उठ खड़ा हुआ। मार्च 1946 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लार्ड एटली ने ब्रिटिश मंत्रिमंडल के तीन सदस्य—लार्ड पेथिक लारेंस, सर स्टेफर्ड क्रिप्स और ए.बी. एलेग्जेंडर को भारत भेजा। इसे ही **'केबिनेट मिशन'** कहते हैं। इसका उद्देश्य भारत में राजनीतिक गतिरोध दूर करना और भारत को सत्ता सौंपना था। प्रमुख राजनीतिक दलों और वर्गों से मिलने के उपरांत, जिसमें डॉ. अम्बेडकर भी शामिल थे, मिशन ने अपने सुझावों की घोषणा कर दी। इसमें देश के भावी नए संविधान के लिए संविधान परिषद (सभा) का सुझाव, संविधान के अंतर्गत संघीय शासन की स्थापना, अंतरिम सरकार की स्थापना, संघीय सरकार के हाथ में प्रतिरक्षा, संचार साधन और वैदेशिक मामले, देशी रियासतों को स्वायत्तता आदि बातें शामिल थीं। मिशन ने पाकिस्तान की मांग को भी ठुकरा दिया।[2]

डॉ. अम्बेडकर ने **'केबिनेट मिशन'** के संकल्पों का विरोध किया। इसमें अछूतों (अनुसूचित जातियों) की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई थी। डॉ अम्बेडकर अनुसूचित जातियों को अल्पसंख्यकों का दर्जा देने की वकालत करते रहे। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि ऐसा संविधान करोड़ों दलित-अछूतों को मान्य नहीं होगा।

आजादी हासिल करने की चाहत इतनी बढ़ चुकी थी कि विश्व की परिस्थितियों और युद्धोत्तर भारत के पुनर्निर्माण को देखते हुए कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने कैबिनेट मिशन योजना को उसमें कई दोषों के होते हुए भी स्वीकार कर लिया। इससे भारत की स्वतंत्रता का पथ प्रशस्त हुआ। लेकिन भारत विभाजन सदी की महान् दुर्घटना थी।

डॉ. अम्बेडकर बंगाल से संविधान सभा के सदस्य चुनकर आए। 9 दिसंबर 1946 को उसकी प्रथम बैठक हुई। अब नए सिरे से उन्हें दलित आकंक्षाओं को पूरा करना था।

अंतरिम सरकार का गठन

"केन्द्र में अंतरिम सरकार के गठन की 24 अगस्त, 1946 को घोषणा हुई थी। जिसमें अछूतों-दलितों के एक सदस्य जगजीवन राम को कांग्रेस की ओर से शामिल किया गया था। डॉ. अम्बेडकर ने इसे दलित आंदोलन पर कुठाराघात समझा क्योंकि उन्हें आशा थी कि उन्हें अंतरिम सरकार में लिया जाएगा। वे न सिर्फ उच्चकोटि के संविधान वेत्ता और

कुशल प्रशासक थे वरन् लंबे अरसे से दलितों की जमीनी लड़ाई लड़ते आ रहे थे।

उनके लिए यह दुखद और निराशा के क्षण थे। उनकी तुरंत प्रतिक्रिया थी अनुसूचित जातियों के लिए मंत्रिमंडल में एक और स्थान होना चाहिए। नागपुर तथा अन्य स्थानों पर अनुसूचित जातियों के लोगों ने सरकार द्वारा डॉ. अम्बेडकर की उपेक्षा पर प्रदर्शन किए। **'शिड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन'** संघर्ष पर उतर आया। डॉ. अम्बेडकर ने ब्रिटिश सरकार पर दबाव बनाया। 18 मार्च 1946 को ही वे घोषित कर चुके थे कि बहुसंख्यकों के भरोसे अल्पसंख्यक वर्ग को नहीं छोड़ा जाना चाहिए। उन्हांने कहा कि अछूत इतने कमजोर नहीं कि वे ब्रिटिश सरकार और हिंदुओं के मुंह की ओर देखते रहें। अगर ब्रिटिश और भारतवासियों ने अस्पृश्यों की नहीं सुनी तो विश्व के अनेक राष्ट्र अनुसूचित जातियों की मदद करने के लिए तैयार हो जाएंगे।"[3]

"उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा...अगर ब्रिटिश सरकार और हिंदुओं ने उनके अधिकारों, उनकी स्वतंत्रता और नए संविधान में उनके भाग्य का फैसला करने से उन्हें रोका तो नग्न हिंदू राज के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण होगा।"[4]

अंतरिम सरकार की घोषणा से पूर्व 16 अगस्त, 1946 को अपने विरोध में मुस्लिम लीग ने 'सीधी कार्यवाही दिवस' के रूप में जिन्ना ने वेवेल को उत्तर दिया कि नेहरू अंतरिम सरकार के किस कारण से मुखिया बनाए जा रहे हैं। पूर्वी और पश्चिम बंगाल में हिंदू-मुस्लिम दंगे भड़क उठे। हिंदुओं ने बिहार और उत्तर प्रदेश में इसका प्रतिशोध लिया। यह भयंकर स्थिति थी।

2 सितंबर 1946 को अंतरिम सरकार ने पद भार ग्रहण किया जिसमें जगजीवन राम दलित प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित किए गए। 13 सितंबर 1946 को जिन्ना ने वायसराय को सूचित किया कि लीग अंतरिम सरकार में शामिल होने की इच्छुक हैं। लेकिन मुस्लिम लीग के अंतरिम सरकार में शामिल होने के फौरन बाद पाकिस्तान की मांग उठा दी गई। साथ ही अलग संविधान परिषद गठित करने का सवाल उठाया गया। इससे सरकार के कार्य में बाधा उत्पन्न हुई। गतिरोध बढ़ता ही चला गया। कांग्रेस सदस्यों ने इस्तीफे की धमकियां दीं। पंडित नेहरू ने कहा अगर यह सब जारी रहा तो संघर्ष अवश्यंभावी है।[5]

बहुत पहले डॉ. अम्बेडकर "दलितों के हितों की लड़ाई लड़ते हुए केबिनेट मिशन और ब्रिटिश सरकार को विस्तृत रूप में बता चुके थे कि संविधान परिषद के गठन के समय सांप्रदायिक और अल्पसंख्यकों के मामलों पर अलग से विचार-विमर्श होना आवश्यक है। इसके लिए ब्रिटेन या अमेरिका के संविधान वेत्ता की सेवाएं भी ली जानी चाहिए।

अम्बेडकर के विचार में अंतरिम सरकार के गठन और संविधान परिषद के निर्माण के समय करोड़ों अनुसूचित जातियों की जायज मांगों का गोलमेज वार्ता, कम्युनल अवार्ड, अगस्त प्रस्ताव, लार्ड एमरी और वेवेल के भाषणों में की गई घोषणाओं के संदर्भ में अवहेलना कर दी गई थी।

3 अगस्त, 1947 को मंत्रिमंडल के सदस्यों के नाम घोषित कर दिए गए। दलित

आंदोलन के इतिहास में यह दूसरा मील का पत्थर या जब स्वतंत्र भारत, का डॉ. अम्बेडकर को कानून मंत्री नियुक्त किया गया।"[6]

संविधान संरचना

संविधान परिषद के गठन के बाद कांग्रेस के शिखर-नेताओं में यह बात चिंता का विषय थी कि संविधान निर्माण कार्य कैसे संपन्न किया जाए। नेहरू का पहले विचार था कि प्रसिद्ध संविधान-विशेषज्ञ आइवर जैनिंग्स की सेवाएं ली जाएं जो एशिया के कई देशों का संविधान लिख चुके थे। गांधी ने सलाह दी कि वे ऐसे संविधान विशेषज्ञ को जानते हैं जो भारत में मौजूद हैं और वह व्यक्ति है डॉ. अम्बेडकर जो गोलमेज सम्मेलन में अपनी प्रतिभा का परिचय दे चुका है। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर को संविधान की प्रारूप समिति का अध्यक्ष चुने जाने की पृष्ठभूमि तैयार हुई। 'केबिनेट मिशन' की सिफारिश पर मूलभूत अधिकारों और अल्पसंख्यकों आदि के विषय में सरदार पटेल की अध्यक्षता में एक सलाहकार समिति गठित हुई थी जिसके डॉ. अम्बेडकर सदस्य थे। इस समिति की चार उप-समितियां भी थीं जिनमें मूलभूत अधिकारों की उपसमिति में भी डॉ. अम्बेडकर सदस्य थे। धीरे-धीरे संविधान सभा का कार्य बढ़ा। इसने तीन अन्य समितियां गठित कीं। नेहरू की अध्यक्षता में 'यूनियन पावर कमेटी' तथा 'यूनियन कन्स्टीट्यूशन समिति' गठित हुई। डॉ. अम्बेडकर 'यूनियन कन्स्ट्रीटयूशन समिति' के सदस्य बनाए गए। इसके अतिरिक्त डॉ. अम्बेडकर 'स्टियरिंग कमेटी' और 'नेशनल फ्लेग कमेटी' के भी सदस्य बन चुके थे। डॉ. अम्बेडकर के सुझाव पर ही राष्ट्रीय ध्वज में अशोक चक्र और सारनाथ का अशोक स्तंभ राष्ट्रीय चिह्न के रूप में अंगीकृत हुआ।

संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने 30 जून 1947 को बंबई के तत्कालीन मुख्यमंत्री बी.जी.खेर को पत्र लिखा कि संविधान सभा के लिखे डॉ. अम्बेडकर को निर्वाचित कराएं ताकि 14 जुलाई 1947 से शुरू होने वाले अधिवेशन में वे निर्वाचित होकर संविधान संरचना में योगदान दे सकें।

दलित-इतिहास का स्वर्णिम काल तब आया जब प्रारूप समिति ने 30 अगस्त, 1947 को उन्हें इसका अध्यक्ष चुना। कुल मिलाकर प्रारूप समिति के सात सदस्य थे—जिनमें एन. गोपाला स्वामी आयंगर, सर अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर, के एम. मुंशी, सर मुहम्मद शादुल्ला, एन.माधव मेनन एवं डी.पी. खेतान। बी.एन.राव संवैधानिक सलाहकार थे और एक प्रारंभिक प्रारूप भी उन्होंने तैयार किया था।

डॉ. अम्बेडकर संविधान सभा और संविधान संरचना से इस लिए जुड़े कि वे अनुसूचित जातियों के हितों को सुरक्षित करना चाहते थे। दलित नेता के लिए वैसे भी यह एक गौरव का विषय था।

संविधान सभा में अभिनंदन

विश्व की शोषित-सर्वहारा जनता की मुक्ति के प्रेरणा स्रोत और भारत के करोड़ों दलितों के हृदय सम्राट डॉ. भीमराव अम्बेडकर सन् 1918 से 1948 तक तीन दशक तक अपने देश के संविधान के विकास क्रम के सभी पड़ावों पर अपने देश के अधिकार वंचित अछूतों के लिए जिस एकाग्रता और तन्मयता से अपने बौद्धिक बल से लड़े वह विश्व इतिहास की एक महान् घटना हो सकती है। उन्होंने निसंदेह महात्मा गांधी से भी बढ़कर बाजी मार ली है।

अपनी ही संविधान सभा में उनकी कीर्तिध्वजा को सदस्यों ने लहराकर जिस प्रकार उनका एक मसीहा की तरह अभिनंदन किया है वह बड़ा ही अर्थवान् है।

विश्व विजेताओं की यशगाथा विजयोपरांत होती है। संवैधानिक क्षेत्र में डॉ. अम्बेडकर ने करोड़ों लोगों की जीवन शैली को प्रभावित करने वाले नए संविधान की रचना करके चमत्कारी कार्य किया जिसमें स्वतंत्र-संप्रभु भारत की आत्मा पिरो दी गई है। संविधान सभा के सदस्यों ने जिस तरह उनका अभिनंदन-वंदन किया वह सभी भारतवासियों, विशेषतया दलितों के लिए एक प्रेरक गाथा बन गया।

4 नवंबर, 1948 को संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने डॉ. अम्बेडकर द्वारा तैयार किए गए स्वतंत्र भारत के संविधान के प्रारूप पर बहस के लिए उन्हें एक बिल प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित किया। डॉ. अम्बेडकर ने अपने भाषण में संविधान दर्शन पर अनेक गंभीर और मौलिक प्रश्न उठाए। विश्व के संघीय और एकात्मक संविधानों से भारतीय संविधान की तुलना करते हुए समानताओं और असमानताओं पर भरपूर प्रकाश डाला। मौलिक अधिकार, पंचायत प्रणाली और अनुसूचित जातियों के हित संरक्षण के प्रावधान बहुत प्रभावशाली थे। जिसमें भारत के करोड़ों लोगों के जीवन में आत्मसम्मान, आत्मविश्वास और नया जीवन जीने के प्रेरक तत्त्व निहित थे। संविधान संरचना में डॉ. अम्बेडकर के साथ सदस्य के रूप में टी.टी. कृष्णामाचारी भी थे। उन्होंने प्रारूप के विषय में चल रही बहस में डॉ. अम्बेडकर की सराहना करते हुए कहा—"मैं उस परिश्रम और उत्साह को जानता हूं जिससे उन्होंने भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार किया है। संविधान सभा में सात सदस्य मनोनीत थे। उनमें से एक ने संविधान सभा से त्याग पत्र दे दिया और उस रिक्त स्थान की पूर्ति कर दी गई। एक सदस्य का देहांत हो गया। उसका स्थान नहीं भरा गया। एक अमेरिका चला गया और स्थान खाली रहा। एक अन्य सदस्य राजकीय कार्यों में व्यस्त रहा और उनका स्थान भी खाली रहा। एक या दो सदस्य दिल्ली से बाहर रहे और शायद स्वास्थ्य के कारण उपस्थित नहीं हो सके। हुआ यह कि संविधान के बनाने का भार डॉ. अम्बेडकर के कंधों पर आ पड़ा। इसमें मुझे संदेह नहीं कि जिस ढंग से उन्होंने संविधान निर्माण किया, हम उसके लिए कृतज्ञ हैं। यह निसंदेह प्रशंसनीय कार्य है।"

सैयद करीमुद्दीन ने प्रेरक प्रशंसात्मक शब्दों में कहा, "डॉ. अम्बेडकर का भाषण स्मरणीय है। मुझे यकीन है कि एक संविधान निर्माता के रूप में उनका नाम आने वाली पीढ़ियों तक बना रहेगा।"

प्रो. के. टी. शाह ने कहा, "संविधान सभा में संविधान का जो प्रारूप रखा गया है उसकी प्रारूप समिति और उसके अध्यक्ष के अभिनंदन करने वालों की पंक्ति में मैं भी हूं। मैं विशेषतया कानून मंत्री का इस महान कार्य के लिए अभिनंदन करता हूं जिन्होंने संविधान की संरचना करके बड़े सोच-विचार के साथ उसमें महत्त्वपूर्ण प्रावधान किए हैं और विचारोत्तेजक भावनाएं रखी हैं। उन्होंने यह भी निर्देशित कर दिया है कि कुछ मुद्दे क्यों शामिल किए गए हैं और कुछ अन्य विषयों को इस प्रकार क्यों रखा गया है।"

पंडित लक्ष्मीकांत मैत्रे ने कहा "डॉ. अम्बेडकर का कार्य शानदार है, संवैधानिक प्रस्तावों को एक निश्चित रूप देने में जितना समय और शक्ति उन्होंने लगाई है उसकी यह संविधान सभा प्रशंसा करती है।"

डॉ. पंजाब राव देशमुख ने कहा, "जैसा कि प्रसिद्ध है वे एक सम्मानित विधि विशेषज्ञ हैं।....उन्होंने पूरी तरह स्वीकार किया है कि प्रशासन एक दिन में नहीं बदला जाता।"

एस. नागप्पा ने कहा, "उन्होंने सभी समितियों के सभी पहलुओं पर, विभिन्न उपसमितियों की तमाम रपटों पर ध्यान देते हुए उन्हें इसमें समाहित किया है।" उन्होंने कहा कि "यह संविधान संरचना में संघीय है, लेकिन व्यवहार में एकात्मक है।" "इसे बनाने में डॉ. अम्बडेकर ने जो कष्ट उठाए हैं, उसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं।"

अरुण चन्द्र गुहा ने कहा, "...यह न केवल एक राजनैतिक ढांचे का निर्माण है, न यह केवल प्रशासनिक यंत्र है, बल्कि यह राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक भविष्य के लिए एक तंत्र है।"

टी. प्रकाशम ने कहा, "...भारतीय संविधान बनाने में जो त्याग, परिश्रम और योग्यता डॉ. अम्बेडकर ने दिखाई है वह संविधान सभा के प्रत्येक सदस्य के आकर्षण का केन्द्र बनी।"

जोसेफ ए.डी सूजा के विचार में, "...डॉ. अम्बेडकर और मसौदा समिति ने जो स्मरणीय कार्य प्रस्तुत किया यह निश्चित रूप से विशेषज्ञों का कार्य है। आदि से अंत तक यह कार्य स्वाभाविक रूप से तुलनात्मक, रचनात्मक और दक्ष रहा है।"

आर. के. सिधवा ने कहा, "...उन्होंने अपने इस महान कार्य द्वारा बाहरी दुनिया और संविधान सभा के अनेक सदस्यों को भी प्रमाणित किया है।"

जयनारायण व्यास ने कहा,. "...यह बहुत बड़ा संविधान है और इसमें बहुत सारी बातें शामिल हैं। मैं उनके इस विचार से सहमत हूं कि रजवाड़े प्रांतों के समान बड़े होने चाहिए। हम देशी रियासतों में रहने वाले लोग छोटी सीमा के कारण आर्थिक व्यवस्था के साथ न्याय नहीं कर सकते, न प्रशासन अच्छी तरह चला सकते हैं। हम डॉ. अम्बेडकर और उनके साथियों से कहेंगे कि हम लोगों को प्रांतों के अनुरूप रखने में ध्यान देना चाहिए।"

जे.जे. निकोलस राय ने कहा, "...उन्होंने और मसौदा समिति से जुड़े सदस्यों ने संविधान का प्रारूप तैयार करने का एक विस्मयकारक—चमत्कारी कार्य किया है। मैं उन्हें विशेषतया धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने आसाम के पहाड़ी जिलों में स्वायत्तशासी जिला परिषदों के निर्माण को स्वीकार किया है। जिसको संविधान की छठी सूची में 'स्वायत-शासी जिलों' की संज्ञा प्रदान की गई है।"[7]

इस प्रकार संविधान सभा के सभी प्रमुख सदस्यों ने उनकी यशोगाथा में प्रशस्ति पूर्ण शब्द कहे। इनमें से कुछ का उल्लेख ही यहां किया गया है।

एक स्थल पर सोहनलाल शास्त्री ने जिक्र किया है कि संविधान की प्रारूप समिति के एक सदस्य के.एम. मुंशी ने डॉ. अम्बेडकर से कहा कि सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित आदिम जातियों को संरक्षण देने का प्रावधान अनावश्यक है। इससे मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई समाज के लिए अपनी अपनी जनसंख्या अनुपात से नौकरियां मांगेंगे। डॉ. अम्बेडकर का जवाब था कि हिंदुओं ने अछूतों को बेबसी, दरिद्रता और अशिक्षा के गर्त में धकेला है। उनके सारे हक छीने हैं। दूसरी अन्य अल्पसंख्यक जातियां शिक्षित और धनाढ्य हैं। के.एम. मुंशी फिर भी नहीं माने। आगे बोले उन्हें सरदार पटेल ने यह आदेश दिया है। तो बाबा साहेब ने उत्तर दिया था कि "सरदार पटेल से कहिए कि वे स्वयं संविधान के मसौदे का कार्य भार संभाल लें, मुझे छुट्टी दे दें। नेहरू और गांधी ने तो अनुसूचित जातियों की मांगों को संविधान में जोड़ने का उनसे वायदा कर रखा है। यदि मेरी यह इच्छा पूरी नहीं करने दी गई तो वह संविधान सभा की मसौदा समिति के अध्यक्ष पद को छोड़ देंगे।"[8] मुंशी चुप हो गए। और पटेल कुछ नहीं कर पाए

इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर ने भारत के संविधान को दलित हितों की संरक्षा का कवच बना दिया था। जिसके लिए करोड़ो दलित उनके ऋणी रहेंगे।

संविधान की प्रस्तावना

भारत के संविधान के मुख्य उद्देश्य (प्रस्तावना) में मानवता के परिपोषक डॉ. अम्बेडकर ने निम्न शब्दों में स्पष्ट किया कि: "हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म (आस्था) और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित कराने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में संविधान को पारित करते हैं।"

इस प्रस्तावना में निहित हम उनके सामाजिक-राजनीतिक दर्शन और व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसके सामाजिक-आर्थिक विकास, समस्याओं के न्यायपूर्ण समाधान की विचारधारा की झलक स्पष्टतया देख सकते हैं। जिसके लिए वे लगभग तीन दशक तक संघर्षशील रहे।

इसीलिए 1949 में संविधान पारित होने पर उन्होंने सदस्यों को संबोधित करते हुए कहा था : "आज से हम राजनीतिक तौर पर स्वाधीन हो चुके हैं। किंतु अगर इस देश में प्रचलित आर्थिक और सामाजिक विषमता दूर नहीं हुई तो शोषित वर्ग इस संविधान की धज्जियां उड़ा देगा।"[9]

यद्यपि जगजीवन राम का संविधान की संरचना में सीधे योगदान नहीं था, लेकिन अंतरिम सरकार, स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल और उसके बाद भी लगभग 35 वर्ष तक केंद्रीय मंत्रिमंडल में बने रहे और दलित आंदोलन को दिशा प्रदान करते रहे। 1946 में जब अंतरिम सरकार बनी थी कहा जाता है डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और महात्मा गांधी की पहल पर बाबू जगजीवन राम को मंत्री पद मिला था। 3 सितंबर 1946 को सबसे कम आयु वाले 38 वर्षीय केंद्रीय मंत्री थे। 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' के तत्त्वधान में उन्होंने समूचे उत्तर भारत में दलितों को राष्ट्रीय विचार धारा से जोड़ा था। डॉ. अम्बेडकर का दलित आंदोलन संघर्षों से भरा, अधिकार छीनने वाला आंदोलन था जो दलितों के समग्र विकास और राजनीतिक सत्ता का हामी था। जबकि जगजीवन राम कांग्रेस की रीति नीति से बंधे थे। वे 1946 से 1952 तक श्रममंत्री रहे और डॉ. अम्बेडकर के समस्त अधूरे श्रम कानून विषयक और बंदरगाह के कार्यों को पूरा किया जो उन्होंनें वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य के नाते सन् 1942 से 1946 तक संपन्न किए थे।

जगजीवन राम खेतिहर मजदूरों को बिहार में संगठित कर चुके थे। वे सब भूमिहीन दलित थे। इसी प्रकार कलकत्ते में वे हड्डी मिलों, जूट कारखानों, सूती मिलों में मजदूरों की दयनीय हालत देख चुके थे जो मुनाफाखोर पूंजीपतियों के शोषण के शिकार थे। ये सब दलित शूद्र जातियों के लोग थे। यही वजह है कि वे इतने सफल और व्यवहार कुशल श्रममंत्री सिद्ध हुए। यह सब कार्य दलित आंदोलन का ही एक हिस्सा था। जब 1947 में स्वतंत्र भारत की पहली सरकार बनी तब भी उन्हें श्रम विभाग ही सौंपा गया।[10]

1947 से पूर्व जो श्रम कानून बने थे उनमें पूंजीपतियों और उद्योगपतियों का हित संरक्षण अधिक था, क्योंकि ब्रिटिश सरकार देशी औद्योगिक घरानों से अच्छे संबंध रखने के पक्ष में थी। श्रमिकों के व्यापक हित में उन्होंने 1946 से 1952 के मध्य अनेक कानून पारित कराए। यथा 1946 में इंस्ट्रियल एम्पलायमेंट (स्टेंडिंग आर्डर्स) एक्ट-1946, इंडियन ट्रेड यूनियन (अमेंडमेट) एक्ट-1946, इंडीस्ट्रयल डिस्प्यूटूस एक्ट-1947, डॉक वर्कर्स (रेगूलेशन आफ एम्पलायमेट) एक्ट, वर्कमैन्स स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट-1948, फैक्टरीज एक्ट-1948 आदि आदि।

उन्होंने बाल मजदूरों पर प्रतिबंध लगाया। भारत सरकार की नई श्रम नीति घोषित की। श्रमिकों के फंड, बोनस, चिकित्सा, आवास, मनोरंजन, फैक्टरी परिसर में कैंटीन, काम के घंटों में सुधार आदि के बारे में कानूनी आदेश पारित कराए।

ग्रामीण क्षेत्र में उन्होंने खेतिहर मजदूरों पर भी ध्यान दिया उनके लिए न्यूनतम मजदूरी तय कराई। बेगार प्रथा बंद करने का अभियान छेड़ा।

दलितों को सरकार और निजी औद्योगिक संस्थानों में समुचित रोजगार उपलब्ध कराने के लिए ठोस कार्यवाही की। एम्पलोयीज प्रॉविडेंट फंड एक्ट 1952 के जरिए मजदूर जगत में उन्होंने एक नई क्रांति ला दी। इसने मजदूरों को जरूरत पड़ने, बीमारी और वृद्धावस्था में आर्थिक बोझ सहने के लिए बड़ी राहत का कार्य किया। सर्वप्रथम इस योजना के अंतर्गत—सीमेंट, सिगरेट, इंजीनियरिंग उत्पाद, आयरन एंड स्टील, पेपर ओर टैक्सटायल जैसे 6 उद्योगों को लिया गया जहां 50 या इससे अधिक कर्मचारी कार्यरत थे। बाद में इस योजना को सभी औद्योगिक संस्थानों में लागू कर दिया गया जहां 50 से कम मजदूर लगे थे। दलित-शोषित मजदूरों के लिए इससे बड़ा लाभ पहुंचा। खान उद्योग की तरह चाय बागान के श्रमिकों की भलाई के लिए भी अनेक उपाय किए गए।

शुरू-शुरू में जगजीवन राम ने मंत्री बनने के बाद दलितों के बारे में कांग्रेस की नीतियों की आलोचना नहीं की। जैसा कि डॉ. अम्बेडकर अक्सर किया करते थे। कांग्रेस की दलितों के प्रति बेरुखी की वजह से सन् 1951 में डॉ. अम्बेडकर को मंत्रिमंडल छोड़ना पड़ा। बाद में जगजीवन राम मुखर हुए।

मंत्रिमंडल से त्यागपत्र

लखनऊ में दलितों की हिमायत करने की एवज 27 सितंबर, 1951 को डॉ. अम्बेडकर ने नेहरू मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया। वे एक निराश व्यक्ति की तरह मंत्रिमंडल से त्यागपत्र देकर अलग हुए।[11] दलित आंदोलन के लिए यह बुरी खबर और एक जबर्दस्त धक्का था। सच्चाई यह है कि कुछ दिन पहले उन्होंने लखनऊ में गोविंद बल्लभ पंत की कांग्रेसी सरकार को दलितों की उपेक्षा और उनकी प्रगति के कार्यों में उदासीनता की जमकर आलोचना की थी। इसकी खबरें वहां के पायनियर और नेशनल हेराल्ड आदि पत्रों में छपीं। पंत उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के स्तंभ माने जाते थे और नेहरू के अत्यंत करीबी थी। उन्होंने डॉ. अम्बेडकर की जो दलितों के मसीहा ही नहीं, भारत के कानून मंत्री भी थे, नेहरू से शिकायत की और मामला तूल पकड़ गया। उनसे कांग्रेस नेताओं ने सफाई में जवाब मांगा। डॉ. अम्बेडकर दलितों के लिए कुछ भी परित्याग सकते थे। अपमान और उपेक्षा सहन नहीं कर सकते थे। ऐसी परिस्थितियों में उन्हें मंत्रिमंडल छोड़ने के लिए विवश कर दिया गया। नेहरू यह भी चाहते थे कि वे स्वतंत्र रूप से दलितों की सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक दृष्टि से अपने संगठन और मंचों से लोक कार्य जा नहीं करें, न उनकी आवाज उठाएं जिससे कांग्रेस संकट में पड़ जाए, साथ ही वे क्यों न कांग्रेस में सम्मिलित हो जाए। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि नए-नए आजाद हुए मुल्क में नेहरू किसी की भी आलोचना सुनने को तैयार नहीं थे। एक-एक करके उनके विश्वस्त साथी जयप्रकाश नारायण, आचार्य कृपलानी, प्रो. रंगा, डॉ. लोहिया, आचार्य नरेन्द्र देव आदि आदि अलग होते गए।

कहां नेहरू ने दो साल पहले संविधान संरचना में उनके योगदान की प्रशंसा में

फूल बरसाते हुए कहा था : "अक्सर डॉ. अम्बेडकर को संविधान का मुख्य निर्माता कहा जा रहा है। वे अपनी तरफ से यह कह सकते हैं कि उन्होंने बड़ी सावधानी और कष्ट उठाकर संविधान बनाया। उनका बहुत महत्त्वपूर्ण और रचनात्मक योगदान था।"[12] आज नेहरु, पंत इतने महत्वपूर्ण नहीं, जितने की डॉ. अम्बेडकर हैं।

कोलंबिया विश्वविद्यालय द्वारा सम्मान

डॉ. अम्बेडकर अमेरिका में कोलंबिया विश्वविद्यालय के मेधावी छात्र रह चुके थे। यहीं उन्होंने उच्च शोध भारत के जातिवाद के घिनौने स्वरूप का अध्ययन किया था और आगे चलकर दलित नेता के रूप में विश्वविख्यात हुए। "15 जून 1952 को एक विशेष दीक्षांत समारोह में उन्हें मानद् एल. एल.डी. की उपाधि दी गई। उनकी प्रशंसा में कहा गया कि उन्हें यह उपाधि भारत के संविधान की संरचना में अभूत-पूर्व योगदान के लिए प्रदान की जाती है।" "कोलंबिया विश्वविद्यालय ने उन्हें भारत का प्रमुख नागरिक, एक महान समाजसुधारक और मानव अधिकारों का प्रतिष्ठाता कहा।"[13]

इस अवसर पर भारत के दलितों के अधिकारों के महान विजेता के रूप में "अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन भी डॉ. अम्बेडकर को सम्मानित करना चाहते थे। लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने यह कर स्वागत समारोह में भाग लेने से मना कर दिया कि वे पहले देशभक्त भारतीय हैं, कांग्रेस से उनकी अनबन है और दलितों की समस्याएं वे खुद भारत में सुलझाने के लिए समर्थ हैं। किसी विदेशी शक्ति की सहायता की अब उन्हें जरूरत नहीं।[14] ऐसा कहकर वे भारत लौट आए।

आगरा में ऐतिहासिक सम्मेलन

उत्तर भारत में आगरा मुगलों के जमाने से सत्ता का केंद्र रहा है। यह साहित्य, कला, संस्कृति और औद्योगिक दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण नगर है। भारत विभाजन पूर्व से ही आगरा अनुसूचित जातियों में जाटव बिरादरी का प्रमुख शहर है जहां लोग चर्म कला उद्योग पारंगत थे। उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ रही है। बाद में बाहर से आए लोगों ने इस उद्योग पर कब्जा जमा लिया और जो लोग जूता और चमड़े के अन्य सामान बनाते थे महाजनों, व्यापारियों, और स्टाकिस्टो के मुहताज बन गए। शुरू से ही वैचारिक रूप में आगरा के दलित समाज के लोग डॉ. अम्बेडकर के अनुयायी रहे हैं, लेकिन सवर्ण जातियों के मतों के आधिक्य के कारण अम्बेडकरवादी राजनीतिक दृष्टि से एकाध बार को छोड़ कभी भी विजय दर्ज नहीं कर पाए।

मार्च 28, 1956 को 'अम्बेडकरवादी शिडयूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' के तत्त्वावधान में हुए अनुसूचित जाति सम्मेलन में लाखों आदमी दूर-दूर से उनका भाषण सुनने आए। दलितों में उनके दर्शन की लालसा तीर्थयात्रा के समान हो चुकी थी। वे जीवित रहते

अमरता पा चुके थे। दलितों के मुक्तिदाता बन गए। अक्टूबर, 1945 में जब वे वायसराय की कार्यकारिणी के श्रम सदस्य थे तब भी आगरा आए थे और अपार जन समुदाय मुक्ति दाता के रूप में उन्हें सुनने के लिए उमड़ पड़ा था। तब मानिक चंद जाटववीर, राम नारायण यादवेन्दु और हरदेव मिस्त्री ने जो आर्य समाज और राधा-स्वामी मत से प्रभावित थे बाबा साहेब को बताया था कि आगरा के जाटवों के साथ छुआछूत का भेद नहीं किया जाता। बाबा साहेब ने कहा था कि क्या उनके अंतरजातीय विवाह होते हैं और उनकी शवयात्राओं में क्या सवर्ण हिंदू आते हैं? उन सबका उत्तर नकारात्मक था। बाबा साहेब ने भीड़ भरे सम्मेलन में बताया कि वे हिंदुओं की लच्छेदार बातों को परखें। सदियों की दासता का आकलन करें। दूसरे मत लुभावने और भ्रामक हैं।[16] लोगों को अक्ल आ गई।

सन् 1952 से 1955 तक लगातार उनके लोग पराजित होते रहे। वे स्वयं पहले आम चुनाव में अनपढ़ दूधिया कजरोलकर से पराजित हुए थे। उन्होंने सोच लिया था कि अकेले रहकर कोई भी सत्ता हाथ में नहीं आ सकती (न दलितों का भला होगा)। अपने जीवन के अंतिम चरण में डॉ. अम्बेडकर सोचने लगे थे कि दलितों की समस्याओं को जातिवादी ढांचे में नहीं सुलझाया जा सकता। इसके लिए व्यापक जनाधार की आवश्यकता होगी। दलित आंदोलन का स्वरूप भी बिगड़ चुका था। राजनीतिक सत्ता कांग्रेस और हिंदुओं में ऊँची जातियों के समर्थन से चुने गए सर्वथा नए-नए चेहरों के हाथों में सिमट गई थी। "13 अक्टूबर 1956 को उन्होंने एक भेंटवार्ता में एक नई राजनैतिक पार्टी के गठन की बात की जो अच्छी प्रकार से स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व के सिद्धांतों के अनुरूप कार्य कर सके।"[17] जिसका व्यापक लोकहित में कार्यक्रम हो।

बौद्ध धर्म दीक्षा

नई पार्टी के गठन के साथ-साथ बाबा साहेब ने बौद्ध धर्म दीक्षा का मन बना लिया था। बाबा साहेब ने अपने अनुयायियों और पूरे समाज को पहले ही बता दिया था कि वे अस्पृश्य जाति के हिंदू पैदा हुए जो उनके वश की बात नहीं थी, लेकिन वे हिंदू नहीं होंगे। काफी सोच-विचार के बाद उन्होंने हिंदू धर्म के परित्याग का मन बनाया। वह ऐतिहासिक घड़ी भी आ गई। अंततः जब बाबा साहेब ने बौद्ध धर्म की दीक्षा की तिथि और स्थान की घोषणा कर दी तो उसकी खबर भारत और पूरे विश्व में फैल गई। पूरे देश से उनके अनुसूचित जातियों के अनुयायी 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर पहुंचने के लिए उमड़ पड़े। बौद्ध दीक्षा हेतु नागपुर उन्होंने इसलिए चुना था कि यहीं सन् 1942 में उन्होंने दलित मुक्ति के लिए 'अखिल भारतीय शिडयूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' (एस.सी.एफ.) की स्थापना की थी। दलित मुक्ति के लिए बौद्ध धर्मांतर उनकी वर्षों की सोची समझी विचारधारा का प्रतिफल था। मानव धर्म के रूप में भारत ही क्या विश्वभर में आत्मसम्मान से जीने का दर्शन दिखाई दिया।

बाबा साहेब 11 अक्टूबर को ही नागपुर पहुंच गए और शाम होटल में रुके। होटल

के बाहर हजारों अनुयायी उनकी जय के नारे लगा रहे थे। 'बाबा साहेब जिंदाबाद, भगवान बुद्ध जिंदाबाद, 'करेंगे या मरेंगे,हिंदू नहीं कहलाएंगे' इन उद्घोषों से पूरा नागपुर गूंज उठा।

दादा साहब बी.के.गायकवाड़ और बाबू साहेब आवले ने अनुयायियों के समक्ष उद्घोष किया कि वे इस बात से भयभीत न हों कि धर्मांतर से उनका संरक्षण समाप्त हो जाएगा। बाबा साहेब दलितों को जो मार्ग दिखा रहे हैं वह दलित इतिहास में एक महान सामाजिक धार्मिक क्रांति है। बाबा साहेब से भी इस संबंध में चर्चा की गई थी। उनका जवाब था उन्होंने 21 साल तक धर्मांतर के प्रश्न पर विचार किया क्योंकि जातिवादी समाज व्यवस्था में समता नामक कोई चीज नहीं है। धर्मांतर से उनका भविष्य में आत्मसम्मान आंदोलन बल पकड़ेगा। उन्होंने कहा कि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं इसलिए वे अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। अब दीक्षा की तिथि में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जो उनका साथ नहीं देना चाहता वह उनका संग छोड़ दे। समय उनकी प्रतीक्षा नहीं करेगा। बाबा साहेब के इन उद्‌गारों से उपस्थित लोग धर्मांतर के लिए तैयार हो गए।"[18]

"कुशीनगर के भिक्षु भदंत चंद्रमणि ने बाबा साहेब को अंततः 14 अक्टूबर, 1956 के ऐतिहासिक अशोक विजय दशमी के दिन बौद्ध धर्म की दीक्षा प्रदान की। तत्पश्चात् बाबा साहेब ने दीक्षा भूमि नागपुर में अपने लाखों अनुयायियों को त्रिशरण एवं 22 प्रतिज्ञाओं के साथ दीक्षा प्रदान करके दलित इतिहास में एक नए अध्याय को जोड़ दिया।"[19]

इसके बाद उनके अनुयायियों में धर्मांतरण का सिलसिला चल पड़ा जो फिर कभी हाथों में रुका।

विश्व बौद्ध सम्मेलन नेपाल में भाषण

"नागपुर म्युनिसिपल कार्पोरेशन ने 15 अक्टूबर 1956 को बौद्ध धर्म में नव दीक्षित बाबा साहेब अम्बेडकर के सम्मान में अभिनंदन पत्र समर्पित किया। उन्हें सामाजिक सुधारक, दार्शनिक और उच्चकोटि का संविधानवेत्ता बताया गया। महात्मा गौतम बुद्ध की तरह उन्हें शास्ता कहा गया। अगले दिन चांदा में उन्होंने विशाल धर्मांतरण समारोह में भाग लिया।

तत्पश्चात् अम्बेडकर विश्व बौद्ध सम्मेलन में भाग लेने के लिए काठमांडू गए। इसका उद्घाटन 15 नवंबर, 1956 को नेपाल के महाराजा महेन्द्र द्वारा किया गया था। इस अवसर पर अपने भाषण में उन्होंने कहा कि बौद्ध धर्म मात्र एक धर्म ही नहीं वरन् एक महान्, सामाजिक दर्शन है। उन्होंने कहा बुद्ध निजी संपत्ति त्यागने के मामले में बाधक नहीं बनते, यदि समाज के निजी सम्पत्ति को निषेध किया जाता। उन्होंने कहा मार्क्सवाद और बौद्ध धर्म में भिन्नता है। बौद्ध तरीका ज्यादा सुरक्षित एवं तार्किक है।

दलाई लामा का स्वागत-समारोह

नेपाल से वे नई दिल्ली वापिस आए और दलाई लामा के सम्मान में आयोजित समारोह में सम्मिलित हुए। यह दो महान विभूतियों का मिलन था। दलाई लामा बहुत गद्‌गद् थे। उन्हें बहुत देर तक निहारते रहे। 4 दिसंबर को वे राज्यसभा में भी गए। उन्होंने पी.के. अत्रे और एस.एम.जोशी को प्रस्तावित 'भारतीय रिपब्लिकन पार्टी' में सम्मिलित होने के लिए पत्र लिखे। यह उनके अंतिम सार्वजनिक पत्र थे। 5 दिसंबर को यह ज्योति पुरुष गहन विचार में डूबा रहा।

महायात्रा का अंत

6 दिसंबर को श्रीमती सविता अम्बेडकर पहले की भांति सुबह जगीं। सर्वप्रथम उन्हें पता चला डॉ. अम्बेडकर नहीं रहे। वे शयनावस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए। यह 'डायबिटीकन्यूरोसिस' के कारण हुआ।''[20] डॉ.अम्बेडकर बहुत दिनों से मधुमेह से पीड़ित थे और अक्सर अस्वस्थ रहा करते थे फिर भी जीवन के अंतिम क्षणों तक दलितों का मार्गदर्शन करते रहे। अपने करोड़ों अनुयायियों को सम्मानपूर्वक जीने की प्रेरणा देने के लिए ही उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था और एक नए भारत में दलितों की स्वस्थ-रचनात्मक भूमिका के लिए भारतीय रिपब्लिकन पार्टी की संकल्पना की थी जिसे वे उदार और समाजवादी शक्तियों से व्यापक रूपमें जोड़ना चाहते थे। लेकिन उनका यह स्वप्न पूरा नहीं हो सका।

संदर्भ

1. दृष्टव्य : जैन, के.सी. : भारत का राष्ट्रीय आंदोलन और सवैधानिक विकास, जगजीवन राम : जीवन एवं व्यक्तित्व, कुबेर, डब्ल्यू. एन. : बी.आर.अम्बेडकर तथा चंद्रा एंड चंचरीक : दलित आईडेंटिटी : हिस्ट्री एंड ट्रेडीशन।
2. कुबेर, डब्ल्यू, एन. : बी.आर.अम्बेडकर
3. राजशेखरय्या ए.एम. : बी.आर.अम्बेडकर-दि क्वेस्ट फॉर सोशल जस्टिस,पृ. 142
4. केबिनेट मिशन से पत्रव्यवहार संबंधी दस्तावेज (सिद्धार्थ कालिज लायब्रेरी,मुंबई)
5. कुबेर, डब्ल्यू.एन. : बी. आर.अम्बेडकर पृ. 65
6. कुबेर, पृ. 66-67
7. अध्ययन हेतु दृष्टव्य : दि फ्रेमिंग ऑफ इंडियन कन्स्टीटयूशन : ए स्टडी (अध्यक्ष : बी. शिवाराव) पृ. 1-106; कन्स्टीटयूशन एसेम्बली डिबेट्स (लोकसभा सचिवालय); के.एल. चंचरीक : डॉ. बी.आर. अम्बेडकर-फ्रेमिंग ऑफ इंडियन कन्स्टीटयूशन, खंड 2; श्याम सिंह : संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर, पृ.15-56 (राजभाषामें उद्धरण हेतु)
8. शास्त्री, सोहनलाल, बाबा साहेब अम्बेडकर के संपर्क में पच्चीस वर्ष, पृ. 51
9. देखें भारतीय संविधान की प्रस्तावना, लोक सभा सचिवालय।
10. फोर डिकेड्स ऑफ जगजीवन राम'स् पार्लमेंटरी कैरियर : जगजीवन राम एज लेबर मिनिस्टर, पृ.102-132
11. कुबेर, पृ. 77

12. संविधान सभा वाद विवाद (संदर्भ क.ला. चंचरीक : डॉ. बी.आर.अम्बेडकर खंड 2, पृ. 111 तथा सी.ए.डी., लोकसभा सचिवालय
13. कुबेर (पृ. 94) द्वारा जैनेट राबिन : डॉ. अम्बेडकर एंड हिज मूवमेंट पृ.131 से उद्धृत
14. शास्त्री, शंकरानंद, माई मेमोरीज एंड एक्सपीरियेंसेज, पृ. 103
15. कुबेर, पृ.93
16. शास्त्री, शंकरानंद, पृ. 150-151
17. सत्यनारायण : डॉ.अम्बेडकर, पृ. 82
18. शास्त्री, शंकरानंद, पृ. 125
19. वही, पृ. 126
20. कुबेर, पृ. 90

10

डॉ. अम्बेडकर के बाद का दलित आंदोलन

अपने जीवन काल में सत्ता विहीन गांधी श्रीविहीन हो गए। उनके सभी रचनात्मक कार्यक्रम असफल और पौराणिक कर दिए गए। यहां तक कि 30 जनवरी 1948 में गांधी की मृत्यु के बाद गांधीवाद एक सरकारी कार्यक्रम बना दिया गया। उनके अनुयायी आपसी कलह, परस्पर विरोधी विचार, सत्ता मोह, परिवारवाद, धनलिप्सा चारित्रिक पतन के कारण शिखर पुरुष को खुद भूल गए और आम जनता को भी उन्हें भूलने के लिए मजबूर कर दिया। गांधीवादी संस्थान उजड़ गए। लेकिन अम्बेडकर अपनी मृत्यु के उपरांत करोड़ों लोगों के प्रेरणा-स्रोत बन गए। वे मानव से मसीहा बन गए।

दिल्ली में 6 दिसंबर, सन् 1956 में डॉ. अम्बेडकर का निर्वाण हुआ। इससे महाराष्ट्र और अन्य राज्यों में उनके अनुयायियों में निराशा के भाव जगे। लेकिन शीघ्र ही उनके लाखों अनुयायी दलित आंदोलन को जीवंत और उनके अधूरे स्वप्न को पूरा करने में जुट गए। उनकी मृत्यु के बाद दो दशक तक दलित क्रांति और दलित आंदोलन की दिशा में कई मोड़ आए तथा जिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं को दलित इतिहास में स्थान प्राप्त हुआ वे हैं—बौद्ध धर्मांतर आंदोलन, भारतीय रिपब्लिकन पार्टी की स्थापना, दलित पैंथर विचारधारा और मराठी दलित साहित्य का सृजन।

कांशीराम के बामसेफ, डी. एस. फोर और अंततः बसपा की स्थापना अम्बेडकरवाद के पुनरोत्थान के रूप में हुई। अम्बेडकर उत्तर संघर्षपूर्ण दलित क्रांति की दिशा में इनका एक महत्वपूर्ण स्थान हैं अम्बेडकर मूल्यों और दलित सत्ता की दिशा में यह एक अभिनव प्रयोग कहा जा सकता है। जिस पर अलग से विचार किया गया है।

अनेक विदेशी विद्वानों ने अम्बेडकर के क्रांतिकारी सामाजिक दर्शन और धर्मांतर द्वारा दलितों में नई क्रांति लाने का विशद अध्ययन किया है। इसे बीसवीं शताब्दी के सामाजिक इतिहास की सबसे बड़ी उपलब्धि माना गया है। अर्थात् सामाजिक परिवर्तन का ठोस आधार।

I
बौद्ध धर्मांतर

विद्वानों की स्पष्ट राय है कि युगप्रवर्त्तक बाबा साहेब अम्बेडकर द्वारा 1956 में बौद्ध धर्मदीक्षा और बौद्ध धर्मांतर दलित इतिहास में एक साहसिक, उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण कदम है। इसने उनके अनुयायियों की जीवनधारा ही मोड़ दी और यह विश्व के धार्मिक इतिहास की एक अद्‌भुत घटना है। सदियों से हिंदू समाज के पंजों में जकड़ी मानवता की मुक्ति का आंदोलन बन गया। उनके परिनिर्वाण के बाद दो दशक तक और उसके बाद भी महाराष्ट्र के महारों, उत्तर भारत के चमारों और राजस्थान के जाग्रत-शिक्षित कोलियों में बौद्ध धर्म अपनाने की होड़ सी लग गई। लेकिन धर्मांतर उन्हीं दलितों ने किया जो या तो अम्बेडकरवादी थे या हिंदू धर्म की भेदभाव भरी, सामाजिक-विषमताओं से परिपूर्ण विचारधारा के विरोधी थे। आज इस धर्मांतरण आंदोलन को शुरू हुए लगभग आधी शताब्दी बीत चुकी है।

अशोक विजयदशमी, 14 अक्टूबर, 1956 की तिथि दलित इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दिन बन गयी है। इसी दिन डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली तथा उनके लाखों अनुयायियों ने नागपुर दीक्षा भूमि में बौद्ध धर्म स्वीकार किया। निसंदेह धर्मांतर दलित मुक्ति की दिशा में एक अत्यंत साहित्यिक कदम माना गया, "दलितों में समाज सुधार का अभियान उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में ही प्रारंभ हो गया था। इस सदी के बीस वाले दशक तक 'समाज समता संघ' के माध्यम से डॉ. अम्बेडकर अछूतों पर लगे हुए धार्मिक तथा सामाजिक निषेद्यों को समाप्त करने के लिए आग्रह कर रहे थे।"[6] धर्मांतर का प्रश्न तब तक नहीं उठा था। 1933 में गोलमेज सम्मेलन के निर्णयों और दलितों के अधिकारों के लिए जब डॉ. अम्बेडकर लंदन मे थे तब उन्हें यह खबर मिली कि उनके धर्मांतरण के विषय में एक दलित महार नेता गणेश आकाजी गवई अफवाहें फैला रहे हैं। उन्होंने लंदन से लिखा, "धर्मांतरण के बारे में मैंने दो चार भाषण दिए हैं उनमें मैंने दो बातें स्पष्ट शब्दों में कही हैं। एक, मैं हिंदू धर्म में नहीं रहूंगा और दूसरी बात यह है कि मैं मुसलमान नहीं बनूंगा। फिर मैं कौन सा धर्म स्वीकार करूंगा? तो मेरा झुकाव बौद्ध धर्म की ओर है।"[7]

सन् 1933 में ही डॉ. अम्बेडकर का, "यह एक संकेत भी था और एक जबर्दस्त चेतावनी भी थी। संकेत इसका कि अब दलित छूआछूत और उससे जुड़े अत्याचारों को पहले की भांति चुपचाप सहते नहीं रहेंगे। चेतावनी यह थी कि अछूतों का अंसतोष अब सामूहिक धर्मांतर के रूप में खुले विद्रोह में भी बदल सकता था।...वे भली प्रकार जानते थे कि दलित मुक्ति में धर्मांतर तभी सहायक हो सकता है जब बड़ी संख्या में लोग धर्मांतर करें।"[8]

स्पष्टतया उन दिनों उनका कार्य क्षेत्र महाराष्ट्र (बंबई प्रेसीडेंसी) और मध्यभारत एवं बरार का महार बहुल क्षेत्र था। यद्यपि उनके अनुयायी पूरे भारत मतें फैले हुए थे।

वे समझते थे कि दलितों (महारों) को इसके लिए राजी करना पड़ेगा। महाराष्ट्र के चम्भार (चमार) मांग और अन्य दलितों में धर्मांतर के प्रति उत्साह नहीं था। इसलिए उन्होंने पहले चरण में महारों को धर्मांतर के लिए राजी किया और मई 1935 में 'बंबई इलाखा महार परिषद' के तत्त्वाधान में सम्मेलन आयोजित किया। उन्होंने इस सम्मेलन में दलित महारों में जोशीला भाषण दिया कि यदि हम सनातन धर्म से चिपके रहेंगे जिसने हमें समाज में नीचा दर्जा दिया तो दासता और गुलामी का जीवन ही जीते रहेंगे। स्वाभिमान और समता प्राप्ति के लिए हिंदू धर्म में नहीं रहना चाहिए। जब तक हम कमजोर रहेंगे अपनी मुक्ति का संघर्ष नहीं जीत सकते।[9]

डॉ. अम्बेडकर को बंबई सम्मेलन के बाद देश भर ये दलितों के बधाई संदेश आए। ये वे लोग थे जो पतनशील हिंदू धर्म से त्रस्त थे। सामाजिक विषमता, अस्पृश्यता, शोषण और जातिवाद की चक्की में पिस रहे थे। अधिकार वंचित असमानता और दासता का जीवन जी रहे थे। इसी से प्रेरित डॉ. अम्बेडकर ने अक्टूबर 1935 में देवला (अहमदनगर) सम्मेलन आयोजित किया जिसमें देश भर से 10,000 प्रतिनिधि आए। इस सम्मेलन में उन्होंने कहा कि हिंदू धर्म में रहने से उन्हें सामाजिक बहिष्कार और जाति व्यवस्था की मार झेलनी पड़ती है। इसलिए धर्मांतर का वक्त आ गया है। कोई भी निर्णय करने से पूर्व यह जांच लेना परमावश्यक है कि जो धर्म हम अपना लेंगे वह समतापूर्ण व्यवहार करेगा और समान सामाजिक दर्जा प्रदान करेगा।

उन्होंने अत्यंत भावुक शब्दों में कहा, "यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं हिंदू अछूत के रूप में जन्मा हूं। यह मेरे बस में नहीं था। किंतु यह मेरे अधिकार में अवश्य है कि मैं इन अधम और अपमानकारी हालात में जीने से इंकार कर दूं। मैं आपसे यह पक्का वादा करता हूं कि मैं हिंदू के रूप में नहीं मरूंगा।"[10]

बाबा साहेब ने जो कहा था वह दो दशक पश्चात् कर दिखाया। उनकी मृत्यु के बाद दलितों में अंतहीन धर्मांतर की प्रक्रिया तेजी से चली। इसे सामाजिक परिवर्तन के प्रतीक के रूप में लिया गया।

बौद्ध साहित्य का अध्ययन

एक स्थल पर अम्बेडकर ने लिखा है कि : "बुद्ध ने जातिप्रथा की निंदा की। जातिप्रथा उस समय वर्तमान रूप में विद्यमान नहीं थी। अंतर्जातीय भोजन और अंतर्जातीय विवाह पर निषेध नहीं था। तब व्यवहार में लचीलापन था। आज की तरह कठोरता नहीं थी। किंतु असमानता का सिद्धांत जो कि जातिप्रथा का आधार है, उस समय सुस्थापित हो गया था और इसी सिद्धांत के विरुद्ध बुद्ध ने एक निश्चयात्मक और कठोर संघर्ष छेड़ा। अन्य वर्गों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान के वह कितने कट्टर विरोधी थे और उनके विरोध के आधार कितने विश्वासोत्पादक थे, उसका परिचय उनके बहुत से संवादों से प्राप्त होता है।"[11]

उन्हीं सब बातों से प्रभावित होकर बाबा साहेब का दृढ़ विश्वास था कि बौद्ध धर्म ग्रहण करने से ही दलित मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। बाबा साहेब के अनुसार "जाति के विरोध के मामले में बुद्ध ने जो शिक्षा दी, उसी को व्यवहार में भी लाए। उन्होंने वही किया जिसे आर्यों के समाज ने करने से इंकार कर दिया था। आर्यों के समाज में शूद्र या नीच जाति का व्यक्ति कभी ब्राह्मण नहीं बन सकता था। किंतु बुद्ध ने जाति प्रथा के विरुद्ध केवल प्रचार ही नहीं किया, अपितु, शूद्र तथा नीच जाति के लोगों को भिक्षु का दर्जा दिलाया जिनका बौद्ध मत में वही दर्जा है, जो ब्राह्मणवाद में ब्राह्मण का है।"[12]

बाबा साहेब ने बुद्ध को सबसे बड़ा समाज सुधारक और तथागत बताया। जब उनके अनुयायियों ने उनसे आग्रह किया कि वे उनके नाम से 'अम्बेडकर धम्म' की स्थापना करना चाहते हैं तो उनकी आंखों से आंसू बह निकले और भरे मन से कहा, "बुद्ध से बड़ा, अंधेरे से प्रकाश में ले जाने वाला युग मनीषी पैदा ही नहीं हुआ।"

बाबा साहेब बौद्ध धर्म दीक्षा से पूर्व-बौद्ध साहित्य का मनन कर चुके थे। उन्होंने कई शोधपूर्ण लेख लिखे। यही नहीं बाबा साहेब अम्बेडकर ने त्रिपिटिक का अध्ययन किया था। उस अध्ययन से उन्होंने कुछ निष्कर्ष निकाले। यथा–(1) मुक्त समाज के लिए धर्म आवश्यक है (2) प्रत्येक धर्म अंगीकृत के योग्य नहीं (3) धर्म का संबंध जीवन के तथ्यों व वास्तविकताओं से है (4) ईश्वर को धर्म का केंद्र बनाना अनुचित है (5) आत्म मुक्ति या मोक्ष को धर्म का केंद्र बनाना ठीक नहीं है। (6) पशुबलि को धर्म का केंद्र बनाना अनुचित है (7) वास्तविकता धर्म का वास मनुष्य के हृदय में होता है, शास्त्रों में नहीं। (8) धर्म में केंद्र मनुष्य तथा नैतिकता होने चाहिए, अन्यथा धर्म एक क्रूर अंधविश्वास है (9) नैतिकता के लिए जीवन का आदर्श होना ही पर्याप्त नहीं। चूंकि ईश्वर नहीं है अतः इसे जीवन का नियम या कानून होना चाहिए। (10) धर्म का कार्य विश्व का पुनर्निर्माण करना है (11) संसार में दुख स्वार्थों के टकराव के कारण होता है, इसके लिए एकमात्र तरीका अष्टांगिक मार्ग है (12) संपति के निजी स्वामित्व से अधिकार व शक्ति एक वर्ग के हाथ में आती है, दूसरे वर्ग को दुख मिलता है (13) समाज के हित के लिए दुख निरोध इसके कारण का निरोध करके किया जाए (14) सभी मानव प्राणी समान हैं (15) मनुष्य का मापदंड इसका गुण है, जन्म नहीं (16) महत्त्वपूर्ण चीज है उच्च आदर्श, ना कि उच्चकुल में जन्म (17) सबके प्रति मैत्री व साहचर्य (18) प्रत्येक व्यक्ति को विद्या प्राप्ति का अधिकार (19) अच्छा आचरण विहीन ज्ञान खतरनाक (20) कोई भी चीज भ्रमातीत व अचूक नहीं (21) कोई वस्तु सुनिश्चित तथा अंतिम नहीं (22) प्रत्येक वस्तु कारण-कार्य संबंध के नियम के अधीन होती है (23) कोई भी वस्तु स्थायी या सनातन नहीं (24) युद्ध यदि सत्य तथा न्याय के लिए न हो तो वह अनुचित है (25) विजेता के पराजित के प्रति कर्त्तव्य होते हैं।

अम्बेडकर ने कहा 'बुद्ध का यही संक्षिप्त रूप में सिद्धांत है। यह कितना प्राचीन, परंतु कितना नवीन है। उनके उद्देश्य कितने व्यापक तथा कितने गंभीर हैं।"[13]

डॉ. अम्बेडकर के निर्वाण के बाद धर्मांतरण की गति तेज हो गई। यद्यपि महाराष्ट्र

में महार जाति में धर्मांतरण द्वारा बौद्ध (नव बौद्ध) बनने की प्रक्रिया खूब जोर शोर से फैली, दूसरी अस्पृश्य जातियों में इसका कम ही असर था। उत्तर भारत में डॉ. अम्बेडकर के अनुयायी, तथा शिक्षित वर्ग ने भी बौद्ध धर्म के महत्त्व को स्वीकार किया और धीरे-धीरे बौद्ध धर्म अपनाना शुरू कर दिया। जब नव बौद्धों को अनुसूचित जातियों जैसी समान सुविधाएं मिलना प्रारंभ हो गया तो धर्मांतर में और भी तेजी आई। अम्बेडकर युगीन दलित संघर्ष का धर्मांतर आंदोलन सामाजिक परिवर्तन की दिशा में निसंदेह एक क्रांतिकारी कदम माना जाता है।

II
भारतीय रिपब्लिकन पार्टी

डॉ. अम्बेडकर समाज सुधारक और सामाजिक क्रांति के सूत्रधार होने के साथ-साथ राजनीति वेत्ता भी थे। उनके विचार में राजनीतिक सत्ता के बिना दलितों का विकास संभव नहीं था। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए 1924 में 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' बनाई, 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' बनाया, 'समता सैनिक दल' की स्थापना की। 1936 में 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' (स्वतंत्र श्रम दल) गठित किया। आम चुनाव (1937) में उनके 'स्वतंत्र श्रम दल' ने बंबई प्रांत में विधान सभा का चुनाव लड़ा। जब वे 1942 में भारत के श्रम सदस्य बने तो उन्होंने 'अखिल भारतीय शिडयूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' (भारतीय परिगणित जाति संघ) की स्थापना की। इस तरह दलित आंदोलन के विभिन्न मोड़ों और पड़ावों पर अम्बेडकर सामाजिक राजनीतिक मंच बनाते रहे। उनके इरादे ऊंचे और पवित्र थे। यह संगठन सदियों से दलित-शोषित लोगों की आवाज उठाने के लिए संवैधानिक लड़ाई के मंच थे। एक प्रकार से उनके 'स्वतंत्र श्रम दल' (इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी) को ही 'अखिल भारतीय शिडयूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' का रूप दिया गया था। इसके प्रथम अध्यक्ष एन. शिवराज बनाए गए और स्वयं अम्बेडकर मार्गदृष्टा थे। लेकिन 1946 और स्वतंत्र भारत के प्रथम आम चुनाव (1952) में उनके 'शिडयूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' को चुनावी सफलता नहीं मिली। उसका पूर्णरूपेण सफाया हो गया और कांग्रेस की छत्रछाया में जगजीवन राम और अन्य दलित नेता दलितों के नाम पर राजनीतिक सत्ता में आ गए।[14]

इसीलए "कैबीनेट मिशन' के आगमन पर क्रिप्स ने यह टिप्पणी की कि डॉ. अम्बेडकर का संगठन स्थानीय है और बंबई और मध्य प्रांत तथा बरार तक सीमित है, कांग्रेस समर्पित संगठन व्यापक और पूरे भारत में फैला हुआ है।"[15]

अम्बेडकर का स्वप्न

"अपने जीवन काल में अम्बेडकर ने यह महसूस किया कि पुराने तरीके और दृष्टिकोण आम-जनता में बढ़ती प्रजातांत्रिक चेतना के कारण अपर्याप्त हैं। इसीलिए उन्होंने सोचा

कि नए सिद्धांतों के प्रकाश में सबका सहयोग लेना जरूरी है। लेकिन जैसा कि उनकी सोच थी, वे अपनी असामयिक मृत्यु के कारण 'भारतीय रिपब्लिकन पार्टी' (आर.पी.आई) की संस्थापना का स्वप्न पूरा होते नहीं देख सके।''[16]

डॉ. अम्बेडकर के अनुयायियों द्वारा ''भारतीय रिपब्लिकन पार्टी' की विधिवत् स्थापना सन् 1957 में हुई थी। इसका गठन 'अखिल भारतीय शिडयूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' (एस. सी.एफ.) में से किया गया था जो भारत के दलित और पिछड़े वर्ग का नेतृत्व करता था। 'एस.सी.एफ.' को 'आर.पी.आई.' में बदलकर इसे राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया गया। लेकिन इसके सर्वसर्वा महार जाति के लोग थे। इसमें जातीय लक्षण विद्यमान थे, साथ ही राजनीतिक हित और महत्वाकांक्षाएं निहित थीं। कांग्रेस से इसका गठबंधन धर्म निरपेक्ष ताकतों को सुदृढ़ करने में सफल रहा।''[7]

''यद्यपि यह अनुसूचित जातियों का दल था, लेकिन 'आर.पी.आई.' ने प्रमुखतया भूमिहीन श्रमिकों की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया, क्योंकि इसमें अधिकांश लोग अछूत जातियों के थे। इसका प्रमुख कारण स्वर्गीय गायकवाड़ का नेतृत्व है जो कि 'आर. पी.आई.' के अन्य नेताओं के मुकाबले मजदूरों के संघर्ष धूलिया, जलगांव और नासिक जिलों और नागपुर क्षेत्र के कुछ हिस्सों में आयोजित हुए। सन् 1959 में इन संघर्षों की वजह से लगभग 50,000 कार्यकर्ता जेल गए। सन् 1964 के अंत में 'आर.पी.आई.' ने एक और जबर्दस्त सत्याग्रह रेलवे लाइनों और नहरों के किनारे बेकार पड़ी हुई तथा बंजर भूमि सरकार द्वारा भूमिहीन किसानों में वितरित करने के लिए आयोजित किया। जब कांग्रेस नेतृत्व ने यह देखा कि 'आर.पी.आई.' एक शक्तिशाली संगठन के रूप में उभर रही है तो सन् 1967 के चुनावों में 'कांग्रेस–आर.पी.आई' के चुनावी-गठबंधन का निर्णय किया गया। यहीं से 'आर.पी.आई.' का पतन प्रारंभ हो गया। पार्टी राजनीति इस प्रकार उलझ गई कि एक के बाद एक दल विभाजन हुए।''[18] इस प्रकार बाबा साहेब की मृत्यु के उपरांत शोषित-दलित क्रांति का जो आह्वान था वह टूटता-बिखरता गया जब अपने स्थापना के कुछ ही दिनों में 'आर.पी.आई.' में गुटबाजी शुरू हो गई। इसमें सबसे शक्तिशाली गुट था, गायकवाड़ गुट था। जिसने महाराष्ट्र में कांग्रेस के साथ गठबंधन किया ओर उसकी ओर झुका। खोबरागड़े गुट और साथ ही साथ गायकवाड़ गुट कांग्रेस से गठबंधन करके लाभान्वित हुए। खोबरागडे लोक सभा में डिप्टी स्पीकर पद पा गए जबकि 'आर.पी.आई. ' के बहुत से महार नेता राज्य सभा और महाराष्ट विधान परिषद में कांग्रेस की मदद से सदस्य बन गए।''

यही पर 'कांग्रेस–आर.पी.आई.' पैक्ट ने आगे और भी गुल खिलाए। कुछ लोगों ने लालचवश 'आर.पी.आई.' ही छोड़ दी। इसलिए, ''जिन लोगों ने 'आर.पी.आई.' का परित्याग किया और कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की वे भी लाभान्वित हुए। एक साथ ही कांग्रेस विरोध और कांग्रेस समर्थन की दुमुंही नीति के कारण 'आर.पी.आई.' ने बहुत से राजनीतिक लाभ उठाएं जैसें कि अपने सदस्यों के लिए जिला परिषदों और अन्य चुनावी निकायों में सदस्यता तथा सरकारी विभागों और निगमों में महत्त्वपूर्ण पद हासिल कर लिए।

जबकि स्पष्टतया 'आर.पी.आई.' खुले रूप में महारों का दल रहा है, अन्य विरोधी दलों ने शेष अनुसूचित जातियों को संगठित करने के लिए कभी भी प्रयत्न नहीं किए। परिणामस्वरूप मांग, चमार तथा अन्य अनुसूचित जातियों की उपजातियां किसी भी विकल्प के अभाव में कांग्रेस की समर्थक रहीं।''[19] एक लंबे अरसे तक कोली-कोरी कांग्रेस के वोट बैंक बने रहे।

उत्तर भारत में आंधी और तूफान की तरह बाबा साहेब के दलित आंदोलन और 'आर.पी.आई.' की गतिविधियों का संचालन बौद्ध धर्म में दीक्षित और भगवतीप्रसाद मौर्य से बुद्धप्रिय मौर्य बनने वाले इस युवा नेता ने किया। वे प्रथम बार आर.पी.आई.' के टिकट पर अलीगढ़ सामान्य सीट से सन् 1962 में लोकसभा के सदस्य बने। दूसरी बार गाजियाबाद सामान्य सीट से 'आर.पी.आई.' टिकट पर सन् 1971 में संसद सदस्य चुने गए। बाद में 1972 में 'आर.पी.आई.' से त्यागपत्र देकर कांग्रेस की टिकट पर चुने गए और इंदिरा गांधी मंत्रिमंडल में राज्य कृषि मंत्री और राज्य उद्योग मंत्री बने। इस प्रकार 'आर.पी. आई.' का जिस तेजी से उत्तर भारत में ग्राफ बढ़ा था वह उतर गया। इस प्रकार दलित क्रांति का दीपक बुझ गया। पूरी तरह चमार जाति तब तक 'आर.पी.आई.' से जुड़ गई थी। उधर महाराष्ट्र में ''अम्बेडकर की मृत्यु के उपरांत बी.सी.कांबले और गायकवाड़ गुट में संघर्ष हुए जो कांबले द्वारा रचित पुस्तक 'सत्याग्रह का मूल्यांकन' से स्पष्ट है।''[20]

कुल मिलाकर अपने राजनीतिक चरित्र में 'आर.पी.आई.' एक जुझारू पार्टी रही। नेहरू की मृत्यु के बाद जब लाल बहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री बने ''गायकवाड़, खोबरागड़े और अन्य दलित नेताओं ने प्रधानमंत्री को 'आर.पी.आई.' की ओर से ज्ञापन दिया। जिसमें कहा गया (1) संसद के केंद्रीय कक्ष में डॉ. अम्बेडकर का चित्र लगाया जाए (2) जोतने वाले को जमीन दी जाए (3) भूमिहीन श्रमिकों को बेकार और बंजर भूमि दी जाए (4) पर्याप्त अनाज वितरण की व्यवस्था और बढ़ती कीमतों को रोका जाए (5) गंदी बस्तियों के निवासियों के रहने के स्थानों का विकास किया जाए (6) न्यूनतम वेतन अधिनियम, 1946 को क्रियान्वित किया जाए (7) संविधान में अनुसूचित जातियों को प्रदत्त सुविधाएं नव बौद्धों को भी प्रदान की जाए। (8) अछूतों पर अत्याचार रुक जाएं (9) अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम के अंतर्गत उन्हें पूर्ण न्याय प्रदान किया जाए (10) सन् 1970 से पूर्व अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का नौकरियों में आरक्षण पूरा किया जाए।''[21] लेकिन 'आर.पी.आई.' की यह मांगे इतनी सामान्य थीं कि देर-अबेर सरकार इन्हें पूरा कर रही थी।

इंदिरा गांधी जब प्रधानमंत्री बनीं उन्होंने अनेक दलित हित और आम जनता के लाभ के कार्य किए। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि हरिजनों को शिक्षा, रोजगार और भूमि के स्वामित्व को कार्यरूप में परिणित किया जाए। इसी क्रम में दलित नेता जगजीवन राम सन् 1972 में कांग्रेस के अध्यक्ष बने।

भारतीय राजनीति की विशेषता है कि राजनीतिक दल बनते बाद में हैं, टूटते पहले हैं। कांग्रेस, समाजवादी, साम्यवादी दलों का यह हाल हो चुका था। ''सन् 1969 में 'आर.

पी.आई.' दो भागों में विभाजित हो गई थी। मुख्य दल से बी.डी.खोबरागड़े और उनके समर्थक अलग हो गए थे। सन् 1974 में दोनों गुटों ने अपने मतभेदों को भुलाकर 15 सदस्यों की एक प्रीसीडियम नियुक्त की। अक्टूबर 1974 में नागपुर में हुए एक पार्टी सम्मेलन ने उसी प्रीसीडियम को भंग कर दिया और बी.डी. खोबरागड़े को उसका अध्यक्ष बनाया गया। तदुपरांत पुनः दो गुट बन कर उभर आए। एक खोबरागडे का, दूसरा गवई का। 'आर.पी.आई.' के नवंबर 1975 में संपन्न 7वें अखिल भारतीय सम्मेलन में गवई को दल का अध्यक्ष चुना गया।"[22]

इस प्रकार सन् 1977 से 1975 के मध्य 'आर.पी.आई.' जो दलित-अस्पृश्यों भूमिहीन श्रमिकों, छोटे कृषकों, पिछड़ी जातियों का अखिल भारतीय स्तर का राजनीतिक दल बन कर उभरा, महाराष्ट्र में ही नहीं पूरे भारत की दलित जातियां इससे जुड़ीं वह अपनी आंतरिक गुटबंदी में फंस कर रह गया। जिससे अम्बेडकर आंदोलन को धक्का पहुंचा।

"...डॉ. अम्बेडकर के बाद का दलित नेतृत्व आपस में गुत्थम गुत्था होता रहा। उसने डॉ. अम्बेडकर का नाम तो बहुत लिया, परंतु सत्ता, सम्मान और संपत्ति के छोटे से हिस्सों के लिए वह सत्ता-प्रतिष्ठान से चिपकने में ही जुटा रहा।"[23] 'आर.पी.आई.' का वर्षों यही हाल रहा। यही नहीं वह एक जाति विशेष और क्षेत्रीय पार्टी बनकर रह गई।

यह भी कहा जाता है कि दलितों में भी अगड़ी जातियां बन गई हैं। कुछ दलित नेता राजनीतिक-गठबंधन करके चुनावी लाभों के जरिए अपनी हैसियत बढ़ाने में लगे हैं और उन्हें अम्बेडकर या अन्य किसी रचनात्मक दलित नेता की कार्य संस्कृति और विचारधारा से कुछ लेना देना नहीं। ये ऐतिहासिक भूलें आम-पिसती हुई सदियों से अस्पृश्यता झेलती दलित जनता की तकलीफों का कारण बनती है। इससे दलित एकता और दलित आंदोलन कमजोर पड़ता है।

"दलित आंदोलन में सक्रिय अनेक सामाजिक राजनीतिक कार्यकर्ताओं का मत है कि सामाजिक समता की दिशा में परिवर्तन की प्रक्रिया अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं रही है। आज समय सिर्फ यह नहीं है कि अनुसूचित जातियों की उन्नति की रफ्तार बहुत धीमी है। दलितों की कई समस्याओं और उनके भविष्य को लेकर चिंता का मूल कारण उनके प्रति फैला हुआ पूर्वाग्रह है। यह पूर्वाग्रह दलितों के विरुद्ध हिंसा और बर्बरता के रूप में जब-तब प्रकट होता रहता है। उसके मूल में दलितों की उन्नति और गतिशीलता के प्रतिरोध की भावना रहती है।"[24] आजन्म अम्बेडकर, गांधी और कांग्रेस से टक्कर लेते रहे, वे कांग्रेस को ऊंची जातियों का दल मानते उसके प्रखर आलोचक रहे, उपेक्षित जीवन जीया, अब रिपब्लिकन कांग्रेस की गोद में बैठने में गौरव समझते हैं।

दलित पैंथर

अमेरिका में बसे नीग्रो युवकों ने 'ब्लैक पैंथर' नाम से गोरों की नस्ल, रंगभेद नीति के

खिलाफ क्रांतिकारी संगठन बनाया था। "दलित साहित्यकारों को साहित्य लिखने की प्रेरणाएं प्रमुखतया नीग्रो साहित्य से प्राप्त हुई। नीग्रो लोगों को भी इसी प्रकार की सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ा।" (सदा कन्हाड़े, पृ. 118)

उसी तर्ज पर महाराष्ट्र के प्रगतिशील विचारधारा के दलित युवकों ने तथाकथित अम्बेडकरवादी नेताओं की आपधापी, स्वार्थपरक नीतियों, दोहरे-दोगले चरित्र से ऊबकर 'दलित पैंथर' संगठन बनाया जो एक सुगठित सामाजिक संगठन के समरूप वैचारिक-साहित्यिक आंदोलन बन गया। उन्होंने 'दलित' शब्द की व्यापक व्याख्या की जिसमें धर्म और जाति को गौण मानते हुए तमाम शोषित और संत्रस्त लोगों को दलित माना जाए। 'आर.पी.आई.' में नित्य के विभाजन और गुटबाजी ने दलितों की युवापीढ़ी को निराश कर दिया था। इनकी दृष्टि में दरअसल रिपब्लिकन नेता अम्बेडकर के विचारों से कोसों दूर राजनीतिक हित साधने में ज्यादा दिलचस्पी लेते थे और आकर्षण नारों और प्रस्तावों से दलितों को भ्रमित करते थे।

'आर.पी.आई.' दलितों पर अत्याचार, बर्बरतापूर्ण अमानुषिक कृत्यों को रोकने में सर्वथा असफल हो गई थी। जबकि युवापीढ़ी के दलित पैंथर इससे आहत थे। सामाजिक परिवर्तन के लिए आंदोलन के पक्षधर थे। दलित पैंथरों ने कहा वे धार्मिक कट्टरता से लड़ेंगे और शोषित सर्वहारा लोगों के अधिकारों के लिए संघर्ष करेंगे।

दलित-पैंथरों के विचार में सांप्रदायिक तत्त्व, जातिवादी संस्थाएं, सामंत, पूंजीपति, दलित-शोषितों को गुलाम बनाए रखने में प्रगतिशील वैचारिक आंदोलन को आगे बढ़ने देना नहीं चाहते। साथ ही वे 'आर.पी.आई.' की कार्यसंस्कृति से अप्रसन्न थे। दलित-पैंथरों की दृष्टि में हिंदू पार्टियां और संगठन 'आर.एस.एस.', 'शिवसेना', 'हिंदू महासभा' आदि प्रतिक्रियावदी संगठन थे जो 'दलित पैंथर आंदोलन' के विरुद्ध थे। आदमी को गुलाम बनाए रखना चाहते थे। दलित पैंथर राजनीतिक दृष्टि से जागरूक, वैचारिक दृष्टि से सामर्थ्यवान जुझारू और हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध वैचारिक क्रांति का वातावरण बनाने के लिए कृतसंकल्प रचनाधर्मी थे।

दलित पैंथरों को 'आर.पी.आई.' ने कभी प्रमुखता नहीं दी। उनकी सर्वथा उपेक्षा की जबकि इसमें बुद्धिजीवी प्रगतिशील विचारधारा के युवक थे।

दलित पैंथरों ने संकीर्ण और कट्टरवादी हिंदू परंपराओं के विरुद्ध मोर्चा खोला तथा लोगों की रोटी, कपड़ा और मकान की ज्वलंत समस्याओं को मुखर करने का व्रत लिया।

" 'दलित पैंथर आंदोलन' मराठी में साहित्यिक पत्रिकाओं के माध्यम से प्रारंभ हुआ जिसने वर्तमान व्यवस्था का विरोध किया और मराठी साहित्य में प्रगतिशील वामपंथी विचार धारा का प्रतिपादन किया। यह वैचारिक आंदोलन, नासिक, बंबई और पुणे आदि स्थानों पर फैला जिन्हें 'आर.पी.आई.' का गढ़ माना जाता था। यही नहीं दलित पैंथरों ने 'आर.पी. आई.' के नेताओं और अनुसूचित जातियों के नेतृत्व की नीतियों के विरुद्ध प्रदर्शन भी किए।"

"यह भी देखा गया कि पश्चिम बंगाल, केरल और आंध प्रदेश जहां साम्यवादी आंदोलन में दृढ़ता है वहां अनुसूचित जातियों का संघर्ष एक व्यापक वर्ग-संघर्ष के रूप

में उभरा है।''

''महाराष्ट्र में अनुसूचित जातियों की जितनी जनसंख्या है उसमें सभी उपजातियों के मुकाबले अकेले महार 35 प्रतिशत हैं। साधारणतया **'दलित पैंथर आंदोलन'** महार वैचारिक आंदोलन ही कहा जा सकता है। यद्यपि डॉ. अम्बेडकर ने अनुसूचित-दलित जातियों के नेता के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित की लेकिन महाराष्ट्र में उनका प्रभाव महारों तक सीमित था। उनका बौद्ध धर्म अपनाने का आह्वान भी महारों तक सीमित रहा। महाराष्ट्र में इसीलिए 'महार' और 'बौद्ध' पर्यायवाची बन गए हैं। वहां महार-मांग और महार-चम्भार वैमनस्य में वृद्धि हुई है क्योंकि महारों ने अपने राजनीतिक संगठन की वजह से सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों को प्रदत्त सभी सुविधाएं अकेले ही उठाई हैं।''

'दलित पैंथर' बंबई और पुणे जैसे शहरों में प्रभावी रहे जहां महारों की अधिक जनसंख्या है। उन्होंने ऐसा माहौल बनाया है कि दलित पैंथर एक राजनीतिक ताकत है जो वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहती है। अक्सर आरोप लगाया जाता है कि ''उनके राजनीतिक उद्देश्य जैसा कि उनके घोषणा पत्र में हैं तब तक पूरे नहीं हो सकते जब तक कि वे अनुसूचित जातियों के दल के रूप में रहते हैं।'' दलित पैंथरों की क्रांतिकारी विचारधारा से त्रस्त 'आर.पी.आई.' के विभिन्न गुटों ने एकता स्थापित करने की कोशिश की है। 'आर.पी.आई.' के प्रमुख नेता शांताबाई दानी और आर.एस. गवई ने अपनी जनसभाओं में यहां तक कहा कि 'दलित पैंथर' जहां भी मिलें उन्हें समाप्त करो। महाराष्ट्र की अनुसूचित जातियों के कांग्रेस विधायक तथा गैर-महार इन्हें 'आर.पी.आई.' के लिए सिरदर्द मानते हैं।'' हिंदी जगत में दलित पैंथरों की रचनाओं का व्यापक स्वागत हुआ है। दलित साहित्य के अब संदर्भ भी दिए जाते हैं।

दलित पैंथर घोषणापत्र

दलित पैंथर घोषणापत्र की प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं : ''हम आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में नियंत्रण कर्त्ता की हैसियत का प्राधान्य चाहते हैं...हम ब्राह्मणों के मध्य नहीं रहना चाहते। हम पूरे भारत पर शासन के पक्षधर हैं। मात्र हृदय परिवर्तन अथवा उदार शिक्षा अन्याय और शोषण को समाप्त नहीं कर सकते। हम क्रांतिशील जनता को जागृत करेंगे और उन्हें संगठित करेंगे। क्रांति की लौ इस विशाल जनता को संघर्ष द्वारा फूटेगी। कोई भी समाज-व्यवस्था मात्र रियायतों की मांग, चुनाव और सत्यागह के जरिए नहीं बदली जा सकती। सामाजिक क्रांति के हमारे क्रांतिधर्मा विचार एक भावभूमि का निर्माण करेंगे। आदमियों के मस्तिष्क में पनपेंगे और अंततः जन्म लेंगे ठीक गर्म जलती भूमि की तरह।''

दलित पैंथर घोषणापत्र में आगे कहा गयाः ''...अम्बेडकर ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में यह महसूस किया था कि राजनीति के जातिवादी ढांचे की सीमाएं हैं और निरर्थकता भी है। इसी से प्रेरित होकर उन्होंने 'शिड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' को खत्म करके 'आर.

पी.आई.' का गठन करना पड़ा।"

"..दलित पैंथर रिपब्लिकन पार्टी के नेतृत्व की सौदेबाजी के खिलाफ एक विद्रोह है। अनुसूचित जातियां, जनजातियां, भूमिहीन श्रमिक, गरीब किसान हमारे मित्र हैं...वे सब लोग जो राजनीतिक ओर आर्थिक शोषण के शिकार हैं, वे सभी हमारे मित्र हैं। जमींदार, पूंजीपति और उनके दलाल हमारे दुश्मन हैं।"

"घोषणा पत्र बौद्ध धर्म को दलितों के सभी दुखों के निवारण का माध्यम स्वीकार नहीं करता। यह आंदोलन मानता है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के ढांचे के अंतर्गत अनुसूचित जाति के आम लोगों की समस्याओं का निराकरण नहीं हो सकता।"

दलित पैंथरों के "इस संगठन में दो प्रमुख बिंदु हैं : प्रथम यह कि दलित (शोषित) शब्द को यह व्यापक अर्थ में लेता है। इसमें उसका साम्यवादी आधार दृष्टिगोचर होता है। दूसरे वर्ग के इस बात का भय है कि अगर यह आंदोलन पहली सोच का अनुगमन करता है तो वह अपना अलग अस्तित्व (पहचान) खो देगा जैसा कि भारत में अन्य क्रांतिकारी आंदोलनों के साथ हुआ है। इसने वर्तमान संसदीय संस्थाओं और कार्य प्रणालियों का निषेध कर दिया है। इसके विचार में 'आर.पी.आई.' शासक कुलीन वर्ग के नारों को दुहरा रही है।"

घोषणा पत्र ने "जहां दलित जागरूक और प्रगतिशील आम युवा पीढ़ी में हलचल पैदा की, समाजवादी, साम्यवादी, प्रगतिशील लेखकों-विचारकों को झकझोर दिया। दलित पैंथरों में इसे सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज माना गया। उसकी मान्यताओं ने 'आर.पी.आई.' के चरित्र को जगजाहिर कर दिया।"

जैसा कि घोषणापत्र में आगे घोषित किया गया कि "दलितों पर अत्याचार करने में मुस्लिम काल या ब्रिटिशकाल के मुकाबले आज का हिंदू सामंती शासन सौ गुना घातक हो सकता है। इसका यह कारण है कि हिंदू सामंती शासन के हाथों में उत्पादन, नौकरशाही, न्यायपलिका, फौज और पुलिस बल सभी कुछ तो है।"[25]

दलित पैंथर विचार धारा ने यद्यपि 'आर.पी.आई.' नेतृत्व की वर्षों तक नींद उड़ा दी लेकिन बड़बोले चतुर राजनीतिज्ञों के व्यापक प्रचार तंत्र को देखते हुए यह बौद्धिक अभ्यास एक क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन का दर्शन बन कर रह गया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रचित मराठी दलित साहित्य का प्रारंभिक स्वरूप फुले की रचनाओं में देखा जा सकता है। "समय-समय पर फुले ने अपने विचार अपने लेखों, भाषणों और रचनाओं के माध्यम से प्रकट किए जिनसे पता चलता है कि वह क्रांतिकारी, प्रगतिशील विचारों के महापुरुष थे। उनकी रचनाओं के कई संग्रह आज मराठी, अंग्रेजी, हिंदी आदि भाषाओं में सुलभता से प्राप्त हैं।"[1]

"तात्या ने मराठी में जाति व्यवस्था के विरुद्ध 'जातिभेद विवेक सार' पुस्तक की रचना की जो 1861 में छपी थी। इसमें ज्योतिषा के विचारों की स्पष्ट झलक थी। इसके प्रकाशक वासुदेव बाबाजी नौरंगे थे।...इस क्रांतिकारी पुस्तक में पुरोहितवाद की धज्जियां उड़ाई गई थीं। इस वर्ग द्वारा धार्मिक नीतियों, रीति रिवाजों, परंपराओं और मान्यताओं

के नाम पर अंधविश्वास फैलाने तथा जाति व्यवस्था को धार्मिक से देने के विरुद्ध तर्कपूर्ण विचार प्रकट किए गए थे।''[2]

''फुले ने मराठी में एक पद्यात्मक पुस्तक 'ब्राह्मणां चे कसब' की रचना की। इसमें पुरोहितों द्वारा धर्म और देवताओं के नाम पर अनपढ़-अशिक्षित (दलित) जनता को दिग्भ्रमित किए जाने के विरुद्ध गेय पद थे।''[3]

''उनकी वीरस से ओतप्रोत पुस्तक 'शिवाजी-चा-पोवाड़ा' काफी लोकप्रिय हुई। एक अन्य कृति रोचक यात्रा 'आसूड़' में उनके प्रगतिशील निबंध थे। 'इशारा' का प्रकाशन 1885 में हुआ। इसी वर्ष 'सतसार' पत्रिका का प्रकाशन किया जिसमें उनके प्रगतिशील-क्रांतिकारी लेख छपते थे। 'सत्यशोधक समाज' की इसमें गतिविधियां प्रकाशित होती थीं। दलित-आंदोलन को इन रचनाओं से बड़ा बल मिला। एक अन्य पुस्तिका 'कैफियत' में उन्हांने अस्पृश्यों की दयनीयता के बारे में विस्तार से लिखा। इसमें दो कल्पित पात्र महार और मांग जाति के थे जो महारानी विक्टोरिया की गाड़ी रोककर उनके गांव-बस्ती के निरीक्षण के लिए प्रार्थना करते हैं जो गुलामों की बस्तियां जैसे थे। कैफियत में उन्होंने दलित दासता का चित्रण किया। अपनी एक 'पद्य रचना में, ज्योतिबा में स्पष्टतः लिखा कि रूढ़िवादियों के नागपाश से इस्लाम ने ही शूद्रों को मुक्ति संग्राम की प्रेरणा दी और स्वतंत्रता के लिए जूझने का मंत्र दिया। कौन नहीं जानता कि अस्पृश्यता और ऊंच-नीच की भावनाओं के कारण ही यह विशाल देश दासता की जंजीरों में जकड़ा रहता है। विरादरीवाद और जातीय सोपनों ने इसे कितना कमजोर बनाया है।''[4]

फुले के ये साहित्यिक लेख, भाषण, पद्य रचनाएं दलित क्रांति का आधार और दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत बनीं।

इसी प्रकार गोपाल बाबा बलंगकर (1888) को डॉ. अम्बेडकर ने सर्वप्रथम दलित कवि कहा।

यह एक वास्तविकता है कि ''अम्बेडकरोत्तर काल में 'आर.पी.आई.' की स्थापना और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप 'दलित-पैंथर आंदोलन' बड़ी ऐतिहासिक घटना हैं। सन् 1957 में 'अखिल भारतीय परिगणित जाति संघ' (आल इंडिया शिडयूल्ड कास्ट्स फेडरेशन) में से 'आर.पी.आर.ई.' का जन्म हुआ और यह शीघ्र ही गुटबंदियों के कारण विभक्त हो गई। दलित पैंथरों के विचार क्रांतिकारी थे और उन्होंने 'आर.पी.आई.' की कार्यशैली पर रोष प्रकट किया। इसकी विचारधारा मार्क्सवादी थी। दलित पैंथरों के विचार में हिंदू सामंती व्यवस्था के हाथों में उत्पादन, नौकरशाही, न्याय व्यवस्था, सेना और पुलिस बल दलितों के शोषण और अत्याचार के लिए केंद्रित थे क्योंकि शक्ति के स्रोत ब्राह्मणी-सामंती हाथों में थे इसीलिए दलितों को गुलाम की तरह समझा गया।

महाराष्ट्र के दलित साहित्यिक नवजागरण ने भारत और विश्व के साहित्यिकों को आकर्षित किया है। यह वास्तव में एक नई साहित्यिक लहर है। दलित कविता ओर दलित आत्मवृत्तात्मक साहित्य यथार्थ के अत्यंत निकट हैं।''[5]

मराठी दलित साहित्य

दलित पैंथरों की रचनाधर्मिता स्वीकार करती है कि वर्ग-संघर्ष पूर्ण आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था में उत्पादन साधनों का स्वामी पूरा समाज नहीं केवल सामंती प्रवृत्ति के पूंजीपति होते हैं। आर्थिक सत्ता समाज को पूर्ण रूपेण विभाजित करती है। वह समाज में श्रेणियां और अराजकता जैसा वातावरण पैदा करती है। पूंजीवाद के विकास से पहले शिल्पी और किसान उत्पादन के स्वामी थे। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने उन्हें विभाजित किया। छोटी-छोटी जातियों में श्रेणीबद्ध किया। उन पर शासन करने के लिए संहिताओं का निर्माण किया। अपने विचारों को धर्म से जोड़ा। वैश्य आर्थिक जगत के नेता बने और ब्राह्मण-क्षत्रियों से जा मिले। तीनों ने शूद्रों-दलितों का दोहन किया। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में दलित पैंथरों ने इतिहास से सबक लेकर जाति व्यवस्था, सामंती-पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति आक्रोश प्रकट किया। ग्रामीण परिवेश और शहरी वातावरण में फली-फूली जाति की नग्नता, सामंती मनोवृत्ति का पर्दाफाश करने की कोशिश की। इसकी ऊर्जा उन्होंने डॉ. अम्बेडकर से ग्रहण की और ब्राह्मणी संस्कृति, सामंती समाज व्यवस्था और पूंजीवादी अर्थतंत्र से जकड़े हुए समाज की दुर्दशा को शब्दबद्ध करने का प्रयास किया। यह मार्क्सवाद से प्रभावित तथाकथित प्रगतिशील और यथार्थवादी रचनाकारों से सर्वथा अलग बहिष्कृत, तिरस्कृत, शोषित, दलित वर्ग के सृजनशील प्रवृतियों के कलमकारों की दर्द और टीस से भरी आवाज है।

इस प्रकार उत्तर कालीन अम्बेडकर आंदोलन या दलित क्रांति की दिशा में मराठी दलित-साहित्य का सृजन स्वांतत्र्योत्तर मराठी साहित्य में ही नहीं वरन समूचे दलित आंदोलन की भावधारा में एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक घटना है। यद्यपि दलित पैंथर आंदोलन महाराष्ट्र में फला-फूला लेकिन उसने भारतीय समाज और विदेशी अध्येताओं को भी आकर्षित किया। दलित साहित्य ने रूढ़ मान्यताओं और संकल्पनाओं को उखाड़ फेंका है। व्यापक सामाजिक-परिवर्तन, नए समाज के निर्माण के साथ-साथ विषमताओं पर प्रहार किया है। दलितों की सामाजिक व्यथा को अभिव्यक्ति देकर नवीन सैद्धांतिक और संकल्पनात्मक मानदंड स्थापित किए हैं। परांजपे के कथनानुसार : "1960 में अनियतिकालिक लघु पत्रिका आंदोलन के माध्यम से प्रस्थापित प्रतिष्ठित साहित्यिकों के घेरे में बाहर के युवाओं की आवाज प्रस्फुटित हुई ये युवा जन स्वावलंबन में विश्वास करते थे। स्वयं लिखते, स्वयं छपते और समविचारवान पाठकों में स्वयं ही अपने विचारों को प्रचारित-प्रसारित करते थे। राजा ढाले और नामदेव ढसाल जैसे अनियतकालीन आंदोलन के अनुभवी युवकों ने 'दलित पैंथर' की स्थापना की। सामाजिक जागरण के लिए मात्र साहित्यिक प्रयत्न अधूरे लगे। सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर भी कार्यशीलता को स्वीकार किया गया।"[26]

डॉ. अम्बेडकर के दलित आंदोलन, दलित मुक्ति संग्राम से प्रभावित महाराष्ट्र के अस्पृश्य जाति की अपनी सृजनशीलता से प्रगतिशील युवा पीढ़ी ने मराठी साहित्य में नई जगह बनाई। 'दलित साहित्य-एक चिंतन' लेख में गो. मं. कुलकर्णी ने लिखा :

"लगभग डेढ़ सौ वर्षों की पराधीनता के बाद 1947 में देश का स्वतंत्र होना महत्त्वपूर्ण

घटना है लेकिन स्वतंत्र भारत में जनतंत्रात्मक संविधान का बनना और उसके माध्यम से भारतीय समाज के सभी स्तरों के लोगों को तत्त्वतः समान मान कर अधिकार और अवसर प्रदान किया जाना उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अनेक शताब्दियों से दीन-हीन जीवन जीने वाले दलित समाज की दृष्टि से तो इस घटना का विशेष महत्त्व था। दलित साहित्य की रचना इसी घटना का परिणाम है। इस साहित्य की प्रेरणाओं-प्रवृत्तियों के मूल में अनेक राजनीतिक, सांस्कृतिक तत्त्व हैं। इस साहित्य की मीमांसा करते समय इन सभी संदर्भों पर विचार किया जाना चाहिए। दलित साहित्य गत वर्षों से ही अस्तित्व में आया है। किंतु उसने मराठी साहित्य में कई प्रकार के तूफानों को जन्म दिया। इन तूफानों में से मराठी के साहित्य-चिंतन को समाज-सापेक्ष दिशा प्राप्त होने की संभावना उभरकर आई।

दलित (अस्पृश्य) समस्या का स्वरूप वैसे अखिल भारतीय है किंतु दलित साहित्य के आंदोलन ने विशेषतः महाराष्ट्र में जोर पकड़ा। इसका कारण है—महाराष्ट्र की विशिष्ट सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और परंपरा। फुले और अम्बेडकर—दलित बोध की दो प्रबल धाराएं थीं और इनका उद्‌गम महाराष्ट्र में हुआ था। फुले की तुलना में डॉ. अम्बेडकर के दलित-विषयक कार्य को बहुत अधिक अनुकूल पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी। अखिल भारतीय ख्याति के नेता होने के बावजूद डॉ. अम्बेडकर का मुख्य और मूल कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र ही था। वे सभी अम्बेडकर प्रवर्तित उच्च शिक्षा संस्थान जिनसे आज की युवा दलित पीढ़ी आगे आई है, महाराष्ट्र में ही स्थित है। दलित समाचारपत्रों का प्रकाशन भी मुख्यतः महाराष्ट्र में ही हुआ। सुशिक्षित महार पलटन में भी बहुसंख्यक महाराष्ट्रीय ही थे। इसी कारण अम्बेडकर के आंदोलन की भावना और विचार की उष्ण हवा के झोंके सतत महाराष्ट्र में ही बहते रहे। मुंबई, नागपुर तथा औरंगाबाद इस आंदोलन के प्रमुख केंद्र बन गए।

यद्यपि दलित साहित्यकार अपनी परंपरा बताते समय बुद्ध-कबीर-फुले-अम्बेडकर का उल्लेख करता है लेकिन दलित साहित्य के वास्तविक प्रेरणा स्रोत एवं अधिष्ठाता डॉ. अम्बेडकर ही हैं। दलित साहित्य में अम्बेडकर के विचारों एवं व्यक्तित्व की ध्वनि-प्रतिध्वनि निरंतर सुनाई देती है। प्रायः सभी दलित लेखकों ने अम्बेडकर को वंदना-पुष्प समर्पित किए हैं लेकिन दलित साहित्य अम्बेडकर के निधन के बाद ही समृद्ध हुआ। अम्बेडकरोत्तर युग में दलित आंदोलन को उनके जैसा नेता प्राप्त नहीं हो सका। बाद के दलित नेताओं में सत्ता-स्पर्धा के राजनीतिक कारणों से फूट और कलह होने के कारण दलित-आंदोलन संगठित नहीं रह सका।''[27]

''स्वातंत्र्योत्तर युग में सभी क्षेत्रों में विविध कारणों से व्याप्त निराशा का प्रभाव मराठी साहित्य पर भी पड़ा। इसी निराशा में से मराठी में लघु पत्रिकाओं की एक लहर पैदा हुई। इन पत्रिकाओं ने समाज के अधःपतन, मूल्यभ्रष्टता एवं आपाधापी का उग्र कठोर यथार्थवादी चित्रण किया। ध्येयाकांक्षी, संवेदनशील शहरी दलित युवक सहज ही इस उपक्रम में शामिल हुआ। वह मन की मौन वेदनाओं को मुक्त रीति से विस्फोटक शब्दों में व्यक्त करने लगा। अपने मन के सुप्त रोष-क्रोध को अभिव्यक्त करने का एक नया माध्यम सुशिक्षित दलित युवकों के हाथ आया। इसीलिए इन पत्रिकाओं का दलित-साहित्य के

आंदोलन में विशेष महत्त्व है। आंदोलन के प्रारंभिक काल में इन्होंने अभिव्यक्ति के लिए एक मंच प्रदान किया।

लघुपत्रिकाओं की यह लहर कालांतर में धीमी पड़ गई लेकिन दलित साहित्य में ज्वार आने लगा क्योंकि स्पृश्य और अस्पृश्य युवकों के क्रोध के बीज ही मूलतः भिन्न एवं परस्पर विरोधी हैं। स्पृश्य युवापीढ़ी की व्यथाओं का स्वरूप व्यक्ति केंद्रित है। उसे विशिष्ट विचारधारा अथवा जीवनदृष्टि का समर्थन प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि इन युवकों का लेखन दिशाहीन अंधेरे के खड़े-आड़े चित्र अंकित करने के बाद अवरुद्ध हो गया। दलित युवकों के लेखन के संदर्भ में स्थिति एकदम भिन्न है। उनके क्रोध के कुछ स्रोत अदलित युवकों के समान होते हुए भी उनकी श्रेणी एक नहीं थी। दलित युवकों की पूर्ववर्ती पीढ़ियों को जो शापित जीवन जीना पड़ा उसने कहीं हलके-से भी स्पृश्य युवकों को नहीं छुआ था। सामान्यतः ये स्पृश्य युवक सांस्कृतिक दृष्टि से प्रतिष्ठित समाज से आए थे। सुशिक्षित दलित युवकों के व्यथापूर्ण अनुभवों का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है और उनका एक व्यापक सामाजिक आधार भी है। अन्याय को दूर करने की वैचारिक भूमिका अम्बेडकर प्रणीत शिक्षा से तैयार हुई है।''[28]

कुलकर्णी ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा :

''दलित विशेषण वस्तुतः समाज के सबसे निचले स्तर के संपूर्ण उपेक्षित जनसमूह पर लागू होता है। समाज के अधःस्तर में रहने वाले सभी व्यक्तियों की वेदना-व्यवथाओं से निर्मित होने वाले साहित्य को व्यापक अर्थ में 'दलित साहित्य' माना जाना चाहिए; किंतु आज चातुर्वर्ण्य-विरोधी विद्रोहात्मक अथवा दलितों के द्वारा दलितों के संबंध में लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य माना जाता है। इस परिभाषा के अनुसार आज तक अदलितों द्वारा दलितों पर लिखा गया साहित्य अदलित हो जाता है। दलित जीवन और उसके अनुभवों से एकरूप होने वाले नारायण सुर्वे जैसे कवि की गणना भी इस परिभाषा की दृष्टि से 'दलित कवियों' में नहीं होती है। ग्रामीण अथवा शहरी श्रमजीवी वर्ग का सारा साहित्य भी दलित साहित्य के दालान के बाहर ही रखा रह जाता है।

एक ओर तो यह साहित्य सभी क्षेत्रों में दलितत्व का निर्मूलन करने के लिए कटिबद्ध है और दूसरी ओर अपनी अलग मशाल जला रहा है। कदाचित इसके मूल में अलगाव न रहने पर दलितबोध की तीक्ष्णता के खंडित होने की आशंका निहित है। इसे नए-नए मिले अभिव्यक्ति माध्यम के प्रति आभ्यन्तिक आत्मीयता का ही एक रूप मानना पड़ेगा। इस माध्यम के कारण ही दलितों को अस्मिता का ज्ञान हुआ, विद्रोह का झंडा फहराने की शक्ति मिली। 'शब्दांनीच घरेदारे पेटतात' (शब्दों से ही घर द्वार जलते हैं।) यह विश्वास मिला। दलित साहित्यिकों के अनुसार दलित साहित्य दलित अनुभवों की अमूल्य निधि है। दलित अनुभवों की सारी दृष्टि एवं सृष्टि ने इस साहित्य में समाविष्ट हुई है। यह उनका सार सर्वस्व बना हुआ है। दलित जन ने जो देखा, सोचा, जाना; इस जन ने जो भोगा, अनुभव किया—उस सबका कभी उत्कटता से तो कभी कोमलता से इस साहित्य

में अंकन हुआ है। अतः यह साहित्य दलित समाज के समूह-मन का दर्पण है। दलित साहित्य आज के दलित मन का आलेख, दस्तावेज, गाथा, हथियार, प्रतीक बना हुआ है। इस पर अन्य किसी का अधिकार स्थापित न होने देने के लिए यह साहित्य विशेष रूप से जागरूक है। दलित लेखकों की धारणा है कि अदलित लेखक कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो—उनकी वेदना-व्यथाओं को वाणी नहीं दे सकेगा। दलित साहित्य सृजन उसको केवल अपना अधिकार क्षेत्र प्रतीत होता है। अतः दलितत्व का अर्थ तत्त्वतः व्यापक होने पर भी व्यवहारतः उसका संकोच हुआ है। दलित साहित्य मात्र पाठक, आस्वादक, रसिक एवं प्रशंसक के रूप में ही अन्य लोगों के संपर्क का आकांक्षी है। वह मुख्यतः अदलित और शहरी पाठक-वर्ग अभिप्रेत है। यह अर्धग्रामीण और अर्द्धशहरी साहित्य इस वर्ग से संबोधित है। इस शहरी पाठक को निमित्त बनाकर उसकी ही शैली को अधिक भड़कीली अथवा भेदक बनाकर यह साहित्य एक ओर उसके साथ संवाद करना चाहता है तो दूसरी ओर संघर्ष।"[29]

"दलित साहित्य ने आधुनिक मराठी साहित्य में अनुभवों की एक नयी प्रबल धारा बहा दी है। अनेक कारणों से आज तक घुटते रहने वाले दलितों के मन मुक्त वातावरण में नयी प्राणवायु से हृदय को भरने लगे। इससे पहले दलित मन कभी इतना और इस प्रकार मुक्त नहीं हुआ था। यह घटना कई पहलुओं से युग-प्रवर्त्तक थी। इसके गर्भ में कल के मानवताप्रधान विशाल जीवन के क्रांतिकारी सपने स्पंदनशील होते दिखाई देते हैं। अतएवं प्रारंभ से इस साहित्य का मराठी साहित्य-जगत में स्वागत हुआ है। शुरूआत से ही यह अभूतपूर्व चर्चा का विषय बना रहा है। गत वर्षों के लेखन और चर्चा से इस साहित्य का आज तक का रंग रूप अब काफी स्पष्ट हुआ है। कुछ लोग तो मानते हैं कि इस साहित्य का प्रयोजन पूरा हो गया है। यह माना जा सकता है कि इसका आरंभ पर्व पूर्ण हो चुका है। इस दृष्टि से इसका निरीक्षण-परीक्षण भी संभव है। इस साहित्य ने निर्धारित लक्ष्यों की दृष्टि से कितनी प्रगति की है? क्या यह प्रगति सचमुच वांछित दिशा में हुई है? इस प्रकार के आत्मविश्लेषात्मक प्रश्नों पर दलित साहित्य की दूसरी पीढ़ी को विचार करना चाहिए।

दलित साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष पर जितनी चर्चा हुई है, उतनी साहित्यिक पक्ष पर नहीं। इस दृष्टि से कई प्रश्न ऐसे हैं जिन पर आज तक गहराई से विचार नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए—साहित्यिक गुणों की दृष्टि से यह साहित्य किस स्तर पर है? इसके द्वारा लिया गया क्रांति का व्रत, साहित्य के माध्यम से किस हद तक और किस प्रकार का सफल हुआ? साहित्य और क्रांति का परस्पर क्या संबंध है? इस साहित्य के द्वारा व्यक्त होने वाले समूह भाव के परिप्रेक्ष्य में सामूहिकता और साहित्य का क्या रिश्ता है? यह समूह भाव साहित्य के रूप में सफलतापूर्वक कब साकार होता है? प्रतिबद्धता, नकार और विद्रोह का साहित्य से कब और कैसा संबंध होता है?—आदि प्रश्न अभी दलित साहित्य के संदर्भ में नहीं उठाए गए हैं। इस प्रकार के सोच विचार के लिए कलाकार के नाते पर्याप्त उत्सुक मनःस्थिति अभी दलित लेखकों के पास नहीं है। वे इस साहित्य का मात्र

स्थूल सांस्कृतिक पक्ष प्रस्तुत करते हैं, कलापक्ष की चर्चा के लिए वे आसानी से तैयार नहीं होते। इस संदर्भ में वे अभी प्राथमिक अवस्था पर ही दिखाई देते हैं।''[30]

''दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, उसके प्रेरणा स्रोत और परंपरा' पर विचार करते हुए ताराचंद्र खांडेकर ने लिखा ''दलित साहित्य मराठी साहित्य का एक अभिनव उन्मेष है और उसकी प्रेरणा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक है। मराठी में दलित साहित्य के आविर्भाव के कारणों का ऐतिहासिक विश्लेषण करना आवश्यक है। साथ ही मराठी साहित्य के संदर्भ में इसकी विशेषताओं पर भी विचार करना चाहिए। निषेध, नकार और विद्रोह दलित साहित्य की प्रमुख विशेषताएं मानी जाती हैं। मुझे लगता है कि ये दलित साहित्य की प्रमुख विशेषताएं नहीं हैं। कथ्य, शिल्प और विषय के संदर्भ में इस प्रकार की भावनाएं इससे पूर्व भी व्यक्त हुई हैं। चक्रधर, तुकाराम और चोखा मेला जैसे ब्राह्मणेतर संत इसी प्रकार के विद्रोही थे किंतु इनका विद्रोह दलित साहित्य के विद्रोह से बहुत भिन्न है। मराठी के समाजवादी-साम्यवादी लेखकों का साहित्य भी इसी श्रेणी में आता है। सामाजिक आशय के संदर्भ में तुकाराम के ही समान केशवसुत—जिन्हें आज के कुछ दलित आदि विद्रोही मानते हैं—का समावेश भी इन विद्रोहियों में किया जा सकता है। वस्तुतः ज्योतिबा फुले जैसा युगप्रवर्तक लेखक इस प्रकार के सर्वस्पर्शी विद्रोह का आदिरूप हो सकता है, किंतु दलित साहित्य का विद्रोह इन सबसे भिन्न है।

इसके कारणों का विश्लेषण करते समय अम्बेडकर के द्वारा प्रतिपादित क्रांति के ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं पर विचार करना होगा क्योंकि अम्बेडकर-दर्शन दलित साहित्य का प्रेरणा-स्रोत है।

बाबा साहब अम्बेडकर ने दलितों की मुक्ति-हेतु जो प्रचंड लड़ाइयां लड़ी थीं उन्होंने नए मनुष्य की उस मानसिकता का निर्माण किया जो किसी भी रूप में मराठी साहित्य की संवेदना में व्यक्त नहीं हो रही थी। अम्बेडकर द्वारा नवनिर्माण के लिए किए गए संघर्ष तथा नृवंशशास्त्र, राजनीति, अर्थनीति पर उनके द्वारा लिखित ग्रंथ बाबा साहेब के जीवन एवं साहित्यविषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं।

दलित-साहित्य महाराष्ट्र के अम्बेडकरवादी दलितों की नवनिर्मित क्षमताओं-निष्ठाओं का साहित्य है। यह उस मनुष्य के नए अस्तित्व का साहित्य है जिसे अस्पृश्य मानकर किसी भी प्रकार के मानवीय अधिकार और संस्कार से वंचित रखा गया है। यह मनुष्य आज स्वाभिमान से विश्व के सामने अपने अस्तित्व को व्यक्त कर रहा है। वह इतना विज्ञाननिष्ठ तथा युगनिर्माता नहीं बन सकता था, यदि बाबा साहब ने उसका सांस्कृतिक-ऐतिहासिक विश्लेषण न किया होता।''[31]

''दलित-साहित्य की कल्पना आज अधिक विकसित हुई है लेकिन उसकी अभिव्यक्ति प्रथमतः सन् 1928 में हो चुकी थी किंतु उसका स्वरूप आज के जैसा नहीं था। उसमें एक सरल अर्थ निहित था—दलितों द्वारा लिखा हुआ साहित्य यानी दलित साहित्य। आज भी कुछ परंपरावादी मराठी साहित्यकार दलित साहित्य पर यही अर्थ चिपका देते हैं। लेकिन सन् 1956 में बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा किए गए धम्मचक्र परिवर्तन के बाद उसका

मूलभूत स्वरूप परिवर्तित हुआ है। 'दलित मनुष्य के जीवन का दलित लेखकों के द्वारा किए गए चित्रण' और 'दलित जीवन की स्थितियों का कल्पना के आधार पर दलितेतरों द्वारा किए गए चित्रण' को दलित-साहित्य कहना दलित-साहित्य की सही कल्पना पर अन्याय है।

दलित-साहित्य में दलित जीवन का चित्रण करते समय उसमें आते हुए नए युगप्रवर्त्तक परिवर्तन और उस समाज के सांस्कृतिक अभिसरण की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। अतएव किसी एक लेखक की किसी कहानी या कविता को दलित कहानी या कविता के अंतर्गत मान लेने की अपेक्षा उस लेखक के साहित्य विषयक समग्र दृष्टिकोण को समझना जरूरी है। ऐसा न करने का अर्थ होगा—दलित साहित्य के वैशिष्ट्य को अस्वीकार करना।

दलित-साहित्य की निष्ठाएं केवल अछूत, दलित, आदिवासी, दुखी पीड़ित मानव समाज तक ही सीमित नहीं बल्कि वे संपूर्ण मानव-समाज के मूल्य हैं। अछूत, दलित तथा दुःखी समाज इस साहित्य का प्राथमिक और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है क्योंकि इस समाज को आज तक कोई भी मानवीय अधिकार प्राप्त नहीं हुआ। इसके सुसंस्कृत समाज के स्तर पर आ जाने के बाद दलित-साहित्य का उत्तरदायित्व होगा—समस्त मानव-कल्याण की प्राप्ति, किंतु जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था, परंपरागत ब्राह्मणशाही तथा रूढ़िवादिता के विरुद्ध संघर्ष करता ही रहेगा।

दलित-साहित्य अंधश्रद्धा, शब्दप्रामाण्य, ग्रंथप्रामाण्य, आत्मा, ईश्वर और उस पर आधारित समस्त नैतिकता एवं धर्मसत्ता को अस्वीकार करता है। स्पष्ट है कि यह अस्वीकार हिंदूधर्म तक सीमित नहीं है। परिवर्तनशीलता को अस्वीकार करने वाले सभी धर्मों का निषेध दलित-साहित्य करता है। शब्द-प्रामाण्य, व्यक्ति पूजा एवं अंधश्रद्धा (चाहे वह बुद्ध या अम्बेडकर के संदर्भ में ही हो) की अस्वीकृति की पृष्ठभूमि में मार्क्सवादी, समाजवादी, गांधीवादी सभी विचारकों को अपना पुनर्परीक्षण करना होगा। प्रकाश जाधव, नामदेव ढसाल, दया पवार एवं यशवंत मनोहर जैसे कवियों की कविताओं को दलित समाज एवं दलित समीकरणों में प्राप्त प्रतिष्ठा से मेरे इस कथन की सत्यता सिद्ध होती है। उल्लेखनीय है कि आज अम्बेडकरवादी लेखक, समीक्षक और विचारक किसी भी अन्य लेखक, समीक्षक और विचारक की अपेक्षा अधिक विवेकानिष्ठ हैं।"[32]

"दलित-साहित्य न केवल वैचारिक परंपराओं को अस्वीकार करता है बल्कि आज तक की मराठी तथा समस्त भारतीय साहित्य की परंपराओं को भी अस्वीकार करता है। ज्योतिबा फुले के लेखों में यह अस्वीकार सविस्तार स्पष्ट हुआ है और महार, मांग आदि अतिशूद्रों तथा कुणबी, तेली, माली जैसे शूद्रों को गरिमा प्राप्त हुई है। फुले और अम्बेडकर ने अपने लेखों में जनसामान्य की भाषा का प्रचुरता से प्रयोग करके मराठी को नए संस्कार दिए हैं। दलित-साहित्य की भाषा दलित जीवन की भाषा है जिसने मराठी साहित्य के वैभव में वृद्धि की है।

दलित-साहित्य के अम्बेडकरवाद को स्वीकारने का अर्थ है कि वह अम्बेडकरवाद की क्रांतिकारिता को स्वीकारता है। मराठी तथा संपूर्ण भारतीय साहित्य (जो मूलतः संस्कृत

भाषा और साहित्य के प्रभावित है) का वह निषेध करता है। आज भी रामायण, महाभारत भारतीय साहित्य के प्रेरणास्रोत हैं। मनुस्मृति और ऋग्वेद जैसे ग्रंथ आज भी परंपरावादी साहित्यकारों के मार्गदीप हैं। दलित-साहित्य इन सबको अस्वीकार करता है। कथ्य और जीवन दर्शन के विषमतावादी (केवल उच्चवर्णियों का अनुनय करने बाले) होने के कारण ये ग्रंथ दलितों को अपने नहीं लगते। नाटकों को ही लें तो हम देखते हैं कि 'मृच्छकटिकम्' में बौद्ध भिक्षुओं को अस्पृश्य माना गया है। ऐसे अनेकानेक उदाहरण धार्मिक ग्रंथों, वेदों और स्मृतियों में मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्य परंपरा कितनी नकली और दलित द्रोही है। भारतीय इतिहास का यथार्थ दर्शन कराने के लिए अम्बेडकर में निष्ठा रखकर चलने वाले शोधार्थियों की आवश्यकता है। मार्क्सवादी इतिहास-मीमांसा भी भारतीय संदर्भ में अपूर्ण है।

दलित-साहित्य के भारतीय साहित्य परंपराओं को अस्वीकार करने का अर्थ है—ब्राह्मणशाही के द्वारा समृद्ध किए गए साहित्य का अस्वीकार। यह साहित्य केवल हिंदूधर्मीय ही नहीं था। ब्राह्मणशाही के कुछ दंभी और प्रच्छन्न पंडित बौद्ध और जैन धर्म में प्रवेश करके अपना षड्यंत्र सफल बना रहे थे। इसी कारण भारत का सांस्कृतिक इतिहास फिर से लिखना होगा और यह दायित्व दलित साहित्यकारों पर है।''[33]

दलित साहित्य ने पूरी ब्राह्मणी संस्कृति पूरी ब्राह्मण परंपरा को नकार दिया है। उसने ब्राह्मणेतर समाज के दुख-दारिद्र्य, दीर्घ दासता, तिरस्कार को एक सामाजिक षड्यंत्र और अपराध की संज्ञा दी है। जिसके स्पष्टतः द्विज समाज के लोग जिम्मेदार हैं। दलित साहित्य ने निसंदेह अस्पृश्यों, शूद्रों, सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से दलित लोगों को स्वाभिमान से जीने का, अपनी सांस्कृतिक विरासत की महानता का बोध कराया और नए सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित किया। आगे खांडेकर के शब्दों में ''दलित साहित्य से पूर्व मराठी में विद्रोह साहित्य भी लिखा गया और मार्क्सवादी लेखन भी हुआ किंतु दलित साहित्य का विद्रोह एहसास के स्तर पर था और मार्क्सवादी लेखक-परंपरा से संबद्ध रहा। इन मार्क्सवादी और समाजवादी प्रगतिशील लेखकों के पीछे दौड़ने वाले अनेक लेखकों की अवहेलना के प्रमाण नामदेव ढसाल के आजकल के लेखों से मिलता है। अनेक युवा दलित लेखक साम्यवादी या तथाकथित समाजवादी लेखकों के साथ रहकर कैसे अपनी अस्मिता खो रहे हैं, यह देखने लायक है। दलित-साहित्य के संदर्भ में 'फुले-मार्क्स-अम्बेडकर' या 'अम्बेडकर-मार्क्स-लोहिया' जैसे समीकरण बेबुनियाद हैं। मराठी में एक भी असली मार्क्सवादी कृति की रचना नहीं हो सकी—इसका दुख मुझे मार्क्सवादियों की अपेक्षा अधिक है। कितनी बड़ी ट्रैजेडी है कि नारायण सुर्वे जैसे एक युग-प्रवर्त्तक कवि को भी 'मैं कामगार कमी आहे' (मजदूर कम हूं) और 'मीही दलित कवि आहे' (मैं भी दलित कवि हूं) कहना पड़ा।''[34]

खांडेकर के ही शब्दों में : ''जब हम यह मानते हैं कि दलित-साहित्य में दलित मनुष्य के कल्याण का विचार होता है तो यह कैसे हो सकता है कि उसमें आर्थिक शोषण का विचार अनुस्यूत न हो? आर्थिक शोषण अम्बेडकरवाद का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। तो क्या यह मान लेना चाहिए कि दलित-साहित्य वर्ग-समाज की मान्यता को स्वीकार

करता है? वस्तुतः जैसा मैंने पहले कहा है, दलित-साहित्य किसी भी बात के प्रति पूर्वाग्रह रखकर उसका विश्लेषण नहीं करता। दलित-साहित्य आर्थिक शोषण के विरुद्ध एक बहुत सशक्त क्रांति है किंतु मार्क्सवादी या साम्यवादी जिस प्रकार इस क्रांति के मार्ग को निश्चित लीकबद्ध मानते हैं, दलित-साहित्य वैसा नहीं मानता। अम्बेडकरवाद को भी इस शोषण के विरुद्ध आवाज उठानी है किंतु उसके लिए वह संसदीय जनतंत्र के हनन और एकाधिकारशाही को स्वीकार नहीं कर सकता। 'राज्य' की संकल्पना के प्रति भिन्न विचारधारा रखने के कारण मार्क्सवादी साहित्य को दलित साहित्य नहीं माना जा सकता। अम्बेडकरवाद एक विशिष्ट सीमा तक मानवीय स्वतंत्रता को नियंत्रित करने की बात स्वीकार करता है लेकिन वर्गसंघर्ष के नाम पर स्वातंत्र्य, समता, बंधुत्व जैसे मूल्यों के हनन को वह स्वीकार नहीं करता।

आज दलित साहित्य अनेक दृष्टियों से समृद्ध हो रहा है। उसके विविध रूप अब प्रकट होने लगे हैं। पहले संक्रामणवस्था के कारक अनेक कृतियों में कुछ दोष रह गए हैं किंतु आज की दलित कलाकृति शुद्ध अम्बेडकरवाद के रूप में साकार हो रही है। अम्बेडकरवाद स्वीकार न करने वाली कुछ अस्पृश्य, आदिवासी तथा घुमन्तु जातियों में भी आज इस प्रकार की साहित्य-रचना होने लगी है। अभी ये लोग अधिकांशतः आत्मानुभवों की प्रेरणा से साहित्य-सृजन कर रहे हैं। जब उन्हें अपनी सामाजिक अस्मिता का असली स्वरूप ज्ञात होगा तब दलित साहित्य का रूप अधिक निखरकर आएगा।

साहित्य-सृजन के समय लेखक की मानसिकता पर समाजांतर्गत तथा समाज-बाह्य बातें अपना प्रभाव डालती रहती हैं। वह सदा जीवन-सापेक्ष रहता है। अपने को अलौकिकवादी या आध्यात्मिक कहने वालों की अनुभूति भी उनके संस्कारों में से विकसित होती है। तथाकथित कलावादी और जीवनवादी—दोनों प्रकार की कृतियां जीवन-सापेक्ष होती हैं और उनका स्वरूप भी सामाजिक होता है। लेखक मनुष्य-बाह्य अनुभूतियों को व्यक्त करने वाला प्राणी नहीं है। कम-से-कम आज वह इस प्रकार जी नहीं सकता। इसी कारण केवल कलावादी या केवल जीवनवादी साहित्य जैसी संकल्पनाओं का कोई अर्थ ही नहीं है। आज कलाकृति का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं बल्कि प्रबोधन-उद्‌बोधन है।"[35]

'दलित साहित्य की प्रासंगिता और संभावना' पर विचार करते हुए **सदा कन्हाडे** ने लिखा कि "यह एक साहित्यिक आंदोलन होते हुए भी वस्तुतः एक सामाजिक आंदोलन है। मराठी साहित्य की यह नयी धारा बाबा साहेब के धर्मांतरण, तत्पश्चात, परिनिर्वाण और अगले वर्ष 'रिपब्लिकन पार्टी' की स्थापना के साथ साथ दलित पैंथरों के आविभाव से संभव हुई है।" कन्हाड़े लिखते हैं : "सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन अथवा हलचलों से अस्पृश्यों के प्रश्न हल होने की संभावना समाप्त होती देखकर डॉ. अम्बेडकर ने धर्मांतर का निर्णय लिया। नागपुर में उनके ही महान नेतृत्व में सामूहिक धर्मांतर की घटना घटित हुई। धर्मांतर की इस घटना के कारण हजारों अस्पृश्यों के मन में भविष्य संबंधी आशाएं जागृत हुईं। किंतु इसके कुछ समय पश्चात ही डॉ. अम्बेडकर का महानिर्वाण हुआ और इस समाज ने निराशा के अंधकार से ग्रसित एक प्रकार के खोललेपन का अनुभव किया।

डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर का स्थान ले सकने और उनका महान कार्य पूरा कर सकने वाला कोई दूसरा नेता अस्पृश्य समाज में नहीं था। नेता तो थे किंतु उनकी अपनी महत्त्वाकांक्षाएं और स्वार्थ थे, अतः उनके नेतृत्व में डॉ. अम्बेडकर के मार्ग से दूर जाने की ही संभावना अधिक थी। इसलिए इस खोखलेपन को अधिक तीव्रता से अनुभव किया गया। ठीक इसी समय दलित समाज के युवा सुशिक्षित विचारक, लेखक ओर कवि को एक उद्वेग के समान ही अपने दायित्व का भान हुआ। डॉ. अम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम के साथ एक प्रकार की प्रतिबद्धता उन्होंने स्वीकार की।

वस्तुतः जाति व्यवस्था का विनाश करके अस्पृश्यता से मुक्ति पाना मात्र डॉ. बाबा साहब का लक्ष्य नहीं था। सबके लिए हित सिद्ध होने वाले सामाजिक जनतंत्र की प्रस्थापना उन्हें अभीष्ठ थी। इसके लिए संपूर्ण सामाजिक परिवर्तन आवश्यक था।''[36]

''मराठी साहित्य अपनी सात सौ वर्षों की परंपरा में प्राचीन और अर्वाचीन युग के विकास के विभिन्न पड़ावों से गुजरा है। किंतु इन नए दलित लेखकों ने यह अनुभव किया, और एक सीमा तक यह सच भी है, कि जैसे हिंदू समाज व्यवस्था ने उनको 'अस्पृश्य' माना ओर गांव के बाहर रखा, उसी प्रकार सात सौ वर्षों की परंपरा वाले मराठी साहित्य ने भी उनको एक अर्थ में 'अस्पृश्य' ही माना, क्योंकि दया के कारण कितना ही प्रेम व्यक्त क्यों न किया गया हो, फिर भी मराठी साहित्य में दलितों के जीवन का, उनकी व्यथा, वेदनाओं का, उनकी आशा, आकांक्षाओं का यथार्थ चित्रण हुआ ही नहीं। दलितों के जीवन के प्रति या तो अनुकंपा व्यक्त की गयी या तिरस्कार दलितों ने पूरी तरह महसूस किया कि सवर्ण हिंदुओं की मानसिकता को इस अमानुष और निर्दय जाति व्यवस्था को विनाश के लिए तैयार करने का सचेत प्रयत्न प्राचीन अथवा अर्वाचीन मराठी साहित्य की किसी भी परंपरा ने नहीं किया। संत कवियों के हित, अध्यात्म ज्ञान, परमार्थ प्राप्ति अथवा अंतिम मोक्ष से जुड़े हुए थे। अतः चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का भान होते हुए भी सामाजिक अन्याय के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह नहीं किया। पंडित, कवियों को अपने पांडित्य एवं संभ्रांतता पर गर्व था। उन्होंने 'रामायण', 'महाभारत' और 'भागवत' जैसे पुराण ग्रंथों के आख्यानोपाख्यान में विशेष रस लिया। ये कवि प्रमुखतः सवर्ण हिंदू थे। पर दलितों की यातना की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। आर्यों का धर्म संकुचित होकर हिंदू धर्म बना और कालांतर में 'हिंदू धर्म' का संकोच 'ब्राह्मण धर्म' में हुआ। ब्राह्मण वर्ण में अस्पृश्यों के प्रति सहज द्वेष था। अतः नयी धारणाओं से अविष्ट दलित लेखकों को यह भी ज्ञान हुआ कि प्राचीन मराठी साहित्य के कथ्य पर ब्राह्मणों का वर्चस्व है। प्राचीन मराठी साहित्य प्रमुखतः '(सवर्ण) हिंदू साहित्य या 'ब्राह्मण' साहित्य है। पेशवा शासन के अस्त होने के बाद ब्रिटिश राज्य व्यवस्था में नयी शिक्षा प्रणाली एवं अर्थव्यवस्था की स्थापना हुई, अनेक उद्योग-धंधे और व्यवसाय आरंभ हुए, यह भारतीय जीवन में नए स्थित्यांतर की प्रक्रिया थी। सूर्योदय के समय प्रकाश का प्रथम लाभ पर्वत-शिखरों को प्राप्त होता है, और फिर वह प्रकाश तलहटी की ओर सरकता है। ब्रिटिश राज्य में उत्पन्न नयी परिस्थिति का अधिकांशतः लाभ सवर्ण हिंदुओं को हुआ और ब्रिटिश शासन ने जो विविध सुविधाएं उपलब्ध कराईं, उनका

अधिकाधिक 'सदुपयोग' कर लेने का प्रयत्न सवर्ण हिंदुओं ने किया। पेशवाओं का 'ब्राह्मण वर्चस्व' ब्रिटिश शासन में कुछ अस्तित्व हीन बनने लगा। यूरोप की औद्योगिक क्रांति ने मजदूर वर्ग तथा बुद्धिजीवी मध्यवर्ग का भी निर्माण किया। ब्रिटिश शासकों के साथ यूरोपीय संस्कृति भी भारत आ गयी। उसी के प्रभाव से बुद्धिजीवी मध्यवर्ग का उदय हुआ। ब्राह्मण वर्चस्व समाप्ति पर प्रतीत हो रहा था, किंतु इसके साथ ही जीवन के सभी क्षेत्रों में मध्य वर्ग स्थापित हो रहा था। (और मध्यवर्ग में प्रमुखतः सवर्ण हिंदू थे)। साहित्य के क्षेत्र में भी अपवाद नहीं था। लेखक और विचारक मध्यवर्गीय थे। मध्यवर्गीय स्तर पर सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक जागरण की प्रक्रिया शुरू की। अतः इन लेखकों ने मध्यवर्ग के संबंध में लिखा, मध्यवर्ग के लिए लिखा। कुछ कविताओं, कहानी-उपन्यासों से अस्पृश्यों एवं पददलितों के प्रति सहानुभूति अथवा अनुकंपा से किया हुआ थोड़ा-सा चित्रण प्राप्त होता है। सारांश में स्वातंत्र्य पूर्व मराठी साहित्य का स्वरूप था—मध्यवर्ग द्वारा मध्यवर्ग से संबंधित और मध्यवर्ग के लिए लिखा हुआ साहित्य।''[37]

''डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर ने दलितों को नए विचार प्रदान किए, उनमें आत्मविश्वास पैदा किया, स्वालंबन की वृत्ति उत्पन्न की, शिक्षा का महत्त्व उनके मन पर अंकित किया। सवर्ण हिंदुओं की कृपा सहानुभूति अथवा अनुकंपा पर जीने की जरूरत नहीं है, यह उनके मन पर अंकित किया। मनुष्य के समान जीने का हमारा अधिकार है और संघर्ष किए बिना, लड़े बिना, कोई भी हमें यह मूलभूत अधिकार प्रदान नहीं करेगा इसका भान कराया गया। डॉ. अम्बेडकर द्वारा दी गयी इस शिक्षा के कारण उनके समाज में प्रबोधन हो गया था। हिंदू समाज व्यवस्था में तथा 'हिंदू साहित्य' में हमारा स्थान नहीं है, हम नगण्य हैं, इस प्रकार का भान इस प्रबोधन से हुआ। बाबा साहब के महानिर्वाण के बाद कुछ समय तक एक खोलखलापन अवश्य पैदा हुआ। किंतु नवजाग्रत दलित लेखकों, कवियों और दलित बुद्धिजीवियों ने निष्कर्ष निकाला कि इस निराशा को हमें फेंक देना चाहिए, अपने मूलभूत अधिकार प्राप्त करने के लिए तीव्र संघर्ष करना होगा, साहित्य और कला के द्वारा जन जागरण करना होगा। हम अपना साहित्य निर्मित कर सकते हैं, अपनी कला का निर्माण कर सकते हैं, इस प्रकार का आत्मविश्वास उनमें सबल होने लगा और उनमें से एक आंदोलन के रूप में 'दलित साहित्य' अस्तित्व में आ गया। प्रारंभिक अवस्था में 'दलित साहित्य' के दो लक्ष्य थे। समाज में जो अस्पृश्य और पददलित हैं उनकी व्यथा, वेदनाओं, यातनाओं को और जीवनानुभवों को वाणी प्रदान करना और सामाजिक न्याय प्राप्त करने के हेतु समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करना, युवा सुशिक्षित दलितों ने यह अपना जीवित-कार्य माना और इस प्रकार के लेखन की प्रतिबद्धता स्वीकार की। अतः मूलतः दलित साहित्य 'दलितों ने, दलितों से संबंधित, दलितों के लिए लिखा हुआ साहित्य' है और इस रूप में एक आंदोलन के रूप में अस्तित्व में आ गया। प्रारंभिक अवस्था में तो उसमें एक साथ आवाहन और चुनौती थी। आवाहन भी दलित समाज को ही सामाजिक अन्याय के विरुद्ध क्रोध से खड़े होने का और चुनौती थी परंपरा से चली आयी हुई चातुर्वर्ण्याधिष्टित समाज व्यवस्था को और सवर्णों की हिंदू मनोवृत्ति को। इस समाज व्यवस्था

में यह समाज सर्वस्व से वंचित हो गया था। अतः उसके पास गंवाने के लिए कुछ भी नहीं था। इसके विपरीत मूलभूत अधिकारों सहित सभी बातें उनको नए सिरे से संघर्ष करके प्राप्त करनी थीं। भारत स्वाधीन हुआ, भारत का स्वतंत्र संविधान सिद्ध हुआ। (और प्रारब्धोपरोध ऐसा था कि बाबा साहेब संविधान के शिल्पकार बने)। गणतंत्र के अस्तित्व में आ जाने के बाद भी पददलितों की परिस्थितियों में कोई अंतर नहीं आया। अतः जातिनिष्ठ समाज व्यवस्था को तोड़ना ही चाहिए, और इसके बदले न्याय एवं समता पर आधारित जनतंत्रनिष्ठ नयी समाज व्यवस्था प्रस्थापित करनी चाहिए, इस प्रकार की आकांक्षा प्रारंभ में दलित साहित्य की निर्मिति के पीछे थी। इन सभी संदर्भों में 'दलित साहित्य' पर विचार होना चाहिए।''[38]

दलित साहित्य क्या है? विद्वान लेखक कन्हाड़े ने दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए आगे लिखा : '' 'दलित साहित्य' वेदना ओर यातना का साहित्य है। जातिनिष्ठ समाज व्यवस्था में अस्पृश्यों को और पददलितों को जो भोगना पड़ा, उस भोगने में से व्यथा, वेदना, यातना और तज्जन्य अनुभव इनके यथार्थ दर्शन तक ही दलित साहित्य के अनुभव विषय और आशय सीमित हैं। ये अनुभव दलित लेखकों के अपने समदुःखी-समपीड़ित जाति बांधवों के अनुभव हैं। अतः स्वाभाविक रूप से उस अभिव्यक्ति में एक प्रकार की आत्मपरकता है। दलित साहित्यकार अपनी साहित्य-कृति में से अपने अनुभव सहित स्वतः को प्रकट करने का प्रयास करता है। सवर्ण हिंदू लेखक अथवा मध्यवर्गीय लेखक यह कह नहीं सकता क्योंकि दलितों से संबंधित उसका लेखन 'सहानुभूति' का रहेगा, जबकि दलितों का लेखन 'अनुभूति' का है।''[39]

''दलित साहित्य' नकार का साहित्य है। इस अर्थ में कि हिंदू समाज व्यवस्था और हिंदू धर्म के द्वारा रूढ़ किए गए तत्त्व दलित समाज नहीं मानता। अतः उस पर आधारित इस प्रकार के किसी भी अनुभव को दलित साहित्य में स्थान नहीं है। हिंदू धर्म सिद्धांत को प्रमाण मानता है। पूर्वजन्म के पाप पुण्य से मनुष्य को वर्तमान जन्म प्राप्त होता है। अस्पृश्यों ने गत जन्म में पाप किए अतः उनको इस प्रकार की दुरावस्था में हीनता से जीना पड़ता है। इन निरर्थक बातों पर दलितों को विश्वास नहीं है। कर्मविपाक, पुनर्जन्म इन जैसे तत्त्व सिद्धांतों को दलित दृढ़ता से अस्वीकार करते हैं। इन तत्त्व सिद्धांतों का अधिष्ठान बने हुए अनुभवों की ही अभिव्यक्ति मराठी साहित्य में है। अतः दलित साहित्य संपूर्ण मराठी साहित्य परंपरा को भी अस्वीकार करता है। जाति व्यवस्था से सभी प्रकारों की वंचना दलित समाज को भोगनी पड़ी। अतः पारंपरिक तथा प्रस्थापित मराठी साहित्य संबंधी किसी भी प्रकार की आत्मीयता को 'दलित साहित्य' नकारता है। जिसमें 'हम' नहीं हैं उसे हम क्यों मानें, उनका प्रश्न है। आज तक मराठी साहित्य ने उच्चवर्गीय हिंदू जीवन का चित्रण किया और हिंदू मनोवृत्ति का ही दर्शन कराया। अस्पृश्यता के साथ हीनता से व्यवहार करने वाले हिंदू मनोवृत्ति को दलित दृढ़तापूर्वक नकारते हैं।

'दलित साहित्य' विद्रोह का साहित्य है, **अर्थात् वह विद्रोही साहित्य है**। विद्रोह यानी द्वेष, विद्रोह यानी **शत्रुता**, विद्रोह यानी विप्लव । 'दलित **साहित्य' एक ओर** वंचना के

कारण होने वाली हृदय विदारक यातनाओं को उद्गार प्रदान करता है, और उसके साथ जिस सामाजिक व्यवस्था ने दलितों पर यह जीवन लादा, उस समाज व्यवस्था के प्रति द्वेष तथा शत्रुता भी व्यक्त करता है। दलित साहित्य हिंदू समाज व्यवस्था पर प्रखर आघात करता है। हिंदू श्रद्धाओं पर प्रहार करता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व का उद्घोष करता है। दलित साहित्यिक जाति व्यवस्था को नष्ट करना चाहते हैं, सामाजिक विषमता का निर्मूलन करना चाहते हैं। वे सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं। दलित साहित्य की प्रारंभिक अवस्था में कम से कम दलित लेखकों को ऐसा लगता था कि साहित्य न केवल मानवी अनुभवों का निवेदन अथवा प्रकटीकरण ही करता है बल्कि समाज को क्रांति प्रवण करने का यह एक समर्थ माध्यम भी हैं अतः दलित साहित्य अपनी विद्रोह की भूमिका अपरिहार्य और आवश्यक मानता है।''[40]

यथार्थ और क्रांति-स्वर

साहित्यिक लीक से हटकर यथार्थवाद से सराबोर क्रांति के स्वर लिए मराठी 'दलित साहित्य' का आरंभ कहानी और कविता के माध्यम से हुआ। 'अस्मितादर्श' जैसी त्रैमासिक पत्रिका के कारण दलित साहित्य को अपना मंच प्राप्त हुआ। अपने क्रमिक विकास में कहानी और कविता का माध्यम आत्माभिव्यक्ति के लिए सीमित लगने लगा और जीवनानुभवों की यथार्थ और तथ्यात्मक अभिव्यक्ति की आकांक्षा ने जोर पकड़ा। प्र.ई. सोनकांबले का लेखन इसी समय में हुआ।...महारों की बोली में लिखा गया यह लेखन कहानी और ललित लेखन को अस्वीकार करते हुए स्मृतियों का यथार्थ चित्रण करके संवेदना जाग्रत करता है। 'साधना' ने भारतीय स्वतंत्रता के रौप्य महोत्सव के निमित्त दलित समस्या विशेषांक छापा। इसमें दया पवार और केशव मेश्राम का आत्मवृत्तपरक लेखन प्रकाशित हुआ। पवार ने अपने लेखन में दलित राजनीति में कांग्रेस-रिपब्लिकन सांठ-गांठ का चिट्ठा खोला। आत्मवृत्त 'बलतुं' में उनकी चिंतनशीलता परिलक्षित है। इससे पूर्व 'कोंडवाडा' काव्यसंग्रह के प्रकाशित होते ही वे ख्याति अर्जित कर चुके थे।''

बाबूराव बा-गुल की कहानियों ने समाज व्यवस्था पर सीधे चोट की। वे जीवन के कठोर और यथार्थ को अंकित करते हैं। बागुल की कहानियां मराठी कहानी के स्थिर मानदंड की तरह हैं। उसमें अनुभूत जीवन का चित्रण है जो उग्र और दाहक है। उनमें दारिद्रय, भूख, अभाव, सामाजिक जीवन की विषमताओं का सहज वर्णन है।

केशव मेश्राम 'हकीकत', 'जटायू' जैसी दीर्घ कहानियों और 'खडबड़ (खुरचन)' जैसे यथार्थवादी कहानी से मराठी दलित कहानी के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए। उनकी कहानियों में जहां उनके लेखन में सजग-सतर्क जीवन और जीवन के कठोर यथार्थ का चित्रण है, वहीं उसमें आत्मकथात्मकता का पुट है।

अर्जुन डांगले—दलित पैंथर-दलित आंदोलन के प्रमुख नेता हैं। वे आंदोलन के साहसी प्रणेता हैं जो सामाजिक विषमताओं, रूढ़ियों बर्बर अत्याचारों से कलम की धार से जूझता है।

डॉ. अम्बेडकर के दलित-अस्पृश्य आंदोलन से प्रेरित-जागृत डांगले विविध सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन कर चुके हैं। वे जीवन में परिवर्तन और नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठापना के लिए व्यग्र हैं। उनके अविभाज्य व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास उनकी कहानियों में परिलक्षित होता है। उन्होंने संक्रमणशील अवस्था में शहरी और ग्रामीण दलित जीवन को अपनी कहानियों में शब्दबद्ध किया है। स्वातंत्र्योत्तर सत्ता से मदांध लोग दलित को किस प्रकार तिरस्कृत कर दबाते हैं उसका मर्मस्पर्शी चित्रण उनके कथा साहित्य में उभरता है। सत्ताधीश नवजागृत दलित भावनओं को कैसे कुचलते हैं। समाज व्यवस्था कितनी गली सड़ी है, दलित क्रांति का इच्छुक कितना असहाय है और मोहभंग की स्थिति में है यह सब सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्तमान यथार्थ उनकी कहानियों में चित्रित हुआ है। दलित आंदोलन के प्रति सजगता, प्रतिबद्धता, ईमानदारी उनकी रचनाओं का विशेष गुण है। दलित जीवन की समग्रता, विविध समस्याएं उनमें प्रकट होती हैं। समकालीनता, सामयिकता और यथाथोन्मुखता के कारण उनकी कहानियां प्राणवान हैं।

डांगले की उल्लेखनीय कहानियों में 'घुसमट' (घुटन), 'आणीबुद्ध मरून पड़ला' (और बुद्ध खेत हो गया।) बहुत प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार दलित आंदोलन के 'बगुला भगता' 'साहबों' और 'आंदोलनगत' 'यादवी' (आपसी संघर्ष) को चित्रित करने वाली कहानियां कठोर यथार्थ की झलक प्रस्तुत करती है।

योगिराज बाघमारे—के कहानी संग्रह 'उद्रेक', दलित दारिद्रय, अस्पृश्यता, ग्रामीण गुडई, जागृत युवकों की अवहेलना, सामाजिक प्रताड़ना के सजीव चित्र उभारते हैं। दलित जीवन की विवशता, आपसी कलह और फूट तथा बहिष्कार उनकी कहानियों के विषय हैं। उनकी कहानी दलित पैंथर आंदोलन की विफलता का चित्रण करने में भी समर्थ हैं।"

इनके अतिरिक्त प्रमुख दलित कहानीकारों में योगेंद्र मेश्राम, वामन होवाल, अमिताभ, भीमराव शिखाले, ताराचंद्र खांडेकर, आदि दलित जीवन के दुख-दैन्य को चित्रित करते हैं।

दलित कविता

अम्बेडकर क्रांतिधर्मिता से प्रभावित दलित कथा साहित्य की तरह दलित कविता के तेवर भी क्रांतिकारी हैं। उसमें आग है, क्रांति की चिनगारी है, व्यवस्था के प्रति आक्रोश है। कुल मिलाकर दलित साहित्य के अंतर्गत दलित कविता एक सशक्त विद्रोही स्वर के रूप में उभरी है। उसने साहित्य की पुरानी मान्यताओं को तिरस्कृत किया है। निसंदेह उसकी प्रेरणा का मूल स्रोत डॉ. अम्बेडकर का दलित मुक्ति आंदोलन है। दलित पैंथरों ने समाज के पुराने मूल्यों को तिरस्कृत किया। कवियों ने उसे वाणी दी। इसीलिए जैसा कि निशिकांत ठकार ने दलित कविता के बारे में लिखा :

"दलित साहित्य का दलित आंदोलन से अन्योन्य संबंध तो है ही पर अन्याय और अत्याचार के खिलाफ सामाजिक संघर्ष के इस आंदोलन के साहित्यिक क्षेत्र में स्थापित हो सकने के लिए अनुकूल परिवेश का निर्माण किया साठोत्तरी विद्रोही कविता ने।

लघुपत्रिकाओं के माध्यम से साठोत्तरी सन्तप्त और नंगी युवा पीढ़ी ने जो उग्र तोड़फोड़ का साहित्यिक आंदोलन चलाया था उसके आरंभिक कवियों में दलित कविता के अग्रणी कवि राजा ढाले और नामदेव ढसाल भी थे। साहित्यिक प्रतिष्ठानों के प्रति विद्रोह की जो चेष्टाएं हुईं उनसे दलित कवियों को रचनात्मक साहस के लिए अनिवार्य आत्मविश्वास प्राप्त हो गया। बेलाग अभिव्यक्ति के लिए नंगी भाषा के बेबाक प्रयोग से कविता का मुहावरा ही बदल गया। लघु पत्रिकाओं ने अपनी सही जमीन की तलाश में देशी परंपरा की भी खोज की थी। दलित कविता के मूल में इसका भी योगदान है। निषेध-कविता ने घोषित किया कि कविता में निषिद्ध कुछ भी नहीं है। रूढिबद्धता (आवृत्ति) और अप्रतिबद्ध दिशाहारा मानसिकता के कारण आक्रोशी कविता का विकास नहीं हो सका परंतु साहित्यिक संस्कृति के मठ और गढ़ तोड़कर उसने साहित्य को मुक्त अवश्य कर दिया। उधर दलित कविता ने सामाजिक दायित्व एवं रचनात्मक चुनौतियों को एक साथ स्वीकार किया। मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाले एक सामाजिक आंदोलन को एक उन्मुक्त समकालीन साहित्यिक आंदोलन का क्षेत्र मिल जाने के फलस्वरूप होने वाली विशिष्ट कविता सृष्टि का नाम है दलित कविता। दलित कवि कविकर्म के साथ क्रांति भी करना चाहते थे और यह दोहरा उद्देश्य ही इस काव्य की शक्ति है।

आज भी दलित साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा कविता ही है, यह अकारण नहीं है। कुछ कवि-समीक्षक लघुपत्रिकाओं के आंदोलन को दलित कविता से अलग रखने का प्रयास करते हुए पाए जाते हैं, पर तथ्य को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। डॉ. अम्बेडकर का प्रेरक व्यक्तित्व, कृतित्व और चिंतन, विद्रोह की पूर्व परंपरा, फुले का सामाजिक सुधार का कार्य, बौद्ध दर्शन, मार्क्सवाद की सामाजिक प्रतिबद्धता आदि तत्त्वों से प्रेरणा लेकर दलित कविता जिन विविध अनुभवों को अभिव्यक्त कर रही है, वे पहले कभी कविता के विषय नहीं बने थे। अनेक कारणों से इसका रचनाकर्म जटिल हो गया है पर इस कविता में ताप है जो प्रामाणिक है। संघर्ष के तीव्रतर होने पर इसके अंतर्द्वंद्व भी बढ़ते जाएंगे जिससे उसकी रचनात्मक संभावनाओं में भी वृद्धि होगी।"[42]

दलित कविता की प्रवृत्ति

पूर्व परंपरा

ठकार ने दलित काव्य के विद्रोही तेवर के बारे में आगे लिखा, "दलित कविता की मूल प्रवृत्ति विद्रोह है। इसीलिए वह मध्यवर्गीय साहित्य की समूची परंपरा को तो अस्वीकार करती रही है। संत साहित्य की उदार, व्यापक धार्मिक भावना से भी स्वयं को काट लेती है। वर्णाधिष्ठित साहित्य परंपरा की शताब्दियों से वह अपना रिश्ता जोड़ना ही नहीं चाहती। जमाने से दलित अछूत थे, अब प्रतिक्रियास्वरूप दलित कवि समूची साहित्य परंपरा को ही अस्पृश्य मानते हैं। उसका प्रखर निषेध और तिरस्कार करते हैं। उसे सांस्कृतिक विडंबना के रूप में देखते हैं। जिस समाज ने दलितों को मानवीय अस्तित्व से भी वंचित रखा

था उस समाज के साहित्य में उनकी वेदनाओं को वाणी कहां से मिल पाती? यथार्थ विहीन साहित्य परंपराओं को ठुकराकर दलित कविता अपनी अंत'शक्ति के आधार पर खड़ी हो जाती है।

पर क्या परंपरा को पूरी तरह से ठुकराया जा सकता जा है? इतिहास को नकारा नहीं जा सकता, हम उसका निषेध जरूर कर सकते हैं। विद्रोह का जन्म परंपरा के क्रोड़ में ही होता है। दलित कविता एक ओर परंपरा से अपने आप को तोड़ लेती है तो दूसरी ओर अपनी परंपरा बना लेना चाहती है।

आधुनिक मराठी कविता के कविकुलगुरु युगप्रवर्तक कवि केशव सुत (1866-1904) ने सामाजिक यथार्थ से दाहक साक्षात्कार किए थे। दलितों पर होने वाले अन्याय का हिसाब एक दिन होगा इसमें उन्हें संदेह नहीं था। 'राख की ढेरी जो दिखाई दे रही है, कल इस दुनिया को वह जलाकर खाक न कर दे इसका आश्वासन क्या तुम दे सकते हो?' उनका यह भी कहना था कि विगत शताब्दियों के घोर पापों का क्षालन करने के लिए हमें अपना खून भी देना होगा। केशव सुत सामाजिक क्रांति के कवि थे। **'अन्त्यज के बेटे का पहला सवाल'** (1888) पूछकर उन्होंने छूआछात के पाखण्ड को खोलकर रख दिया था। यशवंत मनोहर ने अपना काव्य संग्रह **'उत्थान गुंफा'** दलित विद्रोह के युग प्रवर्तक डॉ. अम्बेडकर के साथ-साथ मेरी कविता को कुलारंभ देने वाली मराठी के आदि विद्रोही कवि केशवसुत को भी अर्पित किया है। पर केशवसुत स्वयं दलित नहीं थे अतः उनके प्रति कृतज्ञता का भाव व्यक्त करने पर भी दलित कविता उन्हें अपना आदिकवि नहीं मानती। मराठी की प्रधान काव्य धारा से वह अपनी अलग पहचान बनाना चाहती है।

डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा से दलितों का जो मुक्ति संघर्ष आरंभ हुआ उससे प्रेरणा लेकर बीसवीं शती के पहले दो चार दशकों में कुछ ऐसे जनकवि उत्पन्न हुए जिन्होंने इस संघर्ष का प्रचार किया। इनकी लिखी विपुल कविता मराठी काव्येतिहास में उपेक्षित ही रही। अब दलित कविता इनमें से सार्थक कवियों को अपनी परंपरा के रूप में स्वीकार कर रही है। साहित्यिक के संदर्भ में 'दलित' शब्द का प्रयोग बहुत बाद ही घटना है।''[43]

''उक्त जनकवियों में **किसन फागू बनसोड** सर्वप्रथम है। दलितों के लाचार जीवन का उपहास कर उन्होंने उनमें आत्मसमान जगाने की कोशिश की। अछूतों को जानवरों सी हीन अवस्था में पहुंचाने वाले हिंदू धर्म के भगवान से उनकी प्रार्थना है, 'हरि! मुझे पशु बना या पंछी बना। पर मुझे कभी तू महार न बना।' उन्होंने जान लिया था, 'बिना संघर्ष मुक्ति संभव नहीं है।''

डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा से मुक्ति संघर्ष में अपनी कविता को हथियार बनाने वाले कवियों में **किसन फागू** के अतिरिक्त **शाहिर घेगड़े, वामन कर्डक, दीनबंधु, ना. रा. शेण्डे,** आदि का नाम लिया गया है। कर्डकजी ने कहा था कि, 'जिस अन्याय के नीचे मैं रौदा गया/ उसी की कैफियत शब्दों में लिखता हूं/ आप चाहे इसे कविता मानें या न मानें।' क्रांति के गीत गाते हुए उन्होंने आत्मविश्वास के साथ कहा था, 'हम तूफानों के दिए,

हम तूफानों के दिए/आंधी हवा, बरखा धारा, हमें छूने पाए।' इस पूर्व परंपरा की कविता का कथ्य ही आधुनिक दलित कविता का आशय बनकर प्रचार की अपेक्षा रचना का रूप धारण कर लेता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व की क्षीण सार्थक कविता स्वतंत्रता-प्रप्ति के बीस वर्ष बाद प्रचण्ड विस्फोट के साथ प्रकट होती है। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वंचना का अहसास तीव्र हो जाने पर सामाजिक संघर्ष भी उग्र बन जाता है और अपनी अस्मिता की खोज उसे रचनात्मक आयाम प्रदान करती है। तब पूर्ववर्ती प्रचार-प्रबोधन-प्रधान कविता आज की दलित कविता की परंपरा की भूमिका बन जाती है।"[44]

मार्क्सवादी परंपरा : दलित और शोषित का द्वंद्व

"नई कविता से दलित कविता का प्रस्फुटित होना तो किसी भी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि नई कविता की व्यक्तिवादी चेतना, संमिश्र बिंबों की जटिलता, भाषा की दुर्बोधता, मिथकों की बहुलता और यंत्रयुग से उत्पन्न संत्रास की वृत्तियों के साथ दलित कविता की मानसिकता बिल्कुल मेल नहीं खाती, परंतु विद्रोह और सामाजिक प्रतिबद्धता में सहधर्मी वामपंथी प्रगतिशील काव्यधारा के साथ भी उसका संबंध-भेद शुरू से ही रहा है।

साठोत्तरी मराठी कविता में विद्रोह के जो चेहरे आविष्कृत हुए उनमें से एक चेहरा सूर्योदयी प्रतिबद्ध वामपंथी कविता का भी था। सर्वहारा के दुःख की सही संवेदना मराठी कविता में पहली बार केशवसुत की कविता में व्यक्त हुई थी। उनके पश्चात् जो प्रगतिवादी मराठी कविता लिखी गई वह प्रायः बौद्धिक मध्य वर्गीय मानसिकता युक्त क्रांति की कविता थी। प्रतिबद्ध मराठी कविता की धारा नई कविता के विकास तक निरंतर बहती चली आई जिसे मुक्तिबोध की कविता में रचनात्मक शक्ति प्राप्त हुई। **शाहीर अमर शेख, अण्णाभारू साठे** जैसे जनकवि अवश्य लोकमंच पर पीड़ितों के गीत गाते रहे पर इस प्रतिबद्ध काव्य धारा को सही काव्यभाषा और रचनात्मक क्षमता प्राप्त हुई नारायण सुर्वे की कविता में। उनके पूर्व की प्रगतिवादी कविता अछूतों की समस्या से प्रायः अछूती ही रही।"[45]

"सारस्वतों के साम्राज्य में अपराध करने के लिए' सुर्वे ने बड़े जोश के साथ प्रवेश किया और प्रतिबद्ध कविता की रचनात्मक क्षमता का लोहा मनवाया। शोषितों की यातनाओं को सच्ची अभिव्यक्ति मिली। आम आदमी की जिंदगी के सीधे सच्चे अनुभवों को उनकी कविता **'जाहीरनामा'** बनकर स्वर देती है। **'सूर्य-कुल'** की यह आशावादी कविता दलित कविता को अपने से अलग नहीं मानती। दलित कवि भी अपने को सूर्यवंशी मानते हैं। प्रतिबद्ध विद्रोह के वामपंथी रुझान ने दलित कविता में अंतर्विरोध पैदा कर दिया है। दलित कविता अपनी विशिष्ट पहचान बनाने में मार्क्सवादियों को अपने से अलग हटाना चाहती है जबकि कुछ दलित कवि दलित शब्द का अर्थ विस्तार कर उसमें सभी शोषितों पीड़ितों

को शामिल कर जनवादी व्यापकता ग्रहण करना चाहते हैं **नामदेव ढसाल, केशव, मेश्राम, अर्जुन डांगले** आदि कवियों की रचनाओं में इसे अनुभव किया जा सकता है। दलितों का विद्रोह, शोषितों का आक्रोश और क्रांतिकारियों की प्रतिबद्धता अन्योन्य है। व्यवस्था के विरोध में विभेद की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। पर देखने में यह आता है कि दलित कविता के जन्म से ही वामपंथी प्रतिबद्ध कविता और दलित कविता में एक खाई पैदा होती गई है जिसे पाटने की कोशिश विशेष रूप से मार्क्सवादी कवि निरंतर करते आ रहे हैं जबकि कट्टरपंथी दलित कवियों को डॉ. अम्बेडकर और बुद्ध के साथ मार्क्स को जोड़ना मंजूर नहीं है। मार्क्स को मानकर तथाकथित मार्क्सवादियों का विरोध करने वाले भी एकाध कवि हैं।

यह मानकर चलना चाहिए कि दलित समस्या केवल आर्थिक समस्या नहीं है। वह सामाजिक-सांस्कृतिक समस्या अधिक है, जो वर्गविभेद से समाप्त नहीं हो सकती। वर्णाधिष्ठित जातिवाद की इस जटिल समस्या का सरलीकृत समाधान संभव नहीं हैं। शोषक और शोषित इन्हीं दो रूपों में समाज को विभाजित करने वाले मार्क्सवादियों से दया पवार पूछना चाहते हैं कि क्या शोषितों की तस्वीर एक जैसी होती है? दलितों के बौद्ध और अब संभवतः इस्लाम धर्म को स्वीकारने से दलित संवेदना मार्क्सीय चिंतन से दूर ही हटती जा रही है। दलित और शोषित के बीच की दरार बढ़ती जा रही है।

दलित समस्या मार्क्सवादियों की कसौटी बन गई है। कविता के क्षेत्र में प्रामाणिक दलित कविता ने तथाकथित जनवादी कविता को उसकी सीमाओं से अवगत तो कराया ही है, उसकी ईमानदारी पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिया है। अतः जो सही जनवादी कविता है वह दलित संवेदना से अछूती नहीं रह सकी है और सच्ची दलित संवेदना के लिए मार्क्स पराया नहीं रह गया है। यशवंत मनोहर ने लिखा है : मार्क्स तुम्हारे दिल के दावानल/इन कविताओं के हाथों मैंने सौप दिया है..."[46] दलित कविता नंगी भाषा, अपशब्दों की बौछार, प्राचीन प्रतीकों पर प्रहार और खुद दलित जीवन को उघाड़ने में नहीं चूकती।

दलित आत्मवृत्त

आत्म चरित या आत्मवृत्त साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा है। परंपरा को तोड़ते हुए युवा दलित लेखकों ने आत्मचरित या आत्मवृत्त लिखकर न सिर्फ मराठी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया, वरन् समूचे भारतीय साहित्य में एक विशेष गरिमा पूर्ण यथार्थवादी लेखन का स्तरीय दर्जा पाया। इसमें अस्पृश्य वर्ग की टीस, दर्द, बहिष्कृत-दलित जीवन की तस्वीर स्वतः उभरकर आती है। मात्र 24 से 40 वर्ष की आयु (अब प्रौढ़-ढलती उम्र) के दलित लेखकों ने अपने जीवन की सामाजिक घटनाओं को अपने आत्मवृत्तों में इस खूबी से उतारा कि वे साहित्य की अमूल निधि बन गए। इससे दलित आंदोलन को भी गति मिली। परंपरागत साहित्य में आत्मवृत्त या आत्म-चरित ढलती उम्र में लिखे जाने का रिवाज था। दलित लेखकों ने इस रीति नीति को तोड़ दिया। शुरू के चार आत्मवृत्त 'बलुत'

(25 दिसंबर 1977), 'आठवणींचे पक्षी' (27 जनवरी 1979), 'मुक्काम पोस्ट देवाचे गोठणे' (जुलाई 1979) और 'उपरा' (25 दिसंबर 1970) को प्रकाशित हुए। 'रामनगरी' तथा 'तराल-अंतराल' शीर्षकों से दो आत्मवृत्त और केशव मेश्राम का आत्मवृत्तनात्मक उपन्यास भी प्रकाशित हुआ।

दलित आंदोलन के समस्त उतार-चढ़ाव को समेटे हुए ये आत्मवृत्त सामाजिक दस्तावेज बन गए हैं।

'बलुतं' में दया पवार ने स्वगत या प्रकट चिंतन से कथोपकथन द्वारा उन्मुक्त भाव से अपने जीवन के इर्द-गिर्द की तमाम सामाजिक हकीकतों को उजागर किया है। पवार के आत्मवृत्त में डॉ.अम्बेडकर के युगान्तकारी व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं।

'उपरा' में लक्ष्मण ने दलित जातियों की वर्तमान आर्थिक स्थिति, सामाजिक रूढ़ियों, रहन सहन, देवी-देवता, शिक्षा प्राप्ति में अड़चनों, जाति व्यवस्था, जातीय कट्टरता और सामाजिक परिवर्तन की परंपराओं और चुनौतियों का आत्मवृत्तात्मक शैली में वर्णन किया है। 'उपरा' के वार्तालाप कैकाडी बोली में है। कैकाडी का मराठी से अलग तेलगु भाषा से संबंध रहा है।

'आठवणींचे पक्षी' में सोनकांबले ने सामाजिक यातनाओं दुख दारिद्रय, अधपेट भोजन, पैसे के अभाव और भोगी हुई पीड़ाओं का मार्मिक चित्रण किया है। पूरा विषय प्रतिपादन महारों की बोली में है।

'मुक्काम पोस्ट : देवाचे गोठणे' में माधव कोंडविलकर ने डायरी के पृष्ठों जैसे लेखन में बचपन की यादें उतारी हैं। जाति भेद के कारण एक शिक्षक की छीछलेदर को अंकित किया है। पारंपरिक, या वंशानुगत पेशे को नकारते हुए समाज में सिर उठाकर चलने का प्रयास किया है।, परिवार से संघर्ष मोल लिया है।

इस प्रकार इन आत्मवृत्तों से प्रकट होता है कि अपने अपने संपूर्ण निराशामय जीवन में विपरीत और जानलेवा परिस्थितियों का सामना करते हुए इन दलित लेखकों ने अपनी पढ़ाई पूरी की, अपने समाजों में सामाजिक परिवर्तन को देखा-परखा, यातनाएं झेलीं। इनमें मानव की कमजोरियों का भी सहज-नियंत्रित चित्रण है। कुल मिलाकर स्वातत्र्योन्तर और डॉ. अम्बेडकर के बाद के दलितों में सामाजिक परिवर्तन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृश्य-द्वीप उभरते हैं।

दलित साहित्य की नई प्रवृत्तियां

आदिम निवासी मुंबई सागर तट के 'कोली' मत्स्यजीवियों के विषय में भी उपन्यास, कथा, गीत प्रकाश में आए हैं जो सामाजिक-व्यथा का चित्रण करते हैं। **जेलियट** के शब्दों में : "विगत वर्षो में दलित साहित्य की आश्‍र्चजनक प्रगति हुई है। यह आंदोलन कनार्टक के दक्षिण और उत्तरी गुजरात में भी फैल चुका हैं। अब कन्नड़ और गुजराती में गंभीर और महत्त्वपूर्ण दलित उपन्यास और दलित कविता रची गई है। महाराष्ट्र के बहुत से हिस्सों

में भी अब सक्रियता दिखाई देती है। दया पवार की आत्मवृत्तात्मक कृति 'वलुतं' से शुरू होकर अब आत्मचरित की दिशा में महार, बौद्ध, चम्भार (चमार), और रायम पेशा जातियों के रचनाकारों द्वारा इस दिशा में वृद्धि हो रही है।

दो महिलाओं बेबी कांबले और शांताबाई कांबले ने अपने जीवन वृत्त प्रकाशित किए हैं स्त्रियों द्वारा रचित कविता भी बड़े महत्त्व की है ओर अब छ-सात महिला कवित्रियां हैं। सन् 1986 में महाराष्ट्र में पहली बार 'दलित महिला साहित्य सम्मेलन' हो चुका है। 'दलित रंगभूमि' नाम से रंगमंच की शुरूआत पुणे से हुई, जो अब शहरों में भी फैल गया है और दिल्ली में भी इसकी स्थापना हो चुकी है। सामाजिक विषयों, बौद्ध कथानकों और ऐतिहासिक घटनाओं, जैसे कि तमिलनाडु के मीनाक्षीपुरम में दलितों द्वारा इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने के बारे में नाटक खेले जा चुके हैं।

अभी अंग्रेजी में अनुवाद और आलोचना पर ज्यादा ध्यान नहीं गया। दलित साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर सन् 1976 में 'वागार्थ' में बाबूराव बागुल की कहानी, वामन, निंबालकर की कविताएं प्रकाशित हो चुकी हैं। 'जर्नल ऑफ साउथ एशियन लिटरेचर 1982' में भी बाबू राव बागुल शंकराराव खरात, नामदेव ढसाल पर दिलीप चित्रे का आलोचनात्मक लेख, ढसाल दया पवार और त्र्यंबक सपकाले की रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित किए गए हैं। पुणे के ब्राह्मण जंयत कर्वे जिनका मराठी भाषा और साहित्य पर अधिकार है उनकी मदद से ढसाल की रचनाओं को अनूदित किया जा चुका है। लौरी हावेल ने भी ढसाल पर काम किया है। उन्होंने विसकांसिन साउथ एशिया सम्मेलन, मेडीसन (1988) में ढसाल के कृतित्व पर एक व्याख्यान भी दिया था। ढसाल पर दिलीप चित्रे ने एक फिल्म भी बनाई है।

1989 में दलित साहित्य पर शिकागो विश्वविद्यालय से विनय घरवाडकर ने डाक्टरेट की है जिसमें वर्तमान हिंदी और मराठी साहित्य का विशद अध्ययन किया गया है। सूरत में 'सेंटर फार सोशल स्टडीज' के तत्त्वावधान में 1988 में मराठी और गुजराती दलित साहित्य पर एक सम्मेलन भी हो चुका है।''[47]

दलित पैंथरों के इस यथार्थ मराठी लेखन, दरिद्रता, अत्याचार, दर्द-टीस भर रचनाओं में पिरोई गई अछूतों, दलितों की कष्ट गाथा ने निसंदेह दलित-मुक्ति के कारवां को आगे बढ़ाया है। सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक न्याय को प्रतिष्ठित करने में योगदान दिया है। मराठी में इस प्रगतिशील वैचारिक एवं साहित्यिक धारा ने अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को सच्चाई और युग्धर्मिता के धरातल पर सोचने का मार्ग सुझाया है, एक साहित्यिक मंच, नई परंपरा को जन्म दिया है। अन्य भारतीय भाषाओं में अब दलित लेखन को बल मिला है। अब अंग्रेजी और डच विदेशी भाषाओं में भी दलित साहित्य अनुवादित हो गया है और उस पर शोध हुआ है।

क्या नहीं लगता कि तथाकथित वामपंथी और यथार्थवादी क्रांतिदर्शी एवं प्रगतिशील लेखन फीका पड़ गया है। उसके रंग उतर गए हैं। यथार्थवाद और प्रगतिशील लेखन के मानदंड बदल गए हैं। इस दलित लेखन का जिक्र किए बगैर कोई भी एशिया चर्चा अधूरी

और बेमानी हो गई है और यही सच है।"[48]

मराठी दलित लेखन का अनुकरण करते हुए रांची, दिल्ली, उत्तर प्रदेश में जाटव, बाल्मीकि, खटीक, पासी जातियों के कवि-लेखक उसी तरह को लेखन करने में प्रवृत्त हुए हैं।

संदर्भ

1. चंचरीक, कन्हैयालाल : महात्मा ज्योतिबा फूले, पृ. 130
2. उपरोक्त पृ. 131
3. उपरोक्त पृ. 131
4. उपरोक्त पृ. 131-135
5. चंद्रा, आर. एवं चंचरीक, के. एल. : दलित आइडेंटिटी-हिस्ट्री एंड ट्रेडीशन, पृ. 259-260
6. मंत्री, गणेशः गांधी और अम्बेडकर, पृ. 235
7. सुरवाडे, विजय (सं) डॉ. अम्बेडकर का पत्र व्यवहार, सं. 2 पृ. 142 (मराठी)
8. मंत्री गणेश, पृ. 237
9. बंबई इलाखा महार परिषद सम्मेलन, मई 1935 (डॉ. अम्बेडकर का भाषण)
10. कीर, धनंजय : डॉ. अम्बेडकर-लाइफ एंड मिशन, पृ. 252-53
11. डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाड्.मय खंड 7, पृ. 75 (प्रबंध संपादक-कन्हैयालाल चंचरीक)
12. वही, खंड 7, पृ. 93-94
13. वही, खंड 7, पृ. 344-345
14. कुबेर : बी.आर. अम्बेडकर पृ. 31, 33, 36-39 49,62
15. कुबेर, 148 (परिशिष्ट-3)
16. कुबेर, 148 (परिशिष्ट-3)
17. कुबेर, 148 (परिशिष्ट-3)
18. कुबेर, 148-149(परिशिष्ट-3)
19. कुबेर, 149 (परिशिष्ट-3)
20. दृष्टव्य. हरित, द्रोपदीः हमें जिन पर गर्व है, पृ. 283-284
21. कुबेर, 149 (परिशिष्ट-3)
22. कुबेर, पृ. 150
23. मंत्री गणेश, पृ. 32
24. जोशी, बारबरा आर. : डेमोक्रेसी इन सर्च ऑफ इक्वालिटी, पृ. 25
25. कुबेर, पृ. 151-153
26. परांजपे, प्रभाकर नारायण : दलित आत्मवृत्त : सामाजिक कथा के दस्तावेज, पृ. 48
27. कुलकर्णी गो. म. : दलित साहित्य-एक चिंतन, पृ. 68-69
28. उपरोक्त, पृ. 69
29. उपरोक्त, पृ. 70
30. उपरोक्त, पृ. 71-72
31. खांडेकर, ताराचंद्र : दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, पृ. 78-79
32. उपरोक्त, पृ. 79-80
33. उपरोक्त, पृ. 81

34. उपरोक्त, पृ. 82-83
35. उपरोक्त पृ.83
36. कन्हाड़े, सदा : दलित साहित्य-प्रासंगिकता और संभावना, पृ. 114
37. कन्हाड़े, सदा, 114
38. उपरोक्त, पृ. 115-116
39. उपरोक्त, पृ. 116-117
40. उपरोक्त, पृ. 117
41. कवठेकर बालकृष्ण : दलित कहानी, पृ. 57-67
42. ठकार, प्रा. निशिकांत : मराठी दलित कविता का चरित्र पृ. 86
43. उपरोक्त, पृ. 87
44. उपरोक्त, पृ. 88
45. उपरोक्त, पृ. 88-89
46. उपरोक्त, पृ-89
47. जेलियट, एलानोर : फ्राम अनटचेबिलटू दलित, पृ. 331-333
48. चंचरीक, कन्हैयालाल : दलित लेखन की परंपरा-अम्बेडकर जन्म शताब्दी वर्ष (1991-92) में लखनऊ समारोह में पठित निबंध से)

11

दलित आंदोलन के नए हस्ताक्षर : कांशीराम और मायावती

कांशीराम पूर्व की स्थिति

दलित नेताओं में डॉ. अम्बेडकर हों या जगजीवन राम, बुद्धप्रिय मौर्य हों या पासवान यहां तक कांशीराम और मायावती तक, दलित आंदोलन की लगभग पूरी एक शताब्दी के दौरान, साम्यवाद से अलग ही रहे। इस प्रकार दलित नेता न वामपंथी विचारधारा से प्रभावित हुए, न वामपंथी दल में शामिल होने की इच्छा की। जबकि साम्यवादी दल स्वतंत्रता से पहले और स्वातंत्र्योत्तर भारत में दलित मुक्ति की दिशा में अपनी वामपंथी विचारधारा फैलाने के लिए कृत संकल्प हुआ, लेकिन दलित उसकी ओर कम ही आकृष्ट हुए। दल ने उन्हें सर्वहारा (प्रोलेटेरियट) एवं खेतिहर मजदूर ज्यादा समझा। डॉ. साहेब के परिनिर्वाण के पश्चात् प्रजातांत्रिक व्यवस्था ने केंद्र और प्रदेशों में दलित जातियों के अनेक सामंती-पूंजीवादी सुख-साधन भोगने वाला या सुविधा-भोगी मंत्रीनुमानेता देश को दिए लेकिन उनमें वह ऊर्जा कहां थी जो डॉ. अम्बेडकर में विद्यमान थी। हमारे दलित नेता सुविधा-संस्कृति के प्रभाव में रहे। दलितों में निसंदेह सन् 1956 से 1977 तक लगभग दो दशक तक एक प्रगतिशील विचारधारा के नेतृत्व की भारी कमी खटकती रही। जगजीवन राम राजनीति में शीर्ष पर तो पहुंचे लेकिन वे भी केंद्र में सुविधा-भोगी राजनीति के शिकार हुए। उनका संघर्षशील स्वर आपद्काल के बाद मुखर अवश्य हुआ लेकिन उन्होंने दलितों को राजनीतिक राजनीति और सत्ता हासिल कराने में बहुत कम रुचि ली। रिपब्लिकन पार्टी आपसी फूट, रोज के विभाजन और भौगोलिक-जातीय परिधि से ऊपर नहीं उठी। इस कमी को उत्तर भारत में कांशीराम और मायावती ने पूरा किया। बीसवीं सदी के अंतिम 25 वर्ष कांशीराम के दलित संघर्ष और सत्ता की भागीदारी और सामाजिक परिवर्तन का अनूठा इतिहास है।

वामपंथी विचारधारा

दलित संदर्भ में कांग्रेस और गांधी के कार्यकलापों के विषय में हम गत अध्यायों में परिचर्चा कर चुके हैं। दलित आंदोलन को स्वातंत्र्योत्तर भारत में संगठित-प्रभावित करने की दिशा में साम्यवादी दल के शुरुआती दस्तावेजों के चंद उदाहरण काफी होंगे। वैसे दलित और दलित नेतृत्व उनकी ओर कभी आकृष्ट ही नहीं हुआ। महाराष्ट्र में जो अम्बेडकर का कार्य क्षेत्र था, बिहार जहां जगजीवन राम जन्मे और राजनीतिक जीवन की एक लंबी पारी खेलते रहे वहां दलित-अनूसूचित जातियों के लोग वामपंथी विचारधारा की ओर प्रवृत्त नहीं हुए। यह सच है कि पश्चिम बंगाल, केरल तथा मजदूर बहुल औद्योगिक नगरों को छोड़कर साम्यवादी ज्यादा प्रभाव नहीं छोड़ सके। महाराष्ट्र में शिक्षा-सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अस्पृश्य महारों ने आकाश को स्पर्श किया। लेकिन्न बिहार के चमार दलित बहुत पीछे रह गए। दूसरी ओर उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब और अन्य जगहों के दलित, विशेषतया चमार, जाटव, आदिधर्मी समुदाय और हिमाचल में कोली अनुसूचित जाति ने हर क्षेत्र में भारी तरक्की की। क्या संस्कृति ने सत्ता मोह दिखाकर दलितों को साम्यवादी खेमे में जाने के सारे स्रोत, विकल्प बंद कर दिए थे? सचाई यह है कि अम्बेडकर भले ही राजनीतिक दृष्टि से असफल थे, लेकिन उनकी विचारधारा, उनका दर्शन उनकी मृत्यु के बाद बुद्धिजीवी-दलितों का मार्ग-दृष्टा बना।

भारत के दलित आंदोलन की एक सच्चाई और है कि पूर्व में पश्चिम बंगाल और दक्षिण-पश्चिमी कोने में स्थित केरल में जहां दलित जातियों, भूमिहीन कृषकों, और सर्वहारा तथा ईसाई बने अछूत लोगों में शिक्षा और सांस्कृतिक चेतना काफी ऊंचे स्तर की है वहां वे वामपंथी विचारधारा से काफी प्रभावित हुए हैं। साथ यह कथन सच है कि :

> "साम्यवादियों के नेतृत्व में जब अनुसूचित जातियों में राजनीतिक सक्रियता बढ़ी, कृषि मजदूरों के आंदोलन में हिस्सेदारी हुई, कई प्रदेश सरकारों में वामपंथी प्रजातांत्रिक सरकारों द्वारा उन वर्गों की आर्थिक स्वाधीनता (विशेषतया पश्चिम बंगाल और केरल) में वृद्धि और मजबूती आई तो वे अपनी स्वतंत्रता और समता के अधिकारों के प्रति ज्यादा सजग हुए और चुनावों में अपनी पसंद के उम्मीदवारों को मत देने में प्रवृत्त हुए। जहां वामपंथी दलों के उम्मीदवारों की स्थिति कमजोर थी वहां सत्तर के दशक के मध्य से अनुसूचित जातियों और आदिम जातियों ने महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में दलित पैंथरों, बिहार में भारतीय लोक मोर्चा जिनमें नक्सलवादी उग्र वामपंथी दल भी शामिल हैं तथा उत्तर प्रदेश में बसपा से समर्थन और सुरक्षा प्राप्त की। इस स्थिति की प्रेस में काफी चर्चा हुई।...प्रसिद्ध कांग्रेस नेता योगेन्द्र मकवाना ने इतना तक कहा कि बसपा के कार्यों की वजह से हरिजन चुनावों में सक्रियता से भाग लेते हैं। यह सब इसलिए भी संभव हुआ कि हरिजनों की तरफ पिछड़े वर्गों के लोग भी हैं जिनके साथ बसपा जुड़ी हुई है। उनकी मदद बसपा की अतिरिक्त शक्ति है। अब हरिजन (दलित) अलग-थलग नहीं।"[1] यह सब इसलिए

भी हुए कि यहां रिपब्लिकन पार्टी, टूटी व बिखर गई। बुद्धप्रिय मौर्य और संघप्रिय गौतम इधर-उधर चले गए। हालांकि संघ प्रिय गौतम ने भारतीय जनता पार्टी में उच्च पद प्राप्त किए तथा जाति के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए।

हिंदी भाषी क्षेत्रों में बसपा का उदय वामपंथी आंदोलन के जवाब में उभरा। निसंदेह आठवें दशक में हिंदी भाषी प्रदेशों और महाराष्ट्र में बसपा का उदय हिंदू संप्रदायवाद और उच्च वर्गीय प्रभुता के बढ़ते असर की पृष्ठभूमि में हुआ। बसपा राजनीतिक क्षितिज पर दलित शोषित समाज संगठन समिति (डी.एस. 4) जिसकी स्थापना सन् 1981 में हुई थी उसमें से उदित हुई जिसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में और एक सौ से ऊपर शाखाएं पूरे भारत में थीं। डी.एस. 4 ने उद्घोषणा की थी कि उसका लक्ष्य संसदीय तरीके से राजनीतिक सत्ता हासिल करना है और इसके लिए वह सामाजिक और राजनीतिक जीवन में ऊंची जातियों के वर्चस्व के विरुद्ध ब्राह्मण-विरोधी मंच से, सभी पिछड़े वर्गों को संगठित करके, संघर्ष करेगा।

डी.एस. 4 की स्थापना बामसेफ (बैकवर्ड एण्ड माइनौरिटीज, कम्युनिस्ट एम्पलॉयीज फेडरेशन) के अंदर से शुरू हुई थी। इसके मूलतः सरकारी नौकरीपेशा लोग सदस्य थे और जो आरक्षण की नीति के अंतर्गत नौकरियों में आए थे। ये अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों के लोग थे, जो अस्पृश्य थे, पिछड़े वर्गों में भी निचले स्तर के सदस्य थे। 80 के दशक में गर्व पूर्वक कहा गया कि—

> "फेडरेशन के लगभग 2,20,000 सदस्य बन चुके हैं। बामसेफ में हर श्रेणी के दलित-पिछड़े स्तर के लोग थे। सब लोग जुझारू और जाग्रत किस्म के सक्रिय कार्यकर्त्ता थे। कांशीराम इससे बहुत उत्साहित थे।
>
> यद्यपि बामसेफ पूरे देश में एक दलित शोषण मंच के रूप में उभरा लेकिन इसकी गतिविधियां अधिकतर उत्तर भारत और पंजाब में सीमित थीं।"[2]

यह सही है कि साम्यवादी जाति प्रथा के विरुद्ध थे। छुआछूत खत्म करना चाहते थे। लेकिन उनकी कार्य संस्कृति दस्तावेजों तक सिमटी रही। साम्यवादी दल के सभी मुख्य और संबद्ध संगठनों के मुखिया ऊंची जाति के लोग थे साम्यवादी कुछ क्षेत्रों में ही अपना प्रभाव जमा पाए बाद में दलितों को भी आकृष्ट किया जैसा कि इस कथन से स्पष्ट है कि—

> "जब भारत स्वतंत्र हुआ, साम्यवादी दल ने प्रजातांत्रिक आंदोलन को गतिशील बनाने के लिए अपने ही दल के ऊंची जातियों के कार्यकर्त्ताओं और किसानों के जातीय पूर्वाग्रहों को तिलांजलि देते हुए सवर्ण जाति के बुर्जुआ वर्ग और अवसरवादी नेताओं के विरुद्ध संघर्ष में अस्पृश्य जातियों को आकर्षित करने का लक्ष्य निर्धारित किया था।"[3]

सी.पी.आई. ने सन् 1951 में नीतिगत बयान स्वीकृत करते हुए कहा कि—

> "किसानों के सभी वर्गों में, जिनमें समृद्ध किसान भी शामिल हैं, जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की दिशा में कृषि सुधारों के लिए संघर्ष करना होगा। जिसमें किसान कार्यकर्त्ताओं और गरीब कृषकों की भारी संख्या है और वे ही ग्रामीण जनसंख्या

का बहुसंख्यक वर्ग है। अक्टूबर 1951 में कलकत्ता में संपन्न अखिल भारतीय पार्टी सम्मेलन में हरिजनों की समस्या पर विशेष तौर पर विचार किया गया और उनके लिए बराबर के अधिकारों के लिए संघर्ष की बात कही गई। क्योंकि हरिजनों की भारी तादाद दूसरों की भूमि पर परंपरागत रूप से काम करती है तो कुल मिलाकर कम्युनिस्ट उन्हें कृषि-मजदूर मानते हैं। 1953 के प्रारंभ में ही सी.पी.आई. ने कृषि कार्यकर्त्ताओं का अलग संगठन बनाने का काम प्रारंभ कर दिया था।''[4] पर कितने हरिजन इसमें थे, पता नहीं। मतलब नेतृत्व से है।

''सी.पी.आई. ने जाति प्रथा और इससे जुड़ी अस्पृश्यता को समूल नष्ट करने की आवश्यकता पर जोर दिया। सन् 1952 के प्रथम आम चुनावों के वक्त सी.पी.आई. चुनाव घोषणा पत्र में कहा गया कि–

> ''यदि लोक प्रजातांत्रिक सरकार बनती है तो यह जातीय अत्याचार रोकेगी, अस्पृश्यता और जातिगत असमानता के सभी रीति-रिवाजों को मानने वालों को कानूनन दंडित किया जाएगा।''[5]

दरअसल हरिजनों को भूमिहीन कृषक मानते हुए सी.पी.आई. ने स्वीकार किया कि वे पूरे देश में अस्पृश्यता, दारिद्र्य और सामाजिक विषमताओं के शिकार हैं। इस तरह सी.पी.आई. ने इस तथ्य को स्वीकारा कि अधिकांश भूमिहीन किसान जो दूसरे जमींदारों के यहां पुश्त-दर-पुश्त काम करते हैं, गांव में नारकीय जीवन जीते हैं, अस्पृश्यता के शिकार हैं। वे दलित हरिजन हैं। उनका मुक्ति संग्राम चलाना हमारा ध्येय है। ऐसा लगता है कि शुरू से ही भारत के हिंदुओं की उच्च जातियों और ब्राह्मण बहुल तथा जमींदार घरों के मुस्लिम कम्युनिस्ट नेताओं ने वर्ग चरित्र और वर्ग-संघर्ष की प्राथमिकता के चक्कर में जाति-भेद की वीभत्सता को नजरअंदाज किया। उन्होंने गरीब किसान, परंपरागत खेतिहर मजदूर सर्वहारा वर्ग की मुक्ति और तत्संबंधी आकर्षक नारों को ज्यादा तरजीह दी, लोक गीतों, लोक-नाट्य (पीपुल्स थियेटर) का सहारा लिया; और संगठन खड़े किए। अस्पृश्य जातियों की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को पूरी तरह से नकार दिया गया और हमेशा उन्हें संघर्ष के रास्ते पर खड़ा करने की कोशिश की। जबकि अम्बेडकरवादी दलित शिक्षा प्राप्त करके सामाजिक-राजनीतिक चेतना का पक्षधर बना और सीधे राजकाज में भागीदारी या राजनीतिक सत्ता का दावेदार हो गया।

तेलंगाना (आंध्र प्रदेश) और अन्य जगहों में गरीब-दलित भूमिहीन किसानों और हरिजन गांववासियों को सशस्त्र संघर्ष के लिए प्रेरित किया गया था। नक्सलवादी आंदोलन और लाल सेना में उन्हें घसीटा गया। जबकि बाबा साहेब ने लोकतांत्रिक तरीके से दलितों को शिक्षित, संगठित और संघर्षरत रहने का मूल-मंत्र दिया था।

इधर कांशीराम ने बीसवीं सदी के अंतिम तीन दशकों में जो सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष किया है, वह दलित आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण चरण है। वे आगे बढ़े तो बढ़ते ही चले गए। आलोचनाओं की परवाह नहीं की। उनके प्रारंभिक जीवन पर यहां प्रकाश डालना आवश्यक है :

"कांशीराम के जीवन परिचय को लेकर अनेक भ्रांतियां फैली हैं। अखबारों में कभी उन्हें ब्राह्मण बताया गया, तो कभी पिछड़े वर्ग की किसी जाति से उन्हें संबद्ध किया गया। स्वयं कांशीराम और बसपा कार्यकर्ता इन भ्रांतियों को 'मीडिया की साजिश मानते हैं। उनका कहना है कि हमारे बारे में बहुत सारी बातें हमसे बिना पूछे-जांचे ही लिख दी जाती हैं।"[6] वास्तव में कांशीराम का प्रारंभिक जीवन संघर्षों से भरा हैं आम पढ़े-लिखे युवा दलित की तरह उन्होंने भी पंजाब से दूर-दराज महाराष्ट्र में सरकारी नौकरी की।

कांशीराम के जीवन परिचय की जानकारी देने के लिए बहुजन समाज पार्टी के केंद्रीय कार्यालय ने एक 'विवरण पत्र' जारी किया है। इसके अनुसार कांशीराम का जन्म पंजाब के रोपड़ जिले के ख्वासपुर गांव में 1934 में रामदसिया जाति (हरिजन से सिख बने) परिवार में हुआ। कांशीराम का बचपन अपने गांव ख्वासपुर में ही बीता और उनकी प्रारंभिक शिक्षा भी वहीं हुई। बाद में उन्होंने रोपड़ आ कर 1956 में बी.एस.सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1957 में उन्होंने 'सर्वे ऑफ इंडिया' की प्रतियोगात्मक परीक्षा पास की और प्रशिक्षण के लिए चले गए। लेकिन प्रशिक्षण के दौरान जब उनसे 'सर्विस बांड' भरने को कहा गया, तब उन्होंने नौकरी छोड़ दी। इसके वाद वह पूना के रक्षा विज्ञान एवं अनुसंधान विकास संस्थान की 'एक्सप्लोसिव रिसर्च एंड डेवलपमेंट लेबोरटरी' में अनुसंधान सहायक के पद पर कार्यरत हो गए।

इसी दौरान एक ऐसी घटना हुई, जिसने पंजाब के इस युवक के जीवन की दिशा ही बदल दी। पूना के रक्षा अनुसंधान संस्थान में बुद्ध जयंती और अम्बेडकर जयंती के दो अवकाशों को समाप्त कर प्रशासन ने एक अवकाश दीवाली की छुट्टियों में समायोजित कर दिया और अम्बेडकर जयंती के स्थान पर तिलक जयंती की छुट्टी घोषित कर दी गई। प्रयोगशाला की वर्क्स कमेटी के एक अनुसूचित जाति के कर्मचारी ने इसका विरोध किया, तो उसे निलंबित कर दिया गया। इस घटना ने कांशीराम को झकझोर दिया। सहयोगी कर्मचारियों की सलाह की परवाह न कर उन्होंने निलंबित कर्मचारी की कानूनी मदद की और इस मामले को न्यायालय में ले गए, जहां उनकी जीत हुई। निलंबित कर्मचारी को वापस लिया गया और बुद्ध जयंती की छुट्टी बहाल हुई। इस लड़ाई को जीतने के बाद कांशीराम चैन से नहीं बैठे। उन्होंने इस मामले में गहराई तक जाने का फैसला किया। उन्होंने बाबा साहब अम्बेडकर की रचनाओं का गहन अध्ययन किया और 'भारतीय समाज की जातिवादी संरचना (ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था) को नष्ट कर 'बहुजन समाज की मुक्ति' को अपने जीवन का ध्येय बना लिया।[7]

डी.एस. फोर से बसपा तक का सफर

दलित या बहुजन क्रांति के सूत्र हमें गदर और उसके बाद महात्मा ज्योतिबा फुले के सामाजिक-शैक्षिक आंदोलन में तलाशने चाहिए। दरअसल, सन् 1857 का सिपाही विद्रोह

जो मेरठ-गाजियाबाद, दिल्ली में पूरे जोर-शोर से फैला और जो आरंभ में कंपनी की फौज के हिंदुओं की ऊंची जाति और मुस्लिम सिपाहियों की बगावत थी धीरे-धीरे लोक क्रांति में बदल गया था। इस विद्रोह की लपटें पूरे भारत में फैलीं। इस क्रांति को सिपाही विद्रोह, भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम या गदर का नाम दिया गया। यह यद्यपि पूरी तरह विफल हो गया था, लेकिन भारतवासियों विशेषतया किसान-कामगार जातियों में सामाजिक-राजनीतिक चेतना भर गया था।

दो साल तक विद्रोह की आग सुलगती रही जिसमें बहुजन समाज के लोगों की सक्रिय भूमिका भी थी जिस पर इतिहासकारों ने ईमानदारी से नहीं लिखा। स्वतंत्रता की दीप शिखा प्रज्ज्वलित करने और उसे प्रभासित रखने में छोटी जातियों की भागीदारी को आंका ही नहीं गया है। गदर के बाद सत्ता *ईस्ट इंडिया कंपनी* के हाथ से छिनकर सीधे ब्रिटिश ताज के हाथ में चली गई। तत्पश्चात् भारत में व्यापक परिवर्तन हुए। शिक्षा, उद्योग, रहन-सहन के क्षेत्र में भारी बदलाव आए, लेकिन अस्पृश्यता और जातीय ऊंच-नीच की भावना का कलंक नहीं मिट सका। सामंतवाद, जमींदारी, पुरोहित या मनुवाद नहीं मिटा।

19वीं सदी में फुले ने दबे-कुचले, शोषित वर्गों में सामाजिक-शैक्षिक और सांस्कृतिक क्रांति का बिगुल बजाया। फुले के सामाजिक परिवर्तन के योगदान को इतिहासकारों ने उपेक्षित रखा ध्यान ही नहीं दिया था, लेकिन स्वातंत्र्योत्तर काल में यूरोपीय चिंतकों ने फुले को 19वीं सदी का और डॉ. अम्बेडकर को बीसवीं सदी का सामाजिक क्रांति, लोक-परिवर्तन का मसीहा बताया और यह बात पूरे विश्व में अब स्वीकारी जा चुकी है। कांशीराम और मायावती उसी परंपरा को अपनी राजनीतिक सोच और कार्यशैली से आगे बढ़ा रहे हैं। इस कार्य में अनेक बाधाएं हैं। आलोचनाएं भी होती हैं। जिन लोगों ने सामाजिक दासता कायम कर रखी थी, जिनके पुरखों ने अस्पृश्यता और ऊंच-नीच की बेड़ियां पहना रखी थीं, बहुजन समाज को गुलाम बना रखा था उनमें प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है।[8]

वास्तविकता यह है कि भारत में दलित राजनीति का उदय सन् 1925 से हुआ तथा 1956 में बाबा साहेब की मृत्यु और बाद में 1980 से जगजीवन राम के राजनीति में हाशिए पर चले जाने से। दलितों के नेतृत्व में रिक्तता आ गई। ऐसे में साहेब डॉ. अम्बेडकर द्वारा सक्रिय सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने के साथ-साथ ही हो गया था, जब उन्होंने दलितों के अधिकारों की लड़ाई लड़ी। वे जीवन भर अस्पृश्यों के मुक्ति-संग्राम की अगुवाई करते रहे। जो दलित नेता कांग्रेस में थे, वे मात्र प्रतीक रूप में एकाध को छोड़कर, सजावटी चीज ज्यादा थे। कांग्रेस ने 1937 में दलितों में से कुछ लोग मंत्री और संसदीय सचिव बनाए। लेकिन असली सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई बाबा साहेब ने ही लड़ी।

6 दिसंबर, 1956 को उनके परिनिर्वाण के बाद महाराष्ट्र में दलित राजनीति विभाजित हुई जिसके दादा साहेब गायकवाड़ और आर.एस. गवई जैसे नेता सिरमौर बने। उत्तर भारत में बुद्धप्रिय मौर्य ने दलितों को संगठित किया। लेकिन बहुत से नेता इसी ताक में रहते थे कि येन केन प्रकारेण वे कांग्रेस का आंचल थाम कर आगे बढ़ जाएं। दलितों

में घरानाशाही कांग्रेस की देन है। शुरू में अधिकांशत दलित नेता कांग्रेस की मेहरबानी से आगे बढ़े। जातीय समीकरण और जातीय संगठनों की बदौलत पद और प्रतिष्ठा हासिल करने में सफल हुए। विधान सभा या संसद की सदस्यता अथवा मंत्रीपद प्राप्त कर लेना उनकी महत्त्वाकांक्षा बनी। दलितों-पिछड़ों से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था।

राष्ट्रीय स्तर पर साधन विहीन होते हुए भी व्यापक लोक समर्थन और लोक सहयोग से कांशीराम ने एक सशक्त कॉडर खड़ा किया। 1977 से मायावती उसकी दूसरी शक्तिशाली नेता बनीं। आज कांशीराम और मायावती को नजरअंदाज करके बहुजन समाज की राजनीति की चर्चा बेमानी लगती है।

पहले उन्होंने *बामसेफ* बनाई। फिर *डी.एस. फोर* का गठन किया। जिसकी देश के कोने-कोने में दलित-बहुजन पाकिट्स में धूम मच गई। लगभग एक दशक तक 1973 से 1984 तक कांशीराम अकेले ही जूझते रहे। दलितों और पिछड़े वर्गों में नई जागृति और अधिकारों के प्रति सावधान रहने का पाठ पढ़ाते रहे। उन्होंने अपने अखबार-पत्रिकाएं निकालीं। प्रदर्शन रैलियां की। नवजागरण के लिए प्रदर्शनियां आयोजित कीं। जिसका देशभर में अच्छा असर हुआ। यहीं से बहुजन समाज एक तीसरी ताकत के रूप में उभरने लगा। इसके साथ ही एक नए नेतृत्व का श्रीगणेश हुआ जो कांशीराम का सपना था। पहले उन्हें हर छोटे-बड़े कर्मचारी-अधिकारी का सहयोग मिला। फिर स्वैच्छिक सामाजिक संगठनों का व्यापक सहयोग मिला और इन सबसे प्रेरित 1984 में उन्होंने बहुजन समाज पार्टी की 14 अप्रैल के दिन नींव डाली। उसी दिन अपनी नौकरी से त्याग पत्र देकर मायावती बसपा की राष्ट्रीय महासचिव बनीं और लोक सभा के कई उपचुनाव और चुनाव लड़े। सफलता भी हासिल की।

देश की राजनीति में इस प्रकार कांशीराम और मायावती सामाजिक जागरण के अग्रदूत और एक राजनीतिक शक्ति बनकर उभरे। अकादमिक स्तर पर प्रारंभ में दलित राजनीति को उभारने और कांशीराम को सही दिशा निर्देश देने में सांसद शिवदयालसिंह चौरसिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। मायावती जैसे बहुजन समाज के नेता कांशीराम की प्रखर संगठन क्षमता और राजनीतिक सूझ-बूझ के प्रतिफल कहे जाएंगे। राम खोबरागड़े, मनोहर आटे, खापर्डे आदि ने *बामसेफ—डी.एस. फोर* के कॉडर निर्माण में योगदान किया है। आज कांग्रेस सामंतों, राजा-रजवाड़ों, नव धनाढ्यों की पार्टी बन गई है। जनता दल में टूटे-बिखरे कांग्रेसी, पुराने समाजवादी जे.पी. आंदोलनों के कार्यकर्ता घुस गए हैं। वर्तमान समाजवादी पार्टी एक व्यक्ति का तमाशा है जिसने विश्वनाथ प्रताप सिंह, चंद्रशेखर, देवीलाल सरीखे लोगों को झूठा बताया है, धोखा दिया है। बहुजन समाज पार्टी पूरे भारत में अपना जनाधार बढ़ा रही है। आज लगभग लोकसभा की 250 सीटों को बसपा प्रभावित करती है। यह सब अगड़ों को अखरता है।[9]

बहुजन समाज पार्टी उभरते भारत की पार्टी है। उपेक्षितों, अधिकार वंचितों, दलितों, शोषितों, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों की पार्टी है। गांव, कस्बे और शहरों की छोटी-छोटी बस्तियों और झोपड़ों, कच्चे घरौंदों में रहने वालों की पार्टी है। भूमिहीन मजदूरों, शिल्पियों, बुनकरों

की पार्टी है। जाति, धर्म, लिंग के भेदभाव के बिना उन तमाम लोगों की पार्टी है, सर्वजन समाज की पार्टी है जिन्हें सत्ता की भागीदारी से दूर रखा गया है।

शुरू में दादा साहेब गायकवाड़ *रिपब्लिकन पार्टी* के नेता बने। लेकिन महाराष्ट्र के कांबले अपना गुट बना बैठे। 1972 में गायकवाड़ की मृत्यु के बाद आर.एस. गवई दलित राजनीति के क्षितिज पर उभरे। लेकिन बैरिस्टर खोबरागड़े ने कांबले की तर्ज पर तीसरा गुट बना लिया और सुख-सुविधा की राजनीति में लग गए। इस तरह 1972 के आते-आते बाबा साहेब के उत्तराधिकारियों के तीन कोर ग्रुप कुकुरमुत्ते की तरह उभर आए—आर. एस. गवई ग्रुप, कांबले ग्रुप और खोबरागड़े ग्रुप। तीनों ही महाराष्ट्रियन, तीनों ही महार। फिर एक चौथा ग्रुप भी उभरा—बाबा साहेब के वंशधर (प्रपौत्र) प्रकाश अम्बेडकर का। लेकिन इनका प्रभामंडल सीमित रहा। कोई दलित क्रांति संभव नहीं हुई। आज हालत यह है कि बाबा के अनुयायियों के महाराष्ट्र में रिपब्लिकन पार्टी से टूटे बिखरे 13-14 गुट बन गए हैं जिनमें तथाकथित दलित पैंथर या दलित बुद्धिजीवी, कवि और लेखक घुस गए हैं।[10]

रिपब्लिकन और दलित पैंथर बाबा साहेब की पूरी नकल करते हैं। पैंट-कोट पहनते हैं, हैट लगाते हैं। गाड़ी में चलने की जुगाड़ करते है। विदेश घूमने के चक्कर में रहते हैं। अमेरिका या यूरोप के किसी बौद्धिक संगठन से जुड़कर इनाम के फेर में रहते हैं। लेकिन बाबा साहेब के गुणों को नहीं अपनाते। उनके जैसा विद्यार्जन नहीं करते। इसके विपरीत उत्तर भारत, दिल्ली और राजस्थान में विद्याधरों की एक लंबी-चौड़ी सूची है। उनकी सृजनात्मक शक्तियों की भी प्रशंसा की जा सकती है। अम्बेडकर आंदोलन ने महाराष्ट्र में केवल महारों को शक्तिशाली बनाया, ऐसा आरोप यूरोप और अमेरिका के समाज विज्ञान के अध्येता उन पर थोपते हैं। लगता है यह एक सच्चाई है। जातीय प्रगति-असंतुलन दलितों में बढ़ा है।

सन् 1972 से 1980 के बीच सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए तबके जोशीले कांशीराम ने अपने बामसेफ संगठन के जरिए राजनीतिक ऊर्ज़ा एकत्रित की थी। उन्होंने अम्बेडकर मिशन को पुनर्जीवित किया। नई रोशनी दिखाई, सरकारी कर्मचारियों, सक्रिय-निष्क्रिय सामाजिक संगठनों, कार्यकर्त्ताओं को इकट्ठा किया। बाबा साहेब के अधूरे कार्य को आगे बढ़ाने के लिए उनका आह्वान किया। छात्र नेता और युवा सामाजिक कार्यकर्ता के नाते मायावती ने इस दौरान उनके कार्य में हाथ बढ़ाया।

जब कांशीराम ने बड़ी मेहनत और लगन से समर्पित कार्यकर्ताओं का एक कॉडर खड़ा किया तो दलित-शोषित नेतृत्व में हलचल पैदा हुई। सरकारी कर्मचारियों और स्वतंत्र रूप से छोटे-मोटे व्यवसायों में कार्यरत लोगों ने उनकी तन-मन-धन भरपूर सहायता की। संगठन पूरे भारत में फैल गया। उत्तर भारत में *अम्बेडकर मिशन* पुनर्जीवित हो उठा जिसे बी.पी. मौर्य और संघप्रिय गौतम ने बीच में छोड़ा था।

सन् 1980 के बाद कांशीराम ने *डी.एस. फोर* संगठन खड़ा किया जो और भी अधिक प्रभावी था। यह अफ्रीका के नेता मंडेला के जुझारू संगठन से मिलता-जुलता था। अमेरिकन

नीग्रोज के ब्लैक पैंथर्स की तरह था।

डी.एस. फोर के बाद 1984 में बहुजन समाज पार्टी गठित की गई। जिसका श्रेय कांशीराम को जाता है।

सन् 1977 से 1984 के मध्य एक ऊर्जावान, निष्ठावान, समर्पित कार्यकर्त्ता के नाते मायावती ने कांशीराम के इन संगठनों में कार्य किया और अपनी प्रतिभा, वाक्पटुता, कार्यशैली और संगठन क्षमता का परिचय दिया। अलग पहचान बनाई, अध्ययापिका की नौकरी छोड़ दी। शादी न करने की भीष्म प्रतिज्ञा की। विवाह-बंधन को एक बाधा समझा। उनके इस कदम को दलित और पिछड़े वर्गों, बहुजन समाज को इस सदी के इतिहास का सबसे बड़ा त्याग और बलिदान के रूप में लेना जाना चाहिए।

1989 के आते-जाते बहुजन समाज पार्टी पूरे भारत में अपनी अच्छी छवि बना चुकी थी। छोटी-सी अवधि में उनके राजनीतिक प्रयोग और आकांक्षाओं को मायावती ने मूर्त्तरूप प्रदान किया। सभी बड़े राजनीतिक दलों में बसपा के बढ़ते हुए जनाधार से खलबली मच गई थी।

अब मायावती, बसपा के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्तर की नेता मानी जाती थीं। बसपा में मायावती के उभरते प्रभाव को कोई चुनौती नहीं दे पाया। अब बसपा राजनीति में तीसरी शक्ति के रूप में उभरने लगी है। भले ही शुरू-शुरू में राजनीतिक परिणाम विपरीत रहे हों, लेकिन दलित और पिछड़े वर्गों और बहुजन समाज में राजनीतिक चेतना का प्रवेश हुआ है। उनमें वोट की शक्ति का अहसास हुआ। वे अब बिकाऊ नहीं, वरन् व्यवस्था बनाऊ सिद्ध हुए।[11]

इस प्रकार कांशीराम और मायावती बसपा के शिखर नेता बने। बसपा के राजनीतिक दर्शन की व्याख्या करने से लेकर उसे राष्ट्रीय दल और उत्तर प्रदेश में एक उभरता राजनीतिक विकल्प बनाना इसका प्रमाण है।

अम्बेडकर को कांशीराम ने सदैव अपना आदर्श माना। वे उनके विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे।

कांशीराम के अनुसार :

"मुझे अम्बेडकर की पुस्तक 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट' से सबसे ज्यादा प्रभावित किया और मैंने समझ लिया कि जातिवादी सामाजिक व्यवस्था ही सभी बुराइयों की जड़ है और अन्याय के अंत के लिए जातिविहीन समाज की स्थापना आवश्यक है। इसके बाद 1964 में मैंने नौकरी छोड़ दी और पूरी तरह से सामाजिक एवं राजनीतिक बदलाव के काम में जुट गया।" उन्होंने अपने पारिवारिक दायित्वों से मुक्ति पाने के लिए आजीवन अविवाहित रहने का निश्चय भी कर लिया। नौकरी छोड़ने के बाद कांशीराम कुछ समय तक रिपब्लिकन पार्टी से जुड़े, लेकिन शीघ्र ही उससे उनका मोह भंग हो गया और उन्होंने उससे अपना नाता तोड़ लिया। इसके बाद कांशीराम दलित अल्पसंख्यक शोषित वर्ग को संगठित करने के लिए जुट गए।

6 दिसंबर 1978 को कांशीराम ने अनुसूचित जाति/जनजाति, पिछड़े वर्ग और अल्पसंख्यक समुदाय के कर्मचारियों को संगठित करने के लिए 'बामसेफ' नामक गैर-राजनीतिक संगठन की स्थापना की। केंद्र सरकार, राज्य सरकार, स्थानीय निकायों, बैंकों, स्वशासित संस्थाओं, विद्यालयों और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों में कार्यरत दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक वर्गों के कर्मचारियों के बीच 'बामसेफ' (**बैकवर्ड एंड माइनरिटी कम्युनिटी एम्प्लायीज फेडरेशन**) का प्रसार करने में कांशीराम को आशातीत सफलता मिली और बसपा के सूत्रों के अनुसार करीब दो लाख कर्मचारी बामसेफ के सदस्य बन गए थे।

'बामसेफ' का गठन कर कांशीराम ने दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यक समुदायों के शिक्षित और अपेक्षाकृत जागृत वर्ग को एक अखिल भारतीय संगठन के साथ जोड़ने में सफलता प्राप्त की। इसमें 3000 से ज्यादा डॉक्टर, 15 हजार वैज्ञानिक, 70 हजार स्नातक और लगभग 500 डॉक्टरेट की उपाधि वाले सदस्य शामिल हैं। बामसेफ को कांशीराम न पूरी तरह गैर-राजनीतिक और गैर-आंदोलनकारी संगठन बनाया। लेकिन बामसेफ ने ही वह जमीन तैयार की, जिस पर आज बहुजन समाज पार्टी की फसल खड़ी है। इसीलिए बसपा के अंदर बामसेफ को बहुजन समाज का 'ब्रेन बैंक, टैलेंट बैंक और आर्थिक बैंक' माना जाता है।

बामसेफ के माध्यम से कांशीराम ने कार्यकर्ताओं की फौज और आर्थिक संसाधन तो जुटा लिए, लेकिन अपने आंदोलन के विस्तार के लिए उन्हें अब एक ऐसे जन संगठन की जरूरत थी, जो बहुजन समाज पर होनेवाले अत्याचारों के खिलाफ मुखर प्रतिरोध कर सके और सदियों से दबे-कुचले, मानसिक हीनता से ग्रस्त लोगों को अपनी सामाजिक हैसियत बदलने के लिए खड़ा कर सके। इस काम के लिए 'बामसेफ' अपर्याप्त था। इसकी अपनी सीमाएं थीं। इसलिए 6 दिसंबर 1981 को **'दलित शोषित समाज संघर्ष समिति'** (डी.एस. फोर) का गठन किया गया।

डी.एस. फोर की सदस्यता बहुजन समाज के सभी सदस्यों के लिए खोल दी गई। प्रारंभ में बामसेफ के सदस्यों ने अपने परिजनों, रिश्तेदारों और मित्रों को इसका सदस्य बनाया। इस संगठन का उद्देश्य बहुजन समाज के बीच अनेक तरह के जागृति कार्यक्रम चला कर उन्हें परंपरागत सामाजिक दासता के विरुद्ध संगठित करना था। यह एक राजनीतिक पार्टी नहीं थी, लेकिन इसका उद्देश्य एक राजनीतिक शक्ति का निर्माण करना था।''[12]

संगठनात्मक और रचनात्मक दृष्टि से उत्तर भारत के आराम पसंद दलित नेताओं को एक मायने में कांशीराम ने पीछे छोड़ दिया।

दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों के बीच बहुजन समाज की चेतना का प्रचार-प्रसार करने के लिए डी.एस. फोर ने देश भर में साइकिल यात्राओं, जन संसदों, जन सभाओं आदि का आयोजन व्यापक स्तर पर किया। उसके इन कार्यक्रमों का सिलसिला दक्षिण

में कन्याकुमारी, उत्तर में कारगिल, उत्तर पूर्व में कोहिमा, पश्चिम में पोरबंदर और पूर्व में उड़ीसा से शुरू हो कर पूरे देश में चलता हुआ दिल्ली में संपन्न हुआ। 6 दिसंबर 1983 से 15 मार्च 1984 (100 दिन) तक चले इस जन जागरण अभियान में तीन लाख से ज्यादा लोगों ने हिस्सा लिया। यह जानकारी देते हुए बहुजन समाज पार्टी के कार्यकर्ता बताते हैं कि उत्तर प्रदेश में डी.एस. फोर ने शराबबंदी आंदोलन भी चलाया और जहां एक तरफ सरकार को दलित बस्तियों से शराब के ठेके हटाने के लिए विवश किया, वहीं साइकिल यात्राओं द्वारा बहुजन समाज के बीच भी शराब से होनेवाली सामाजिक और आर्थिक क्षति का प्रचार किया गया। बरेली के कटरा चांद खां में शराब भट्टी के खिलाफ डी.एस. फोर द्वारा किया गया सत्याग्रह और आंदोलन इसका एक उदाहरण है।[13]

बसपा की स्थापना

बामसेफ और डी.एस. फोर के द्वारा बहुजन चेतना के विस्तार को राजनीतिक संघर्ष से जोड़ने के उद्देश्य से कांशीराम ने 14 अप्रैल, 1984 को बहुजन समाज पार्टी की स्थापना की। इस प्रकार बहुजन समाज को राजसत्ता पर काबिज करने के लिए बसपा के रूप में एक ऐसे राजनीतिक दल की स्थापना हुई, जिसमें नेतृत्व से ले कर साधारण कार्यकर्ता तक सवर्णों का प्रवेश निषेध और हर स्तर पर दलित वर्ग का नियंत्रण है।

कांशीराम और बहुजन समाज पार्टी की वैचारिक जड़ें भारतीय समाज की जन्म आधारित वर्ण व्यवस्था (जाति प्रथा) के अंदर हैं। इसीलिए कांशीराम की विचारधारा सदियों से भारतीय समाज में होनेवाले जातीय भेदभाव, उत्पीड़न और सामाजिक अत्याचार की नकारात्मक प्रतिक्रिया है। स्वयं कांशीराम कहते हैं कि–

> *"मैं सामाजिक न्याय से ज्यादा सामाजिक अन्याय को बसपा के विस्तार के लिए महत्त्वपूर्ण मानता हूं। जितना ही सामाजिक अन्याय बढ़ेगा, बहुजन समाज में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ आक्रोश बढ़ेगा और सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया तेज होगी।" (दिल्ली में 'प्रेस से मिलिए' कार्यक्रम में)।*

कांशीराम के लिए पूंजीवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद, गांधीवाद आदि का कोई महत्त्व नहीं है और न ही वह इनमें से किसी 'वाद' को भारतीय समाज के अनुकूल मानते हैं। उनके अनुसार देश की समस्त सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं के लिए दोषी है 'ब्राह्मणवाद' और दुनिया के सारे वाद यहां आकर उसमें विलीन हो जाते हैं। इसीलिए कांशीराम ने डॉ. राममनोहर लोहिया के गैर-कांग्रेसवाद की तर्ज पर गैर-ब्राह्मणवाद को अपना राजनीतिक मिशन बनाया हुआ है।[14] यह काम दक्षिण में पेरियार ने किया था।

दलित आंदोलन को एक नई राजनीतिक कार्य-शैली प्रदान करने वाले कांशीराम ने अम्बेडकर की तर्ज पर ब्राह्मणवादी संस्कृति का विरोध किया। दरअसल वे ब्राह्मणों के नहीं, उन दकियानूसी, पुराणपंथी, संकीर्ण विचारतंत्र के विरोधी हैं, जिसके कारण दलितों

ने यातनाएं झेलीं, बहिष्कार सहा। कहा गया कि–

> "उनकी ब्राह्मणवाद विरोधी विचारधारा का सार यह है कि भारतीय समाज एक सोपानवादी समाज है और इसके शीर्ष पर ब्राह्मणवादी सवर्ण बैठे हैं। उन्होंने सदियों से बहुजन समाज (दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों) को मानसिक और सामाजिक रूप से अपना दास बना रखा है। उनके श्रम और आर्थिक शोषण के जरिए सवर्णों ने अपनी सत्ता हर क्षेत्र में कायम कर रखी है। भारतीय समाज को कांशीराम सीधे तौर पर दो हिस्सों में बांटते हैं। सवर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को वह अल्पजन समाज की संज्ञा देते हैं जबकि दलित, पिछड़े और अल्प संख्यक उनके बहुजन समाज के घटक हैं। उनकी बहुजन समाज की इस अवधारणा का आधार जाति प्रथा पर डॉ. भीमराव अम्बेडकर की रचना 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट' है। अपने भाषणों और साक्षात्कारों में कांशीराम अपनी इस अवधारणा को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने अपनी सत्ता को कायम रखने के लिए बहुजन समाज को छह हजार जातियों में विभाजित कर रखा है। इन छह हजार जातियों को संगठित करके ही ब्राह्मणवादी प्रभुत्व को समाप्त किया जा सकता है और इसीलिए बहुजन समाज पार्टी लगातार दलित, पिछड़ा और अल्पसंख्यक समीकरण बना कर राजनीतिक सत्ता पर काबिज होने की रणनीति पर काम कर रही है।"[15]

आरोप लगाया जाता है कि देश में तीन-साढ़े तीन प्रतिशत आबादी वाले ब्राह्मण समाज ने धर्म, शिक्षा, संस्कृति, राजनीति सबको एक व्यापार सा बना रखा है। वे जीवन के हर क्षेत्र में हावी हैं। ब्राह्मणवाद सामंतवाद से भी ज्यादा खतरनाक है। इसी संदर्भ में समाज और राजनीति पर सवर्ण प्रभुता का आधार ब्राह्मणवाद को मानते हुए कांशीराम की मान्यता है कि सवर्णों का शक्ति के सभी स्रोतों राजनीति, अफसरशाही, वंश परंपरा, अर्थव्यवस्था, धर्म और संस्कृति पर एकाधिकार है। जातीय उत्पीड़न और सामाजिक विषमता को धार्मिक आधार प्रदान करने के लिए कांशीराम हिंदू धर्म और उसके ग्रंथों की आलोचना भी करते हैं। उनके अनुसार देश की असमानता, अन्याय और भेदभाव का कारण हिंदू समाज की धर्म व्यवस्था है, जिसने भाग्य, पुनर्जन्म, पूर्वकर्म आदि सिद्धांतों के द्वारा दलितों को हजारों वर्षों से मानसिक दासता में जकड़ दिया है। इसी के साथ वह आर्य-अनार्य की विभाजन रेखा खींचते हुए बहुजन समाज को इस देश का मूल निवासी मानते हैं, जिन्हें आर्यों ने दास बना दिया है। इसीलिए वह उत्तर से दक्षिण तक बहुजन समाज की एकता के लिए दक्षिण की द्रविड़ जातियों को भी बहुजन समाज का अंग मानते हैं। अल्पसंख्यकों को बहुजन समाज का अंग मानने के लिए कांशीराम का तर्क है कि देश के बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों (मुसलमान, सिख और ईसाई) ने ब्राह्मणवादी अत्याचार से ग्रस्त होकर ही धर्म परिवर्तन किया और मूल रूप से ये दलित और पिछड़ी जातियों के ही लोग हैं। इसीलिए बसपा अल्पसंख्यकों में भी आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े हुए अल्पसंख्यकों के बीच ज्यादा सक्रिय है।[16]

कांशीराम ने तात्विक दृष्टि से विचार किया है कि–

"इस देश में जाति के आधार पर ही पदों, लाभों का वितरण और उत्पीड़न होता है। देश की जनसंख्या के कुल 15 प्रतिशत सवर्णों और उनके सहयोगियों ने पदों, लाभों और सत्ता के सभी स्रोत एवं संसाधन हथिया रखे हैं। इसलिए इस अन्यायपूर्ण स्थिति की समाप्ति के लिए बहुजन समाज को एकजुट हो कर राजनीतिक सत्ता पर काबिज होने के लिए संघर्ष करना होगा।

कांशीराम और उनकी बहुजन समाज पार्टी की दृढ़ मान्यता है कि भारतीय समाज की यह अन्यायपूर्ण सोपानवादी व्यवस्था छिटपुट सरकारी सुविधाओं, सामाजिक सुधारों या आरक्षण जैसे प्रावधानों से नहीं बदल सकती। उन्हें कांशीराम ब्राह्मणवादी शक्तियों द्वारा बहुजन समाज का झुनझुना पकड़ाने से ज्यादा कुछ और नहीं समझते। इसी आधार पर वह गांधीवाद का विरोध करते हैं। गांधीवाद को कांशीराम ब्राह्मणवाद का ही दूसरा रूप मानते हैं। उनके अनुसार यह हिंदू धर्म के पुराने सिद्धांतों का नवीन संस्करण है। यह जाति व्यवस्था को बनाए रखना चाहता है। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर गांधीवाद के विरुद्ध थे।

इसी तरह सरकारी नौकरियों में आरक्षण मात्र को वह सब कुछ नहीं मानते। यद्यपि यह कहते हैं कि फिलहाल आरक्षण जारी रहना चाहिए, लेकिन दलितों और पिछड़ों को अपना संघर्ष आरक्षण तक ही सीमित नहीं कर देना चाहिए। इसीलिए वह जनता दल के सामाजिक न्याय के नारे को निरर्थक मानते हैं।

कांशीराम का एक ही नारा है कि बहुजन समाज को राजसत्ता पर नियंत्रण चाहिए। इसीलिए बहुजन समाज पार्टी चुनावों में कोई घोषणा पत्र भी जारी नहीं करती। बहुजन समाज पार्टी ने सामाजिक परिवर्तन के पांच लक्ष्य निर्धारित किए हैं : आत्मसम्मान के लिए संघर्ष, मुक्ति के लिए संघर्ष, समानता के लिए संघर्ष, जाति प्रथा के उन्मूलन और विभाजित समाज में भाई-चारे के लिए संघर्ष, छुआछूत, अन्याय, अत्याचार और आतंक के विरुद्ध संघर्ष।[17]

डॉ. अम्बेडकर भी राजनीतिक सत्ता को सभी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक सुधार और प्रगति की कुंजी मानते थे।

कांशीराम स्पष्टतावादी हैं। खरी-खरी कहना उनकी आदत है। अम्बेडकर भी ऐसे ही कहा करते थे। वे दार्शनिक और विचारक अधिक थे। कांशीराम व्यवहारवादी हैं। समय देखकर, ठीक समय कदम उठाना उनकी सफलता का राज है। अपनी सभाओं और सम्मेलन में बसपा नेता कांशीराम सिर्फ तीन मुद्दों पर चर्चा करते है। पहले वह दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों को उनके सामाजिक उत्पीड़न और अन्याय की जड़ ब्राह्मणवादी व्यवस्था को बताते हैं। फिर इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के खिलाफ बहुजन समाज की चेतना, जागृति और संगठन का आह्वान करते हैं। अंत में वह कहते हैं कि इस व्यवस्था को बदलने के लिए बहुजन समाज को राजसत्ता पर काबिज होना है। बिना राजसत्ता पर नियंत्रण पाए सामाजिक बदलाव संभव नहीं है।" "राजसत्ता ही सभी सामाजिक परिवर्तनों की मास्टर चाबी है ऐसा उनका मानना है।"

"राजसत्ता पर कब्जा पाने के लिए कांशीराम 'बुलेट' का नहीं, बल्कि 'बैलेट' का

प्रयोग करने के समर्थक हैं। इस दृष्टि से उन्हें भारतीय संविधान और संसदीय लोकतंत्र में पूरा विश्वास है। उन्हें संविधानवादी क्रांतिकारी की संज्ञा दी जा सकती है, जो सवैधानिक तरीकों से व्यवस्था परिवर्तन करना चाहते हैं। 14 अप्रैल, 1984 को अपनी स्थापना के बाद बहुजन समाज पार्टी ने 1984 के लोक सभा चुनावों में हिस्सा लिया और 10.05 लाख मत पाए। पंजाब के पिछले विधान सभा चुनाव में बसपा को 1.53 लाख मत और लोक सभा चुनाव में 2.15 लाख मत मिले। उत्तर प्रदेश में 1987 में हुए हरिद्वार लोक सभा उपचुनाव में बहुजन समाज पार्टी की उम्मीदवार मायावती 1,35,399 मत पाकर दूसरे स्थान पर रहीं। 1988 में इलाहाबाद लोक सभा क्षेत्र के ऐतिहासिक उपचुनाव में बसपा नेता कांशीराम ने 71,586 मत बटोरे। 1989 में उत्तर प्रदेश में हुए नगर पालिका और ग्राम पंचायत चुनावों में 188 स्थानीय निकायों में बसपा के उम्मीदवार विजयी हुए। इसी तरह 24000 ग्राम पंचायतों में बसपा समर्थित ग्राम प्रधान निर्वाचित हुए। नवंबर 1989 में हुए लोक सभा चुनावों में बसपा नेता मायावती बिजनौर लोकसभा क्षेत्र से चुनाव जीत गईं। 1991 के उपचुनाव में कांशीराम लोक सभा के लिए इटावा से चुन लिए गए। बसपा की मौजूदगी के कारण 1990 के विधान सभा चुनावों में मध्य प्रदेश में कांग्रेस को लगभग 50 सीटों पर पराजित होना पड़ा।[18]

जहां तक दलित राजनीति और उभार का प्रश्न है, निश्चित रूप से कांशीराम ने महात्मा फुले और भीमराव अम्बेडकर के चिंतन और कार्यक्रम को आगे बढ़ाया है। उनकी आक्रामक शैली ने दलित चेतना का विस्तार किया है और आज कांग्रेस और भाजपा जैसे दल, जिन्हें स्वयं कांशीराम ब्राह्मणवाद की 'ए' और 'बी' टीम कहते हैं, भी दलितों और पिछड़ों के प्रति अपार प्रेम में सराबोर हैं। संगठन से लेकर सरकार तक में बहुजन समाज को प्रतिनिधित्व देने की होड़ है। मध्य प्रदेश की कांग्रेस सरकार का मंत्रिमंडल इसका ज्वलंत उदाहरण है। जनता दल के नेता भले ही इसे अपनी 'मंडल राजनीति' का उभार बताएं, लेकिन वास्तविकता यह है कि उनकी मंडल राजनीति भी उसी सामाजिक दबाव का परिणाम है, जो विश्वनाथ प्रताप सिंह द्वारा मंडल आयोग की सिफारिश लागू करने से काफी पहले अम्बेडकर, लोहिया, चरण सिंह और कांशीराम की राजनीति ने भारतीय समाज में पैदा कर दिया था। इसलिए निश्चित रूप से जबकि डॉ. भीमराव अम्बेडकर की रिपब्लिकन पार्टी निस्तेज हो गई थी, राष्ट्रीय स्तर पर दलित चेतना के उभार का श्रेय कांशीराम को देना ही होगा और इस नाते कांशीराम ने एक ऐतिहासिक काम किया है।

लेकिन कांशीराम की राजनीति और कार्यशैली की सीमाओं और अंतर्विरोधों का विश्लेषण भी जरूरी है। उनकी राजनीति में ब्राह्मणवादी व्यवस्था का निषेध तो है, लेकिन बहुजन समाज के अपने सामाजिक अंतर्विरोधों को हल करने की स्पष्टता नहीं मिलती। वह मानते हैं कि राजसत्ता पर अधिकार पाने के बाद बहुजन समाज के अंतर्विरोध स्वतः हल हो जाएंगे। एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि कांशीराम बहुजन समाज की राजनीतिक एकता की बात तो करते हैं, लेकिन उन्हें सामाजिक रूप से एक इकाई बनाने के लिए बहुजन समाज पार्टी के पास कोई स्पष्ट कार्यक्रम नहीं है। दलित समाज में व्याप्त

घोर अशिक्षा दूर करने के लिए बहुजन समाज पार्टी ने कोई व्यापक शिक्षा अभियान अभी तक नहीं चलाया है। न ही भविष्य में ऐसा कोई बड़ा शैक्षिक अभियान चलाने की कोई योजना है।[19]

कांशीराम ने प्रयोग के तौर पर मुलायम सिंह को पहली बार समर्थन दिया और बसपा सरकार में शामिल हुई। मायावती को तब सरकार और बसपा के बीच तालमेल का मुखिया बनाया गया था।

विनोद अग्निहोत्री कहते हैं कि–

"सदियों पुरानी मानसिक दासता और हीन भावना से मुक्ति के लिए दलित उभार के लिए जातीय चेतना का उपयोग एक रणनीति के तहत तो उचित है, लेकिन इस जातीय उभार को जातीय घृणा और सामाजिक वैमनस्य नहीं बनने देना भी उतना ही जरूरी है।

यह सच है कि सदियों तक श्रेष्ठता बोध के अहंकार से ग्रस्त सवर्ण समुदाय को दलितों-पिछड़ों का यह उभार अपनी सामाजिक सत्ता के लिए एक खतरा महसूस होगा और उसका जातीय अहंकार आसानी से इसे स्वीकार भी नहीं करेगा। इसलिए जातीय संघर्ष की परिस्थितियां भी बनेंगी। लेकिन यदि बसपा नेताओं ने विपक्ष और सत्ता के व्यवहार के अंतर की व्यावहारिकता को नहीं समझा तो संघर्ष और बढ़ेगा। ऐसी स्थिति में बसपा का दलित उभार जातीय संघर्ष में उलझ कर रह जाएगा और जाति-विहीन समाज का उसका लक्ष्य पूरा होने के स्थान पर समाज में जातिवाद और मजबूत हो जाएगा। इसलिए कांशीराम और उनके सहयोगियों को इस दिशा में दक्षिण अफ्रीका के अश्वेतों से सीख लेते हुए अपना दृष्टिकोण अधिक उदार और सर्वग्राही बनाना होगा। साथ ही सवर्णों को भी इस सामाजिक परिवर्तन को सहजता से स्वीकारते हुए अपनी मानसिकता बदलनी होगी।"[20]

लेकिन बसपा का सपा प्रेम बाद में बहुत महंगा सिद्ध हुआ। यह गठबंधन ज्यादा दिन नहीं चला। इस गठबंधन की टूट के साथ ही दोनों दलों में काफी दूरी आई। जो आज भी कायम है।

बसपा ने राजनीतिक शून्य भरा है

'धर्मयुग' को अपने एक इंटरव्यू में बसपा अध्यक्ष ने अशोक अकल्प को 1989 में ही बताया था कि "बसपा राजनीति में एक तीसरी ताकत है।" उनसे प्रश्न किया गया कि–

आप दक्षिण का दौरा करके लौटे हैं लोगों का क्या मूड है आपकी बहुजन समाज पार्टी के प्रति और देश की राजनीतिक स्थिति के प्रति?

तो उन्होंने उत्तर दिया कि–

"पहले तो हम उत्तर में ही सीमित थे, दक्षिणवालों ने जोर दिया कि हम वहां भी शुरू करें तो यह 15 अगस्त, 88 से 15 अगस्त 91 तक हमारा विस्तार कार्यक्रम

चला, आखिरी इकाई केरल में शुरू हुई है। इस तरह अब हर राज्य में हमारी इकाई स्थापित हो चुकी है।

जहां तक दूसरी पार्टियों का सवाल है तो वे कांग्रेस के खिलाफ तो पहले से ही हैं, विपक्षी पार्टियों को उन्होंने सत्ता में बिठा कर यह संकेत दिया ही है।

लेकिन विपक्षी सरकारों के कामकाज के कारण उनका मोह भंग भी तो हुआ है?''

निसंदेह बसपा दलित-बहुजन आंदोलन ने नए राजनीतिक समीकरण बनाए हैं। सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने कहा–

''हम राष्ट्रीय स्तर पर सीधी लड़ाई की तैयारी कर रहे हैं। बहुजन समाज पार्टी तिकोने संघर्ष के लिए तैयार की जा रही है। इससे सभी पार्टियों को नुकसान होगा। ऐसी स्थिति बन जाए कि 'शून्य' पैदा हो। बसपा उस शून्य को भरेगी।'' बीसवीं सदी के अंतिम दशक में बसपा ने उस शून्य को भरते हुए सत्ता में सीधी राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का सफल प्रयोग किया। इससे सिद्ध हुआ कि दलित-बहुजन प्रगतिशील शेष जातिवादी संप्रदायवादी ताकतें हैं। जिन्होंने सदियों तक उन पर जुल्म ढाए हैं।

जब 'धर्मयुग' ने उनसे पूछा कि–

''आपके ऊपर जातिवाद को बढ़ावा देने का आरोप लगाया जाता है, जाति के आधार पर लोगों को संगठित करने का आरोप लगाया जाता है?''

इस पर कांशीराम का उत्तर था–

''देखिए जो लोग जाति को टिकाए रखना चाहते हैं वे कहते हैं कि जाति की बात ही न करो। यह करनी भी है तो हमीं करेंगे अपमानित लोग नहीं करेंगे। यानी जुल्म सहते रहो। हम जाति के आधार पर संगठित कर रहे हैं, ताकि जाति-व्यवस्था का खात्मा हो जाए इसलिए जिन लोगों के हित की बात है कि वे संगठित हों, हम जुल्म करनेवाले की नहीं, सहने वाले की निंदा करते हैं, हम जुल्म नहीं सहेंगे। मुकाबला करके जालिम का हौसला पस्त करेंगे।''

इस सदी के मध्य में एशिया और अफ्रीका के नव स्वतंत्रता प्राप्त देशों में जिनमें भारत, पाकिस्तान, मलेशिया, नाइजीरिया, रोडेशिया, न्यूजीलैंड, वेस्टइंडीज आदि देश प्रमुख हैं उनमें पहले एक ही दल की केंद्र और प्रांतों में सरकारें होती थीं। भारत, मलाया और 1954 तक पाकिस्तान में यही हालात रहे। फिर 1971 में पूर्वी बंगाल की जनता के प्रयत्नों से पाकिस्तान टूट गया और बंगलादेश बन गया। भारत में शासन फौज के हाथ में कभी नहीं गया, सिर्फ 1975 में आपातकाल था। उसके बाद केंद्र टूटता गया। आज हालात यह है कि ज्यादातर प्रांतों में बिना गठबंधन के सरकार का बनना मुश्किल हो जाएगा। केंद्र में जुगाड़ू नेता चार-पांच नहीं तेरह-चौदह दल वाले चुने हुए प्रतिनिधियों की संयुक्त मोर्चे के नाम से अल्पमतीय सरकार बनाकर बैठे हैं। देश की इससे क्या भलाई होगी यह सबको मालूम है। कांग्रेस की बैसाखी हटी, तो खेल खत्म। देवगौड़ा को कांग्रेस ने

हटाया और गुजराल को प्रतिष्ठित किया। रूठे हुए पुराने कांग्रेसी हैं।

कांग्रेस ने दलित समाज को जिसे वह हरिजन, पिछड़ा वर्ग मानती रही सत्ता में नाम मात्र की भागीदारी दी। ऐसे लोग बंधुआ मंत्री की तरह काम करते रहे। जिसने आवाज उठाई उसे उखाड़ फेंका गया। जगजीवन राम का एक उदाहरण काफी है। उन्हें कभी उभरने नहीं दिया गया। वे केंद्र में कमजोर राजनीति करते थे। आजादी के आंदोलन से निकलकर आए थे। कांग्रेस के विचार में बह गए थे। स्वतंत्र रूप से दलितों की सीधी कार्यवाही वाली लड़ाई नहीं लड़ी जो डॉ. अम्बेडकर ने लड़ी थी, इसलिए आज डॉ. अम्बेडकर सामाजिक क्रांति के पुरोधा बन गए हैं। जगजीवन राम वह बाजी हार चुके थे।

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के क्रांतिधर्मा विचारों से प्रभावित लोग अब दलित न बनकर बहुजन बनना सीख गए हैं। तभी तो सर्वहारा, सर्वजन समाज के लाखों लोग मायावती को देखने के लिए टूट पड़ते हैं। यह लोक शक्ति का प्रदर्शन, एकनई चेतना, एक नई जनक्रांति है।[21]

मायावती : राजनीतिक उदय की कथा

मायावती ने सन् 1977 से 1984 तक अध्यापन के साथ-साथ कांशीराम द्वारा संस्थापित बामसेफ एवं डी.एस. फोर के कार्यक्रमों में सक्रिय हिस्सा लिया था। लेकिन जब 14 अप्रैल, सन् 1984 में बहुजन समाज पार्टी (बसपा) का गठन हुआ वे इस दल की, अध्यापन से त्याग-पत्र देकर, महासचिव नियुक्त हुईं। मायावती ने बसपा के टिकट पर इसी वर्ष लोक सभा का अपना पहला चुनाव लड़ा।

सन् 1984 के अपने प्रथम चुनाव में मायावती के पास साधनों का सर्वथा अभाव था। इस्पाती जोश ही उनका संबल था। जानकर आश्चर्य होगा कि स्वयं साईकिल चलाकर ही करीब-करीब संपूर्ण चुनावी अभियान पूरा किया था।[22]

1985 में आपने पुनः बिजनौर से लोक सभा का उपचुनाव लड़ा। इसमें बाबू जगजीवन राम की बेटी मीरा कुमार और रामविलास पासवान भी खड़े हुए थे। मीरा कुमार कांग्रेस (इ) की प्रत्याशी थीं। मायावती को इस चुनाव में लगभग 70 हजार मत प्राप्त हुए। यहां से मीरा कुमार सांसद निर्वाचित हुई थीं। बसपा गरीबों, दलितों और शोषित समाज की सर्वथा साधन विहीन पार्टी थी।[23]

बसपा ने राजनीति में प्रयोग के तौर पर मायावती को चुनाव में उतारा था। दलित आंदोलन और बहुजन क्रांति की सूत्रधार मायावती ने बसपा को आसमान पर पहुंचा दिया। 1987 में आपने पुनः हरिद्वार से लोकसभा का उपचुनाव लड़ा। हिम्मत नहीं हारी। अब मंजिल पास दीख रही थी। आत्म विश्वास बढ़ गया था। इस प्रकार 1984 से 1987 के बीच बसपा की एक राजनीतिक पहचान बन चुकी थी। 1987 के चुनाव में कार्यकर्ताओं का मनोबल ऊंचा था। देश में इस उभरते राजनीतिक दल से बहुत से लोगों के पैर उखड़ने लग गए थे। इनके अदम्य साहस, तेज तर्रार व्यक्तित्त्व, कार्य-शैली और संगठन क्षमता

ने बसपा में जान डाल दी थी। ये दूसरे स्थान पर रहीं। इससे बसपा का जनाधार बढ़ने की बात उभर कर आई। मीडिया ने इस बात को खूब उछाला।[24]

सन् 1989 के आम चुनाव में आपने बिजनौर से पुनः लोकसभा का चुनाव लड़ा। वे यहां से प्रथम बार संसद-सदस्य बनीं। यह बड़ी उपलब्धि थी। लेकिन मंजिलें और भी थीं।

अब बसपा आम जनता की पार्टी बन गई थी। राजनीतिक हलकों, विशेषकर कांग्रेस और वामपंथी दलों में हलचल मच गई थी कि सर्वहारा-दलित वोट बैंक बसपा के खाते में चला गया है और यदि यही प्रवृत्ति रही तो कम-से-कम कांग्रेस और कम्युनिस्ट तथा अन्य पार्टियों का उत्तर प्रदेश से सफाया हो सकता है। बात सोलह आने सच निकली।[25]

थोड़े ही अरसे में अब दलित आंदोलन सामाजिक आंदोलन के साथ-साथ स्वतंत्र राजनीतिक आंदोलन बनता जा रहा था। ब्राह्मण उच्च वर्ग की सत्ता के विरुद्ध सशक्त चुनौती। राजनीति के पंडित हतप्रभ थे कि यह क्या हो रहा है? दलित-पिछड़ा और मुस्लिम मत जो कभी कांग्रेस की जेब में रहता था और नेतागण झूठे-सच्चे आश्वासन देकर बहुजन समाज को भ्रमित किए रहते थे। अचंभे में आ गए थे। वाद विवाद, विचार गोष्ठियां, गोपनीय वार्तालाप के दौर चल निकले कि किसी प्रकार कांशीराम को प्रलोभन दिए जाएं और मायावती को अपने प्रभाव में लाया जाए। जैसे कि किसी जमाने में बी.पी. मौर्य को लुभाया गया था। बसपा अब राजनीति में एक ताकत थी। उसका संघर्षशील वर्ग-चरित्र उभर आया था।

इस बीच कांग्रेस के शिखर नेता राजीव गांधी और विरोधी नेताओं में आपस में होड़ मच गई कि किसी न किसी प्रकार बसपा को अपनी ओर मिला लिया जाए। बसपा अध्यक्ष कांशीराम और बसपा महामंत्री के नाते मायावती के नेताओं के साथ शिखर वार्ताओं के कुछ दौर चले। लेकिन बड़े-बड़े राजनीतिक दल सौदेबाजी द्वारा बसपा को जिस प्रकार निगलने की चालें चल रहे थे उससे मायावती पूरी तरह वाकिफ थीं। इस प्रकार संप्रभु जातियां दलित आंदोलन को कमजोर करने में प्रवृत्त हुईं और मायावती इसे राजनीतिक झंझावातों से निकालने के लिए नई रणनीति बनाने में जुट पड़ीं।

एक बार पुनः मायावती केंद्र में राजनीति करने के उद्देश्य से अपने दल के बलबूते पर सन् 1994 में राज्यसभा की सदस्य निर्वाचित हुईं। सन् 1993-94 में सपा-बसपा की साझा सरकार के मुलायमसिंह यादव मुख्यमंत्री निर्वाचित हुए। बसपा अध्यक्ष कांशीराम ने इनको पार्टी का महासचिव होने के नाते मुख्यमंत्री के कामकाज की मासिक समीक्षा करने के लिए अधिकृत किया। वे हर महीने लखनऊ पहुंचकर सपा-बसपा सरकार की विशेषतया मुलायमसिंह यादव के कार्य-कलापों की समीक्षा करती थीं। माननीय कांशीराम भी उसमें भाग लेते थे। मायावती ने जान लिया था कि सपा के साथ रहना खतरनाक होगा।[26]

आखिरकार मई, 1995 के अंतिम दिनों में दलित आंदोलन पर आंच आती देख बसपा में फूट डालने की कोशिशों को परख कर अब राजनीति में परिपक्व मायावती ने

मुलायमसिंह यादव सरकार को दिया गया समर्थन वापिस लेने का मन बना लिया। फलतः 1 जून, 1995 को उन्होंने बसपा का सपा के साथ राजनीतिक संबंध विच्छेद कर लिया और यादव सरकार तुरंत अल्पमत में आ गई तथा मुलायम सिंह को मुख्यमंत्री का पद छोड़ना पड़ा।

3 जून, 1995 से 17 अक्टूबर, 1995 तक करीब साढ़े चार महीने वे देश के सबसे बड़े प्रदेश की मुख्यमंत्री बनीं।[27] जब भाजपा ने समर्थन वापिस ले लिया तो उनकी सरकार को इस्तीफा देना पड़ा। राजनीति में ऐसा अक्सर होता रहा है। लोकतंत्र की इसे विवशता कहा जा सकता है। वर्ण, जाति, वर्ग चरित्र ने मुखौटे लगाकर समाज को विघटित कर दिया है। बसपा के लिए शुरू से ही यह एक चुनौती रही है।

बहुजन दलित आंदोलन को आगे बढ़ाते हुए सन् 1996 में बसपा ने 67 सीटें जीतीं। दूसरी बार वे पुनः भाजपा से गठबंधन करके 6 माह के लिए साझा सरकार की मुख्यमंत्री बनीं।[28] लेकिन छः माह बाद भाजपा के कल्याण सिंह ने दूसरी पारी में सत्ता संभाली और बसपा आंदोलन को क्षति पहुंचाई तोड़-फोड़ करा दी। तीसरी बार वे सन् 2002 में बसपा-भाजपा की संयुक्त सरकार की मुख्य मंत्री बनी। इस दलित-बहुजन आंदोलन सत्ता की ओर उन्मुख हुआ।

एक क्रांतिकारी महिला

एक प्रगतिशील-सकारात्मक सोच वाली, समय से आगे और बहुजन समाज के व्यापक हित में विचार करने वाली मायावती जैसी क्रांतिदर्शी महिला जब-जब सत्ता के निकट पहुंचती है लोगों के कान खड़े हो जाते हैं। कोई नैतिकता की दुहाई देता है, कोई सिद्धांतहीन समझौते का दर्शन तैयार कर लेता है, कोई उनकी सरकार की आयु की जन्मपत्री बनाने लगता है और पता नहीं क्यों लोग तोड़-फोड़ में लग जाते हैं? मायावती सरकार के साथ हर बार यही होता है। लेकिन अल्पावधि में वे जो कार्य कर जाती हैं वे इतिहास की धरोहर बन जाते हैं। अभी तक तो ऐसा ही होता आया है। जब दूसरे लोग सरकार पर काबिज होते हैं लोग चुप बैठकर अपने दिन फिरने का इंतजार करते हैं, लेकिन उनके आते ही बेसब्र हो जाते हैं।

आखिर इस लौह महिला में क्या खूबियां हैं जिसकी वजह से राजनीतिक-सामाजिक माहौल एकदम गरमा जाता है। यह तो मानना ही पड़ेगा वे एक क्रांतिकारी महिला हैं। राजनीति के जंगल में बिफरे बाघों में एक शेरनी जिसके ओज-तेज के आगे सब फीके। एक अवसर पर माननीय कांशीराम ने कहा था कि मुख्यमंत्री पद मात्र उनकी ट्रेनिंग है, उन्हें तो देश का प्रधानमंत्री बनना है।

अगर देश का बहुजन समाज जागरूक हो जाए, एकजुट हो जाए, नेता लोग आपसी फूट छोड़ दें तो वह दिन दूर नहीं जब पश्चिम के राजनीतिज्ञों की भविष्यवाणी सफल हो सकती है कि भारत दलित क्रांति की दहलीज पर है।

तत्कालीन प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंहराव ने सन् 1995 के जून माह में मायावती के प्रथम बार मुख्यमंत्री बनते ही टिप्पणी की थी कि वे *भारतीय प्रजातंत्र का एक आश्चर्य* हैं। दरअसल यह कथन पूरा नहीं है। क्योंकि मायावती प्रजातंत्र के आश्चर्य के साथ भारत में दलितों के सामाजिक संघर्ष की प्रणेता ज्यादा हैं। वे बहुजन समाज के अधिकारों की लड़ाई लड़ने वाले राजनीतिज्ञों की पहली पंक्ति की एक शीर्ष नेता हैं। दलितों की सही मायने में मसीहा हैं।[29]

दलित अलगाव की राजनीति नहीं कर सकते। सैद्धांतिक सहयोग और समझौते भारतीय लोकतंत्र की मजबूरी बन गए हैं।

इसलिए वे बार-बार कहती हैं—"दलित हित सर्वोपरि, जो दलित-बहुजन की बात करेगा उसी से हमारा मेल-जोल। यही हमारा दर्शन है।"

उपेक्षितों, दलितों, पिछड़े वर्गों को, मेहनतकश अवाम को बड़ी पार्टियां पचा-खपा लेती हैं। अलग पहचान बनाने वाले बाबा साहेब और माननीय कांशीराम ही दिखाई देते हैं जिन्हें अगड़े लोग पचा नहीं पाए।[30]

उत्तर भारत के दो अम्बेडकरवादी नेता जिन्होंने किसी जमाने में *रिपब्लिकन पार्टी* की स्थापना की, उस को सींचा था—बुद्धप्रिय मौर्य और संघप्रिय गौतम (अलीगढ़ और बुलंदशहर निवासी) आज भाजपा में शामिल हैं। जिसमें बुद्धप्रिय मौर्य चरणसिंह के घर में भी रह चुके हैं। कांग्रेस में जब बेचारे अलग-थलग पड़े इसलिए भाजपा में आ गए हैं।[31]

महाराष्ट्र में *रिपब्लिकन पार्टी* कई दलों—खेमों में विभाजित है। उसने कांग्रेस से सीधी दोस्ती की। इन संधियों के तहत फायदे उठाए, पद हासिल किए। पी.एन. राजभोज बाबा साहेब के जीवित रहते कांग्रेस में चले आए थे। दादा साहब गायकवाड़, बी.डी. खोबरागड़े, दादा साहब रूपवते, कांबले, आर.एस. गवई महाराष्ट्र में कभी भी एकजुट होकर नहीं रहे। ये लोग बाबा के मिशन को बहुत आगे नहीं बढ़ा पाए।

जब *अम्बेडकर मिशन* खतरे में था तब पूरे देश में घूम-फिर कर कांशीराम ने उसके पुनर्जीवन के लिए अपनी पूरी युवावस्था उसमें झोंक दी और वे एक युवक से बूढ़े हो गए। लेकिन बहुजन समाज का कार्य करते हुए वे कभी थके नहीं। दलित मुक्ति आंदोलन को आगे बढ़ाने में कभी ढील नहीं की।

बाबा साहेब ने अनुसूचित वर्गों को राजनीतिक सत्ता और राजनीतिक अधिकार दिलाए। वे पूरे राष्ट्र के शिखर नेता थे। उन्होंने दलितों के अधिकारों की लड़ाई से कभी समझौता नहीं किया।

इसी प्रकार कांशीराम और सुश्री मायावती ने गरीब मुल्क के दबे-पिसे मजलूमों, दलितों, बहुजन समाज के अधिकारों के साथ कोई समझौता नहीं किया और शायद कभी समझौता नहीं करेंगे। ऐसा बहुजन समाज को विश्वास था और रहेगा। बहुजन समाज समझ गया है कि जो लोग राष्ट्रीय नेता बनने का ढोंग रचते हैं वे मात्र बीस प्रतिशत आबादी का नेतृत्व करते हैं। उनमें से अधिकांश क्षेत्रीय स्तर के ही नेता हैं। गांव-कस्बा

या तहसील स्तर की राजनीति करके ऊपर बढ़े हैं। अधिकांश नेता जातिवाद, बाहुबल और अवसरवादी राजनीति की उपज हैं। अब वे बिना त्याग-संघर्ष के राष्ट्रीय राजनीति के क्षितिज पर टिमटिमा भर रहे हैं।[32]

ऐसे लोग राजनीति में, सामाजिक जीवन में महज इसलिए भी आगे बढ़े हैं कि वे ऊंची जातियों, ऊंचे सामाजिक परिवेश, सामंती, औद्योगिक, कुलक-या भूमाफिया वर्गों से आते हैं या उनके दादा-परदादा, नाना-नानी, मां-बाप कहीं-न-कहीं भू-सुख, धन-सुख, राजवैभव या राजसत्ता या ऊंचे संपर्कों के साथ अनवरत जुड़े रहे हैं।

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर जमीन से जुड़े नेता थे। बुद्धि-वैभव और दलितों के नेतृत्व के बल पर आगे बढ़े। सूर्य की भांति चमके और शोषित सर्वहारा को क्रांति की मशाल हाथ में दे गए।

इसी प्रकार माननीय कांशीराम आम जनता, बहुजन या सर्वजन समाज के नेता हैं, मार्गदर्शक हैं। ऐसे में अकेले नेता जिन्होंने देश की सत्तर प्रतिशत आबादी के मन में ऐसा बीज मंत्र बो दिया है, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक क्रांति का ऐसा दिशा-निर्देश प्रदान किया है कि निश्चय ही कुछ ही वर्षों के अंतराल में सर्वजन का राज्य स्थापित हो जाएगा। बहुजन का राज्य होगा। मेहनतकश-अवाम की सत्ता होगी।

इसी श्रृंखला में मायावती संघर्षों की गोद में पलकर आगे आने वाली भारत की प्रथम दलित वीरांगना महिला है जिसने राजनीतिक जगत में सत्ता समीकरण के नए आयाम स्थापित किए हैं। वे संघर्षों की एक महान् गाथा अपने अंतरतम में छिपाए हुए हैं। नए प्रजातांत्रिक मूल्यों के युग में उन्होंने दलितों और बहुजन समाज की भूमिका को स्पष्ट किया है जिसके कारण सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में दूरगामी परिणाम होंगे।

वे प्रजातंत्र का आश्चर्य नहीं, वरन् संघर्षों की एक सफल गाथा है।[33]

उनके विचारों से प्रभावित आज देश का बहुजन-सर्वजन समाज उनकी ओर देख रहा है। कांग्रेस समेत वामपंथी-समाजवादी और अन्य क्षेत्रीय नए-पुराने राजनीतिक दल दलितों के उभरते हुए नेतृत्व से घबराए हुए हैं, त्रस्त हैं। भारत में आजादी की लड़ाई लड़ने, सामाजिक सेवा करने तथा देश को नेतृत्व और मार्गदर्शन प्रदान करने में महिलाओं की कमी नहीं रही। इसमें निसंदेह जवाहरलाल नेहरू का परिवार सर्वोपरि है। नेहरू परिवार की कमला नेहरू, विजयलक्ष्मी पंडित, इंदिरा गांधी, नयनतारा सहगल, कृष्णा हठी सिंह और वर्तमान में मेनका गांधी, सोनिया गांधी का नाम गिनाया जा सकता है। गांधी की धर्मपत्नी कस्तूरबा गांधी ने भी देश सेवा का व्रत लिया था। अन्य महिलाओं में डॉ. सरोजिनी नायडू, डॉ. राजकुमारी अमृत कौर, पद्मजा नायडू, अरुणा आसफ अली, मृदुला साराभाई, सुचेता कृपलानी, सुशीला नायर, मनमोहिनी सहगल का नाम अग्रपंक्ति की महिलाओं में गिना जा सकता है।[34]

1857 के विद्रोह में छोटी जातियों में अवंती बाई, झलकारी बाई की भूमिका को कोई नहीं भुला सकता। उनकी स्मृति रक्षा के लिए मायावती कई कदम उठा चुकी हैं।

दलित और पिछड़े वर्गों में से अनेक महिला देश और समाज सेवा के काम में आगे

आई हैं। यह एक सुखद बात है कि अनेक दलित महिलाओं को मायावती ने राज्य राष्ट्र स्तर के पद, सम्मान सामाजिक सेवा के कार्य स्रजित किए, सौंपे हैं।

महात्मा फुले की धर्मपत्नी सावित्री बाई फुले और बाबा साहेब की प्रेरणा से महाराष्ट्र में कुछ महिलाएं समाज सेवा कार्य में आगे आईं। उनका नाम भी रोशन हुआ।

पिछले दो दशक से समाज सेवा और जनजागरण का जो अद्वितीय कार्य मायावती ने दिया है, वैसा दलित वर्ग की किसी महिला ने नहीं किया।

अब बहुजन समाज में अनेक महिलाएं राजनीति में हैं, अधिकारी हैं, वकील हैं, डाक्टर हैं। अध्यापक और नर्स के कामों में लगी हैं। कुछ समाज सेवा भी करती हैं लेकिन जिस ओज, तेजस्विता, प्रतिभा, लगन, दूर-दृष्टि और मानसिक परिपक्वता के साथ मायावती ने सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष किया है, आज तक कोई बहुजन समाज तो क्या ऊंची और सवर्ण जाति की महिला भी नहीं कर पाई। उनका संघर्ष बुद्ध, फुले और बाबा साहेब की ऊंचाइयों को स्पर्श करनेवाला संघर्ष है।

आज पूरे देश में जगह-जगह ऐसे छद्‌म वेशी सामाजिक कार्यकर्ता और संस्थाएं पैदा हो गई हैं जो दलितों के उत्थान के नाम पर लाखों के देशी-विदेशी अनुदान डकार रही हैं। ऐसे लोग पैदा हो गए हैं जो दलित आंदोलन के नाम पर सरकारी लाभों कंपनियों के चंद या अनुदान पोषित राजनीति करते हैं। ड्राइंग रूम, होटलों और रात्रिभोज की राजनीति करते हैं। लेकिन सामाजिक न्याय, सामाजिक क्रांति, सामाजिक परिवर्तन का जो देशव्यापी अभियान कांशीराम—मायावती द्वय ने चला रखा है, राजनीति में जो शिखर सम्मान उन्होंने हासिल किया है और बहुजन समाज पार्टी की संरचना करके एक नए राजनीतिक अभ्युदय, एक नए सामाजिक दर्शन को जन्म दिया है वह क्या कोई अन्य व्यक्ति कर पाएगा?

यह वही नेतृत्व है जिसकी परिकल्पना बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने की थी। आज बसपा के अधिष्ठाता कांशीराम और मायावती महात्मा गौतम बुद्ध, ज्योतिपुरुष फुले और बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के जीवन-दर्शन से प्रभावित सर्वजन का कार्य कर रहे हैं।[35]

मायावती का बचपन, शिक्षा-दीक्षा एक माध्यम हैसियत के परिवार में हुई इसलिए मायावती को आम लोगों की, साधारण जनता की परेशानियों, कठिनाइयों का जितना ज्ञान है उतना शायद किसी भी नेता को हो। वे एक ऐसे संघर्षशील परिवार की महिला हैं जिसे दिल्ली के स्कूलों में परिवार और स्वयं का जीवन-यापन करने के लिए आठ वर्ष तक अध्यापकी करनी पड़ी।

निसंदेह सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करने की मूल प्रेरणा उन्हें महात्मा फुले और डॉ. अंबेडकर से ही मिली। उन्होंने सही मायने में बाबा साहेब के उस मूलमंत्र को सच साबित कर दिया कि अगर आगे बढ़ना चाहते हो, अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हो, देश और समाज की सेवा करना चाहते हो तो 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो।'

मायावती ने अपनी उच्च शिक्षा अपने परिवार के सहारे प्राप्त की। संगठित रहने की अदम्य शक्ति बामसेफ, डी.एस. फोर से हासिल की और जब सक्रिय राजनीति में

नौकरी को तिलांजलि देकर पदार्पण किया तब माननीय कांशीराम के नेतृत्व में अधिकारों के लिए सत्ता में भागीदारी के लिए संघर्ष किया।

मायावती ने अपने राजनीतिक दीक्षाकाल में जान लिया था कि महात्मा फुले ने अपनी पत्नी सावित्री बाई को स्त्री शिक्षा के लिए सक्रिय काम करने के लिए प्रेरित किया था। बाल-विवाह पर अंकुश लगाने, कुरीतियां मिटाने और विधवा विवाह के पक्ष में काम करने के लिए उन्हें प्रेरणा दी थी। समाज सुधार में सहयोगी बनाया था। इसी प्रकार बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर ने समूचे दलित-उपेक्षित समाज को राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए आह्वान किया, प्रेरणा दी। उनके साभाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए मुक्ति संग्राम छेड़ा।

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध दलितों[36] और शोषितों की मुक्ति के जागरण का युग कहा जाएगा जब कर्मयोगी महात्मा ज्योतिबा फुले ने अपने क्रांतिकारी विचारों से शूद्रों, निम्न वर्गों, किसानों और मजदूरों में नव चेतना का संचार किया। सर्वहारा, शोषित एवं पीड़ित वर्गों की मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया। ये वे दिन थे जब मार्क्स और ऐंगिल्स सामाजिक वर्ग संघर्ष और क्रांतिकारी इतिहास में शोषित-दलित-मजदूर और किसान वर्ग की भूमिका के सिद्धांतों का निरूपण और दार्शनिक विवेचना करके यूरोप और रूस में क्रांति का बीज बो रहे थे। बाबा साहेब का विचार था रूस और यूरोप में मार्क्सवाद सफल हो सकता है आंशिक या पूर्णतः, लेकिन भारत जो जातीयता और अस्पृश्यता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था वहां मार्क्स द्वारा निर्धारित, निरूपित क्रांति नहीं लाई जा सकती। सामंतवाद और राजा-महाराजाओं के पंजों में जकड़ी जनता न संगठित है, न उनमें सामंती परंपराओं, तत्वों से लड़ने की सूझ-बूझ और शक्ति है। साथ ही अंग्रेजों ने फूट डालो और राज करो की नीति से बहुजन समाज को जानवरों से भी ज्यादा मजबूर रहने पर ऊंची जातियों के हाथों में छोड़ दिया था। ज्योतिबा और बाबा साहेब उपेक्षितों की मुक्ति की पहल स्वयं करते थे। फिर उनके पीछे एक कारवां खड़ा हो जाता था। वे सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिए अपने क्रांतिकारी साथियों को साथ लेकर आगे बढ़ते थे। वे सामाजिक न्याय के लिए जूझते थे, संघर्ष करते थे। त्यागमय जीवन जीते थे। वे क्रांतिदूत थे। दलितों-पिछड़ों के मसीहा थे। उन्हीं की विचारधारा की परिपोषक मायावती आज सामाजिक क्रांति की प्रतीक बन गई हैं। इसी कड़ी में कांशीराम और मायावती ने बहुजन समाज के स्वाभिमान, आत्मसम्मान, जीवन के हर क्षेत्र में तरक्की, राजनीतिक अधिकारों, सामाजिक न्याय और व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई लड़ी है। दीर्घ संघर्ष किया है। समन्वय से सत्ता दलित-शोषित समाज के व्यापक हित में स्वीकारी है।

गौतम बुद्ध ने मानवता, समता, विश्व-बंधुत्व, भ्रातृत्व तथा भूली-भटकी आम जनता के परित्राण साथ के साथ अंधविश्वासों, जड़ता और पाखंड से मुक्ति दिलाने के लिए ढाई हजार वर्ष पहले एक सामाजिक जन आंदोलन छेड़ा था। उनका आंदोलन सामाजिक और धार्मिक क्रांति के रूप में पूरे विश्व में फैल गया था। बुद्ध दर्शन वैदिक मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध था। इस बुद्धकालीन सामाजिक जनक्रांति ने उन्नीसवीं और बीसवीं सदी

में महात्मा फुले और बाबा साहेब को भी प्रभावित किया। इसी वैचारिक क्रांति ने माननीय कांशीराम की जीवनधारा को प्रभावित किया। बुद्ध, फुले और डॉ. अंबेडकर और कांशीराम के जीवन संघर्ष ने ही सुश्री मायावती को एक नई शक्ति, एक नई जीवन दृष्टि प्रदान की। नए क्रांतिकारी विचारों ने उनमें अदम्य साहस का संचार किया।

आज पूरा देश भली-भांति जानता है कि महात्मा बुद्ध, फुले, बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर और कांशीराम की परंपरा में बसपा नेता मायावती ने देश के तमाम उपेक्षित वर्गों, गरीबों, मजलूमों और अधिकार-वंचितों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर एक व्यापक जन आंदोलन छेड़ रखा है। उनकी कुछ सीमाएं हैं। वे प्रथमतः महिला हैं। किसी कुलक परिवार, सामंती घराने या बड़े नेता की पुत्री नहीं है। उनकी शिक्षा-दीक्षा विदेश में नहीं हुई है। वे मूलतः बहुजन समाज की जमीन से जुड़ी बाबा साहेब की मानस पुत्री हैं।

वे क्रांतिदृष्टा, वे प्रगतिशील विचारों से ओतप्रोत हैं। सांप्रदायिकता और जातिवाद के खिलाफ हैं। वे इंसानी रिश्तों में मानवता, भाईचारे की परिपोषक हैं। यह सबक उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के पुरोधा बाबा साहेब और माननीय कांशीराम से सीखा है।

डॉ. अंबेडकर और मा. कांशीराम से ही उन्होंने निर्भीक रहना सीखा है। उनसे ही उन्होंने अधिकार वंचितों की अथक लड़ाई लड़ने का पाठ पढ़ा है।[37]

माननीय कांशीराम उनकी प्रेरणा के स्रोत हैं जो जनजागरण और दलितों में एक नए युग के सूत्रपात के पुरोधा हैं। कभी-कभी उनकी राजनीतिक मान्यताएं आलोचनाओं का विषय बनती हैं। लेकिन अंततः पता चलता है कि उनकी विचारधारा, उनके चिंतन उनके सामाजिक क्रांति के कार्यक्रम में समग्र उपेक्षित-पीड़ित समाज के सुनहरे भविष्य का ताना-बाना, उनके उत्थान का सूत्र छिपा हुआ होता है। आज मायावती इन्हीं महापुरुषों के जीवनदर्शन से प्रभावित एक क्रांतिमय व्यक्तित्व का महातेजस्वी अंश हैं। जो अपने निर्दिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निरंतर जूझ रही हैं। उन्हें जन-जन की ओर से समर्थन शक्ति प्राप्त है। अगर पुनः यह बात दुहराएं कि सच्चे मायनों में मायावती बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर की मानस-पुत्री हैं और उन्हें यह गौरव उनकी संघर्षशीलता, उनके व्यापक सोच, उनकी कार्यकुशलता और दूरदृष्टि की वजह से हासिल हुआ है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

उत्तर प्रदेश जो भारत का हृदयस्थल कहा जाता है और भारतीय राजनीति और सामाजिक चिंतन का एक प्रमुख केंद्र है, आज मायावती के क्रांतिकारी विचारों से प्रभावित है। वे तुरंत कार्यवाही (एक्शन) की अग्रणी नेता हैं। वैचारिक क्रांति के तहत वे 'यदि' और 'नहीं' आदि नकारात्मक विचारों को कभी प्रश्रय नहीं देती हैं। असंभव को संभव बनाने में उन्हें महारत हासिल हैं।

उनकी सोच सामाजिक-परिवर्तन की सोच है। उनके चिंतन में बहुजेन समाज को पीड़ाओं से मुक्ति और उनके हित लाभ का चिंतन छिपा है। वे इसी विचार, इसी दर्शन, इसी सोच और इसी स्वप्न को अपने मन में संजोए हुए हैं कि बहुजन-सर्वजन समाज का कल्याण हो। उनके जाति, धर्म, वर्गविहीन बहुजन समाज की परिकल्पना में सभी अधिकार

वंचित लोग समाहित होते हैं। उनकी सोच में गरीब हिंदू, सदियों से उपेक्षित शूद्र तिरस्कृत-वंचित पिछड़े लोग, अल्पसंख्यक तथा सभी प्रताड़ित जन उनकी सहायता, मार्गदर्शन पाने के पात्र रहे हैं।

उनमें जन्मजात एक अदभुत शक्ति है। यह प्रेरणा, यह समझ, सोच, सामाजिक दर्शन, अद्वितीय प्रतिभा उन्हें अपने लंबे संघर्ष, त्याग और तपोनिष्ठ जीवन दर्शन से हासिल हुई है। आम लोगों की दुख-तकलीफें दूर करने की उदात्त भावना उन्हें इन्हीं महापुरुषों से मिली है। वे युवा शक्ति की प्रतीक हैं।[38]

वे राष्ट्रीय स्तर की बहुजन समाज की नेता, दलितों की मसीहा, बेजुबानों की ताकत और राजनीति में एक नए ध्रुवतारे की तरह जाज्वल्यमान होने के बावजूद हमेशा उस गरीब और प्रताड़ित व्यक्ति के चित-चिंतन की बात करती हैं जो सामाजिक-राजनीतिक दबावों का शिकार रहा है।

आज मायावती बहुजन समाज की ऐसी निडर, दूरद्रष्टा और सहज मानवीय गुणोंवाली महिला हैं जिन्हें उनकी शासक-प्रशासनिक क्षमता तथा विकासोन्मुख बुद्धि के कारण *'लौह महिला'* या *आयरन लेडी* कहा जाता है। बहुजन समाज की वैचारिक और संगठनात्मक कार्यकुशलता ने उन्हें सर्वप्रिय नेता बना दिया है। वे अपनी पार्टी में मा. कांशीराम के बाद दूसरे नंबर की सशक्त नेता हैं, जिन्हें जनसाधारण में कमाल की लोकप्रियता हासिल है।

चंद घंटों की सूचना पर हजारों नर-नारी उनके विचार सुनने को टूट पड़ते हैं जिनमें संभवतः महिलाओं की संख्या ज्यादा होती है। बहुजन-समाज में वे 'बहिन जी' के नाम से अधिक विख्यात हैं। समाज के लोग उनमें बिजली की-सी फुर्ती और पवन वेग की-सी प्रबलता देखते हैं। अपने कैडर की सभा हो, जनपदीय या प्रादेशिक सम्मेलन हो लाखों की संख्या में जनता जुटती है। महिलाओं से उनका कहना है कि इन अंधविश्वासों, निराधार मान्यताओं को तिरस्कृत कर देना है। कुरीतियों को समूचे समाप्त कर देना है। यह सब काम बहुजन समाज की स्त्रियों ही कर सकती है। ऐसी बहिन जी की मान्यता रही है। स्वयं वे कर्म में विश्वास करती हैं। भाग्य में नहीं। बौद्ध धर्म में उनकी आस्था है। बाबा साहेब ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में बौद्ध धर्म ग्रहण करके बहुजन समाज को एक नया जीवन दे दिया है। बौद्ध धर्म सामाजिक न्याय, समता, बंधुत्व, स्त्री स्वतंत्रता, स्त्री-शिक्षा और समानाधिकार का परिपोषक रहा है।

बहिन जी का मानना है कि जाति-व्यवस्था ने समाज को जर्जर बनाया है। समाज को टुकड़ों में बांटा है। ब्राह्मणों ने 3500-4000 जातियां-उपजातियां बनाकर बहुजन समाज को विघटित कर दिया है ताकि मनुवादी ताकतें राज्य कर सकें, शोषण-चक्र जारी रख सकें, उन्हें अंधकार में भटकने दें। भाग्य के सहारे छोड़ दें। 'पुनर्जन्म के पापों का फल' भोगने के कुत्सित दर्शन को प्रचारित करके बहुजन समाज को ऊपर आने का मौका न दें। इसीलिए क्षेत्रीय सम्मेलन हो, विराट् आयोजन या विशाल रैली हो, फिर चाहे चुनाव सभा हो उन्हें देखने-सुनने के लिए दूरदराज से लोग उमड़ पड़ते हैं।[40]

जैसा पहले लिखा जा चुका है वे बहुत स्पष्टवादी हैं। उनकी कार्यशैली में शिथिलता, ढुलमुल नीति को कोई स्थान नहीं है। वे महिलाओं के व्यापक हितों की पक्षधर हैं। सामाजिक परिवर्तन की हिमायती हैं। स्त्रियों के जीवन स्तर में सुधार की हामी हैं। उनकी सामाजिक-राजनीतिक जीवन में अधिकाधिक भागीदारी की समर्थक हैं।

जिस दिन बहुजन समाज की स्त्रियों में यह चेतना, यह समझ आ जाएगी कि उनके व्यापक हितों के लिए बसपा ही संघर्ष करती रही है उस दिन देश ही राजनीति ही बदल जाएगी। मनुवादी शक्तियों ने देवी-देवताओं का, अंधविश्वासों, चमत्कारों का ऐसा जाल बुन रखा है। जो महिलाओं में जागृति लाने में बाधक बनता है। उन्हें सामंती-मनुवाद ताकतों ने युग-युगों से ईश्वरवादी-भाग्यवादी बना दिया है। इन सब छल-प्रपंच भरी आस्था से ऊपर उठना है।[41]

आज बहुजन समाज पार्टी को ज्नि महापुरुषों से प्रेरणा मिलती है उनमें महात्मा बुद्ध, ज्योतिबा फुले, छत्रपति शाहू जी महाराज, बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर और ई.वी. रामास्वामी नायकर प्रभृति महापुरुष हैं।

बहुजन समाज पार्टी महात्मा फुले के आदर्शों पर चलनेवाली पार्टी है।

फुले के महिला शिक्षा और सामाजिक सुधार के सभी कामों में उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले का सक्रिय योगदान था। इसी प्रकार शाहू छत्रपति ने गैर ब्राह्मण जातियों और अछूतों के लिए शिक्षा का प्रबंध किया। होस्टल बनवाए और डॉ. अंबेडकर को लंदन पढ़ने के लिए आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

सभी जानते हैं कि मनुवाद बहुजन समाज को श्रेणियों, जातियों, उपजातियों में विभक्त करता है। छूत-अछूत, पवित्र-अपवित्रता का पाखंड रचता है। स्त्री-शिक्षा का विरोध करता है। शूद्र-बहुजन समाज के विकास में रोड़े अटकाता आया है। कृषि भूमि, जायदाद, जंगल, पहाड़ ही नहीं, उत्पादन-वितरण के सभी साधनों पर सदियों से एकाधिकार जमाए बैठा है। इस तिलस्म को, बहुजन समाज पार्टी ने तोड़ा है जिसकी प्रेरणा बाबा साहेब से मिली है। सामाजिक-आर्थिक वैषम्य मिटाना बहुजन समाज पार्टी की प्राथमिकता रही है।

इस देश को अनेक धर्मो-जातियों में बांट दिया गया है। स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा गया है। खेती की जमीन पर ऊंची जातियों के कब्जे हैं। शिक्षा पर सदियों से उनका एकाधिकार रहा है और कॉलेज-विश्वविद्यालयों पर एक प्रकार से इनका कब्जा है। संसद-विधान सभाओं में, शासन की कुर्सियों पर ये लोग बैठे हैं। ये सब मनुवादी ताकतें हैं और उनके भाई-भतीजे हैं। ये संख्या में नगण्य होते हुए भी देश में हुक्म ही नहीं चलाते वरन् देश की दौलत को लूटकर आराम की जिंदगी बसर करते हैं, बहुजन समाज के लिए भगवान, ईश्वर की मर्जी, पुनर्जन्म, पूजा-आराधना, पाप-पुण्य, देवी-देवता, अंधविश्वासों का पिटारा छोड़ दिया गया है। ऊंच-नीच, जात्याभिमान के झूठे प्रपंच रच दिए गए हैं। इनसे ऊपर उठकर ही बहुजन समाज अपनी असली ताकत का परिचय दे सकता है।[42]

बाबा साहेब ने संविधान निर्माण सभा में 4 नवंबर सन् 1948 को कहा था :

"स्वतंत्रता, समता और बंधुभाव के आधार पर अधिष्ठित सामाजिक जीवन ही

लोकतंत्र कहलाता है। स्वतंत्रता तो हमें मिली, किंतु भारत में समता का अभाव है। यहां के सामाजिक और आर्थिक जीवन में विषमता का बोलबाला है। इस विषमता को हमें शीघ्र ही मिटा देना होगा। अन्यथा बड़े परिश्रम से निर्मित हुआ लोकतंत्र का मंदिर मिट्टी में मिल जाएगा। हम एक राष्ट्र हैं, ऐसा मानना आत्मवंचना है। हजारों जातियों में बंटे लोग एक राष्ट्र कैसे हो सकते हैं? यह जातियां और वर्ण राष्ट्र विरोधी हैं। इन बाधाओं पर विजय पाने से ही हम एक राष्ट्र हो सकते हैं।[43]

इसलिए जब तक जातिवाद का जहर नहीं मिटाया जाता समता और सामाजिक न्याय की बात व्यर्थ ही रहेगी। जब तक मनुवादी पार्टियां सत्ता में रहेंगी समता और बंधुत्व मृगमरीचिका बने रहेंगे। शोषण नहीं रुकेगा। इसलिए बहुजन समाज को संगठित होकर केंद्र और प्रदेशों में राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में लेनी होगी, तभी बहुजन समाज को हर प्रकार का लाभ पहुंचाया जा सकेगा।

मायावती संघर्ष की अग्नि में तपकर खरे कंचन की तरह आभावान्, ओजस्वी बनी हैं। पत्रकार जमील अख्तर की 'दि आयरन लेडी मायावती' की भूमिका में सन् 1999 के शुरुआत में कांशीराम ने लिखा है कि...'मुझे ऐसा लगता है कि उसका सख्त रवैया उस प्रारंभिक प्रतिरोध का परिणाम है जो बतौर लीडर उसके स्थापित होने के दौरान पेश आया। मेरे विचार में यह प्रारंभिक प्रतिरोध ही था जिसने मायावती को बाद के जीवन में आनेवाली मुश्किलों को झेलने के लिए मजबूत बनाया।[44]

कांशीराम ने लिखा है कि 'मायावती के पिता प्रारंभ में उसके बसपा में शामिल होने के विरोधी थे। लेकिन उनके लिए यह सिद्धांत का प्रश्न था, यही सवाल मायावती के सम्मुख था। सफलता-विफलता बाद की चीज थी। उन्होंने मायावती की प्रतिभा उजागर करने के लिए अवसर प्रदान किए। बसपा के वरिष्ठजनों ने इसकी 'मुखाल्फत' भी की। लोगों में ईर्ष्या भी पैदा हुई। प्रयोग के तौर पर मायावती को कैराना (मुजफ्फरनगर), बिजनौर, हरिद्वार से लोकसभा के चुनाव में उतारा। बसपा का वोट बैंक बढ़ा।'

कांशीराम ने आगे लिखा कि 'उन्होंने 1993 में बसपा के सहयोग से मुलायम सिंह यादव की 4 दिसंबर 1993 में सरकार बनवाई और अपने दक्षिण दौरे पर जाने पर मायावती को समन्वयक बनाया ताकि वे यादव सरकार को देखे-परखें जिससे दलितों पर अत्याचार न हों। मायावती के प्रतिरोध के बावजूद यादव सरकार दलित-पिछड़े लोगों के खिलाफ अत्याचार नहीं रोक पाई, फलतः सभी पार्टियों ने मुलायम सिंह को हटाने का अनुरोध किया। इन परिस्थितियों के बीच 1995 में मायावती को उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनने का अवसर प्राप्त हुआ। मायावती ने कानून व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त किया और एक लाख पैंतीस हजार गुंडों-अपराधियों आदि को जेल में डाला और आयरन लेडी का खिताब जीता। जनता ने इससे राहत की सांस ली। परिवर्तन चौक तथा भागीदारी भवन बनवाया। वाराणसी-मथुरा में मस्जिदों के ध्वंस को रोका, इसलिए हमारी सरकार गिरा दी गई। 1996 में बसपा ने 67 सीटें जीतीं। दूसरी बार वे पुनः भाजपा से गठबंधन करके 6 माह के लिए साझा सरकार की मुख्यमंत्री बनीं। दूसरी पारी में कल्याण सिंह ने सत्ता संभाली और

बसपा में तोड़-फोड़ करा दी।'[45]

दुर्भाग्य से भारत के राजनीतिक दलों में ब्राह्मण वर्चस्व रहा है। फिर चाहे वह कांग्रेस हो या साम्यवादी दल। समाजवादी दल में शुरू में बनिया और कायस्थ थे। फिर ब्राह्मण और ऊंचे दर्जे के मुस्लिम आए बाद में यह एक खिचड़ी दल बनकर रह गया। भारत में कम-से-कम आधा दर्जन समाजवादी पार्टियां हैं। यद्यपि सभी दल भारत में सामाजिक परिवर्तन और विकासोन्मुखी अर्थव्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त बनाने के इच्छुक हैं, लेकिन वे जातीय पूर्वाग्रहों से शायद ही ऊपर उठे हों। दल के समाजवादी और साम्यवादी दल इसके उदाहरण हैं।

जब 1984 में बहुजन समाजवादी पार्टी बनी इसे बहुत छोटा समझा गया था जैसे कि *पीजेंट्स एंड वर्कर्स पार्टी* या *रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी*। लेकिन शीघ्र ही देश की आम जनता और मीडिया को पता चल गया यह दल दलितों, मलजूमों, पिछड़े वर्गों, उपेक्षितों का अपना दल है जिसका दृष्टिकोण व्यापक है। बामसेफ, डी.एस.फोर. और बाद में बसपा ने शुरू से ही हरिजन शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की। बसपा ने शूद्र, शोषित-सर्वहारा और अल्पसंख्यक समाज को व्यापक अर्थ में बहुजन समाज कहा।[46]

एक युवा छात्रनेता और सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में 1977 से ही मायावती समाज सेवा के क्षेत्र में आईं, तभी से उन्हें दलितों को 'हरिजन' नाम से पुकारे जाने पर घोर आपत्ति थी। उन्हें लगता था सदियों से उपेक्षितों और सताए हुए जानवरों से बदतर जीवन जीनेवाले भारत के गरीब लोगों की घृणास्पद पहचान जारी रखने के लिए यह शब्द गांधी एंड कंपनी की गढ़ा हआ है, जिससे स्वयं बाबा साहेब को नफरत थी। लेकिन कांग्रेस में 'फिलर' के तौर पर जो दलित नेता प्रतिष्ठित किए गए वे सब हरिजन विधायक, सांसद, मंत्री तथा अन्य ऐसे ही अपमानसूचक हरिजन कहलवाने में गौरव का अनुभव करते थे। लेकिन मायावती ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करते ही इस शब्द के प्रयोग पर रोक लगाने की आवाज उठाई। महात्मा गांधी ने अनुसूचित जातियों और जनजातियों को दलित वर्ग के बजाय सदैव 'हरिजन' 'गिरिजन' नाम से संबोधित किया था। उनका 'हरिजन' शब्द क्या इस बात का द्योतक था जिसके द्वारा वह सिद्ध करना चाहे थे कि यह शब्द एक वर्ग चरित्र के लिए प्रयुक्त हो। साधारणतया राजनीतिक हल्कों, सार्वजनिक स्थानों, सरकारी विभागों, स्कूल-कॉलेजों में 'हरिजन' शब्द एक अपमानजनक और अपशब्द का परिपूरक बन गया था। गांधी जी ने 'हरिजन सेवक संघ' बनाया जो अभी तक बरकरार है और भारत के स्वतंत्र होने के बाद केंद्र से सर्वाधिक अनुदान और सरकारी सहायता प्राप्त कर चुका है। यह वह संस्था है जिसने 'हरिजनों' के नाम से काफी सरकारी धन बटोरा है। गांधी ने 1932 और 1935 के दौरान 'हरिजन फंड' में चंदा उगाहा और अनुसूचित जातियों को 'हरिजन' बनाए रखने के लिए प्रतीकात्मक सुधार कार्य आयोजित किए जिन्हें रचनात्मक कार्य कहा गया। बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर ने गांधी और बिरला परिवार द्वारा संचालित ऐसे कार्यों को कभी भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखा। न इन पर कोई तवज्जह दी। उनके विचार में उच्च शिक्षा और उच्च सरकारी नौकरियों के साथ-साथ राजनीतिक

साझेदारी के बिना सदियों से सताए गए दलित-बहुजन समाज का कभी भला नहीं हो सकता था। इस पर काफी लंबी-लंबी बहसें हुईं, लेख लिखे गए। लेकिन गांधी ने दलितों, शूद्र-अस्पृश्यों को 'हरिजन' नाम से संबोधित करना नहीं छोड़ा। डॉ. अंबेडकर इसे एक गाली समझते रहे। उन्होंने शोषण-असमानता पर आधारित हिंदू धर्म त्यागने की बात कही। मानवतावादी बुद्ध धर्म पर जोर दिया।

केंद्र और राज्य सरकारों ने इन जातियों के लिए हरिजन और गिरिजन कल्याण विभाग, हरिजन कल्याण अधिकारी, गिरिजन (आदिवासी) कल्याण अधिकारी रखे। इन सृजित पदों में ऊंची जातियों के लोग आकर बैठ गए और बहुत कम काम उनकी भलाई का हो पाया। हां, गत पचास वर्षों में आंकड़े इतने अधिक प्रस्तुत कर दिए गए कि ऐसा लगा एक बहुत बड़ी सामाजिक क्रांति घटित हो गई है। पर तस्वीर दूसरी ही थी। कांग्रेस ने लंबे अर्से तक देश में राज किया। कांग्रेस में दलितों के नेता भी यह हिम्मत नहीं कर पाए कि उनके समाज के लिए प्रयुक्त किए जानेवाला अपमानजनक शब्द 'हरिजन' खत्म हो, उसका नामोनिशान मिटे।

इस शब्द को सबसे पहले मिटाने के लिए बाबा साहेब ने पहल की थी। लेकिन कांग्रेस के रहते यह शब्द चलता रहा।[47]

युवा मायावती ने 1977 में समाज सेवा के क्षेत्र में पदार्पण किया, तब उन्हें इस शब्द से भारी घृणा थी। उन्होंने बराबर सामाजिक समारोहों, बैठकों, सम्मेलनों में इसका विरोध किया। जब इंदिरा गांधी 1977 में चुनाव हार गईं और जनता-सी.एफ.डी. की मिली-जुली सरकार केंद्र में प्रतिष्ठापित हो गई तो तथाकथित समाजवादियों ने 'जाति तोड़ो' सम्मेलन किया। उस सम्मेलन में जिसका मंच संचालन स्वास्थ्य मंत्री राजनारायण कर रहे थे और बार-बार 'हरिजन' शब्द दुहराते थे। उसे सुनकर मायावती जैसी युवा सक्रिय कार्यकर्ता को गुस्सा आना स्वाभाविक था। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि पता नहीं समाजवादी लोग अपने को क्या समझते हैं जो भारत के दलितों को जो मेहनतकश-ईमानदार लोग हैं उन्हें अपमानजनक 'हरिजन' शब्द से पुकारते हैं? क्या अन्य लोग 'हरिजन' नहीं हैं क्या वे शैतान की औलाद हैं?

उनके तीखे तेवर का भला कौन जवाब देता? उस सम्मेलन में बामसेफ के जो कार्यकर्ता बैठे थे उन्होंने 'राजनारायण मुर्दाबाद' के नारे लगाए। सम्मेलन में ऊंची जातियों के किराए पर लाए गए नाम मात्र के समाजवादी उखड़ गए। लेकिन मायावती की धाक जम गई। उन्होंने कहा लगता है समाजवाद सत्तावाद का पर्याय बन गया है। चार बूढ़े आदमी कभी-कभी समाजवाद के नाम पर भाषण अवश्य झाड़ देते हैं। फिर तो उन्होंने अपनी अनेक सभाओं, विचार गोष्ठियों, सम्मेलनों में वक्त-वक्त पर यह जरूर कहा है कि यह 'हरिजन' शब्द जिसे गांधी और कांग्रेस ने एक गाली के तौर पर गढ़ा है खत्म हो जाना चाहिए।

केंद्र में यह शब्द तीन दशक से बराबर चलता आ रहा था। जब मायावती ने संसद में जोरदार शब्दों में इसके खिलाफ भाषण दिए तो भारत सरकार के कल्याण मन्त्रालय

ने इस शब्द के प्रयोग पर कानूनन रोक लगा दी, तब वे बसपा की महामंत्री थीं। मंत्रालयों, दूरदर्शन और आकाशवाणी पर इसका प्रयोग रोक दिया गया। स्वाति चतुर्वेदी ने स्टेट्समैन (16 जून, 1994) में बसपा नेता मायावती का जिक्र करते हुए लिखा कि उनके हस्तक्षेप से कल्याण मंत्रालय ने सूचना प्रसारण मंत्रालय से आग्रह किया कि 'हरिजन' शब्द का कतई प्रयोग न किया जाए। साथ ही हिदायत दी गई कि तमाम सरकारी प्रयोग से इन 'हरिजन' और 'गिरजन' शब्दों को बहिष्कृत कर दिया जाए।

शुरू से ही राज्यों में ज्यादातर हरिजन दलितोत्थान के लिए कल्याण विभाग नाम दिया गया था। उन्हें समाज कल्याण विभाग बना दिया गया।

सरकारी सूत्रों के अनुसार सीताराम केसरी ने बताया कि उनके मंत्रालय को अनेक अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के संगठनों, सांसदों आदि से भी ऐसी ही शिकायतें प्राप्त हो रही थीं। ऐसी अवस्था में सरकार को ऐसा कदम उठाना पड़ा। यही नहीं मायावती के जोर देने पर केंद्र सरकार ने यह भी फैसला लिया कि आगे अनुसूचित जाति और जनजाति के जो जिला/तहसील स्तर पर संबंधित व्यक्तियों को जातीय प्रमाण पत्र जारी होते हैं, उनमें से भी हरिजन और गिरिजन शब्द हटा दिए जाए। इसके स्थान पर मात्र उनकी जाति/उपजाति का ही उल्लेख किया जाए। दरअसल आत्मसम्मान की यह एक ऐसी लंबी लड़ाई थी जिसे बाबा साहेब अंबेडकर ने प्रारंभ किया था और उनकी मानस पुत्री मायावती ने अंत में जीता। यह जीत एक प्रकार से बसपा के वैचारिक और सैद्धांतिक दर्शन की जीत थी।

सच्चाई यह है कि कांग्रेस से जितने भी दलित जातियों के नेता जुड़े, या उन्हें जोड़ा गया उनमें अधिकांश अपने को 'हरिंजन' कहलवाने से परहेज नहीं करते थे। वरन् उल्टे वे हरिजन नेता कहलवाने में गौरंब अनुभव करते थे। क्योंकि यह कांग्रेस के बंधुआ नेता थे। समाजवादी दल के भी जितने नेता थे चाहे आचार्य नरेंद्रदेव, जयप्रकाश नारायण, डॉ. लोहिया, युसूफ मेहर अली या कोई अन्य किसी ने गांधी द्वारा दिए गए इस घृणित शब्द की निंदा नहीं की। सत्ता मोह में कांग्रेस देश की आजादी की बात ज्यादा करती थी, डॉ. अंबेडकर दलितों-अछूतों की दुर्दशा पर रोते थे। जब देश में आजादी आई सारे ऊंचे पद, ऊंची जातियों के लोगों ने हथिया लिए। बाद में भ्रष्टाचार, घोटालों, भाई-भतीजावाद, चारित्रिक पतन, देश को गलत नेतृत्व प्रदान करने मे जो नया विश्व रिकार्ड भारत ने बनाया है उस पर शोध शेष है।

अब मायावती के प्रयास से 'हरिजन' प्रयोग पर लगभग पूरी तरह रोक लग गई है। दूरस्थ गांवों में सिर्फ अनपढ़, अशिक्षित या स्वच्छकार समाज के लोग ही इस शब्द का प्रयोग करते पाए गए हैं।

एक अर्से से मायावती की यही सलाह है कि अब हरिजन नहीं, सर्वजन चाहिए। यह बहुजन का युग है। अब भारत में दलित सत्ता दहलीज पर दस्तक दे रही है। उसकी आवाज सुननी है। एकता बनाए रखनी है। फूट डालनेवाली शोषक जातियों की पहचान करनी है। मायावती ने भारत के दबे-कुचले लोगों को सम्मान से जीने, आत्मविश्वास से

जीने, स्वाभिमान से जीने का पाठ पढ़ाया है। यह नहीं कि भारत के तमाम नेता और राजनीतिक दल उन्हें दुतकारें और गंदे संबोधन से संबोधित करें।

मायावती का कहना है कि जिस जाति या राष्ट्र में आत्म-सम्मान और स्वाभिमान से जीने की इच्छा मर जाती है वे जातियां, राष्ट्र कभी तरक्की नहीं कर सकते। दक्षिण में रामास्वामी नायकर जो युगपुरुष पेरीयार के नाम से विख्यात हुए दलितों-गैर-ब्राह्मणों में आत्मसम्मान आंदोलन चलाकर अमर हो गए हैं। मायावती बेडन की भारी प्रशंसक रही हैं।

मायावती जानती हैं कि बहुजन समाज को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से हमेशा दबाया गया, साथ ही उनमें मनोवैज्ञानिक साजिश के तहत यह भय पैदा किया गया कि वे छोटें हैं और अगड़ों की सेवा के लिए पैदा हुए हैं। अब जमाना बदल गया है और उसके बदलने में पुरानी सोच को मिटाने में मायावती की जो भूमिका है वह सदैव याद की जाएगी।[48]

सन् 1995 में जब पहली बार मायावती सत्ता में आईं तो आलोचना भी शुरू हुई। प्रसिद्ध समाजवादी चिंतक सुरेंद्र मोहन ने लिखा :

> "दलितों की राजनीति उत्तर भारत में भी उसी रास्ते पर चल पड़ी है जो उसने बाबा साहेब अंबेडकर के निधन के बाद महाराष्ट्र में अपनाया था। बाबा साहेब ने जीवन के अंतिम वर्ष में 'रिपब्लिकन पार्टी' की स्थापना करने और परिगणित जाति संघ का विघटन कर देने का फैसला किया था। वे पार्टी का संविधान भी तैयार कर चुके थे। किंतु वे पार्टी की स्थापना से पहले ही सिधार गए। मृत्यु के पहले दिन ही उन्होंने महाराष्ट्र के दो समाजवादी नेताओं आचार्य अन्त्रे, जो सिद्धहस्त साहित्यकार भी थे और एस.एम. जोशी, जो साठ के दशक में समाजवादी आंदोलन के प्रमुख राष्ट्रीय नेता बने, के नाम पत्र तैयार किए थे कि वे उनके नए दल में शामिल हो जाएं। अलबत्ता बाबा साहेब उन पर अपने हस्ताक्षर न कर पाए थे।"[49]

सुरेन्द्र मोहन ने आगे लिखा : "दलित राजनीति न केवल उस आयाम को दृष्टि से ओझल कर गई जो समता के प्रति प्रतिबद्ध दो ब्राह्मणों को निमंत्रण देकर बाबा साहेब प्रस्तुत कर रहे थे। वह संघर्ष के रास्ते से हटती चली गई। महाराष्ट्र में रिपब्लिकन पार्टी कांग्रेस पार्टी से संधियां करके सत्ता भोगने या गैर कांग्रेसी राजनीति में मिल-जुलकर सत्ता प्राप्त करने के चक्रव्यूह में ऐसी फंसी कि उसके कई भाग हो गए। सर्वश्री दादा साहेब गायकवाड़, खोबरागड़े, दादा साहेब रूपवते एकजुट होकर चल न पाए। यहां ऐसी राजनीति से विद्रोह करके बने दलित पैंथर अंततः उसी गलती को दुहराने लगा और रामदास आठवले और उनके बाद प्रो. कांबले भी सत्ता मोह में कांग्रेस से गठजोड़ में विलीन हो गए।

उत्तर भारत के स्थापित रिपब्लिकन नेता बुद्ध प्रिय मौर्य और संघ प्रिय गौतम कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी में शामिल हो गए थे, और तज्जनित शून्य को भरने के लिए कांशीराम ने भरपूर मनोयोग और अथक परिश्रम से सतत यत्न किया। पहले सरकारी कर्मचारियों का बामसेफ स्थापित हुआ, उसके बाद डी.एस.फोर. का निर्माण हुआ। अंत

में बहुजन समाज पार्टी ने जन्म लिया। बसपा दस वर्ष तक सामान्यतः साधारण चुनावी सफलताओं को हासिल करती रही, अलबत्ता उसने 1985 में हरियाणा में कांग्रेस को हरवाने में भारी नकारात्मक सहयोग दिया। उसे पहली बार सफलता उत्तर प्रदेश में राज्य विधान सभा के पिछले चुनाव में मिली जब वह समाजवादी पार्टी के साथ संधि करके उनहत्तर क्षेत्रों में विजयी हुई और उसे सत्ता में भागीदारी मिली। डेढ़ वर्ष में दोनों सहयोगी दलों में विग्रह हुआ हालांकि इस दौरान भी कांशीराम के हाथों मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव को काफी सार्वजनिक अपमान सहने पड़े। सरकार भंग हुई और उसके अंतिम दिनों में मुलायम सिंह यादव भी घबराहट और हताशा में बसपा विधायकों का अपहरण या उन्हें आतंकित करने में लग गए।

अब बसपा ने सत्तामोह में भारतीय जनता पार्टी के सहयोग से सरकार बनाई है। इस राज्य में भाजपा मुस्लिम विरोध और सांप्रदायिक घृणा से आप्लावित हिंदुत्व के गहरे गर्त में गिरने का अनुभव भी ले चुकी है।''[50]

अंत में सुरेन्द्र मोहन सीख देते हुए लिखा : ''दलित राजनीति अलगाव या सिद्धांतहीन समझौते से समाज-परिवर्तन की अन्य शक्तियों के साथ सैद्धांतिक सहयोग के द्वारा ही दलितों और अन्य शोषितों की मुक्ति में अनुपम योगदान दे सकती है''।[51] असल में बसपा-भाजपा की साझा सरकार बनने का ही सुरेन्द्र मोहन को सख्त अफसोस था, ताकि कोई दलित सत्ता में ही न आए। अब तो मायावती तीन बार मुख्यमंत्री पर पर रह चुकी हैं। इससे दलित-बहुजन समाज में आत्मसम्मान जागा है, सामाजिक-परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

बसपा की आलोचना : दृष्टि और कलम विदेशी

रॉबर्ट डेलीग जिसने **'अनटचेबिल्स ऑफ इंडिया'**[52] (1999) नामक पुस्तक लिखी और जिसका नोरा स्कॉट ने फ्रेंच में भी अनुवाद किया उसने भारत के अस्पृश्यों का विशद अध्ययन किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक की भूमिका में बसपा के संबंध में लिखा : ''उत्तर भारत, विशेषतया उत्तर प्रदेश में सन् 1990 में बसपा का राजनीतिक उदय हुआ। सन् 1989-1998 के मध्य विभिन्न राज्यों के चुनावों में कांशीराम के नेतृत्व में बसपा ने 10 प्रतिशत मत हासिल किए। यह एक ताजा राजनीतिक घटना है।' लेकिन **मेन्डेलसोन** एवं **विकजियानी**[53] ने अपनी हाल की पुस्तक में इस दल के विषय में विशद व्याख्या की है। इसमें उन्होंने यह बताया है कि यह दल अनुसूचित जातियों को किस तरह संगठित किया जाना चाहिए, इस बात से अनभिज्ञ है। वे यह स्वीकार करते हैं कि उत्तर प्रदेश में 1995-1996 में गठबंधन सरकार में मुख्यमंत्री के रूप में मायावती और संभवतया बसपा का अनुसूचित जातियों पर व्यापक क्रांतिकारी असर हुआ है। यह अच्छी बात होगी यदि बसपा सिर्फ 'चमार पार्टी' के अतिरिक्त किसी अन्य राजनीतिक दल के रूप में उभरती है। लेकिन अभी कुछ कहने में जल्दबाजी होगी। इस दल को एक क्रांतिकारी-समाजवादी दल के रूप में वर्ग के आधार

पर आगे बढ़ना होगा और सिर्फ जातीय आंदोलन जो कुछ जातियों तक ही सीमित है और यहां तक कि एक ही जाति जिसका मेरुदंड है, उससे ऊपर उठना होगा। कांशीराम ने जो कुछ कदम इस दिशा में उठाए हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे पहली विचारधारा के अनुरूप आगे कार्यरत रहना चाहते हैं और उन सभी को एकजुट या समेटना चाहते हैं, जिनमें मुस्लिम समुदाय भी सम्मिलित है, जो 'ब्राह्मण सत्ता' के विरोधी हैं। ऐसे ही वक्त, उन्होंने एवं मायावती ने दृढ़ता से जातीय पत्ता (कास्ट कार्ड) भी चला है, **जो कभी-कभी बहुत से लोग बसपा को शुद्ध 'चमार पार्टी' मानते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि पहले अंबेडकर की पार्टियों को महार जाति का माना गया था।** दूसरी अस्पृश्य जातियां इसके प्रति ज्यादा उत्साहित नहीं हैं और अनुसूचित जातियों में चमार प्रभुत्व को नकारती हैं।"

विगत एक और विशेष घटना है कि अंबेडकर को एक धर्मगुरु (बोधिसत्व) के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। जबकि, कुछ साल पहले अधिकतर अस्पृश्यों ने उनके विषय में कभी इस प्रकार का कुछ सुना हो, लेकिन आज अब यह बात नहीं। अंबेडकर की मूर्तियां जगह-जगह स्थापित की जा रही हैं, उनके चित्र पूरे भारत की दीवारों पर चित्रित किए जा रहे हैं और उनके लेखन को अक्सर भाषण-वार्ताओं में उद्धृत किया जा रहा है। हर राजनीतिक दल उन्हें राष्ट्रीय महत्व के महापुरुषों का दर्जा देने लगा है। अब तुलना में, गांधी जो अस्पृश्यों की समस्या के राष्ट्रीय उद्गाता माने जाते थे, अब विदूषक समझे जाने लगे हैं। कुछ प्रमुख व्यक्ति गांधी को 'दलितों का शत्रु' मानने लगे हैं। यह इतिहास की प्रत्यावर्तन जैसी आश्चर्यजनक घटना है। क्योंकि सब जानते हैं कि दोनों महापुरुषों में काफी वाद-विवाद था। गांधी, अस्पृश्यों के बहुत दिनों तक प्रवक्ता बने रहे और 'हरिजन' शब्द से उन्हें संबोधित करते रहे। अंबेडकर को राष्ट्रीय महापुरुष नहीं माना जाता था और उन्हें विस्मृत कर दिया गया था। उनकी राष्ट्रीय नेता के रूप में वापसी बड़ी आश्चर्यजनक घटना है। यह चर्चा का विषय है कि गांधी का समाप्तप्राय प्रभाव, कांग्रेस दल के पतन का कारण है। देश में जो हाल में सामाजिक परिवर्तन हुए हैं उसमें उनकी बहुत कम भूमिका है।"

डेलीग के विचार में अस्पृश्यता की समस्या मात्र इतिहास की वस्तु नहीं, वरन् आधुनिक भारत में वह प्रमुख सामाजिक और राजनीतिक समस्या बनकर उभरी है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि नई सहस्राब्दि में मायावती के नेतृत्व में बसपा सफलता के आकाश को छू लेगी। विदेशी लेखक बसपा के जनाधार को पूरी तरह समझ नहीं पाए हैं। लेकिन यह तो निश्चित है कि बसपा आज दलितों की अस्मिता का प्रतीक बन गई है तथा इसका जनाधार धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

संदर्भ

1. इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया, मुंबई (8-14 अप्रैल, 1987, पृ. 10) (यूरलोवा द्वारा उद्धृत, पृ. 200)
2. ओवरसीज ओरिएंट एंड प्रेजेंट, खंड 2 (मास्को 1980) (यूरलोवा, पृ. 201)

3. सी.पी.आई. : डाक्यूमेंट्स ऑफ हिस्ट्री ऑफ दि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया खंड 8 (1951-1956) पृ. 915
4. उपरोक्त, पृ. 10, 52, 238
5. उपरोक्त, पृ. 340
6. अग्निहोत्री, विनोद : कांशीराम और उनकी बसपा (राजकिशोर (सं.) हरिजन से दलित), पृ. 79-80
7. वही
8. चंचरीक, कन्हैयालाल एवं चंद्रा, नरेन्द्र : मायावती-संघर्ष और सत्ता का सफर, पृ. 39
9. उपरोक्त, पृ. 40-41
10. उपरोक्त, पृ. 41
11. उपरोक्त, पृ. 42-43
12. अग्निहोत्री, विनोद, पृ. 80-81
13. अग्निहोत्री, विनोद, पृ. 82
14. वही
15. उपरोक्त, पृ. 82-83
16. उपरोक्त, पृ. 83
17. उपरोक्त, पृ. 84
18. उपरोक्त, पृ. 84
19. उपरोक्त, पृ. 86-87
20. उपरोक्त, पृ. 88
21. चंचरीक एवं चन्द्रा, पृ. 43-44 ('धर्मयुग' में 1989 में प्रकाशित अशोक अकल्प के लेख से)
22. चंचरीक, कन्हैयालाल एवं चन्द्रा, नरेन्द्र : मायावती संघर्ष और सत्ता का सफर, पृ. 15
23. उपरोक्त, पृ. 15
24. उपरोक्त, पृ. 16
25. उपरोक्त, पृ. 16
26. उपरोक्त, पृ. 16
27. उपरोक्त, पृ. 16-17
28. उपरोक्त, पृ. 29
29. उपरोक्त, पृ. 18
30. उपरोक्त, पृ. 19
31. उपरोक्त, पृ. 19
32. उपरोक्त, पृ. 20
33. उपरोक्त, पृ. 20-21
34. उपरोक्त, पृ. 21-22
35. उपरोक्त, पृ. 22
36. उपरोक्त, पृ. 22-23
37. उपरोक्त, पृ. 23-24
38. उपरोक्त, पृ. 24-25
39. उपरोक्त, पृ. 25-26
40. उपरोक्त, पृ. 26
41. उपरोक्त, पृ. 26-27
42. उपरोक्त. प. 27-28

43. उपरोक्त, पृ. 28
44. उपरोक्त, पृ. 28
45. उपरोक्त, पृ. 28-29
46. उपरोक्त, पृ. 29
47. उपरोक्त, पृ. 29-30
48. उपरोक्त, पृ. 30-32
49. सुरेंद्र मोहन का नवभारत टाइम्स में लेख (16 जून, 1995)
(संदर्भ चंचरीक एवं चंद्रा, 5.46)
50. वही, पृ. 46-47
51. सुरेंद्र मोहन का नवभारत टाइम्स (16 जून, 1995) में प्रकाशित लेख (संदर्भ चंचरीक एवं चंद्रा : मायावती : संघर्ष और सत्ता का सफर, पृ. 46-47)
52. डेलीग, रॉबर्ट : अनटचेबिल्स ऑफ इंडिया,
(बर्ग—ऑक्सफोर्ड इंटरनेशनल का प्रकाशन), पृ. 12
53. मेन्डेलसोन, ओ. एवं विकजियानी, एम. : दि अनटचेबिल्स, सब ओर्डीनेशन, पावर्टी एंड दि स्टेट इन माडर्न इंडिया (कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998), पृ. 218-225

12

उपसंहार व दलित आंदोलन नयी सहस्राब्दी की बेला पर

दलितों का शोषण हजारों वर्षों से चल रहा है, इसके अन्तर्गत दलितों का हर क्षेत्र में शोषण किया गया। नयी सहस्राब्दी का स्वागत दलितों ने भी इस उम्मीद से किया कि शायद इस शताब्दी यानि आने वाले 100 वर्षों में उनको समाज में सम्मान तथा पूर्ण मानवाधिकार मिल जाए। किंतु वास्तविकता यह है कि स्वयं डॉ. अम्बेडकर के नाम पर कुछ दलित अपनी राजनीति कर रहे हैं तथा रोटी कमा रहे हैं। कुछ दलित, जो कि अम्बेडकर का इतिहास ठीक से जानते नहीं और उनकी स्वयं की जीवन शैली भी पूंजीपतियों से भी कई गुना अच्छी है, यह लोग सरकार से दलित उत्थान के नाम पर पैसा लेकर कई संस्थानों का निर्माण करवा चुके हैं, हालांकि इन संस्थानों से दलित समाज का कुछ भी उद्धार नहीं हुआ है परन्तु फिर भी निर्माण की यह होड़ अभी भी जारी है। इससे फायदा केवल उन दलितों (अभिजात्य) को होता है, जो केवल अपना व्यक्तिगत लाभ निकालने में पारंगत हैं। सरकार को चाहिए कि वो इन संस्थानों को बेचकर उससे जो पूंजी प्राप्त होती हैं उसको दलितों के विकास अर्थात् उनकी शिक्षा, रोजगार, पुनर्वास आदि कार्यक्रमों में खर्च करें। ऐसा न होने पर सारा लाभ दलित अभिजात्य वर्ग उठा लेगा ? और दलित समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

आजकल दलित आंदोलन के नाम पर एक नया तत्त्व उभर रहा हैं वह है, इन दलित अभिजात्य पूंजीपतियों द्वारा दलित इतिहास का लेखन दूसरों द्वारा करवाना तथा लेखक के तौर पर स्वयं को स्थापित करके यह दिखाना कि यही लोग दलित इतिहास के अच्छे जानकार हैं। हम लोगों ने हाल ही में कुछ दलित पुस्तकें देखी जिनमें कुछ पुस्तकों में पार्लियामेंट की कार्यवाहियों को छापा गया हैं तो कहीं राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम को भी दलित इतिहास में रखा गया है जबकि सभी जानते हैं कि महामहीम राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम अल्पसंख्यक वर्ग से हैं, दलित वर्ग से नहीं। साथ ही कई गरीब दलित लेखकों की पुस्तकों को शब्द से शब्द हू-ब-हू उनके नाम का उल्लेख किए बिना अपने इसाइक्लोपिडिया में शामिल कर लिया गया है। इन दलित लेखकों को यह भी नहीं पता

कि राधास्वामी एक संत न होकर एक संप्रदाय है जिसका केन्द्र आगरा में है। ऐसे दलित इतिहास से समाज को गलत जानकारियों के अलावा क्या मिलेगा।

हाल के वर्षों में दलित महिलाओं के प्रति बलात्कार के मामले बढ़ते जा रहे हैं। वैसे तो दलितों को अछूत माना जाता है। दलितों का स्पर्श भी उनको अपवित्र कर देता है। परंतु घृणित कार्य के वक्त छुआछूत कहां रह जाती है यह एक ज्वलंत प्रश्न है? भारत के दलित इतिहास पर गौर किया जाए, तो हमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि इन दलित वर्गों के लोगों ने देश-हित के विरुद्ध कोई कार्य किया हो।

दलित राजनीति में एक नया तत्त्व उभर रहा है, वह है कि हर राष्ट्रीय स्तर का दलित नेता अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझता है। अगर कोई दलित नेता किसी प्रदेश में अच्छा कार्य कर रहा है, तब दूसरे प्रदेश का दलित नेता उ.प्र. आकर उस प्रदेश के दलित वोटों में सेंध लगाने की कोशिश करता है ताकि वह उस राज्य में अच्छा कार्य कर रहे दलित नेता के वोटों को काट सकें और यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। जबकि होना यह चाहिए कि प्रत्येक दलित नेता अपने-अपने प्रदेश में दलितों को संगठित करें तथा मजबूत होकर एक-दूसरे कि सहायता करे। तभी दलित आंदोलन को एक नयी चेतना तथा मजबूती मिलेगी। आज यह दलित नेता दलित आंदोलन को कमजोर कर रहे हैं। आज दलित आंदोलन दलितों की उप-जातियों के आधार पर बंट गया है।

आज के कंप्यूटर युग में दलित बच्चे कहां तक पहुंच पाएंगे यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि उन्हें केवल आरंभिक शिक्षा ही मिल पाती है। कंप्यूटर की उच्च शिक्षा के खर्च का भार इस वर्ग के लोग वहन नहीं कर सकते, अतः इन दलितों को केवल टाइपिंग आदि का ही कार्य मिल रहा है। इनकी तुलना अंग्रेजों द्वारा बनाए गए क्लर्क वर्ग से की जा सकती है जो मैकाले की योजना थी।

अंग्रेजी राज में यदि ज्योतिबा फुले, डॉ. अम्बेडकर आदि लोगों ने दलित उत्थान में कार्य नहीं किया होता तब स्थिति क्या होती यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। संविधान ने तो हमें बहुत कुछ दिया, परंतु उसके प्रावधानों पर सही तौर से अमल नहीं हो पाया है। देश में भूमि सुधार ठीक तरीके से नहीं हो पाया है, और जो हुआ भी है तो उसका लाभ मंझोली जातियों को ही मिला है जबकि दलित वहीं के वहीं रह गए।

पिछले 50 वर्षों में लगभग 70 प्रतिशत ग्रामीण दलितों ने अपने गांवों को छोड़ दिया है। इसका मुख्य कारण जीविका की तलाश है। इन दलिों के पास गांवों में भूमि नहीं है, और जो थोड़ी बहुत है वह भी बेकार हैं। अच्छी भूमि तो चकबंदी-प्रक्रिया द्वारा उच्च वर्गों द्वारा छीन ली गई है। यही कारण हैं कि आज अधिकतर भूमिहीन व सीमान्त किसान दलित वर्ग के ही लोग हैं।

दलितों के पास जो कपड़े व चमड़े से संबंधित उद्योग थे, वो आज उच्च वर्ग के हाथों में हैं क्योंकि अब इन उद्योगों में मुनाफा है तथा इनकी विदेशों में मांग है। परंतु ये लोग दलितों के व्यवसाय कब्जाने पर भी अछूत नहीं कहलाते, यह एक मानवीय विडंबना नहीं है तो और क्या है ?

दलितों के विकास के लिए कई सरकारी योजनाएं बनाई गईं, परंतु उसका लाभ ठेकेदारों को ही मिला। जैसे कि राजीव गांधी ने कहा था, कि एक रुपये में केवल 15 पैसे ही विकास के लिए नीचे के तबके तक पहुंच पाते हैं। ऐसा नहीं है कि सरकार ने दलितों के उत्थान के लिए योजनाएं नहीं बनाई, परंतु सरकार उनका क्रियान्वयन ठीक से नहीं कर पाई।

देश में दलितों पर अत्याचार होते हैं। इन अत्याचारों पर लगाम लगाने के लिए राष्ट्रीय व राज्य स्तर पर आयोगों का गठन हुआ है। परंतु यह आयोग उस तरह कार्य नहीं कर पा रहे हैं जिस प्रकार उन्हें करना चाहिए।

हमारे देश का बुद्धिजीवी वर्ग खासकर वामपंथी विचारधारा से प्रभावित बुद्धिजीवी व जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवियों के लिए दलित समस्या गोष्ठियों का विषय व किताब लिखने का विषय मात्र है। यह लोग सिर्फ शोधरत रहते हैं परंतु वास्तविक स्तर पर दलितों की समस्या के समाधान के लिए कुछ नहीं करते। यह लोग ऐसी विचारधारा का प्रचार नहीं कर पाते जिससे सामाजिक स्तर पर क्रांति आ सके। हम जानते हैं कि फ्रांसीसी क्रांति जिसने पूरे विश्व को प्रभावित किया था, एक महान क्रांति थी। इस महान क्रांति को लाने में फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों का बहुत बड़ा हाथ था। इस क्रांति ने फ्रांस का पूरा सामाजिक ढांचा बदल दिया था परंतु हमारे देश के बुद्धिजीवियों में वह क्षमता नहीं है जो अपने विचारों से सामाजिक क्रांति ला सके।

रंगभेग के विरुद्ध विश्व सम्मेलन का आयोजन संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा डरबन में 31 अगस्त से 7 सितंबर 2001 में किया गया था। वैसे तो यह सम्मेलन रंगभेद के विरुद्ध था परंतु भारत के दलित प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में भारतीय समाज में हो रहे दलितों के शोषण के प्रति विश्व समुदाय का ध्यान खींचने का प्रयास किया। भारत में फैला यह जातिवाद रंगभेद की तुलना में काफी घातक है।

अभी हाल में 'भोपाल' में दलितों के विकास के लिए एक सम्मेलन किया गया। जिसमें एक दस्तावेज भी प्रकाशित किया गया जिसको की 'भोपाल दस्तावेज' के नाम से जाना जाता है। इस दस्तावेज में दलितों के विकास के लिए कई सुझाव दिए गए। परंतु यह सुझाव वास्तविक स्तर पर लागू किए जाने योग्य नहीं हैं।

आज देश के दलितों की समस्या के समाधान के लिए हमें एक ठोस कार्यक्रम की आवश्यकता है। आज कागजी कार्यों व कार्यक्रमों के स्थान पर वास्तविक क्षेत्र के कार्य करने की आवश्यकता है। दलित वर्ग भारतीय जनसंख्या का एक बड़ा भाग है तथा इस वर्ग के विकास का अर्थ होगा पूरे भारत का विकास। आज देश के पूर्ण उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि दलित जातियों के उत्थान के लिए कार्य किए जाएं।
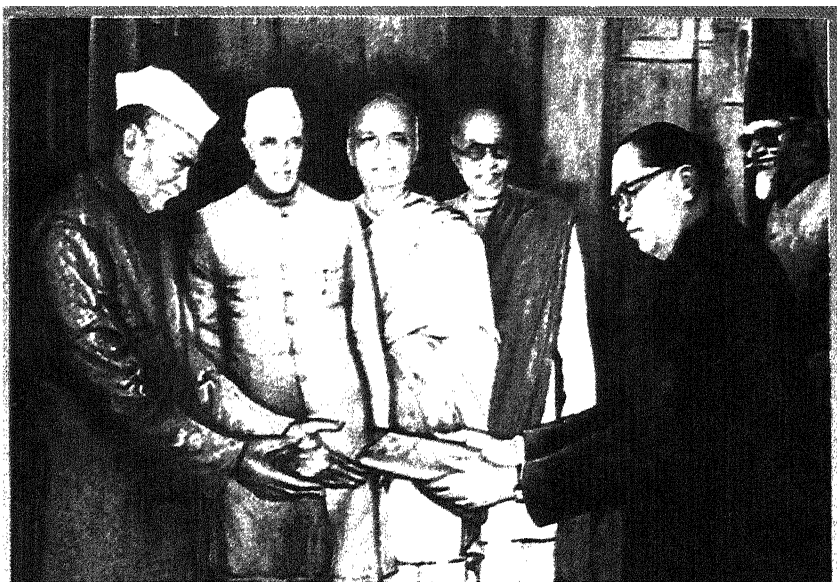
"....जातियों में व्याप्त पारस्परिक ऊँच-नीच की भावना गुण-अवगुण पर आधारित नहीं हैं। उच्च जाति में उत्पन्न व्यक्ति कितना भी दुर्गुणी हो वह उच्च ही कहलाएगा। उसी प्रकार नीच जाति में उत्पन्न व्यक्ति कितना भी गुणवान हो, वह नीच ही रहेगा"

—डॉ० भीम राव अम्बेडकर

यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन

दिल्ली-110002 फोन : 23243026